श्रीमद्भगवद्गीता सटीक

——नवलकिशोर-प्रेस, (बुकडिपो) लखनऊ मूल्य ६)

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक

(पदच्छेद, अन्वययुक्त शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या, प्रत्येक अध्याय का माहात्म्य तथा महाभारतसार-सहित)
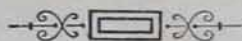
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अनुवादक,
हरिराम भार्गव

प्रकाशक,
नवलकिशोर-प्रेस-बुकडिपो, लखनऊ,

द्वितीय संस्करण ५०००

मूल्य ६)

प्रथम संस्करण	....	१९४२	....	२०००
द्वितीय संस्करण	....	१९४६	....	५०००

Printed by B. B. Kapur at the
Newul Kishore Press, Lucknow.
1946

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू-जाति का सर्बस्व और अद्वितीय धर्म-ग्रंथ है। इसमें अध्यात्म-विद्या के निगूढ़ तत्त्वों की व्याख्या थोड़े में की गई है। साहित्य के दृष्टिकोण से भी ऐसी मनोहर रचना संस्कृत में ही नहीं, सारे संसार की किसी भी भाषा में नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के श्रीमुख से निकली हुई इस वाणी की समता किसी मनुष्य की रचना कर भी कैसे सकती है? कहा जाता है, महाभारत का युद्ध समाप्त होने के बाद किसी समय अर्जुन ने भगवान् कृष्णचंद्र से कहा कि नाथ, आपने समर-समारंभ के समय जो उपदेश मुझे दिया था, उसे मैं फिर एक बार आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। इस पर भगवान् ने कहा—उस समय योगयुक्त अन्तःकरण से वह उपदेश दिया था। अब फिर वैसा उपदेश देना संभव नहीं। इसीसे आप भगवद्गीता के महत्त्व को समझ सकते हैं। भगवद्गीता को हिन्दूधर्म के सभी संप्रदाय-वाले मानते हैं। यह ग्रंथ सब उपनिषदों का सार और ज्ञान का भांडार है। गीता का यथार्थ वर्णन इस प्रकार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसका मतलब यह है कि सब उपनिषद् गउएँ और गोपाल नन्द के पुत्र भगवान् श्रीकृष्णचंद्र उन्हें दुहनेवाले हैं।

गीतारूप ही अमृत दूध है और उसे पीनेवाले अर्जुन बछड़ा हैं।

गीतारहस्य में भगवान् तिलक लिखते हैं कि गीता की टीका और अनुवाद प्रायः संसार की सभी भाषाओं में हो चुके हैं।* इस ग्रंथरत्न ने जर्मन, फ्रेंच, अँगरेज़, अमेरिकन आदि सभी विद्वानों को मुग्ध कर लिया है। भगवद्गीता का महत्त्व इसी से प्रकट है कि इसी के अनुकरण पर संस्कृत-साहित्य में अनेक ज्ञान-विषयक रचनाओं के साथ गीता शब्द जोड़ा गया है। महाभारत में ही शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षपर्वाध्याय के कुछ प्रकरण पिंगलगीता, शंपाक-गीता, मंकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारीतगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता और हंसगीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। अश्वमेधपर्व में अनुगीता और उसके एक भाग का नाम ब्राह्मणगीता है। और भी अन्य पुराणों में अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता, देवगीता, पाण्डवगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुगीता, यमगीता, राम-गीता, व्यासगीता, शिवगीता, सूतगीता, सूर्यगीता आदि अनेक गीताएँ मिलती हैं। इनमें कुछ तो स्वतन्त्र रीति से रची गई हैं और कुछ अलग-अलग पुराणों से निकाली गई हैं। गणेश-पुराण के अंतिम क्रीड़ाखंड के १३८ से १४८ तक १० अध्यायों में गणेशगीता है। यह एक तरह से कुछ हेरफेर के साथ श्रीमद्भगवद्गीता की नक़ल ही है। कूर्मपुराण में ईश्वरगीता है। व्यासगीता भी इसी में है। स्कंदपुराण में १२ अध्यायों में ब्रह्म-गीता और ८ अध्यायों में सूतगीता है। योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण में ९ अध्यायों की एक और ब्रह्मगीता है। यमगीता तीन

हैं—एक विष्णुपुराण में, दूसरी अग्निपुराण में, तीसरी नृसिंह-पुराण में। रामगीता भी दो हैं। महाराष्ट्र-प्रान्त में प्रचलित राम-गीता अध्यात्मरामायण (उत्तरकाण्ड) की है और इस रामायण को ब्रह्माण्डपुराण का एक भाग माना जाता है। मदरास-प्रान्त में प्रचलित रामगीता गुरुज्ञानवाशिष्ठ-तत्त्वसारायण-नामक वेदान्त-विषयक ग्रंथ में है। इस ग्रंथ में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना-काण्ड। इसके उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद के पहले १८ अध्यायों में रामगीता और कर्म-काण्ड के तृतीय पाद के पहले ५ अध्यायों में सूर्यगीता है। शिवगीता पद्मपुराण के पातालखंड में है। श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध के १३ वें अध्याय में हंसगीता और २३ वें अध्याय में भिक्षुगीता है। तीसरे स्कन्ध में कपिलगीता है। परन्तु भगवान् तिलक ने अपने गीतारहस्य में लिखा है कि उन्होंने कपिलगीता नाम की छपी हुई एक अलग पुस्तक देखी थी, जिसमें प्रधानरूप से हठयोग का वर्णन किया गया था और लिखा था कि यह गीता पद्मपुराण से ली गई है। परंतु पद्मपुराण में यह गीता नहीं है। इस गीता में एक स्थान पर जैन, जंगम और सूफ़ीमत का भी उल्लेख था, जिससे स्पष्ट है कि यह गीता मुसलमानी अमलदारी के बाद की होगी। अस्तु, देवीभागवत में भी एक गीता है। उसका नाम देवीगीता है। अग्निपुराण और गरुड़पुराण में श्रीमद्भगवद्गीता ही का सारांश दिया हुआ है।

इस तरह अनेक गीताओं के होने पर भी भगवद्गीता ही सर्वश्रेष्ठ है और इसी का अधिक आदर और प्रचार है। जैसे

सूर्य के सामने सबके तेज फीके पड़ जाते हैं, वैसे ही भगवद्-गीता के सामने सब गीताएँ हतप्रभ हैं। संस्कृत में तो गीता की कई टीकाएँ हैं ही, हिन्दी में भी इसके अब तक सैकड़ों अनुवाद निकल चुके हैं और उन सबका यथेष्ट प्रचार है। फिर भी यह अनुवाद करने का साहस इसलिए किया गया है कि इससे साधारण पढ़े-लिखे मनुष्य भी लाभ उठावें। पंडित हरिरामजी भार्गव ने इस अनुवाद को सरल और सर्वांगपूर्ण बनाने की पूरी चेष्टा की है। कठिन स्थलों की सरल भाषा में विस्तृत व्याख्या देने का तात्पर्य यही है कि केवल हिंदी पढ़े लोग गीता के तात्पर्य को सहज में समझ सकें।

इसके अतिरिक्त इस अनुवाद का दूसरा कारण आत्म-सन्तोष और भगवान् की आराधना करने की इच्छा भी है। जैसे हरएक गृहस्थ भगवान् के विग्रह को अपने घर में रखकर उनका पूजन और श्रृंगार अपनी शक्ति के अनुसार करता है, वैसे ही भार्गवजी ने यह भगवान् की आराधना की है।

"ठाकुर घर-घर एक हैं, अपन-अपन सिंगार।"

रूपनारायण पाण्डेय

माधुरी-सम्पादक

नम्र निवेदन
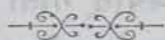
'गीयते इति' गीता यानी जो गान किया जाय उसका नाम गीता है। पर गान विना किसी शब्द-विशेष के नहीं होता, अतएव जिन शब्दों से तत्त्वज्ञान का वर्णन किया जाय, उन शब्दों के समुदायात्मक ग्रन्थ का नाम गीता है। इसलिए अनेक ज्ञान-विषयक ग्रन्थ भी गीता कहलाते हैं, जैसे देवीगीता, ब्रह्मगीता, अर्जुनगीता और रामगीता इत्यादि। किन्तु इन सब गीताओं में श्रीमद्भगवद्गीता ही मुख्य है, जिसमें कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा किया गया है। इसलिए पुराणों तथा गीता-ध्यान में इसी गीता के विषय में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥'

—गीतामाहात्म्यम्

"जितने भी उपनिषद् हैं, वे मानों गाय हैं, गोकुल के महान् गोपनन्दन (श्रीकृष्ण) दूध दुहनेवाले हैं, बुद्धिमान् अर्जुन भगवान् के कृपापात्र वत्स (बछड़ा) हैं अथवा यों कहिए कि अर्जुन थनों से दूध पन्हानेवाले हैं और जो दूध दुहा गया वही गीतामृत अर्थात् गीता का उपदेश है।" इस सात सौ श्लोक की गीता को श्रीमद्भगवद्गीता भी कहते हैं। यह हिन्दूग्रन्थों में तेजस्वी अमूल्य रत्न है। जिस ग्रन्थ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं भगवान् कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से वर्णन किया गया है, उसे हम हिन्दुओं का पंचम वेद कहें, तो भी अत्युक्ति न होगी। भारतवर्ष की सब भाषाओं में ही इसके अनेक अनुवाद, टीकाएँ और भाष्य नहीं हुए हैं, किन्तु जर्मन, फ्रेंच, लेटिन, ग्रीक और अँगरेज़ी आदि अनेक योरपियन भाषाओं में भी इस अमूल्य ग्रन्थ के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। संक्षेप में मतलब यह कि यह ग्रन्थ समस्त संसार में अद्वितीय है। गीता की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि उसका उपदेश सार्वभौम है, वह सांप्रदायिकता के रंग से रहित है। यही कारण है कि सब सम्प्रदायों के लोग और सब श्रेणियों के दार्शनिक महोदय गीता को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं।

आज के ठीक बारह वर्ष पूर्व हमने श्रीमद्भगवद्गीता का केवल हिन्दी-भाषा में अनुवाद किया था। हमारे मान्यवर पाठक

और पाठिकाओं ने उस अनुवाद की इतनी क़दर की कि इस जीवन में हमें उसके कई संस्करण देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके पूर्व सन् १९२४ में हमारे पूज्य पिताजी ने भी श्रीमद्भगवद्गीता का उर्दू भाषा में अनुवाद किया था, वह भी सुप्रसिद्ध 'नवलकिशोर-प्रेस' ही से प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस अमूल्य ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो चुकी हैं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का भाव समझाकर सर्वसाधारण का भारी उपकार किया है, तथापि कठिन विषय कितना ही सरल किया जाय, पर वह भी साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए कठिन ही रह जाता है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देश में शिक्षा का उतना प्रचार नहीं हुआ है जितना कि अन्य देशों में। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में तो अभी शिक्षा की और भी कमी है, किन्तु उनमें पुरुषों की अपेक्षा धार्मिक श्रद्धा कहीं अधिक है। इसी विचार से हमने इस ग्रन्थ का अनुवाद बोल-चाल की भाषा में करके गूढ़ विषयों को समझाने की चेष्टा की है। अनुवाद से जिन श्लोकों का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ, उनको व्याख्या द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। साथ ही हर एक श्लोक का पदच्छेद, अन्वय, प्रत्येक शब्द का अर्थ सरल हिन्दी भाषा में करने का उद्योग किया गया है। हमने विद्वत्ता के आवेश से नहीं, अनुवादक बनने

की इच्छा से नहीं, विद्वानों के लिए भी नहीं (क्योंकि विद्वानों के लिए तो बड़े-बड़े विद्वानों के अनुवाद मौजूद ही हैं) किन्तु केवल साधारण पढ़े-लिखे, उन स्त्री पुरुषों के लिए, जो संस्कृत के कठिन शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकते और इसीलिए इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के गूढ़ विषयों और भावों को समझने से वंचित रह जाते हैं, इस अपूर्व ग्रन्थ को बोलचाल की भाषा में लिखा है। हम आशा करते हैं कि हमारे इस परिश्रम से साधारण श्रेणी के जिज्ञासु पाठक-पाठिकाओं को इसको समझने में सुविधा होगी और उनका लाभ होते देखकर हम भी अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता के समान संसार में दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। यही एक ऐसा पवित्र ग्रन्थ है जिसका मनन करने से पापी मनुष्य भी इस असार संसार के दुःखों से छुटकारा पा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ की उपयोगिता और सर्वश्रेष्ठता के विषय में हम अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं समझते ; क्योंकि धर्म में श्रद्धा रखनेवाले सभी लोग इसे मानते हैं। अन्य देशों के विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पुराणों में इस ग्रन्थ का माहात्म्य विस्तारपूर्वक लिखा है। हमने पाठकों की जानकारी के लिए इस पवित्र ग्रन्थ का माहात्म्य भी पद्मपुराण के आधार पर प्रत्येक अध्याय के अन्त में दे दिया है।

एक बात और कहनी है कि जो लोग महाभारत को पढ़े या सुने बिना ही श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करते हैं, उन्हें यह सन्देह होता रहता है कि कौरव पाण्डव कौन थे ? इस भारी युद्ध का क्या कारण था ? भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश क्यों दिया ? इत्यादि इत्यादि। इस सन्देह को दूर करने के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में महाभारत का संक्षिप्त सार लगा दिया गया है और युद्ध का अन्त क्या और कैसे हुआ, इसके लिए ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भाग भी जोड़ दिया गया है। आशा है, यह पूर्ववृत्तान्त पाठकों को रुचिकर होगा। जहाँ तक हो सका, इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ को सुन्दर सजाकर ही पाठकों को अर्पण करने का साहस किया है। यदि असावधानी से इस ग्रन्थ में कहीं त्रुटियाँ रह गई हों, तो पाठकगण लिखकर हमें सूचना दें, ताकि आगामी संस्करण में उन्हें दूर कर दिया जाय।

अन्त में, रायबहादुर (अब राजा) मुंशी रामकुमारजी भार्गव, अध्यक्ष नवलकिशोर-प्रेस के हम बड़े आभारी हैं, जिनकी कृपा से इस हम आज अमूल्य ग्रन्थ के अनुवाद को प्रकाशित कर पाठकों की सेवा में अर्पण कर रहे हैं।

हाँ, एक बात और है, हम अपने मित्र पण्डित रूपनारायण-जी पाण्डेय 'माधुरी-सम्पादक' को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने इस ग्रन्थ के अन्तिम प्रूफ़ देखकर

और समय-समय पर अपने परामर्श द्वारा हमारी सहायता की है। वे लोग भी धन्यवाद के पात्र होंगे जो इस ग्रन्थ के अनुवाद और व्याख्या से लाभ उठाकर लेखक की सेवा को सफल करेंगे और इस प्रकार अपने को कृतार्थ करेंगे।

हरिः ! ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

२५ मार्च,
सन् १६४२ ई०

निवेदक,
हरिराम भार्गव

द्वितीय संस्करण की भूमिका

मैं एक नितान्त अल्पज्ञ मनुष्य हूँ, तिस पर भी मैंने गीता-जैसे कठिन ग्रन्थ का अनुवाद करने में क्यों हाथ डाला और उसकी क्या आवश्यकता थी, इन सब प्रश्नों का उत्तर 'नम्र निवेदन' में दिया जा चुका है।

गीता के प्रेमियों ने जिस प्रेम से मेरे अनुवाद को अपनाया है, उसे देखकर यदि मैं यह अनुमान करूँ कि जिस उद्देश्य से मैंने यह अनुवाद किया था वह सफल हुआ, तो शायद अनुचित न होगा। जिस उदारता से गीता के भक्तों ने पुस्तक खरीद कर मेरे परिश्रम को सराहा उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मुझे पूर्ण आशा है कि इस संस्करण का भी पहले संस्करण की तरह भगवद्भक्त पाठक अवश्य अपनावेंगे।

विनीत

हरिराम भार्गव

१ नवम्बर सन् १६४६

समर्पण

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

भगवान् कृष्ण के नाम जो गीता में आये हैं

अच्युत=जो अपनी प्रतिज्ञा व निश्चय से न डिगे या जो नाश को न प्राप्त हो।

अनन्त=जिसका अन्त न हो।

अरिसूदन=वैरियों का नाश करनेवाला।

आद्य=सबका आदिकारण।

कमलपत्राक्ष=कमलपुष्प के दल के समान नेत्रोंवाला।

कृष्ण=श्यामसुन्दर। जो भक्तों के दुःखों और पापादि दोषों का निवारण करता है, अथवा प्रलय के समय जो सब प्राणियों को अपने कारण में लीन करे।

केशव=लम्बे बालोंवाला अथवा केशी दैत्य को मारने के कारण भगवान् कृष्ण को 'केशव' भी कहते हैं। विष्णु।

केशिनिषूदन=केशी दैत्य का संहार करनेवाला।

गोविन्द=गउओं का पालनेवाला; इन्द्रियों को प्राप्त हुआ यानी अन्तर्यामी, (गो=स्वर्ग, विन्द=पाना) जिसकी भक्ति करने से स्वर्ग प्राप्त होता है।

जगत्पति= संसार का स्वामी।

जगन्निवास=जगत् में निवास करनेवाला।

जनार्दन=(जन=दुष्ट लोग, अर्दन=पीड़ा देना) दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देनेवाला; प्रार्थना करने पर मनुष्यों को पुरुषार्थ और मुक्ति देनेवाला।

देव=देवता; पूजने योग्य; परमेश्वर।

देवदेव=देवताओं का भी देवता।

देववर=देवताओं में श्रेष्ठ।

देवेश=देवताओं का ईश्वर।

पुरुषोत्तम=पुरुषों में श्रेष्ठ।

प्रभु=स्वामी, समर्थ, मालिक।

भगवान्=(भग=ऐश्वर्य, वान्=वाला=ऐश्वर्यवाला) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री यानी लक्ष्मी, वैराग्य और ज्ञान—इनको भग कहते हैं, जिसमें सम्पूर्णतया ये छः गुण नित्य रहें उसी का नाम भगवान् है।

भूतभावन=सब प्राणियों को उत्पन्न करनेवाला।

भूतेश=(भूत+ईश) सब प्राणियों का स्वामी।

मधुसूदन=(मधु=एक राक्षस का नाम, सूदन=मारनेवाला) मधु दैत्य को मारनेवाला।

महात्मा=(महा=बड़ा, आत्मा=जीव) महान् आत्मावाला, उत्तम, श्रेष्ठ।

महाबाहु=बड़ी भुजावाला ; बलवान् ; पराक्रमी।

माधव=(मा=लक्ष्मी, धव=पति) लक्ष्मीपति, मधु-कुलवाला, यानी यादव-वंशज।

यादव=यदुवंशी।

योगी=तपस्वी।

योगेश्वर=(योग=ध्यान या तप, ईश्वर=स्वामी) योगेश, जिसके लिए योगी तपस्या करते हैं।

वार्ष्णेय=वृष्णिकुल में उत्पन्न।

वासुदेव=वसुदेव का पुत्र।

विश्वमूर्ति=विश्वरूप मूर्तिवाला।

विष्णु=(विष्=फैलना) जो सम्पूर्ण सृष्टि में फैला हुआ हो, व्यापक, परमेश्वर।

सहस्रबाहु=हज़ारों हाथोंवाला।

हृषीकेश=(हृषीक=इन्द्रियाँ, ईश=स्वामी) इन्द्रियों का स्वामी, इन्द्रियाँ जिसके वश में हों।

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक

की

विषय-सूची

पूर्व-वृत्तान्त
या
महाभारत-सार

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

इक्ष्वाकु-वंश में एक महा प्रतापी और सत्यवादी महाभिष नाम राजा हुआ । उसने एक हज़ार अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न किया । मृत्यु होने पर वह स्वर्ग में जा सुखपूर्वक रहने लगा। एक समय वह ब्रह्माजी की सभा में गया, जहाँ बड़े-बड़े राजर्षि, ब्रह्मर्षि और देवता बैठे हुए थे । इतने में गंगाजी भी वहाँ आईं । हवा लगने से उनका उज्ज्वल वस्त्र उड़ गया, जिससे वे नंगी हो गईं । यह देख सारे सभासदों ने अपनी आँखें नीची कर लीं, परन्तु राजा महाभिष

इसी अवस्था में उन्हें देखता रहा। यह देख ब्रह्माजी ने उसे शाप दिया कि तुम इस पाप के कारण मनुष्य-योनि में जाकर जन्म लो। उस राजा ने चन्द्रवंशीय कौरवकुल में राजा प्रतीप के यहाँ जन्म लिया और महात्मा शन्तनु नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ समय पश्चात् राजा प्रतीप अपने पुत्र शन्तनु को राज-सिंहासन पर बिठा, आप राजपाट छोड़ वन को चले गए।

गंगा और अष्टवसु

गंगाजी इस राजा के विषय में सोचती हुई लौट ही रही थीं कि मार्ग में अष्टवसु मिल गए। उनके मलिन मुख को देख गंगाजी ने पूछा—"कहिए, आप लोग क्यों उदास हैं? सब देवता तो कुशल से हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—"सुमेरु पर्वत के पास ही एक अति रमणीय वन में वशिष्ठजी का आश्रम है। उस आश्रम में बड़े-बड़े ऋषि तपस्या करते हैं। कश्यपजी ने यज्ञादि के लिए वशिष्ठजी को नन्दिनी नाम की गऊ दी थी। यह नन्दिनी उनकी स्त्री दक्ष की पुत्री सुरभी से उत्पन्न हुई थी। एक समय हम लोग अपनी स्त्रियों के साथ उस वन में गए। द्यु नाम वसु की स्त्री ने उस गऊ को देख अपने पति से पूछा—"स्वामिन्! यह अति स्वरूपवती गऊ किसकी है?" द्यु ने उत्तर दिया—"हे प्रिये! यह गऊ वशिष्ठजी की है, जिनका यह आश्रम है। इसके दूध में यह प्रभाव है कि जो इसे पी ले, वह दस हज़ार वर्ष तक जीता रहे और कभी वृद्ध न हो।" यह सुन द्यु की स्त्री ने अपने पति से कहा—"इस गऊ को मैं अपनी सखी जितवती (जो

राजर्षि उशीनर की पुत्री थी) के लिए लेना चाहती हूँ, जिससे वह इस गऊ का दूध पी दस हज़ार वर्ष तक वृद्ध न होकर सुख से अपना जीवन व्यतीत करे। हे पतिदेव ! मेरी इस इच्छा को पूर्ण कीजिए।" यह सुनकर द्यु ने वशिष्ठजी के शाप का कुछ भय न कर, हम सब भाइयों की सहायता से उस गऊ को हर लिया। जब वशिष्ठजी फल-फूल लेकर अपने आश्रम को लौटे, तब उन्होंने उस गऊ को वहाँ न देखा। दिव्य दृष्टि से उन्होंने जान लिया की अष्टवसु मेरी गाय को चुरा ले गए हैं। वशिष्ठजी ने क्रोध करके शाप दिया कि मेरी गऊ के चुरानेवाले अष्टवसुओं को मृत्यु-लोक में मनुष्य-योनि में जन्म लेना पड़ेगा। यह सुन हम लोग शाप से छुटकारा पाने के लिए ऋषि के पास गए और प्रार्थना की कि हमारे इस अपराध को क्षमा कर दीजिए। ऋषि ने कहा कि मैंने शाप तो सबको दिया है; किन्तु द्यु को छोड़ तुम लोग कुछ समय बाद शाप से छूट जाओगे। हाँ, द्यु को मनुष्यलोक में बहुत दिनों तक रहना पड़ेगा। इसलिए हे गंगे ! हम लोग यह चाहते हैं कि तुम हम सबकी माता होकर जन्म लेते ही अपनी पवित्र धारा में बहाकर हम सबका उद्धार कर दो, जिससे हमें मनुष्यलोक में अधिक समय तक न रहना पड़े।

राजा शन्तनु का गंगा से विवाह

एक समय राजा शन्तनु वन में शिकार खेलने गए। शिकार से लौटते समय गंगा के किनारे उन्होंने लक्ष्मी के समान एक परम सुन्दरी स्त्री को शृङ्गार किए हुए देखा। उसे देख राजा शन्तनु मोहित हो गए। राजा ने कहा—

"हे परम सुन्दरी ! तू कौन है ? मैं तुझे अपनी पटरानी बनाना चाहता हूँ।" गंगा ने उत्तर दिया—'मैं आपकी पटरानी इस प्रतिज्ञा के साथ हो सकती हूँ कि भला या बुरा, जो कुछ काम मैं करूँ, मुझे कभी न रोकें। यदि रोकेंगे तो उसी समय मैं आपको छोड़कर चली जाऊँगी। राजा ने उनकी प्रतिज्ञा को स्वीकार कर उनके साथ विवाह कर लिया। आगे चलकर उनके गंगा रानी से आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सात को तो रानी ने जन्मते ही गंगा-प्रवाह में यह कहकर बहा दिया कि मैं तुमको प्रसन्न करती हूँ। राजा इस बात पर बहुत अप्रसन्न रहते, किन्तु चले जाने के भय से वह कुछ न कहते थे। जब आठवें पुत्र द्यु नाम वसु ने अवतार लिया और वह उन्हें भी नदी की धारा में बहाने को चलीं, तो पुत्र-शोक से अत्यन्त पीड़ित हुए राजा शन्तनु ने उन्हें रोककर कहा—"हे पुत्र-घातिनी ! अरी हत्यारी ! तू कौन है और किसकी पुत्री है ? क्यों ऐसा बुरा काम करती है ? खबरदार, मैं इस बालक को गंगा की धारा में फेंकने न दूँगा।" इस पर उस रमणी ने उत्तर दिया—"हे पुत्र की इच्छा रखनेवाले राजा ! लो, यह आपका पुत्र मौजूद है। मैं आपके कहने से अब इस पुत्र का नाश तो न करूँगी ; परन्तु प्रतिज्ञाभंग होने से मैं इसी समय आपसे विदा होती हूँ। मैं जह्नु की पुत्री गंगा हूँ। देवताओं का काम करने के लिए इतने दिन आपके साथ रही। ये आपके पुत्र अष्टवसु देवता थे, जिन्हें मैंने उत्पन्न होते ही गंगा में बहा दिया है। वशिष्ठजी के शाप से इन्हें पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा। अष्टवसुओं ने मुझसे पहले ही कह रक्खा था कि हमें जन्म लेते ही

जल में बहाकर मनुष्य-योनि से शीघ्र ही मुक्त कर देना। इसी लिए उत्पन्न होते ही मैंने इन्हें अपनी धारा में बहा दिया। अब मैं जाती हूँ; कुछ समय पीछे यह पुत्र आपको मिलेगा। ऐसा कह पुत्र को ले गंगाजी अन्तर्द्धान हो गईं।

इस प्रकार गंगा रानी के चले जाने से राजा को अत्यन्त दुःख हुआ, परन्तु पत्र के प्राण बचने से और कुछ समय बाद पुत्र के वापस मिलने के वादे के कारण राजा को कुछ सन्तोष हो गया।

राजा शन्तनु को गंगा से पुत्र-प्राप्ति

राजा शन्तनु बड़े धर्मात्मा, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, तेजस्वी और प्रजा का पालन करनेवाले थे। उनका राज्य समुद्र-पर्यन्त फैला हुआ था। उनकी राजधानी हस्तिना-पर थी। वह ३६ वर्ष तक विना स्त्री-सुख-भोग किए वन में ही रहे। एक समय वह गंगाजी के किनारे शिकार खेलने गए। वहाँ उन्होंने देखा कि एक सुन्दर राजकुमार ने, हाथ में धनुषवाण ले गंगाजी के जल को रोक रक्खा है। उसका यह अमानुष कार्य देख राजा को बड़ा अचंभा हुआ। राजा उसे पहचान न सके; किन्तु राजकुमार ने अपने पिता को पहचान लिया। वह राजा को मोहित करता हुआ जल में घुस गया। तब राजा को शंका हुई कि कहीं यह मेरा ही पुत्र तो नहीं है! निदान जल के पास जाकर राजा ने गंगा से कहा कि हमारे पुत्र को दिखला दो। यह सुन, गंगाजी सुन्दर रूप धर भीष्म की बाँह पकड़े हुए जल से बाहर निकल आईं और उन्होंने राजा से कहा कि यह वही आपका पुत्र है। इसने वशिष्ठजी से चारों वेद पढ़े हैं और परशु-

रामजी से सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या सीखी है। अब इसको ले जाइए। राजा शन्तनु अपने पुत्र को साथ ले हस्तिनापुर आए और उसके गुणों से प्रसन्न होकर उसे अपना युवराज बनाया।

भीष्म-चरित्र

भीष्म का नाम देवव्रत था। वह पिता के परम भक्त थे। राजा शन्तनु उनसे बड़े प्रसन्न थे। कुछ समय बाद एक दिन राजा शन्तनु यमुना नदी के तीर पर घूम रहे थे। कि उन्होंने सत्यवती नाम की धीवर-कन्या को देखा। वह बड़ी सुन्दरी थी और उसकी देह से कमल की सुगन्ध आ रही थी। उसके अद्भुत रूप, लावण्य और सुगन्ध पर राजा इतना मोहित हो गये कि तुरन्त उन्होंने उसके पिता के पास जाकर उसके साथ विवाह करने की प्रबल इच्छा प्रकट की। धीवर ने कहा—"राजन्! कन्या तो देने ही के लिए होती है, किन्तु यदि आप सत्यवती से होनेवाले पुत्र को ही राज्य का अधिकारी और युवराज बनाने की प्रतिज्ञा करें, तो मैं आपके साथ इस कन्या का विवाह कर सकता हूँ।" यद्यपि राजा सत्यवती पर अत्यधिक आसक्त हो गए थे, परन्तु वे इस भारी प्रतिज्ञा को सुन, शोकातुर हो, अपनी राजधानी को लौट आए; क्योंकि राजा अपने प्रिय पुत्र देवव्रत के अधिकारों पर पानी फेरना नहीं चाहते थे।

राजा उसके सोच में दिन-दिन दुबले होने लगे। वे रात-दिन उसी के ध्यान में डूबे रहते थे। पिता की यह दशा देख देवव्रत को भारी चिन्ता हुई। उन्होंने अपने पिता से

उस शोक और दुःख का कारण पूछा; किन्तु राजा ने उस बात को टाल दिया। अंत में उन्हें एक वृद्ध मंत्री से सब बात का पता लग गया। देवव्रत अपने कुटुम्ब के कुछ वृद्ध क्षत्रियों को साथ ले धीवर के पास गये और उससे बोले कि "मैं राज्य नहीं करूँगा ; तुम्हारी कन्या सत्यवती से जो पुत्र होगा वही इस राज्य का अधिकारी होगा। तुम डरो नहीं, अपनी कन्या को मेरे पिता के साथ ब्याह दो।" तब धीवर ने कहा—"महाराज ! आप तो अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं, परन्तु मुझे एक बात का सन्देह है। वह यह कि आपके जो पुत्र होगा, वह इस राज्य के लिए झगड़ा अवश्य करेगा।" तब देवव्रत ने उसके अभिप्राय को समझ सबके सामने यह प्रतिज्ञा की कि ,,मैं कभी विवाह ही न करूँगा ; आ-जीवन ब्रह्मचारी बना रहूँगा, इससे सत्यवती के पुत्र को राज्य-अधिकार पाने में कोई अड़चन नहीं पड़ेगी।" ऐसे वचन सुनकर देवताओं ने आकाश से फूलों की वर्षा की और 'भीष्मोऽयम्' यह आकाशवाणी हुई। तभी से लोग इस भीष्मप्रतिज्ञा के कारण देवव्रत को भीष्म कहने लगे।

निषादराज ने वह कन्या भीष्म को सौंप दी। भीष्म उसे रथ पर सवार करा हस्तिनापुर ले आए। उसे अपने पिता को सौंप कर उनका दुःख दूर किया। राजा शन्तनु ने भीष्म की कठिन प्रतिज्ञा पर प्रसन्न हो यह वर दिया कि तुम जब चाहोगे तभी तुम्हारी मृत्यु होगी, यानी बिना तुम्हारी इच्छा के तुम्हारी मृत्यु कदापि न होगी।

राजा शन्तनु के और दो पुत्रों का होना

सत्यवती से विवाह कर राजा शन्तनु सुखपूर्वक रहने लगे। उनके सत्यवती से दो पुत्र हुए। एक चित्रांगद और दूसरा विचित्रवीर्य। ये दोनों पुत्र अभी युवा न होने पाये थे कि राजा शन्तनु का देहान्त हो गया। तब भीष्मजी ने अपनी माता सत्यवती की अनुमति (सलाह) से चित्रांगद को राज-सिंहासन पर बिठाया। चित्रांगद बड़ा अभिमानी था। वह अपने बल के घमंड में किसी को कुछ न समझता था। कुछ समय बाद कुरुक्षेत्र में चित्रांगद का एक गन्धर्व से युद्ध हुआ और वह उसी के हाथ से मारा गया। तब भीष्मजी ने उसके छोटे भाई विचित्र-वीर्य को राज-गद्दी पर बिठाया। माता सत्यवती और भीष्मजी की अनुमति से वह अच्छी तरह से राज्य-शासन करता रहा। जब विचित्रवीर्य बड़ा हुआ तो भीष्मजी को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसी समय समाचार मिला कि काशिराज के तीन परमसुन्दरी कन्याएँ हैं, जिनका स्वयंवर है। भीष्मजी अकेले रथ पर सवार हो काशी गये और तीनों कन्याओं को अपने रथ पर बिठा चल खड़े हुए। उस समय सब राजा लोग अस्त्र-शस्त्र ले भीष्मजी के पीछे दौड़े; किन्तु भीष्मजी ने अपने भयंकर बाणों से सब राजाओं को मार भगाया। रास्ते में राजा शाल्व से युद्ध होने लगा। अन्त में भीष्मजी ने राजा शाल्व के सारथी और रथ के घोड़े मार उसे भी जीत लिया। दया से उसे जीता छोड़ आप हस्तिनापुर चले आये और तीनों कन्याएँ विचित्रवीर्य को सौंप दीं। जब तीनों कन्याओं का विवाह

विचित्रवीर्य से होने लगा, तो सबसे बड़ी बहन अम्बा ने कहा कि मैंने अपने मन में पहले से राजा शाल्व को वर रक्खा था, इसलिए मेरा विवाह राजा शाल्व के साथ होना चाहिए। भीष्म ने यह सुन उसे राजा शाल्व के पास जाने की आज्ञा दे दी और उसकी दोनों छोटी बहनों—अम्बिका और अम्बालिका—का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया। परन्तु सात-आठ वर्ष तक स्त्री और राज्य का सुख भोगकर विचित्रवीर्य युवा अवस्था में ही राजयक्ष्मा-रोग से मर गया।

सत्यवती अपने दोनों पुत्रों के मर जाने पर अति दुःखित हुईं और अब कोई सहारा न देख भीष्म से इस प्रकार कहने लगीं—"बेटा! मेरे दोनों पुत्र बिना सन्तान उत्पन्न किए पर-लोक सिधारे हैं, अब तुम्हारे सिवा कौरव-कुल को पिण्ड देनेवाला कोई नहीं है। इसलिए मेरी आज्ञा से विचित्रवीर्य की दोनों रानियों में सन्तान उत्पन्न करो, यानी पुत्रदान दो, अथवा स्वयम् राज-सिंहासन पर बैठ और विवाह कर, भरत-कुल की रक्षा करो।" भीष्म ने उत्तर दिया—"माता! मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे तुम अच्छी तरह जानती हो। मैं उस प्रतिज्ञा से तिलभर भी नहीं डिग सकता।"

महर्षि व्यास का आगमन

अन्त में सत्यवती ने भीष्म से कहा—"हे पुत्र! तुमसे मैंने एक बात छिपा रक्खी थी, जिसे मैं आज कहती हूँ। सुनो, तुम्हारे पिता के साथ विवाह होने के पहले मैं अपने पिता की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाया करती थी। एक

समय महर्षि पराशर वहाँ आये। मैंने उन्हें भी बिना उतराई लिये पार उतारा; किन्तु उन्होंने मुझे युवती देख और मुझ पर प्रसन्न हो एक पुत्र दिया। वह बालक मुझसे यह कहकर अपने पिता के साथ चला गया कि जब कभी तुमको संकट हो तब मेरी याद करना, मैं तुरन्त आ जाऊँगा। मेरा वह पुत्र परम तपस्वी, वेदों का विभाग करनेवाला वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध है। बेटा भीष्म! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो उसे बुला लिया जाय। वह हमारी तुम्हारी आज्ञा से विचित्रवीर्य की रानियों को अवश्य ही पुत्रदान देगा। भीष्म को यह बात पसन्द आई। जब सत्यवती ने व्यासजी का स्मरण किया तो वे उसी क्षण वेदों को पढ़ते हुए माता के सामने आ खड़े हुए। सत्यवती ने अपने पुत्र व्यासजी का बहुत सत्कार किया और उनसे सब हाल कहा। माता की विपद् को जानकर व्यासजी ने कहा कि हे माता! तू प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के धर्मों को जानती है। मैं तेरी आज्ञा से विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों को धर्मार्थ पुत्र देने को उद्यत (तैयार) हूँ, परन्तु अपनी पुत्रवधुओं से कह देना कि मेरे भयानक और काले रूप को देखकर मन में किसी भी प्रकार की ग्लानि न करें। यह कह व्यासजी अन्तर्द्धान हो गये।

धृतराष्ट्र का जन्म

सत्यवती ने विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों को समझा-बुझाकर कुरुवंश चलाने के लिए राज़ी किया। तब बड़ी बहू अम्बिका ऋतुस्नान कर पुत्र के लिए ध्यान करने लगी। आधी रात को व्यासजी का शुभ आगमन हुआ। द्वैपायन

व्यास का रूप भयानक था। उनकी आँखें अग्नि के समान जल रही थीं। जटाएँ पीली और मूछें भूरी थीं। व्यासजी का ऐसा विकट रूप देख अम्बिका घबरा गई। उसने डर के मारे अपनी आँखें बन्द कर लीं और मारे डर के उनके दर्शन तक नहीं किये। जब व्यासजी सत्यवती के पास आये तो उन्होंने कहा कि इसके पराक्रमी, दस हज़ार हाथी के तुल्य बलवाला, बड़ा बुद्धिमान् पुत्र होगा, जिसके सौ पुत्र होंगे। परन्तु माता के दोष से वह अन्धा होगा। यह सुन सत्यवती ने कहा कि अन्धा राजा कुरुवंश के योग्य नहीं। इसलिए दूसरा पुत्र दो। व्यासजी ने उसे स्वीकार किया और अन्तर्द्धान हो गए। समय पाकर अम्बिका से जन्मान्ध धृतराष्ट्र उत्पन्न हुए।

पाण्डु और विदुर का जन्म

कुछ समय बाद सत्यवती ने अपनी छोटी बहू अम्बिका को व्यासजी की सेवा में भेजा। परन्तु वह भी उनका भयानक रूप देख डर गई और मारे भय के पीली पड़ गई। इससे एक पुत्र पाण्डुवर्ण का उत्पन्न हुआ। उसके रंग के अनुसार ही उसका नाम पाण्डु पड़ा। दो में से एक भी पुत्र सर्वाङ्गसुन्दर न देख सत्यवती ने तीसरे पुत्र के लिए प्रार्थना की और व्यासजी को स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने फिर बड़ी बहू को व्यासजी की सेवा के लिए भेजना चाहा; परन्तु वह पहले ही से डरी हुई थी, इसलिए उसने एक दासी को अपने कपड़े और गहने पहनाकर उनके पास भेज दिया। दासी ने व्यासदेव की भली प्रकार सेवा कर उन्हें प्रसन्न किया। व्यासजी ने सन्तुष्ट होकर कहा कि तेरा

पुत्र बड़ा बुद्धिमान् और धर्मात्मा होगा। समय पाकर दासी के सर्वाङ्गपूर्ण पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम विदुर पड़ा। सत्यवती और भीष्म ने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीनों का सगे भाइयों के समान लालन-पालन किया और सब एक ही साथ राज-मन्दिर में रहने लगे।

धृतराष्ट्र का विवाह

भीष्मजी ने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर का पुत्र के समान लालन-पालन किया। कुछ समय बाद ये तीनों युवा हो पुराण, वेद, वेदाङ्ग, धनुर्वेद (शस्त्र चलाने की विद्या) व नीति आदि सब शास्त्रों में प्रवीण हो गये। देह-बल में धृतराष्ट्र का नम्बर अव्वल था; धनुर्विद्या में पाण्डु बड़े निपुण थे और राजनीति में विदुर के समान कोई दूसरा उस समय न था। धृतराष्ट्र अन्धे थे और विदुर दासीपुत्र, इसलिए इन दोनों को अयोग्य जानकर भीष्मजी ने पाण्डु को ही राज-सिंहासन पर बिठाया।

भीष्मजी ने जब सुना कि राजा सुबल की पुत्री गांधारी ने शिवजी की सेवा कर सौ पुत्र पाने का वरदान पाया है तो उन्होंने कहला भेजा कि अपनी कन्या का विवाह धृतराष्ट्र से कर दीजिए। राजा सुबल, धृतराष्ट्र को अन्धा जान, पहले तो घबराये; किन्तु फिर कौरव-कुल की मर्यादा का ख़याल करके अपनी पुत्री गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र के साथ कर दिया। गांधारी ने अपने पति को अन्धा जान पतिव्रत धर्म के अनुसार उसी क्षण अपनी दोनों आँखों पर पट्टी बाँध ली और मरणपर्यन्त पति के समान अन्धी बनी रहीं।

गांधारी अपने शील-स्वभाव के कारण गुरुजनों की सेवा किया करती थीं, इसी लिए उनके गुणों पर सभी मुग्ध थे।

राजा पाण्डु का कुन्ती से विवाह

पाण्डु के दो विवाह हुए। एक पृथा के साथ और दूसरा माद्री के साथ। पृथा वसुदेव की वहन और कृष्ण की बुआ थीं। वसुदेव के पिता शूरसेन ने अपनी बुआ के भाई कुन्तिभोज को इन्हें दे दिया था; क्योंकि उनके कोई सन्तान न थी। इसी से इनका नाम कुन्ती भी हुआ। राजा कुन्ति-भोज के यहाँ जो ऋषि आया करते थे, उनकी सेवा कुन्ती ही किया करती थीं। एक समय दुर्वासा ऋषि ने सेवा से प्रसन्न होकर कुन्ती को ऐसा मंत्र दिया, जिससे देवता वश में हो जायँ, और जिस देवता का ध्यान करें उसी से पुत्र हो। उस समय कुन्ती नासमझ थीं। उन्होंने उस मंत्र को खेल समझ परीक्षा लेने के लिए सूर्यनारायण का ध्यान किया, जिससे समय पाकर एक कवच और कुण्डल धारण किए हुए बड़ा प्रतापी और तेजस्वी पुत्र हुआ। अभी कुन्ती का विवाह नहीं हुआ था, इसलिए भाई-बान्धवों के भय से उन्होंने एक विश्वासपात्र दासी के द्वारा उस बालक को सन्दूक़ में रख नदी में बहवा दिया। सूर्यनारायण के वरदान से कुन्ती ज्यों की त्यों बनी रहीं, यानी उनका कन्या-भाव दूषित नहीं हो पाया। थोड़े ही समय के बाद उनका स्वयंवर हुआ। कुन्ती ने सब राजाओं के बीच पाण्डु के स्वरूप और प्रताप को देख उन्हीं के गले में जयमाल डाल दी। राजा कुन्तिभोज ने शास्त्रानुसार कुन्ती का विवाह कर दिया और राजा पाण्डु उन्हें लेकर हस्तिनापुर लौट आये।

कर्ण का वृत्तान्त

कुन्ती ने अपनी कुमारावस्था में सूर्यनारायण से उत्पन्न हुए जिस बालक को नदी में बहवा दिया था, उसे कौरवों के सारथी अधिरथ ने पाया और अपनी स्त्री राधा को सौंप दिया। अधिरथ ने उसका नाम वसुपर्ण रक्खा था। थोड़े दिनों में यह बालक बड़ा शूरवीर और अस्त्र-शस्त्र के युद्ध में चतुर हो गया। इसकी शूरता पर मुग्ध हो दुर्योधन इसका बड़ी इज़्ज़त किया करता था। दानी तो यह ऐसा था कि प्रातःकाल से दोपहर तक पूजा के समय, जो ब्राह्मण उसके पास चला जाता था, उसे वह जो कुछ माँगता था, वही दे देता था। यही सोचकर पूजा के समय में, इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप रख, अर्जुन की भलाई के लिए कवच-कुण्डल माँगे और उसने अपनी देह में जुड़े हुए होने पर भी उन्हें कतरकर दे दिया। इसी उग्र कर्म के करने से उसका नाम वैकर्तन कर्ण हुआ।

पाण्डु का माद्री के साथ विवाह

माद्री राजा शल्य की बहन थी। शल्य मद्रदेश के राजा थे। एक समय भीष्मजी मद्रदेश गये। वहाँ माद्री के गुणों की प्रशंसा सुन राजा शल्य से उन्होंने कहा कि राजन्, माद्री का विवाह पाण्डु से कर दीजिए। राजा शल्य ने भीष्म के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। भीष्मजी उसे लेकर हस्तिनापुर आए और शुभ मुहूर्त में उसका विवाह पाण्डु से कर दिया।

राजा पाण्डु को शाप

राजा पाण्डु बड़े प्रतापी और धर्मात्मा थे। उन्हें शिकार खेलने का बड़ा शौक़ था। एक दिन वह बड़े भयानक वन में गये। वहाँ शिकार खेलते-खेलते उन्होंने हरिण के जोड़े को देखा। पाण्डु से रहा न गया, उन्होंने हरिण पर बाण छोड़ ही तो दिया। यह हरिण का जोड़ा था। असल में यह ऋषि-कुमार था, जो मृगरूप रख अपनी पत्नी से सहवास कर रहा था। बाण लगते ही वह पीड़ा से व्याकुल हो अपना असली रूप रख चिल्लाने लगा। राजा पाण्डु घबराकर कहने लगे कि आज मुझसे बड़ा अपराध हुआ। हां! मैंने हरिण के धोखे ब्राह्मण-कुमार का वध कर डाला। राजा ने ऋषिकुमार से अपना अपराध क्षमा करने के लिए प्रार्थना की; परन्तु ऋषि-कुमार ने एक न मानी। उसने कहा कि राजन्, तुमने हरिण के धोखे बाण चलाया, इसलिए तुमको ब्रह्महत्या तो न लगी, किन्तु रानी के साथ संगम होते ही तुम्हारी भी मृत्यु अवश्य होगी। यह कह, ऋषिकुमार ने अपना शरीर छोड़ दिया।

पाण्डु की तपश्चर्या

राजा पाण्डु इस शाप से संतप्त होकर फिर हस्तिनापुर नहीं लौटे। उनके मन में उसी समय से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपनी दोनों रानियों से सारा हाल कह विदा माँगी और कहा कि अब मैं कठिन तप करने में ही अपना शेष जीवन बिताऊँगा। राजा पाण्डु की दोनों रानियाँ बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने कहा कि स्वामिन्, हम भी आप ही

के साथ रहेंगी। महाराज, विना आपके हम लोग किसी प्रकार जीवित न रह सकेंगी। तब राजा पाण्डु अपनी दोनों रानियों को साथ ले शतशृंग पर्वत पर चले गये और वहाँ उन्होंने ऐसी उग्र तपस्या की कि थोड़े ही समय में वह ब्रह्मऋषि के समान हो गये।

पाण्डव-जन्म

राजा पाण्डु यद्यपि तपोबल से निष्पाप हो गये थे; परन्तु कोई पुत्र न होने के कारण वे बहुत दुखी रहते थे। कुन्ती राजा के मन की बात ताड़ गई। उन्होंने राजा से अपने बालपन में मन्त्र पाने का सारा हाल कहा। इस पर राजा ने उन्हें देवताओं के द्वारा क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दे दी। कुन्ती ने उसी मंत्र को स्मरण कर पहले धर्मराज से युधिष्ठिर को, फिर वायु से भीमसेन को और सबसे पीछे इन्द्र से अर्जुन को उत्पन्न किया। राजा पाण्डु की छोटी रानी माद्री थी। कुन्ती के तीन पुत्रों को देख, उसने भी चाहा कि मेरे पुत्र हों। राजा से विनय कर, उसने उनसे कुन्ती को इसके लिए आज्ञा दिलाई। कुन्ती ने एक बार मंत्र के आह्वान से किसी देवता के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने को कहा। माद्री ने, इस चाल से कि मेरे दो पुत्र हों, अश्विनीकुमारों को बुलाया और एक ही साथ नकुल तथा सहदेव को उत्पन्न किया। युधिष्ठिर सबमें बड़े थे और राज्य था उनके पिता पाण्डु का, इसलिए राज्य के अधिकारी एकमात्र युधिष्ठिर ही थे। राजा पाण्डु अपने पाँचों पुत्रों को देख बहुत प्रसन्न रहते थे।

गान्धारी से दुर्योधन आदि का जन्म

राजा पाण्डु के वन चले जाने पर राज्य का काम-काज धृतराष्ट्र ही चलाते रहे। एक समय वेदव्यासजी भूख-प्यास से व्याकुल हो राजा धृतराष्ट्र के यहाँ गये। गान्धारी ने उनकी बड़ी सेवा की। वेदव्यासजी ने प्रसन्न होकर उन्हें यह वर दिया कि तेरे एक सौ पुत्र होंगे। समय पाकर गान्धारी गर्भवती हुईं। इसी बीच में उन्होंने सुना कि कुन्ती के बड़ा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह सुनकर गान्धारी को अति दुःख हुआ, क्योंकि जेठा होने के कारण अब राज्य का अधिकारी कुन्ती-पुत्र होगा। क्रोध में आ गान्धारी ने अपने पेट पर इतने ज़ोर से एक घूँसा मारा कि उनका गर्भ समय पूरा होने के पहले ही गिर पड़ा। उस लोहे-सरीखे कड़े मांस के टुकड़े को वह फेंक देना चाहती थीं कि इतने में वेदव्यासजी आ उपस्थित हुए। गान्धारी उस समय शोकातुर हो अपने कुकर्म पर पश्चात्ताप कर रही थीं। गान्धारी के विलाप को सुन व्यासजी ने कहा—'बेटी! घबरा नहीं, मेरा कहना कभी झूठ न होगा।' यह कह व्यासजी ने सौ मिट्टी के घड़े मँगवाये। और उस मांस-पिण्ड पर जल छिड़ककर उसके एक सौ टुकड़े किए। फिर उन घड़ों में घी भरवाया और एक-एक टुकड़े को एक-एक घड़े में गान्धारी के हाथ से डलवा दिया। अन्त में सौ टुकड़ों के सिवा एक टुकड़ा और बच रहा। तब व्यासजी ने कहा कि इस शेष टुकड़े को भी किसी एक घड़े में डाल दो इससे एक कन्या उत्पन्न होगी। इन घड़ों को किसी अच्छी जगह रखवा दो जहाँ कोई उन्हें स्पर्श न कर सके। समय पाक

वे गर्भ घड़ों में बढ़ने लगे। इस प्रकार नियत समय पर घड़ों के खोलने पर दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र और दुःशला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। धृतराष्ट्र के एक वेश्या स्त्री भी थी। उससे भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम युयुत्सु था।

पाण्डु की मृत्यु और उनका अन्तिम संस्कार

एक दिन राजा पाण्डु अपनी छोटी रानी माद्री के साथ वनविहार करने गये। वहाँ सुन्दर वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से मुग्ध हो गये। राजा का अब अन्त समय आ गया था। ऋषिकुमार के शापवश हो राजा माद्री से लिपट गये और उनका प्राण-पक्षी शरीर से उड़ गया। पति को मृत देखकर माद्री शिर पीट-पीट रोने लगी। थोड़ी देर में कुन्ती और पाँचों पुत्र भी वहाँ जा पहुँचे। राजा की दशा देख सभी विलाप करने लगे। स्त्रीधर्म के अनुसार कुन्ती ने सती होना चाहा ; किन्तु माद्री ने उसे रोककर कहा—'राजा मेरे ही संगम से मृत्यु को प्राप्त हुए हैं इसलिए मैं ही पति के साथ सती होऊँगी।' यह कह राजा के शरीर से लिपट उसने अपने प्राणों को त्याग दिया। जिस वन में राजा पाण्डु रहते थे वहाँ के ऋषि अपना कर्त्तव्य समझ, कुन्ती और उनके पाँचों पुत्रों के साथ, पाण्डु और माद्री की लोथ को हस्तिना-पुर ले आये। भीष्म और धृतराष्ट्र आदि ने ऋषियों का सत्कार किया तथा पाण्डु और माद्री का शास्त्रानुसार अग्नि-संस्कार कर अंतिम क्रिया की।

भीमसेन को विषदान

पाण्डव अब अपने पिता के घर में ही रहने लगे। भीमसेन

बल में सबसे अधिक थे। ये बड़े उत्पाती थे और समय-समय पर कौरवों को बहुत तंग किया करते थे। जल-विहार करते समय भीमसेन दुर्योधन आदि कौरवों को अथाह जल में डुबा देते थे। यदि वे पेड़ पर चढ़ जाते थे, तो भीम उस पेड़ को इतने ज़ोर से हिला देते थे कि कौरव पटापट नीचे गिर पड़ते थे। भीमसेन को इतना बली देखकर दुर्योधन मन ही मन कुढ़ा करता था। एक दिन उसने सोचा कि बल से भीम को मारना, हराना या जीतना असम्भव है अतएव अब छल-कपट का ही आश्रय लेना चाहिए। यह सोच दुर्योधन ने खेल-कूद के बहाने गंगाजी के किनारे जाने का निश्चय किया। वहाँ बड़े ठाट से तम्बू डेरे लगवाये गये। भोजन के लिए भी अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ तैयार कराकर वहीं भिजवा दिए। पाण्डव भी निमन्त्रित किये गये थे। दुर्योधन ने अपने दुष्ट स्वभाव के कारण भीमसेन के लिए विष मिला हुआ भोजन एकान्त में रखवा दिया था। जब खेल समाप्त हो चुका, तब दुर्योधन आदि सौ भाई और पाँचों पाण्डव एक बाग़ में साथ ही भोजन करने बैठे। वहाँ भीम को जो थाली परोसी गई, उसमें नज़र बचाकर दुर्योधन ने एक मिठाई का दोना ऐसा रख दिया, जिसमें विष मिला हुआ था। भीमसेन ने बिना जाने उसे खा लिया। यह देख दुर्योधन मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। भोजन हो चुकने पर सब लोग जल-विहार करने लगे। साँझ हो चुकी थी। सबने अपने अपने कपड़े पहन वहीं बाग़ में रात को विश्राम करने का निश्चय किया। भीमसेन विष की गर्मी से अचेत हो गंगा के किनारे पड़े रह गये। इस दशा में दुर्योधन के आदमियों ने भीमसेन की देह को लताओं से खूब जकड़

गंगाजी में डाल दिया। चुपके से यह पाप कर्म कर दुर्योधन अपने डेरे पर लौट आया। दूसरे दिन भीम को अपने बीच में न देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने यह समझा कि भीम घर चले गये होंगे। वे लोग जल्दी-जल्दी अपनी-अपनी सवारियों पर सवार हो हस्तिनापुर आये। वहाँ न देख पाकर वे भीम को जगह-जगह ढूँढ़ने लगे। जब वह कहीं न मिले, तो वे बड़े दुःखी हुए। भीमसेन के न मिलने के दुःख में माता कुन्ती को अपार शोक हुआ। इतने में विदुरजी को भी यह बात मालूम हुई। वे आये और कुन्ती को धीरज दे कहने लगे कि भीमसेन अवश्य ही लौट आवेगा। उसकी आयु लम्बी है, वह कहीं-न-कहीं अवश्य सुरक्षित है। उसके लिए आप सोच न करें। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। दुर्योधन के ढकेल देने पर भीमसेन नागलोक में जा पहुँचे। वहाँ सर्पों के डसने से उनका विष दूर हो गया। सचेत होने पर भीमसेन साँपों को मारने-पीटने लगे और वे सब भाग गये। भागे हुए सर्पों ने यह हाल नागराज वासुकि से कहा। नागराज वासुकि स्वयम् वहाँ आये और उन्होंने भीम को पहचान लिया। वह 'दौहित्र, दौहित्र' कहकर बड़े प्रेम से मिले। ये नागराज वासुकि भीमसेन के नाना के नाना थे। भीमसेन का वहाँ खूब आदर-सत्कार हुआ। नागों ने इन्हें अमृत-पूर्ण बर्तन से ऐसा अमृत पिलाया जिससे विष का सारा असर जाता रहा और जिसके पीने से इनके शरीर में दस हज़ार हाथियों का बल आ गया। आठ दिन बाद अपने मातामह वासुकि की आज्ञा लेकर नागलोक से बहुत-सी भेंट लेकर भीमसेन अपने घर लौट आये। कुन्ती और युधिष्ठिर इन्हें देख बड़े प्रसन्न हुए। भीम ने सारी कथा युधिष्ठिर से

कह सुनाई। युधिष्ठिर समझदार थे। उन्होंने कहा—"भाई! यह बात अब किसी से न कहना। किन्तु आज से हम लोगों को बड़ी सावधानी से चलना होगा; क्योंकि दुर्योधन बड़ा ही दुष्ट और कुटिल है।"

राजकुमारों की शिक्षा

एक समय महाराज शन्तनु के एक सेवक ने वन में एक बालक और बालिका को पड़े हुए देखा। पास ही एक मृगछाला और धनुषबाण पड़ा देख उसने अनुमान किया कि हो न हो यह धनुर्विद्या जाननेवाले ब्राह्मण की सन्तान है। वह सेवक उन दोनों को महाराज शन्तनु के पास ले आया। महाराज ने कृपा कर आज्ञा दी कि इन दोनों को अन्य राजकुमारों के समान पाला जाय। इसी लिए इनका नाम कृप और कृपी हुआ। असल में ये बच्चे महर्षि शरद्वान् के थे, जिन्होंने तप-भङ्ग होने के डर से इन्हें ईश्वर के भरोसे वन में छोड़ दिया था। जब इन्हें यह मालूम हुआ कि मेरी सन्तान का पालन-पोषण राजगृह में हो रहा है, तब वह वहाँ गये और अपने प्यारे पुत्र कृप को शस्त्र चलाने में निपुण कर दिया। यही कारण था कि इन्हें आचार्य की पदवी मिली। राजा धृतराष्ट्र ने, भीष्म की अनुमति से इन्हीं कृपाचार्य के पास पाँचों पाण्डवों व दुर्योधन आदि को अस्त्र-विद्या सीखने के लिए भेजा। जब ये राजकुमार कृपाचार्य से कुछ धनुर्विद्या सीख चुके, तब भीष्मजी ने महर्षि भरद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य की ख्याति सुन राजकुमारों को उन्हीं के सिपुर्द कर दिया। द्रोणाचार्य महर्षि परशुराम और अग्निवेश के शिष्य थे। ये अस्त्र-शस्त्र चलाने में बड़े प्रवीण थे। महर्षि द्रोणाचार्य इन राजकुमारों को अपने पुत्र अश्वत्थामा

के साथ-साथ विधिपूर्वक धनुर्विद्या की शिक्षा देने लगे। इन्हीं राजकुमारों के साथ कुन्तीपुत्र कर्ण भी अस्त्र-शस्त्र की विद्या सीखने आया करता था। धनुर्वेद में अर्जुन ने बड़ी योग्यता प्राप्त की। वह अपने गुरु के समान ही धनुर्धर हो गया। केवल कर्ण ही एक ऐसा था जो बाणविद्या में अर्जुन का मुक़ाबला कर सकता था। इसी से दुर्योधन कर्ण की बड़ी इज़्ज़त किया करता था, यहाँ तक कि अङ्गदेश का राज्य देकर उसने उसे अपना परम मित्र बना लिया था।

गुरु द्रोणाचार्य की प्रशंसा सुन सैकड़ों राजकुमार देश-देशान्तर से आकर उनके शिष्य हुए। उनमें से निषादों के राजा का पुत्र एकलव्य भी शिष्य होने आया; किन्तु शूद्र होने के कारण गुरुजी ने उसे अपना शिष्य बनाने से इनकार कर दिया। उसे निराश हो लौट जाना पड़ा। उसने घर जा द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्त्ति बनाई। उस मूर्त्ति को सामने रख, वह अकेला ही धनुर्वेद का अभ्यास करने लगा। श्रद्धा और अभ्यास के कारण वह बाण चलाने में अर्जुन से भी एक क़दम आगे बढ़ गया। यह देखकर अर्जुन को बड़ा आश्चर्य और दुःख हुआ। अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य से कहा, यह एकलव्य धनुर्विद्या में मुझसे भी अधिक कैसे प्रवीण हो गया? गुरुजी ने, उसे अति प्रवीण पा, अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए उसके दाहने हाथ के अँगूठे को गुरुदक्षिणा में माँग लिया। निषादपुत्र ने तुरन्त अपना अँगूठा काटकर दे दिया। अँगूठे से हाथ धो बैठने पर भी एकलव्य ही एक ऐसा था जो अर्जुन की बराबरी कर सकता था। अर्जुन ने शब्द पर बाण से निशाना मारने का अभ्यास भी अच्छा किया था। इसी से प्रसन्न होकर गुरु द्रोणाचार्य ने उसे

'ब्रह्मशिरा' नामक अस्त्र दिया था। धनुर्विद्या में अर्जुन की बराबरी करनेवाला कोई न था। गदा चलाने में भीम और दुर्योधन निपुण थे। युधिष्ठिर ने रथ पर सवार होकर युद्ध करने का अच्छा अभ्यास किया था। नकुल और सहदेव तलवार चलाने में सबसे अधिक योग्यता रखते थे।

द्रोणाचार्य का राजा द्रुपद से अपने अपमान का बदला लेना

सब राजकुमारों का अध्ययन पूर्ण होने पर द्रोणाचार्यजी ने यह गुरुदक्षिणा माँगी कि सब कोई मिलकर जाओ और पाञ्चालदेश के राजा द्रुपद को हमारे सामने क़ैदी के समान पकड़कर ले आओ; क्योंकि उसने गुरुबन्धु होते हुए भी राजमद से उन्मत्त होकर हमारा बड़ा अपमान किया है। यह सुन सबके सब उधर चल पड़े। सबसे पहले कौरवों ने धावा किया; किन्तु वे राजा द्रुपद के साथ घोर युद्ध करने पर भी उसे क़ैद न कर सके। फिर अर्जुन भाइयों-सहित मैदान में कूद पड़े। उन्होंने राजा द्रुपद की सेना का बुरा हाल किया और उसे क़ैद कर गुरु के पास ले आये। द्रोणाचार्य ने आधा राज्य लेकर उसे विदा कर दिया। द्रुपद आधा राज्य देकर वापिस तो आ गया; किन्तु उसी दिन से द्रोणाचार्य के वध का उपाय ढूँढ़ने लगा। महर्षि याज और उपयाज की सहायता से उसने पुत्रेष्टि नाम का यज्ञ किया, जिससे उसके धृष्टद्युम्न नामक महापराक्रमी बलवान् पुत्र और कृष्णा नाम की अतिसुन्दरी कन्या हुई। कुछ समय पश्चात् इसी धृष्टद्युम्न ने अपने पिता द्रुपद का बदला लिया और गुरु द्रोणाचार्य का वध किया।

पाण्डवों की वारणावत-यात्रा

शस्त्र-विद्या में पाण्डवों की अधिक कीर्ति और योग्यता सुनकर धृतराष्ट्र को भय हो गया कि अब मेरे पुत्रों को राज्य मिलना असम्भव-सा मालूम होता है। इसके सिवा नगर-निवासी भी यही चाहते थे कि यह राज्य युधिष्ठिर को ही दिया जाय ; क्योंकि इस राज्य पर इन्हीं का हक़ है। प्रजा के इस भाव को जानकर दुर्योधन को नींद नहीं पड़ती थी। वह अपने पिता धृतराष्ट्र के पास रोज़ जाता और यही चाहता था कि यह राज्य मुझको दिया जाय। दुर्योधन रात-दिन यही सोचा करता था कि किस प्रकार पाण्डवों का नाश हो। अन्त में मामा शकुनि और मित्र कर्ण की सलाह से तथा कणिक मंत्री की सहायता से दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र को इस बात पर राज़ी कर लिया कि कुछ दिनों के लिए पाण्डव लोग वारणावत नगर में भेज दिये जायँ। इच्छा न होते हुए भी धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से इस प्रकार कहा—"हे पुत्र, वारणावत नगर की सभी प्रशंसा कर रहे हैं, वहाँ शिवजी का उत्सव भी होनेवाला है। यदि चाहो, तो अपनी माता-सहित कुछ दिन वहाँ जाकर सुखपूर्वक रह सकते हो।" धृतराष्ट्र की यह आज्ञा सुन युधिष्ठिर ताड़ गये कि कुछ दाल में काला अवश्य है, और हो न हो, यह दुष्ट दुर्योधन ही की चाल है। इतना समझते हुए भी युधिष्ठिर ने राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझा और वे माता कुन्ती और अपने भाइयों को लेकर वारणावत को चल दिये। उनके जाने के पहले ही दुष्ट दुर्योधन ने पुरोचन नाम के एक विश्वासपात्र मंत्री को वहाँ

भेजकर लाख का एक घर इसलिए बनवा दिया था कि जब पाण्डव लोग उसमें रहने लगें, तब आग लगाकर वे भस्म कर दिए जायँ। धृतराष्ट्र आदि को इस षड्यंत्र का कुछ पता न था; किन्तु विदुर को यह बात मालूम हो गई थी। इसलिए इन्होंने चलते समय युधिष्ठिर को सावधान कर दिया था। जब पाण्डव लोग सत्कारपूर्वक लाख से बने घर में उतारे गये, तो उन्होंने तुरन्त उस घर के अन्दर ही अन्दर सुरंग खुदवाकर जंगल की ओर रास्ता बनवा लिया, ताकि लाक्षागृह में आग लगने पर उस रास्ते से निकल भागें।

लाक्षागृह में अग्नि

जब युधिष्ठिर को पक्का निश्चय हो गया कि पुरोचन अमुक दिन लाक्षागृह में आग लगावेगा, तब उसके पहले ही उसी लाक्षागृह के शस्त्रागार में दुष्ट पुरोचन को सोते देख युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा कि यह मौक़ा हम लोगों के लिए बड़ा अच्छा है। तुम्हीं आग लगा दो और हम सब चुपके से इस सुरंग की राह से भाग चलें। भीमसेन ने वैसा ही किया। युधिष्ठिर आदि सब पहले ही से तैयार थे। ज्यों ही आग भभकने लगी, त्यों ही सबके सब उस सुरंग द्वारा बाहर निकल गये। यहाँ लाक्षागृह के साथ ही वह दुष्ट पुरोचन भी भस्म हो गया।

जिस रात लाक्षागृह में आग लगी थी, उस रात केवट जाति की एक स्त्री भी अपने पाँच पुत्रों सहित वहाँ पर आ सो गई थी। उसके जल जाने के कारण दूसरे दिन छः आदमियों के शरीर के ढाँचे मिलने से सब लोगों ने यही समझा कि कुन्ती और पाँचों पाण्डव भस्म हो गये। यह समाचार

जब हस्तिनापुर पहुँचा, तो राजा धृतराष्ट्र ने उनकी उत्तर-क्रिया भी कर डाली। दुर्योधन की इस दुष्टता और छल-कपट को समझ लोग उसकी निंदा करने लगे।

भीमसेन से हिडिम्बा में घटोत्कच

पाण्डव लोग, उस रात, भागते हुए एक जंगल में जा पहुँचे। वे थके तो थे ही, एक वृक्ष के नीचे लेटते ही सो गये। भीमसेन जाग रहे थे और सबकी रखवाली कर रहे थे। पास ही एक वृक्ष पर हिडिम्ब नाम राक्षस और उसका बहन हिडिम्बा दोनों रहते थे। मनुष्य की गन्ध पाकर उस राक्षस ने इन सबको मारने के लिए अपनी बहन हिडिम्बा को भेजा। राक्षसी हिडिम्बा ने वहाँ भीमसेन को रखवाली करते देखा। वह भीम की सुन्दरता पर लट्टू हो गई और उन्हें अपना पति बनाने को तैयार हो गई; परन्तु भीमसेन राज़ी न होते थे। इतने में राक्षस हिडिम्ब स्वयम् वहाँ जा पहुँचा और अपनी बहन को बुरा-भला कह भीम पर झपटा। दोनों का घोर युद्ध हुआ; अन्त में भीमसेन ने उसे मार डाला। भीम से दुतकारे जाने पर हिडिम्बा ने माता कुन्ती की शरण ली। माता कुन्ती और बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा से भीम ने उसके साथ विवाह कर लिया। इसी हिडिम्बा के गर्भ से भीमसेन के एक महा बलवान् और महा-विकट रूप पुत्र हुआ, जिसका नाम घटोत्कच पड़ा। इसने भारतीय युद्ध में पाण्डवों की बड़ी सहायता की। अन्त में यह कर्ण की उस अमोघ शक्ति द्वारा मारा गया, जो अर्जुन के लिए प्राणघातक थी।

एकचक्रापुरी में पाण्डवों का वास

राक्षस हिडिम्ब को मार डालने के पश्चात् एक दिन व्यासजी की पाण्डवों से भेंट हुई। ये महा दुखी थे। व्यासजी ने दया कर एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के यहाँ इनके रहने का प्रबन्ध कर दिया। वेष बदले हुए पाँचों भाई दिन भर में जो भीख माँगकर लाते थे वह माता कुन्ता के आगे रख देते थे। माता कुन्ती आधा तो भीमसेन को दे देती थी, और आधे में सब लोग खाते थे। इस नगरी का स्वामी एक मनुष्यभक्षी बक राक्षस था। वह हर रोज़ बारी-बारी, हरएक घर से एक मनुष्य खाने को लिया करता था। जब उस ब्राह्मण की बारी आई, तो माता कुन्ती की आज्ञा से भीमसेन ही गए। उन्होंने उस बक राक्षस को मारकर उस ब्राह्मण का तथा सारी नगरी का दुःख दूर कर दिया। एक बार पाँचों भाई भीख के लिए निकले ही थे कि इन्होंने एक ब्राह्मण से पाञ्चालदेश के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी के स्वयंवर का हाल सुना। इतने में महर्षि व्यासजी भी आ गये, उन्होंने भी पाण्डवों को स्वयंवर में जाने की अनुमति दी। पाण्डव लोग धीरे-धीरे पाञ्चाल नगर जा रहे थे कि एक दिन गंगाजी के किनारे रात्रि हो गई। तब अर्जुन ने एक पलीता बनाया और उसे जला हाथ में ले आगे चलने लगे। इसी रात्रि में गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी गन्धर्व-रमणियों के साथ गंगाजी में जल-विहार कर रहा था। पाण्डवों को देख उसने कुछ दुर्वचन कहे। इस पर अर्जुन का उससे युद्ध होने लगा। हार मान चित्ररथ ने पाण्डवों से मित्रता कर ली। इसी की अनुमति से पाण्डव उत्कोचतीर्थ

गये और वहाँ धौम्य ऋषि को अपना पुरोहित बनाया। उत्कोचतीर्थ से पाण्डव ब्राह्मण-वेश में, अन्य ब्राह्मणों के साथ, पाञ्चाल नगर में पहुँचे और एक कुम्हार के यहाँ डेरा डाला।

द्रौपदीस्वयंवर

राजा द्रुपद का विचार था कि द्रौपदी का विवाह अर्जुन के ही साथ हो; परन्तु पाण्डवों का पता ठीक उन्हें मालूम न था। केवल यही सुना था कि पाण्डव लोग जलने से बच गये हैं। इसी विचार से उन्होंने बहुत ऊँचाई पर एक आकाश-यंत्र ऐसा बनवाया कि निशाने के बीच में एक छिद्र था, और यह यंत्र हिला करता था। स्वयंवर में एक धनुष भी ऐसा रखवा दिया था कि जिसकी प्रत्यञ्चा चढ़ाना आसान न था। राजा द्रुपद का प्रण यह था कि जो वीर इस धनुष से घूमते हुए चक्र को, छेद में पाँच बाण मारकर, गिरा देगा, उसे ही राजकुमारी वरेगी। स्वयंवर में देश-देश के राजा आये थे। दुर्योधन भी अपने भाइयों के साथ आया था। कर्ण, शकुनि, शल्य, शाल्व एवं यदुवंशियों में से बलराम और श्रीकृष्णजी भी आये थे। जब सब राजा लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये, तब जयमाला हाथ में लिए, परम सुन्दरी द्रौपदी अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ आई। सभी राजा लोग द्रौपदी की सुन्दरता को देख मुग्ध थे। ब्राह्मणों के बीच में पाण्डव भी वेष बदले हुए बैठे थे। देखते ही श्रीकृष्ण ने इन्हें पहचान लिया, इसी से वह बारंबार अर्जुन की ओर देखते थे। इनके सिवा पाण्डवों को और कोई नहीं पहचान पाया। दुर्योधन आदि सभी राजा लक्ष्य वेधने को एक-एक करके उठे, किन्तु किसी से उस धनुष

की प्रत्यञ्चा तक न चढ़ी । सब लज्जित हो अपनी-अपनी जगह पर जाकर बैठ गये । तब वीरवर कर्ण ने उठकर उस धनुष को उठा लिया । वह प्रत्यञ्चा चढ़ाकर निशाने पर बाण मारनेवाला ही था कि द्रौपदी ने कहा—"मैं सूतपुत्र के साथ विवाह न करूँगी ।" इससे कर्ण धनुष रख चुपचाप अपनी जगह जा बैठा । जब राजा द्रुपद के प्रण के अनुसार कोई भी राजा धनुष को उठाकर हिलते हुए चक्र के छिद्र में से तीर पार न कर सका, तो अर्जुन से बैठे न रहा गया। ब्राह्मणों के बीच में से अर्जुन उठ खड़े हुए । इन्होंने धनुष को उठा, प्रत्यञ्चा चढ़ा, हिलनेवाले यंत्र के बीच के छेद से पाँच बाण पार करके मछली को नीचे गिरा दिया और द्रौपदी ने जयमाला अर्जुन के गले में डाल दी । यह देख अन्य क्षत्रियों ने चिढ़कर युद्ध आरम्भ कर दिया ; पर अर्जुन ने अपने पराक्रम से सबको मार भगाया । कुछ राजा लोग यह कहने लगे कि स्वयंवर में क्षत्रियों के सिवा और किसी को वरमाला पाने का अधिकार ही न था; किन्तु श्रीकृष्णजी ने उन सबको समझाकर शान्त कर दिया ।

पाण्डवों का द्रौपदी से विवाह

जब पाण्डव द्रौपदी को लेकर अपने डेरे पर माता कुन्ती के पास आये, तब राजा युधिष्ठिर ने कहा कि "हे माता ! आज की भिक्षा में एक बड़ी सुन्दर वस्तु मिली है ।" कुन्ती ने बिना देखे घर के भीतर से ही कह दिया कि "पाँचों भाई मिलकर बाँट लो ।" पाण्डव माता के परम भक्त थे, इसलिए माता की इस अनुचित आज्ञा को भी न टाल सके । राजा द्रुपद पहले पाँचों भाइयों के साथ एक द्रौपदी का विवाह

करना पसंद न करते थे; परन्तु धर्मज्ञ युधिष्ठिर और व्यासजी के समझाने पर वे अन्त में राज़ी हो गए और द्रौपदी का पाँचों भाइयों के साथ विवाह हो गया। विवाह के पश्चात् वे सब राजा द्रूपद के यहाँ रहने लगे।

पाण्डवों को राज्यलाभ

जब पाण्डवों का विवाह द्रौपदी के साथ हो गया और राजा द्रुपद के यहाँ वे सम्मानपूर्वक रहने लगे, तब धीरे-धीरे यह समाचार हस्तिनापुर पहुँचा। दुर्योधन एकदम शोक में डूब गया और सोचने लगा कि अब किस प्रकार पाण्डवों का नाश किया जाय। कर्ण ने द्रुपद-देश पर चढ़ जाने और पाण्डवों को क़ैद करने की सलाह दी; परन्तु भीष्म, द्रोण तथा विदुर आदि की सम्मति न पाकर धृतराष्ट्र ने ऐसा होने न दिया। धृतराष्ट्र ने विदुरजी को भेज पाण्डवों को बुलवा लिया और उन्होंने पाण्डवों और कौरवों में परस्पर युद्ध और द्वेष रोकने के विचार से आधा राज्य बाँट दिया। पाण्डवों ने खाण्डवप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया, और कौरवों ने अपनी राजधानी वही हस्तिनापुर रक्खी। इस प्रकार ये लोग अलग-अलग अपना राज्य करने लगे।

अर्जुन-वनवास

पाण्डवों ने नारदजी की सलाह से आपस में यह नियम कर लिया था कि जिस समय द्रौपदी एक भाई के पास हो, उस समय यदि दूसरा भाई वहाँ चला जाय, तो उसे ब्रह्मचारी होकर बारह वर्ष तक वनवास करना पड़ेगा। इस नियम से पाण्डवों में परस्पर प्रेम बना रहा और कभी कोई झगड़ा

नहीं हुआ। एक दिन कुछ चोर एक ब्राह्मण की गायें चुराए लिए जा रहे थे। उसी समय उस ब्राह्मण ने आ अर्जुन से कहा—"जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह राज्य भर के लोगों के पापों का भागी होता है।" यह सुन अर्जुन ने कहा—"मैं अभी युद्ध कर तुम्हारी गायें छुड़ा लाता हूँ।" उस समय अर्जुन के अस्त्र-शस्त्र आयुधागार (शस्त्र रखने की जगह) में रक्खे हुए थे। वहाँ राजा युधिष्ठिर एकान्त में द्रौपदी के साथ बैठे हुए थे। अर्जुन ने ब्राह्मण को कष्ट से छुड़ाकर बारह वर्ष तक वन में रहना उत्तम समझा। वे आयुधागार में पहुँचे। उस समय युधिष्ठिर द्रौपदी से कुछ बातचीत कर रहे थे। उन्होंने अर्जुन को अस्त्र-शस्त्र लेने की आज्ञा दे दी। अर्जुन धनुष-बाण ले ब्राह्मण की गायों को चोरों से छुड़ा लाये। इसके बाद नियमभङ्ग होने के कारण बारह वर्ष तक वन में रहने की तैयारी कर दी। युधिष्ठिर ने उन्हें बहुतेरा समझाया, किन्तु धर्म के सामने उन्होंने युधिष्ठिर का कहा न माना, चले ही गये। इस वनयात्रा में, एक दिन नागराज कौरव्य की पुत्री उलूपी इन्हें खींचकर नागलोक में ले गई। वहाँ उलूपी से विवाह कर वह दूसरे दिन लौट आये। इसी उलूपी में अर्जुन के इरावान् हुआ। फिर विविध देशों में घूमते हुए मणिपुर पहुँचे। वहाँ मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा से इन्होंने विवाह किया। इसी चित्रांगदा के अर्जुन से बभ्रुवाहन पुत्र उत्पन्न हुआ। मणिपुर से घूमते हुए अर्जुन प्रभासक्षेत्र में पहुँचे। श्रीकृष्ण यह समाचार पा, उन्हें द्वारकापुरी में लिवा ले गये। इसी समय कृष्ण की सलाह से अर्जुन ने उनकी बहन सुभद्रा को हर लिया। बाद में यदुवंशियों ने उसका विवाह अर्जुन के साथ

कर दिया। इसी सुभद्रा में अर्जुन के तेजस्वी अभिमन्यु उत्पन्न हुआ, जिसने सोलह वर्ष की अवस्था में ही अपने बल और पराक्रम से भारतीय युद्ध में बड़े-बड़े वीरों की नाक में दम कर दिया था और अन्त में अन्याय से मारा गया। इसी भाँति अर्जुन के बारह वर्ष वनवास के पूरे हो गये और वह फिर खाण्डवप्रस्थ को लौट आये।

खाण्डव-दाह

एक दिन अर्जुन और श्रीकृष्ण एकान्त में बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे। इतने में अग्निदेव ब्राह्मण का वेष धर वहाँ आये और कहने लगे—"मुझे राजा श्वेतक के यज्ञ से अजीर्ण हो गया है, इसलिए खाण्डव वन को जलाकर मैं वहाँ के जीवजन्तुओं को खाना चाहता हूँ। जब-जब मैं ऐसा करता हूँ, तब-तब देवराज इन्द्र वर्षा कर उसे बुझा देते हैं, क्योंकि उनका मित्र तक्षक नाग सपरिवार वहाँ रहता है। इस काम में आप हमारी सहायता करें। अर्जुन ने उत्तर दिया कि हम आपकी सहायता करने को तैयार हैं, किन्तु न तो हमारे पास कोई बढ़िया धनुष ही है और न ऐसा रथ ही है जो अधिक काल तक युद्ध में काम दे सके। कृष्ण के पास भी कोई ऐसा अस्त्र नहीं है, जो उनके योग्य हो। यह सुन अग्निदेव ने श्रीकृष्णजी को सुदर्शनचक्र दिया और अर्जुन को वरुण देवता से लड़ाई के सामान से भरा हुआ एक रथ दिलवाया जिसमें बड़े तेज़ घोड़े जुते हुए थे। इसके सिवा गाण्डीव धनुष और बाणों से भरे हुए दो तरकस ऐसे दिये जो बाण चलाने पर भी कभी खाली न होते थे, बल्कि शत्रु को मारकर फिर

लौट आते थे। इस उत्तम युद्ध-सामग्री को पा अर्जुन और कृष्ण ने अग्निदेव की सहायता की। अग्नि ने पन्द्रह दिनों तक बराबर खाण्डव वन को जलाया। इन्द्र की आज्ञा से बराबर मूसलधार पानी बरसता रहा। परन्तु अर्जुन के बाणों ने आकाश को ऐसा छा लिया कि अग्नि पर उसका कुछ असर न हुआ। अन्त में इन्द्र ने हार मानी और प्रसन्न होकर अर्जुन को यह वर दिया कि शिवजी को प्रसन्न करने से तुम्हें आग्नेय आदि जितने दिव्य अस्त्र हैं, सब प्राप्त होंगे। इस प्रकार अग्नि का काम सिद्ध हो गया और उनका अजीर्ण दूर हो गया।

सभा-निर्माण

खाण्डव वन जलने के समय तक्षक सर्प वहाँ नहीं था इससे वह बच गया। उसका पुत्र अश्वसेन भी समय पाकर भाग गया। मंदपाल ऋषि के चार पुत्र, जो शार्ङ्ग पक्षी के वेष में रहते थे, जलने से बचे। मय नाम का दानव भी वहीं रहता था। अर्जुन और कृष्ण की शरण में आ जाने से यह भी बच गया। यह शिल्पविद्या में बड़ा ही निपुण था। इसने राजा युधिष्ठिर के लिए खाण्डवप्रस्थ में एक अति उत्तम सभागृह तैयार किया। यह सभा बड़ी मनोहर थी। इसमें विचित्रता यह थी कि जल में स्थल और स्थल में जल मालूम होता था तथा बन्द दरवाज़े खुले और खुले हुए बंद दिखलाई पड़ते थे।

राजसूय यज्ञ

सभामण्डप के तैयार हो जाने पर राजा युधिष्ठिर ने

नारदजी के उपदेश से राजसूय यज्ञ करने का विचार किया। पाण्डव लोग कृष्ण की सलाह लिये बिना कोई बड़ा काम नहीं करते थे। राजा ने कृष्ण को बुला भेजा। वे द्वारका से आये। उन्होंने कहा—"राजन्! आपका यह यज्ञ बिना जरासंध को जीते पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए पहले मगधनरेश जरासंध को मारकर, जितने राजा लोग वहाँ क़ैद हैं, उन्हें छुड़ाया जाय। परन्तु इसके बारे में आप कुछ सोच न करें। अर्जुन और भीमसेन को मेरे साथ कर दें। मैं युक्ति से ही उसे मारूँगा।"

जरासन्ध-वध

राजा ने अर्जुन और भीमसेन को श्रीकृष्ण के साथ कर दिया। ये तीनों स्नातक ब्राह्मण के वेष से, मगध राज्य में पहुँचे और जरासंध के पास गये। उसने इनका अतिथि-सत्कार किया; किन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। कृष्ण ने साफ़ कह दिया कि हम लोग तुमसे लड़ने को आये हैं। जिसके साथ जी चाहे, अकेले युद्ध कर लो। जरासन्ध ने भीमसेन के साथ मल्लयुद्ध करना स्वीकार किया। घोर युद्ध हुआ; अन्त में भीमसेन ने उसकी टाँगें चीरकर उसे मार डाला। कृष्ण ने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और क़ैद में पड़े हुए सब राजाओं को छुड़ाकर आप खाण्डवप्रस्थ को लौट आये।

राजसूययज्ञ और शिशुपाल-वध

श्रीकृष्ण ने जितने राजा लोगों को क़ैद से छुड़ाया था, उन सबने राजा युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली। शेष राजाओं को भी चारों भाइयों ने चारों दिशाओं में जाकर

जीत लिया। तब राजसूय-यज्ञ का आरम्भ हुआ। इस यज्ञ में अनेक विद्वान् ब्राह्मण, सब कौरव और देश-देश के राजा लोग आये। कुछ राजाओं ने मित्रभाव से और कुछ ने कर के रूप में बहुत-सा धन लाकर राजा युधिष्ठिर को दिया। यज्ञ में ब्राह्मणों के पैर धोने का काम स्वयं कृष्ण ने किया। राजा युधिष्ठिर ने अन्य आत्मीय जनों को भी अलग-अलग काम बाँट दिए। दुर्योधन को आई हुई भेंट लेने का और दुःशासन को खाने-पीने की चीज़ों का प्रबन्ध सौंपा गया। अश्वत्थामा को ब्राह्मणों की सेवा का, कृपाचार्य को रत्न आदि की निगरानी का और सञ्जय को राजाओं का शुश्रूषा का भार सौंपा गया। भीष्म और द्रोण इधर-उधर की देख-भाल करने लगे। भीष्मजी की सलाह से राजा युधिष्ठिर ने सबसे पहले भगवान् कृष्ण की पूजा की। यह देख शिशुपाल को बड़ा क्रोध आया और उसने यज्ञ में विघ्न डालना चाहा; परन्तु श्रीकृष्ण ने सुदर्शनचक्र से उसका सिर काट-कर यज्ञ का कार्य निर्विघ्न समाप्त किया। अब धर्मराज युधिष्ठिर सार्वभौम सम्राट् कहलाने लगे। यज्ञ समाप्त होने पर सब राजा तो अपने-अपने घर चले गये, केवल दुर्योधन और शकुनि ही रह गये। मय दानव की बनाई हुई सभा को देख दुर्योधन दंग रह गया। उसने कई जगह ठोकरें खाईं। कहीं बन्द किये हुए दरवाज़े को खुला समझकर अन्दर जाने लगा, तो सिर में टक्कर लगी; कहीं खुले दरवाज़े को बन्द समझकर उसे जो खोलने लगा, तो गिर पड़ा; कहीं स्थल (ज़मीन) को जल समझकर कपड़े उतारने लगा, तो कहीं सरोवर के स्वच्छ जल को स्थल (भूमि) समझकर कपड़े पहने हुए उसमें जा गिरा। दुर्योधन कीदु इस दुर्दशा

को देख सब पाण्डव और उनकी स्त्रियाँ हँस पड़ीं। दुर्योधन इस अपमान से लज्जित होकर पाण्डवों को नीचा दिखलाने और बदला लेने का उपाय सोचने लगा।

कपट-द्यूत

पाण्डवों की बढ़ती हुई संपत्ति, कीर्ति और ऐश्वर्य आदि को देखकर तथा अपनी दुर्दशा और अपमान का ध्यान कर ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि से दुर्योधन की छाती जल रही थी। वह एक ठंडी साँस ले अपने मामा शकुनि से बोला कि "यदि मैं पाण्डवों से अपने अपमान का बदला न ले सका और यह सारी संपत्ति मेरे हाथ न लगी, तो आत्महत्या कर लूँगा।" मामा ने उसे धीरज देकर कहा—"हे दुर्योधन! राजा युधिष्ठिर जुआ खेलने के शौक़ीन तो ज़रूर हैं, मगर उसमें वह निपुण नहीं हैं। यदि उन्हें जुआ खेलने को बुलाया जाय, तो वे 'नाहीं' नहीं करेंगे। इसमें यदि वे हार गये, तो मैदान मार लिया।" यह सुन वह बहुत प्रसन्न हुआ। हस्तिनापुर पहुँच दुर्योधन ने अपने मामा शकुनि और कर्ण की सहायता से राजा धृतराष्ट्र को अपने अनुकूल कर लिया। उसने विदुर द्वारा युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुला भेजा। राजा युधिष्ठिर ने विदुरजी से कहा कि "जुआ खेलने में अनेक दोष हैं—यद्यपि क्षत्रियों का यह धर्म है कि युद्ध और जुए से कभी पीठ न दिखलावें। राजर्षियों ने युद्ध को स्वर्ग का द्वार और जुए को छल और कपट का घर समझ निन्दा की है; किन्तु जब आप हमें बुलाने आये हैं, तो निमन्त्रण स्वीकार करना ही होगा।" यह कह युधिष्ठिर चारों भाइयों और द्रौपदी को लेकर हस्तिनापुर पहुँच गये।

पाण्डवों का सर्वस्वहरण

दुर्योधन ने भली भाँति समझ लिया था कि लड़कर पाण्डवों पर विजय पाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। पाण्डवों को समूल नष्ट कर देना उसका मुख्य उद्देश था। इसलिए उसने छल-कपट का आश्रय ले यह खेल खेला। धर्मज्ञ युधिष्ठिर जुआ खेलने को ज़रा भी तैयार न थे, किन्तु दुर्योधन के हठ करने पर लाचार हो जुआ खेलने लगे। जुए में दुर्योधन धर्मराज को जीत नहीं सकता था, इसलिए उसने अपने मामा शकुनि को अपना प्रतिनिधि बनाकर बिठाया। शकुनि बड़ा चालाक और छली था। उसके छल को धर्मराज ताड़ न सके। अन्त में अपनी सारी सम्पत्ति, राज्य, अपने चारों भाइयों और सती द्रौपदी को भी दाँव पर रख वे सबको हार गये।

द्रौपदी-चीरहरण

इस जुए में राजा युधिष्ठिर सर्वस्व हार चुके थे। इसलिए दुर्योधन मारे खुशी के फूला न समाता था। वह घमंड के नशे में चूर था। उसे धर्म और अधर्म कुछ सुझाई नहीं देता था। यही कारण था कि दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन सती द्रौपदी को केश पकड़ कौरवों की सभा में ले आया, उन्हें बार-बार 'दासी' कह अपमानित किया और उनका चीर उतारने लगा, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने उस सती साध्वी की लाज रख ली। दुर्योधन ने उन्हें अपनी पालथी पर भी बैठने को कहा। द्रौपदी के इस दारुण अपमान को देख पाण्डव क्रोधित हो अपने दाँत पीस रहे थे, किन्तु

मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता था। भीमसेन ने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की कि "अगर मैं युद्ध में इस नीच दुःशासन की छाती चीरकर इसका रक्त न पिऊँ और दुष्ट दुर्योधन की जाँघ को मैं अपनी गदा से चूर्ण न कर दूँ, तो मुझे अपने पूर्वजों की-सी सद्गति न प्राप्त हो।" इसी प्रकार सभी पाण्डवों ने अपने-अपने मन में बदला लेने की प्रतिज्ञा की। उस समय उस सती के तेज के कारण पृथ्वी हिलने लगी, वायु बड़े ज़ोर से बहने लगा और नगर में हाहाकार मच गया। दुर्योधन की माता गान्धारी भी पतिव्रता थीं। वह पातिव्रत के तेज को समझती थीं। सारे नगर में इसकी चर्चा सुनकर वह समझ गईं कि अब कल्याण नहीं है। आज द्रौपदी अपने तेज से समस्त कौरवों का नष्ट कर देगी। उन्होंने सभा में आकर दुर्योधन को बहुत फटकारा और अपने पति धृतराष्ट्र को इसकी सूचना दी धृतराष्ट्र को भय हुआ कि इसका परिणाम अच्छा न होगा। उन्होंने द्रौपदी को समझाकर शान्त किया और उनसे वर माँगने को कहा। द्रौपदी ने कहा कि "यदि आप प्रसन्न होकर मुझे वर देना चाहते हैं, तो मेरे पतियों को दासत्व से मुक्त कर देने की आज्ञा प्रदान करें।" धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को स्वतंत्रता दे दी और उनका सारा राज्य उनको लौटा दिया।

दुर्योधन के कुत्सित व्यवहार से जल-भुनकर पाण्डव लोग खाण्डवप्रस्थ को जा ही रहे थे कि इतने में दुर्योधन के पेट में फिर खलबली मची। उसने सोचा कि इतनी चातुरी और परिश्रम से प्राप्त किया हुआ राज्य इस बुड्ढे ने एक पलभर में खो दिया! बना बनाया खेल चौपट हो गया।

शकुनि और कर्ण की सलाह से दुर्योधन ने पाण्डवों को फिर बुला भेजा और युधिष्ठिर को जुआ खेलने को लाचार किया। भीष्म, द्रोण और विदुर आदि ने धृतराष्ट्र को समझाया कि 'वंशनाश होनेवाले झगड़े को बार-बार मोल न लीजिए'; पर मोह से अन्धे धृतराष्ट्र ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस बार यह शर्त लगाई कि जो कोई हार जाय वह तेरह वर्ष वनवास करे। इसमें एक वर्ष का ऐसा अज्ञात-वास भी हो कि पहचाने जाने पर फिर इसी तरह का वनवास हो। जुआ खेलना आरम्भ हुआ और युधिष्ठिर फिर भी हार गये, इसलिए उन्होंने राजवस्त्र उतारकर तथा मृगचर्म पहन वन का रास्ता पकड़ा। कुन्ती वृद्धा थीं, वे विदुर के यहाँ रहीं। सुभद्रा, अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र द्वारका भेज दिये गये। उनका लालन-पालन प्रद्युम्न करते रहे।

पाण्डव-वनवास

पाण्डवों को इस प्रकार दीनदशा में वन जाते देख नगर-निवासियों को बड़ा दुःख हुआ। सब लोग धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुर आदि की निन्दा करने लगे। अनेक नगर-निवासी पाण्डवों के साथ वन जाने को तैयार हो गये, परन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें समझा-बुझाकर वन जाने से रोक दिया। सबके आगे युधिष्ठिर, उनके पीछे भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और सबसे पीछे धौम्य पुरोहित चले जा रहे थे। युधिष्ठिर ने अपना मुँह ढक रक्खा था, भीम क्रोधवश हो अपनी भुजाओं की ओर ताकते हुए जा रहे थे, नकुल के सारे शरीर में मिट्टी लगी हुई थी, सहदेव अपने

मुँह पर राख लगाये हुए थे, द्रौपदी अपने खुले हुए सिर के बालों से मुँह छिपा रोती हुई चली जा रही थीं और अर्जुन मार्ग में धूल उड़ाते हुए चले जा रहे थे तथा धौम्य पुरोहित उत्तरक्रियासम्बन्धी सामवेद के मंत्र पढ़ते हुए उन सबके पीछे चले जा रहे थे। इन सबका तात्पर्य विदुरजी ने राजा धृतराष्ट्र को यह समझाया कि सती द्रौपदी का अपमान करनेवाले और हमारी सम्पत्ति और राज्य छीननेवाले शत्रुओं का बदला लेने का इन भुजाओं को कब अवसर मिलेगा, इसी सोच में भीम बारम्बार अपनी भुजाओं की ओर ताक रहे थे। धूल के कणों के समान असंख्य बाणों से युद्ध में शत्रुओं को जर्जर करने की प्रतिज्ञा कर इसी भाव से अर्जुन मार्ग में मिट्टी उड़ाते चले जा रहे थे। युधिष्ठिर इसलिए मुँह ढककर चले जा रहे थे कि उनके पुण्य के प्रभाव और धर्म के तेज से कहीं यह राज्य भस्म न हो जाय। द्रौपदी अपने केशों से मुँह छिपाकर इसलिए रो रही थीं कि जिस प्रकार मैं रोती हुई जा रही हूँ, उसी प्रकार कौरव कुल की स्त्रियाँ भी अपने पतियों के मारे जाने पर छाती पीटती हुई जायँगी। युद्ध में कौरवों के मारे जाने पर दाहकर्म के समय जो वेद-मंत्र पढ़े जायँगे, उन्हें पुरोहित धौम्य अभी से उच्चारण कर रहे थे। यह सुन धृतराष्ट्र को बड़ा दुःख हुआ और वह रोने लगे। यह देख बूढ़े सारथी संजय ने कहा—महाराज! यह सब आपही का दोष है, आपही के अपराध से अब भयङ्कर युद्ध अवश्य होगा। आपका रोना-धोना और पछताना अब सब व्यर्थ है।

पाण्डव जब वन को जाने लगे, तो उनके साथ कुछ ब्राह्मण भी हो लिये। पुरोहित धौम्य भी साथ थे। युधिष्ठिर को

यह चिन्ता हुई कि इन सब नौकरों व ब्राह्मणों को जंगल में हम कहाँ से खिलावेंगे। धर्मराज युधिष्ठिर ने धौम्य पुरोहित के उपदेश से भगवान् भास्कर (सूर्य) की आराधना की। उन्होंने प्रसन्न हो प्रत्यक्ष दर्शन दिया, फिर एक ऐसी अक्षय थाली दी कि जब तक द्रौपदी भोजन करने के पूर्व उस थाली से परोसती रहेंगी, कोई चीज़ कम न होगी। इसी थाली के प्रभाव से राजा युधिष्ठिर नित्य अनेक ब्राह्मणों को खिलाते थे। इससे उनकी चिन्ता दूर हुई, क्योंकि यही थाली उन्हें ब्राह्मणों और अतिथियों को भोजन कराने में सहायता देती थी।

पांडवों के पास विदुर

पहले पाण्डव सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन में रहने लगे। वहीं पर विदुरजी आ गये। विदुर ने कहा कि तुम्हारे वन चले आने के पीछे धृतराष्ट्र ने मुझसे सलाह माँगी कि अब क्या करना चाहिए। मैंने उनसे कहा कि यदि आप वंश की रक्षा करना चाहते हैं, तो अब भी पाण्डवों को लौटाकर उनका राज्य उन्हें दे दें और यदि दुर्योधन कुछ गोलमाल करे, तो उसे क़ैद कर दें। इस पर रुष्ट होकर उन्होंने मुझे झिड़ककर कहा कि तुम सदा पाण्डवों की ही भलाई चाहते हो और कुटिल वचन कहते रहते हो; इसलिए जहाँ चाहो, चले जाओ। इससे मैं तुम्हारे पास चला आया हूँ। अब मैं तुम लोगों को यह उपदेश देता हूँ कि अभी से युद्ध की तैयारी करो; बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं मिल सकता।

विदुर फिर हस्तिनापुर में

विदुर के चले जाने पर धृतराष्ट्र ने सोचा कि सब मंत्रियों में विदुर बड़ा बुद्धिमान् है। कहीं वह पाण्डवों से मिलकर कोई अनर्थ न करा दे। इसी से घबराकर राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र को भेज विदुर को वापिस बुलवा लिया और उन्हें समझा-बुझाकर राज़ी कर लिया।

अर्जुन की तपश्चर्या, शिवजी से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति

एक समय पाण्डव लोग काम्यकवन से द्वैतवन में गये। यहीं पर एक दिन व्यासजी आये। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि तुमको युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि से डर है, इसलिए मैं तुम्हें ऐसा मंत्र बतलाता हूँ, जिसके प्रभाव से अर्जुन देवलोक तथा कैलास में जाकर अनेक दिव्य अस्त्र सीख लेगा; फिर तुम्हें किसी का भय न रहेगा। वह गुप्त मंत्र देकर व्यासजी चले गये। युधिष्ठिर ने यह मंत्र अर्जुन को देकर कहा कि हे वीरवर ! युद्ध का सारा भार अब तुम्हारे ही ऊपर है, इसलिए इन्द्र और शिवजी के पास जाओ और उन्हें प्रसन्न कर दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लो। अर्जुन पाण्डवों से विदा हो कैलाश पहुँचे। वहाँ तपस्या करने लगे। एक दिन अर्जुन ने देखा कि सामने से एक वराह दौड़ा चला आ रहा है और उसके पीछे एक व्याध (शिकारी) भी उसे खदेड़ता चला आ रहा है। अर्जुन ने उस वराह को अपने बाण का निशाना बनाया। पीछे से उस व्याध ने भी एक बाण मारा। इस पर अर्जुन और व्याध में घोर युद्ध हुआ। परन्तु जब अर्जुन ने देखा कि मेरी एक नहीं चलती, तो उन्होंने सोचा कि कहीं व्याध

के रूप में यह शिवजी तो नहीं हैं? इतने में उन्हें अपनी चढ़ाई हुई माला व्याध के गले में दिखाई दी। वह शिवजी के पैरों में गिर पड़े और अपना अपराध क्षमा कराकर उनकी स्तुति करने लगे। अन्त में शिवजी ने प्रसन्न हो अपना पाशुपत अस्त्र दे दिया। उसके चलाने की विधि भी बतला दी और फिर वे अन्तर्द्धान हो गये।

अर्जुन का अमरावती में निवास

अर्जुन ने जब शिवजी से पाशुपत अस्त्र ले लिया, तब इन्द्र आदि सब देवताओं ने भी अपने-अपने अस्त्र दे दिए। इन्द्र ने अपना रथ भेज, अर्जुन को अमरावती में बुलवा भेजा। रथ पर सवार हो अर्जुन स्वर्ग में पहुँचे। इन्द्र ने अर्जुन का बड़ा सत्कार किया। अर्जुन की सेवा करने के लिए इन्द्र ने उर्वशी अप्सरा को भेजा। वह अर्जुन के पास गई और उसने विनय की कि आप मेरे साथ रमण कीजिए। अर्जुन अपने धर्म के बड़े पक्के थे। उन्होंने उत्तर दिया कि आप मेरे कुल की जननी हैं इसलिए मेरी भी माता हैं। जब अर्जुन ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया, तो उन्होंने क्रोधित होकर शाप दिया कि तू नपुंसक होकर स्त्रियों के बीच में गाता बजाता फिरेगा। जब इन्द्र को यह बात मालूम हुई, तब वह अर्जुन पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि हे पुत्र! तुमने ऋषियों को भी मात कर दिया। अब देवलोक के जितने भी अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबको सीख लो। इस शाप की कोई चिन्ता न करो; क्योंकि अज्ञातवास में यही शाप तुम्हारी सहायता करेगा। अर्जुन ने वहाँ की सब दिव्य अस्त्र-विद्या

सीख ली और अपने मित्र चित्रसेन गन्धर्व से गाने-बजाने की विद्या को भी सीख लिया। स्वयम् इन्द्र ने भी अपने पन्द्रह दिव्य अस्त्र दिये और उनके चलाने की विधि भी बतला दी। इन्द्र ने अर्जुन से कहा कि इसके बदले में मुझे तुम्हें गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। अर्जुन ने कहा—'जो आज्ञा।' इन्द्र ने कहा कि समुद्र के किनारे तीन करोड़ निवातकवच दैत्य रहते हैं, वे मेरे शत्रु हैं, उन्हें जाकर मार डालो। इसे अर्जुन ने स्वीकार कर लिया। इन्द्र ने अपना अभेद्य कवच अर्जुन को पहिनाकर किरीट मुकुट सिर पर लगा दिया और अपने उत्तम रथ में बिठाकर दैत्यों के साथ युद्ध करने को भेज दिया। देवताओं ने भा उनकी प्रशंसा कर एक उत्तम शंख दिया। इसी से अर्जुन के शंख का नाम 'देवदत्त' हुआ। अर्जुन ने दैत्यों के नगर में पहुँच, उन सब दैत्यों को मार डाला और विजय प्राप्त कर फिर देवलोक में लौट आये। इन्द्र ने उनका बड़ा स्वागत किया।

भीमसेन का पुष्पान्वेषण और हनुमान्‌जी से भेंट

यद्यपि युधिष्ठिर आदि को अर्जुन का स्वर्ग में सुख से रहने का हाल मिल गया था, तो भी द्रौपदी आदि को विना अर्जुन के चैन नहीं पड़ता था। लोमश ऋषि से अनेक तीर्थों व देशों का हाल सुनकर युधिष्ठिर आदि घूमते-घूमते उत्तराखण्ड में हिमालय की शोभा देखते हुए गन्धमादन पर्वत पर चढ़े। चलते-चलते बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ नर-नारायण के दर्शन किये और रहने लगे। एक दिन हवा के झोंके से एक अति उत्तम कमल का फूल द्रौपदी के पास आ गिरा। द्रौपदी ने भीमसेन से वैसे ही और फूल ले

आने को कहा। भीमसेन उसी हवा के रुख में, वैसे ही फूलों को ढूँढ़ते हुए बड़ी दूर निकल गये। गन्धमादन पर्वत के एक शिखर पर पहुँच वे बादल के समान गर्जने लगे। इनके शब्द को सुन और बल तथा वेग को देख उस वन के जीव भागने लगे। फिर भीम ने बड़े ज़ोर से शंख बजाया। उस शंख की ध्वनि सुन वहाँ के हाथी भयभीत हो चिंघाड़ने लगे। उसी स्थान में रहनेवाले हनुमान्‌जी ने जान लिया कि वह वायु का पुत्र मेरा भाई भीमसेन ही है। हनुमान्‌जी ने अपना वेष बूढ़े बन्दर का बना लिया और भीमसेन का रास्ता रोक लेट गये। उस कदलीवन के संकीर्ण (तंग) मार्ग में इनको पड़ा हुआ देख भीमसेन निडर हो सिंह के समान गर्जने लगे। हनुमान्‌जी ने क्रोधभरी दृष्टि से देखकर कहा कि तुमने सुख से सोते हुए मुझे क्यों जगाया? तब भीमसेन ने अपना हाल कहा और आगे जाने के लिए मार्ग माँगा। हनुमान्‌जी ने कहा कि मैं बूढ़ा हूँ, पूँछ हटाकर चले जाओ। भीमसेन ने बहुत कुछ ज़ोर लगाया; परन्तु पूँछ न हट सकी। आखिर भीमसेन ने हाथ जोड़कर पूछा कि आप वानर के वेष में कौन हैं? तब हनुमान्‌जी ने भेद खोल दिया। फिर परस्पर एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिले। भीमसेन ने हनुमान्‌जी से कहा कि आप मुझे वह स्वरूप दिखलाइए, जिसे आपने समुद्र लाँघते समय धारण किया था। पहले तो हनुमान्‌जी उस स्वरूप के दर्शन देने को राज़ी न हुए; किन्तु फिर भीमसेन की सच्ची भक्ति और हठ के कारण उन्होंने भीम को उसी स्वरूप के दर्शन दिए। उस भयानक रूप को देख भीमसेन ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। भीमसेन ने प्रार्थना की कि आप

अपना वही रूप फिर धर लीजिए; क्योंकि इस दिव्य स्वरूप को देख मुझे बड़ा डर लग रहा है। हनुमान्‌जी उस पर्वताकार रूप को छोड़ पहले की भाँति फिर हो गये। भीमसेन ने कहा कि आपकी कृपा-दृष्टि मुझ पर सदैव बनी रहे। आपही के प्रताप से मैं शत्रुओं को जीतूँगा। हनुमान्‌जी ने कहा कि युद्ध के मैदान में जब तुम्हारा सिंहनाद होगा, तब मैं अपने सिंहनाद से उसे दूना कर दूँगा, और युद्ध की विजयपताका पर बैठ ऐसा भयानक शब्द करूँगा कि शत्रुओं के कलेजे दहल जायँगे। फिर भीमसेन को गले लगाकर हनुमान्‌जी ने कहा कि भाई, अब तुम इस मार्ग से कुबेर के बाग़ को चले जाओ; वे फूल तुम्हें वहीं मिलेंगे। हनुमान्‌जी भीम को अनेक उपदेश दे अन्तर्द्धान हो गये। भीमसेन चलतें-चलते कुबेर के उस सरोवर पर जा पहुँचे, जिसमें वैसे ही कमल के सुन्दर फूल खिल रहे थे। यक्ष लोग उसकी रखवाली कर रहे थे। जब भीमसेन फूल तोड़ने लगे, तब यक्षों ने उनको ऐसा करने से रोका। इस पर भीमसेन और यक्षों में युद्ध होने लगा। भीमसेन ने बहुत से यक्षों को मार डाला। बचे हुए यक्ष कुबेर के पास गये और सारा हाल कह सुनाया।

अर्जुन का स्वर्ग से लौट आना

यहाँ द्रौपदी और राजा युधिष्ठिर ने जब देखा कि भीमसेन अभी तक नहीं लौटे, तो वे सब उनको ढूँढ़ने के लिए चल दिये। चलते-चलते भीमसेन के पास जा पहुँचे। इतने में कुबेर भी वहाँ आ गये। उन्होंने यक्षों को आज्ञा दे दी कि पाण्डवों को उनकी इच्छा के अनुसार विहार करने

दो ; इन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। तब पाण्डव लोग सुखपूर्वक वहीं रहने लगे ; क्योंकि उन्होंने यह भी सुना था कि अर्जुन इसी मार्ग से आवेंगे। कुछ दिनों बाद अर्जुन वहाँ पर आ गये। उन्होंने राजा युधिष्ठिर से सब हाल कहा। युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें अब यह निश्चय हो गया कि युद्ध में हमारी ही विजय होगी।

पाण्डवों के पास कृष्ण और द्रौपदी के पास सत्यभामा

पाण्डव लोग वहाँ से बदरिकाश्रम होते हुए काम्यकवन को लौट आये। यह सुन श्रीकृष्णजी अपनी प्रिया सत्यभामा को ले पाण्डवों से मिलने आये। अर्जुन ने अपने प्यारे मित्र श्रीकृष्ण से सब हाल कहा। इसी समय मार्कण्डेय ऋषि और नारदजी ने भी दर्शन दिये। पाण्डवों ने इनका यथोचित सत्कार किया। युधिष्ठिर के आग्रह करने पर धार्मिक विषयों पर चर्चा होने लगी। उधर सत्यभामा द्रौपदी से मिलीं। द्रौपदी ने उनका प्रेमपूर्वक सत्कार किया। सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा कि "बहन! किस मंत्र, तंत्र या ओषधि से तुमने पाण्डवों को वश में कर रक्खा है? मुझे भी वह उपाय बतला दो, जिससे मैं श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लूँ।" द्रौपदी ने उत्तर दिया कि "बहन! मंत्र ओषधि आदि से पति को वश में रखने की इच्छा तो नीच स्त्रियाँ रखती हैं। वे दुष्टा यह नहीं जानतीं कि ऐसा करने से बुराई के सिवा भलाई कभी नहीं होती। ऐसी स्त्रियाँ पतिघातिनी कहलाती हैं। मैं पति को वश करने का जो उपाय जानती हूँ, वह सुनोः—बहन, स्त्री के लिए एक पति ही सबसे बड़ा देवता है। उसको चाहिए

कि आलस छोड़ पति की ही सेवा करे। स्त्री को बहुत हँसना नहीं चाहिए, मैंने क्रोध करना भी छोड़ दिया है। मैं सबसे पहले जागती हूँ और सबसे पीछे सोती हूँ। राजा का रुख देखकर ही सब काम करती हूँ। समय पर स्वादिष्ट भोजन बनाकर उन्हें प्रेमपूर्वक भोजन कराती हूँ। सदा उनकी आज्ञा का पालन करती हूँ। अपनी सास कुन्ती की सेवा सबसे अधिक करती हूँ। बिना उनको भोजन कराये मैं नहीं खाती। अपने लिए अपनी सास या पति से कोई चीज़ नहीं माँगती। इन्हीं सब बातों से आर्या कुन्ती और पाण्डव मुझ पर प्रसन्न रहते हैं। सत्यभामा, ऐसा ही तुम भी किया करो।" सत्यभामा ने कहा कि "बहन, मैंने तुमसे हँसी में पूछा था। निश्चय ही साध्वी स्त्रियों का यही धर्म है जो कि तुमने बतलाया है।" कुछ दिन रह, पाण्डवों से विदा हो श्रीकृष्णजी सत्यभामा को ले द्वारका चले गये।

घोषयात्रा में दुर्योधन की विपत्ति

श्रीकृष्णजी के चले जाने पर पाण्डव लोग फिर द्वैतवन में रहने लगे। दुर्योधन ने एक दिन कर्ण, शकुनि और दुःशासन से सलाह की कि चलो हम लोग ठाट-बाट से पाण्डवों के पास चलें, उन्हें अपना वैभव या ऐश्वर्य दिखलावें और उनकी दीन दशा देख उन्हें दुःखित करें। स्त्रियों को भी शृंगार कराकर साथ ले चलें जिससे द्रौपदी उन्हें देखकर दुःखी हो। निदान इसी विचार से उसने घोषयात्रा (घोसियों के गाँव में गऊ-बछड़ों की गिनती करने जाने) के बहाने पिता धृतराष्ट्र की आज्ञा ले चतुरंगिणी सेना

के साथ कर्ण और दुःशासन आदि भाइयों सहित प्रस्थान किया। चलते-चलते द्वैतवन के पास ही डेरा डाल दिया। जिस सरोवर के किनारे पाण्डव लोग रहते थे, उसमें जलविहार के इरादे से वह स्त्रियों को साथ लेकर चला। देवराज इन्द्र को उसके नीच विचारों का पता लग गया था। उन्होंने गन्धर्वों को आज्ञा दी कि दुष्ट दुर्योधन आदि कौरवों को क़ैद करके यहाँ ले आओ। आज्ञा पा गन्धर्व-राज चित्रसेन भी गन्धर्वों को ले गन्धर्व-रमणियों के साथ जलविहार करने वहीं आया। कौरव-सेना और गन्धर्वों में पहले वाद-विवाद हुआ, फिर युद्ध छिड़ गया। गन्धर्वों ने अपने दिव्य अस्त्रों से सारी कौरव-सेना को परास्त कर दिया। कर्ण ने गन्धर्वों के साथ बड़ी वीरता से युद्ध किया, कितने ही गन्धर्वों को मार डाला। तब गन्धर्वराज चित्र-सेन ने कर्ण के सारथी को मार रथ को चूर-चूर कर डाला। यह देख कर्ण को मैदान से भागना पड़ा। कर्ण के भाग जाने पर दुर्योधन ने बड़ी वीरता से युद्ध किया; किन्तु गन्धर्वों ने उसे स्त्रियों और भाइयों सहित पकड़ लिया। दुर्योधन आदि की यह दशा देख उसके सैनिकों और मन्त्रियों ने पाण्डवों के पास जाकर पुकार की कि "धर्म-राज! आपके भाई दुर्योधन को स्त्रियों सहित क़ैद करके गन्धर्व लोग लिये जा रहे हैं। उन्हें आप क़ैद से छुड़ा हम लोगों की रक्षा कीजिए।" यह सुन भीमसेन खूब हँसे। उन्होंने कहा कि दुष्ट दुर्योधन और उसके भाई इसी योग्य हैं। उन्हें क़ैद से छुड़ाना उचित नहीं। राजा युधिष्ठिर ने कहा—"भीम, अपनी जाति का अपमान क्या हमारा अपमान नहीं है? मैं अपने शील स्वभाव को कदापि नहीं

छोड़ सकता। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।" आज्ञा पा अर्जुन और भीमसेन ने सारी गन्धर्व-सेना को परास्त कर दिया। तब लाचार हो गन्धर्वराज चित्रसेन वहाँ आया और अर्जुन से कहने लगा कि "आपके पिता इन्द्रदेव की आज्ञा से ही हमने दुर्योधन आदि कौरवों को क़ैद किया है।" यह सुन सबके सब धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और दुर्योधन की सारी कपट-कहानी कह सुनाई। इस पर भी युधिष्ठिर ने कहा कि "शरण में आये हुए शत्रु को छोड़ देना धर्म है। फिर दुर्योधन तो मेरा भाई ही है।" यह सुन गन्धर्वों ने सबको छोड़ दिया। स्त्रियों के सामने अपना ऐसा अपमान होने से जीवन से निराश हो दुर्योधन वहीं आत्म-हत्या करने पर उतारू हो गया; किन्तु कर्ण और उसके भाई समझा-बुझाकर उसे हस्तिनापुर लिवा लाये। कर्ण ने यह भी प्रतिज्ञा की कि मैं युद्ध में अर्जुन को अवश्य मारूँगा। यह सुन दुर्योधन को कुछ शांति हुई।

कर्ण की दिग्विजय और दुर्योधनकृत वैष्णव यज्ञ

जब भीष्म पितामह को ये सब बातें मालूम हुईं, तो उन्होंने कर्ण को बहुत फटकारा। इससे वीरवर कर्ण को बड़ा क्रोध आ गया। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं दिग्विजय करूँगा। उसने सारे भूमण्डल को जीतकर सबको अपनी वीरता का परिचय दिया। उस दिग्विजय में आये हुए धन से दुर्योधन ने वैष्णव नामक यज्ञ किया।

कर्ण के पास इन्द्र

अर्जुन को मार डालने की प्रतिज्ञा जो कर्ण ने की थी,

उसे सुन युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता हुई। उधर इन्द्र को भी यह सोच हुआ कि कर्ण के पास जब तक अभेद्य कवच-कुण्डल बने रहेंगे, तब तक कोई उसे मार न सकेगा। इसलिए वे एक दिन ब्राह्मण का वेश बनाकर कर्ण के पास गये और उन्होंने उसके कवच कुण्डल दान में माँग लिये। इन्द्र ने इसके बदले में उसे अपनी अमोघ शक्ति इस शर्त पर दे दी कि केवल अपने प्राणों पर संकट पड़ने के समय इसे एक बार ही चलाया जाय। तत्पश्चात् यह शक्ति हमारे पास लौट आवेगी।

द्रौपदी-हरण

एक दिन पाण्डव शिकार खेलने गये थे। इसी समय सिन्धु देश का राजा जयद्रथ वहाँ आया। इसी को दुर्योधन की बहन दुःशला ब्याही गई थी। द्रौपदी को देख, जयद्रथ ने कहाः—"हे द्रौपदी! भिखारी पाण्डवों के साथ तू क्यों दुःख उठाती है? चल तुझे मैं अपनी पटरानी बनाऊँगा।" इस पर द्रौपदी ने उसे बहुत फटकारा, पर दुष्ट जयद्रथ ने बिना आगा-पीछा विचारे झट द्रौपदी को पकड़ लिया और अपने रथ पर बिठलाकर ले चला। धौम्य पुरोहित आदि ने उस दुष्ट को बहुत फटकारा; परन्तु उसने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया। पाण्डव लोग शिकार लिये हुए वन से लौट रहे थे कि रास्ते ही में द्रौपदी की धाय मिल गई, जिससे द्रौपदी के हरे जाने का समाचार ज्ञात हुआ। पाण्डवों ने, शिकार वहीं छोड़, जयद्रथ का पीछा किया। वे तुरन्त ही जयद्रथ के पास जा पहुँचे। जयद्रथ ने द्रौपदी को अपने रथ से इसलिए उतार दिया कि

पाण्डव मेरा पीछा न करें और मारे भय के भागकर दूसरी ओर की राह ली। युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव द्रौपदी को ले अपने स्थान पर आये; परन्तु अर्जुन और भीम उसका पीछा करते ही रहे। निदान भागते हुए जयद्रथ को उन्होंने पकड़ ही तो लिया। उसे उन्होंने खूब मारा। इसके पीछे उसका सिर मूँड़, पाँच चोटियाँ रख, क़ैद करके राजा युधिष्ठिर के पास ले आये। राजा ने उसकी यह बुरी दशा देखकर कहा कि "भाई, यह अपनी करनी का फल पा चुका। अब इसे छोड़ दो, मारो मत; क्योंकि इसके मर जाने से बहन दुःशला विधवा हो जायगी।" द्रौपदी को भी दया आ गई। उन्होंने भी यही कहा। यह सुन भीम ने उसको छोड़ दिया।

जयद्रथ की तपश्चर्या

राजा जयद्रथ मारे लज्जा के फिर अपनी राजधानी में नहीं गया। वह वन में महादेवजी की तपस्या करने लगा। महादेवजी ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिए और वर माँगने को कहा। जयद्रथ ने कहा—"महाराज! मैं यही चाहता हूँ कि पाण्डव लोग मुझसे न जीत सकें।" इस पर शिवजी ने कहा कि "अर्जुन को छोड़ अन्य पाण्डवों को तुम केवल एक ही दिन जीत सकोगे।"

पाण्डवों का अज्ञातवास

पाण्डवों को वन में रहते-रहते पूरे बारह वर्ष बीत गये। अब अज्ञातवास का समय आरम्भ हुआ। सबके सब मत्स्यदेश में राजा विराट् के यहाँ पहुँचे। सबसे पहले इन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्रों को कपड़ों से लपेट कर श्मशान

में शमी के वृक्ष पर गुप्त रीति से बाँधकर लटका दिया। फिर एक-एक करके वेष बदलकर राज-सभा में आये। राज-भवन में पहुँचकर युधिष्ठिर ने कहाः—"मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम कङ्क है। जुआ खेलने में मैं निपुण हूँ और आपके राज्य-कार्य में परामर्श देने का काम भी मैं कर सकता हूँ।" राजा ने कङ्क को अपना मन्त्री बना लिया। भीम ने कहाः—"मेरा नाम वल्लव है। मैं रसोई बनाने में कुशल हूँ। पहिले मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ इस काम पर नौकर था। इसके सिवा मैं कुश्ती लड़ने में भी चतुर हूँ।" राजा ने उन्हें अपना प्रधान रसोइया बनाया। सहदेव ने कहाः—"मैं वैश्य हूँ। सब लोग मुझे तन्त्रिपाल कहते हैं। पहिले मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ गउओं की देखभाल करता था। अब भी मैं वही काम कर सकता हूँ।" राजा विराट् ने उन्हें पशुशाला की देखभाल का काम सिपुर्द कर दिया। नकुल ने आकर कहाः—"मैं घोड़ों से सम्बन्ध रखनेवाला विद्या को भली भाँति जानता हूँ। पहले मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ नौकर था।" यह सुन राजा विराट् ने उन्हें अपना अश्वपाल बना लिया। द्रौपदी ने विराट् की पत्नी सुदेष्णा के पास जाकर कहाः—"हे रानी! मेरा नाम सैरिन्ध्री है। मैं महा सुन्दरी द्रौपदी के यहाँ पहले नौकर थी। मुझे शृंगार करने की कला अच्छी तरह मालूम है। महारानी द्रौपदी मुझसे बड़ी प्रसन्न रहती थीं। आपको भी प्रसन्न करने का प्रयत्न करूँगी।" रानी ने यह सुन उन्हें रख लिया। उर्वशी के शाप से, उसी समय अर्जुन नपुंसक हो गये। उन्होंने स्त्री-वेष में आकर राजा से कहा—"मैं बृहन्नला हूँ। रानी द्रौपदी के यहाँ नाच-गाकर स्त्रियों का मन बहलाता और

उन्हें नाचने गाने की शिक्षा भी देता था । इस विषय में मैं बड़ा निपुण हूँ। राजकुमारी उत्तरा का नृत्य-गान सिखाने के लिए मुझे नौकर रख लीजिए।" राजा ने उन्हें नौकर रख अन्तःपुर में भेज दिया। इस प्रकार सबको इच्छानुसार नौकरियाँ मिल जाने से सब लोग गुप्तवेष से राजा विराट के यहाँ समय व्यतीत करने लगे।

भीमसेन और जीमूत

इस भाँति, गुप्तवेष से रहते हुए, पाण्डवों को चार महीने हो गये। विराट्नगर में एक उत्सव हुआ। उसमें दूर-दूर के पहलवान कुश्तियाँ लड़ने आये थे। इन सबमें जीमूत नामी पहलवान बड़ा बली था। उसने सबको हरा दिया। यह देख राजा विराट् ने रसोइये वल्लव को कुश्ती लड़ने की आज्ञा दी। भीम ने जीमूत को ऊपर उठा पृथ्वी पर ऐसे ज़ोर से पटका कि उसके सारे अङ्ग चूर-चूर हो गए। जीमूत को इस प्रकार हरा देने से भीम का बड़ा नाम हुआ। उनकी पहले से अधिक खातिर होने लगी।

कीचक-वध

राजा विराट् के यहाँ, उनका साला कीचक प्रधान सेनापति था। वह दुष्ट सैरिन्ध्री को हर रोज़ छेड़ा करता था। कीचक सैरिन्ध्री की सुन्दरता पर मोहित हो गया था, और वह उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता था। सैरिन्ध्री के राज़ी न होने पर एक दिन वह अपनी बहन सुदेष्णा के पास गया और उससे इस काम में सहायता माँगी।

कीचक की सलाह से रानी ने एक दिन कहा कि

"सैरिन्ध्री ! मैं प्यासी हूँ, कीचक के घर से शराब की बोतल ले आ।" लाचार हो, उसे कीचक के घर जाना पड़ा। कीचक सैरिन्ध्री को देख बड़ा प्रसन्न हुआ। जब सैरिन्ध्री किसी प्रकार राज़ी न हुई तो कीचक ने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया। सैरिन्ध्री ने उस मतवाले को ऐसा धक्का दिया कि वह ज़मीन पर गिर पड़ा और आप भागती हुई राजा विराट् की शरण में आई। कीचक ने उठकर उसका पीछा किया और भरी राजसभा में उसने सैरिन्ध्री के लात मारी। राजा विराट् यह देख दंग रह गये, परन्तु कीचक से कुछ भी कहने का साहस उन्हें न हुआ। रोती हुई सैरिन्ध्री रानी के पास गई। रानी ने उसे सान्त्वना दे कहा कि कीचक को अवश्य दण्ड दिया जायगा। परन्तु हुआ कुछ भी नहीं। अब वह दुष्ट और भी सैरिन्ध्री के पीछे पड़ने लगा। सैरिन्ध्री ने यह भी प्रसिद्ध कर दिया था कि मैं गन्धर्वों की पत्नी हूँ। यदि कोई मेरा अपमान करेगा तो वे उसे जान से मार डालेंगे। लाचार हो सैरिन्ध्री ने यह सब हाल वल्लव से कहा। वल्लव ने कहा कि "कीचक को धोखा देकर नाट्यशाला में बुला लो। मैं पहले ही से वहाँ छिपा रहूँगा और उसे अवश्य मार डालूँगा।" सैरिन्ध्री के बुलाने पर कीचक वहाँ गया और अँधेरे में उसने वल्लव को सैरिन्ध्री समझ छेड़खानी की। इस पर वल्लव ने उसे धर पटका और उसके सिर और पैर तोड़-मरोड़कर पेट में घुसेड़ दिये। सैरिन्ध्री उसकी यह दुर्गति देख बड़ी प्रसन्न हुई और उसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि गन्धर्वों ने कीचक को रात में मार डाला। कीचक के भाइयों ने सैरिन्ध्री पर क्रोधित हो उसे कीचक की लाश के साथ बाँध दिया। जब वे लोग सैरिन्ध्री क

भी जलाने के लिए ले चले, तब वल्लव ने अपना वेष बदल एक पेड़ उखाड़कर कीचक के सब भाइयों का मार डाला। राजा भी डर गया। उसने रानी से उसे निकाल देने को कहा। इस पर सैरिन्ध्री ने कहा कि "हे दयावती रानी! थोड़े दिन मुझे और रहने दो। मेरे पति गन्धर्व स्वयम् मुझे आकर ले जायँगे। उनके प्रसन्न होने पर तुम्हारे राज्य की भलाई ही होगी।" यह सुन, रानी सुदेष्णा ने उसे कुछ दिन और रहने की आज्ञा दे दी।

राजा विराट् पर कौरवों की चढ़ाई

'गन्धर्वों ने कीचक को मार डाला'—यह संवाद जब हस्तिनापुर पहुँचा, तो कौरवों को सन्देह हुआ कि पाण्डवों ने ही उसे मारा होगा। अतः उन्होंने राजा विराट् की नगरी पर इस विचार से चढ़ाई कर दी कि अगर वे वहाँ होंगे तो अवश्य सहायता करेंगे। इस युक्ति से भेद खुल जाने पर उन्हें फिर १३ वर्ष तक वनवास करना पड़ेगा।

त्रिगर्त्त देश का राजा सुशर्मा राजा विराट् का शत्रु और कौरवों का मित्र था। कीचक के मरने पर राजा विराट् को निर्बल समझ उसने भी उन पर चढ़ाई कर दी। राजा सुशर्मा ने बहुत सी सेना लेकर विराट् की नगरी को घेर लिया। यह सुनते ही राजा विराट् अपनी सेना ले युद्ध के लिए निकल पड़े। साथ में कंक, वल्लव, तन्त्रिपाल और ग्रन्थिक को भी युद्ध के लिए लेते गये। इसी समय कौरवों ने आकर नगरी को घेर लिया। विराट् का पुत्र उत्तरकुमार सोचने लगा कि राजा तो सुशर्मा से लड़ रहे हैं। मेरे पास यहाँ कोई सारथी भी नहीं है। अब करूँ तो क्या करूँ?

सैरिन्ध्री ने उत्तरा से कहा कि बृहन्नला सारथी का भी काम अच्छी तरह जानता है। राजकुमारी ने यह बात अपने भाई से कही, तब बृहन्नला को सारथी बनाकर कुमार उत्तर भी कौरवों से युद्ध करने को तैयार हो गया। इधर राजा सुशर्मा ने घोर युद्ध करके राजा विराट् को क़ैद कर अपने रथ पर बिठा लिया। तब कंक ने वल्लव को आज्ञा दी कि हम लोगों के जीते जी राजा का क़ैद हो जाना उचित नहीं है। जाओ, युद्ध करके राजा को छुड़ा लो। आज्ञा पाते ही वल्लव ने त्रिगर्त्तराज की सारी सेना को काट डाला। फिर सुशर्मा के सारथी को मार, राजा विराट् को छुड़ा त्रिगर्त्तराज को क़ैद कर लिया। राजा विराट् तब बहुत प्रसन्न हुए। वे सुशर्मा की क़ैद से छूट, विजयी हो, अपनी नगरी को वापिस आये।

कौरव-पराजय

जब राजकुमार उत्तर कौरवों के सामने पहुँचा, तब वह महात्मा भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि महारथियों तथा बड़ी भयंकर कौरवी सेना को देख काँपने लगा। बृहन्नला के बहुत कुछ समझाने पर भी वह युद्ध करने को राज़ा न हुआ। मारे डर के जब वह रथ से उतरकर भागने लगा, तब बृहन्नला ने उसे दौड़कर पकड़ लिया। पाण्डवों का अज्ञातवास अब पूरा हो गया था, इसलिए बृहन्नला ने कुमार उत्तर को अपना परिचय दे दिया। अर्जुन का नाम सुनते ही राजकुमार निर्भय हो गया और उसने सारथी होना स्वीकार कर लिया। बृहन्नला अपना रथ पहले श्मशान भूमि में उस शमी वृक्ष के पास ले गये, जिस पर

उनके हथियार रक्खे थे। उस वृक्ष पर से गाण्डीव धनुष तथा सब अस्त्र-शस्त्रों को ले वह रणभूमि में कौरवों के सामने आ डटे। उन्होंने सबसे पहले गुरु द्रोण के चरणों में दो बाण गिराये और फुफकारता हुआ एक बाण उनके कानों के पास फेंका। फिर सारी कौरवसेना के नाक में दम कर दिया। पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, वीरवर कर्ण तथा अन्यान्य महारथियों को परास्त कर उन्होंने सब गउओं को छीन लिया। द्रोणाचार्य ने कहा—"देखो भीष्म, यह स्त्री-वेषधारी अवश्य ही अर्जुन है। इस समय इसके अस्त्रों के प्रयाग का फुर्तीलापन तो देखो! अब किसी भी महारथी के पैर नहीं ठहरते। इसने मुझे अपना परिचय दे दिया है। पहले दो बाणों से मुझको प्रणाम किया और फिर एक बाण से मेरी कुशल पूछी है।" इतने में स्त्री-वेषधारी अर्जुन ने एक ऐसा मोहनास्त्र छोड़ा कि सारी कौरव सेना बेहोश हो गई। तब तो राजकुमार उत्तर ने सब महारथियों के कपड़े उतार लिए। पितामह भीष्म इस सम्मोहन-अस्त्र का तोड़ जानते थे; परन्तु वे उस समय ऐसे मोहित हुए कि उन्हें भी उसकी कुछ सुध न रही। अब कुमार इस विजय से प्रसन्न हो, अर्जुन के साथ घर लौटे और कौरव लोग मूर्च्छा से जागने पर पराजित हो हस्तिनापुर लौट गये।

अभिमन्यु का उत्तरा से विवाह

युद्ध के तीसरे दिन अज्ञातवास का काल समाप्त हो जाने से पाण्डवों ने राजा विराट् को अपना परिचय देने का विचार किया। इसी इरादे से अच्छी-अच्छी पोशाकें पहिन और अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र ले वे राजसभा में गये।

चन्द्रमुखी द्रौपदी भी अपना उत्तम शृंगार किए हुए उनके साथ में थीं। राजकुमार उत्तर ने राजा को एक-एक करके सब पाण्डवों का परिचय दिया। राजा ने हाथ जोड़कर उन सबसे क्षमा माँगी और यथोचित सत्कार किया। राजा विराट् ने राजकुमारी उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने को कहा; किन्तु अर्जुन ने उत्तर दिया कि उत्तरा को मैंने पुत्री की भाँति शिक्षा दी है और वह भी मुझे गुरु के तुल्य मानती है। हाँ, यह हो सकता है कि अभिमन्यु के साथ उसका विवाह कर दिया जाय। तब यही बात निश्चित हो गई। सब सम्बन्धियों को दोनों ओर से निमन्त्रण भेजे गये। राजा द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, काशिराज, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदि इस विवाह में विराट् नगरी में एकत्र हुए। श्रीकृष्ण, बलराम, सात्यकि आदि यादव भी कुमार अभिमन्यु को लेकर उपस्थित हुए। यथा-समय राजकुमारी का विवाह अभिमन्यु के साथ बड़ी धूम-धाम से हुआ।

पाण्डवों को पैतृकराज्य दिलाने की मन्त्रणा

विवाह के पश्चात् ये सब राजा मिलकर इस बात पर विचार करने लगे कि पाण्डवों को अपना इन्द्रप्रस्थ का राज्य लेने के लिये अब क्या करना चाहिए? पाण्डवों ने कहा—"जिस राज्य को हमने अपने बाहुबल से जीता था, जिसे धर्मराज जुए में हार गये थे और धृतराष्ट्र ने जिस राज्य को फिर हमें लौटा दिया था, उसी खाण्डव प्रस्थ का राज्य पा जाने पर हम लोग सन्तुष्ट हो जायँगे।" कृष्ण ने उठकर सब राजाओं से कहा कि "आप लोग इस पर विचार

कीजिए। कौरव तो अपनी नीचता के कारण उस राज्य को भी हड़प लेना चाहते हैं। बचपन से ही पाण्डवों के साथ उन्होंने बुरा बर्ताव किया है। दुःशासन और दुर्योधन आदि ने भरा सभा में सती द्रौपदी का अपमान कर नीचता दिखलाई है। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह आशा नहीं की जा सकती कि कौरव पाण्डवों का राज्य लौटा देंगे। परन्तु उचित यही है कि पहले दूत भेजकर कौरवों से राज्य माँगा जाय और यदि वे न दें तो फिर युद्ध करके लिया जाय। बलदेवजी ने कृष्ण की बात का समर्थन किया और कहा कि कौरव पाण्डवों में मेल हो जाना ही उचित है, जिससे वे दोनों सुख से रहें और कुटुम्ब का नाश न हो। मेरी समझ में एक दूत कौरवों के पास भेजा जाय। वह भीष्म तथा धृतराष्ट्र से पाण्डवों का सन्देश कहकर सन्धि का बातचीत करे। उस दूत को बड़ी नम्रता से बातें करनी चाहिए; क्योंकि इस समय सम्पूर्ण राज्य की बागडोर दुर्योधन के ही हाथ में है। कहीं ऐसा न हो कि वह क्रोधित होकर इनका राज्य लौटाने से इन्कार कर दे। राजा युधिष्ठिर ने शकुनि के साथ जुआ खेलकर अच्छा नहीं किया।

अब सात्यकि से रहा नहीं गया। वे उठकर खड़े हो गए और क्रोधित हो कहने लगे कि "धर्मराज युधिष्ठिर को कोई भी दोष नहीं लगा सकता। यदि युधिष्ठिर जुआ खेलने के लिए किसी को अपने घर बुलाते और हार जाते तो बेशक ये अपराधी थे। परन्तु दुष्ट दुर्योधन ने इनको क्लेश देने के विचार से ही अपने यहाँ बुलाकर शकुनि के द्वारा कपट से इनका सर्वस्व छीन लिया है। ऐसी दशा में इनको अपराधी कहने का किसी धर्मज्ञ को साहस न होगा।

अब पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कर चुके हैं, इन्हें कौरवों के आगे हाथ पैर जोड़ने की कोई ज़रूरत नहीं। यदि वे सीधी तरह से इनका राज्य न लौटा देंगे तो उनके सिर पर लात मारकर इनका राज्य दिलाया जायगा।"

राजा द्रुपद बोले—"हे वीर सात्यकि! तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। अब बिना युद्ध किए काम न चलेगा। परन्तु हमको सबसे पहले अपना बल बढ़ाना चाहिए। मित्रराज्यों में दूत भेजे जायँ और युद्ध के लिए उनसे सहायता माँगी जाय। हाँ, सन्धि के लिए दूत भी भेजा जाय; क्योंकि यह राजनीतिक नियम है। परन्तु देख पड़ता है कि युद्ध अवश्य होगा।"

कृष्ण के पास अर्जुन तथा दुर्योधन

राजा द्रुपद की राय सबको पसन्द आई। उपस्थित राजा लोग और कृष्ण आदि अपने-अपने नगरों को जाने की तैयारी करने लगे। इधर सहायता के लिए मित्रराज्यों में दूत भेजे जाने लगे। साथ ही सन्धि के लिए कौरवों के पास राजा द्रुपद के पुरोहित को भेजा गया। दूत के पहुँचने पर पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और राजा धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाया कि पाण्डवों से सन्धि कर उनका राज्य उनको लौटा दो। परन्तु उस दुष्ट ने किसी की भी बात पर ध्यान नहीं दिया। उसे अपने जासूसों से यह पता लग गया था कि पाण्डव लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हैं और उन्होंने अनेक राजाओं से सहायता माँगी। इसलिए दुर्योधन ने भी ताबड़तोड़ अपने दूतों को राजाओं के पास भेज-भेज कर उनसे सहायता माँगी।

यदुवंशियों में कृष्ण के पास दुर्योधन स्वयं गया। उसी समय अर्जुन भी वहाँ पहुँचे। इस प्रकार दुर्योधन और अर्जुन, दोनों एक ही साथ द्वारका पहुँचे और एक ही समय राजभवन में गये। कृष्णजी उस समय सो रहे थे। सोने के कमरे में पहले दुर्योधन गया और कृष्ण के सिरहाने बैठ गया। फिर अर्जुन गये और पैताने बैठ गये। जब कृष्ण सोकर उठे तब उन्होंने पहले अर्जुन को और फिर दुर्योधन को देखा। जब कृष्ण ने उनके आने का कारण पूछा तो दुर्योधन ने हँसकर कहा—"हे वासुदेव! आपका सम्बन्ध जैसा पाण्डवों से है वैसा ही कौरवों से। इसलिए आपको दोनों से बराबरी का बर्ताव करना चाहिए। मैं आपके पास पहले आया हूँ, अतएव नीति के अनुसार इस होनेवाले युद्ध में आपको मेरा पक्ष लेना चाहिए।" कृष्ण ने कहा—हे कुरुवीर! यद्यपि तुम पहले आये हो, पर हमने अर्जुन का पहले देखा है। कौरव और पाण्डव दोनों हमारे लिए समान हैं, इसलिए हम दोनों पक्षों की सहायता करेंगे। एक ओर हम अकेले रहेंगे; पर न तो हम लड़ेंगे, न हथियार ही उठावेंगे और दूसरी ओर हमारी नारायणी सेना रहेगी। अर्जुन तुम से छोटा है, इसलिए पहले वह इन दोनों में से जिसको चाहे ले ले।" अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को ही लिया। फिर दुर्योधन कृष्णजी की नारायणी सेना को लेकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने समझा कि जब कृष्ण लड़ेंगे ही नहीं तो उन्हें लेना बेकार था। दुर्योधन के चले जाने पर, कृष्णजी ने अर्जुन से पूछा—"यह जानकर भी कि मैं न तो लड़ूँगा और न हथियार ही हाथ में लूँगा, तुमने मुझे अपने पक्ष में क्यों लिया?" अर्जुन ने उत्तर दिया—"हे मित्र!

मैं सेना लेने नहीं आया था। तुम्हारी सम्मति और मंगल-कामना ही से हमारे सब काम सिद्ध हो जायँगे। हाँ, एक बात आपको अवश्य माननी होगी। वह यह कि आपको युद्ध में मेरा सारथि बनना होगा।" कृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुन की इस बात को मान लिया। फिर दुर्योधन बलदेव-जी के पास गया और उनसे अपने पक्ष में आने को कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि "मैं अपने भाई कृष्ण के विपरीत पक्ष में नहीं जा सकता।" यादवों में कृतवर्मा ने दुर्योधन का और सात्यकि ने पाण्डवों का पक्ष स्वीकार किया।

कौरवों के पास कृष्ण

सन्धि होने की कोई आशा नहीं है, यह सुन युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे केशव! तुमने अपनी आँखों से देखा है कि लड़ाई झगड़ा बचाने के लिए हम लोगों ने आजतक कितना क्लेश उठाया है। अब हम न्याय से राज्य पाने के अधिकारी हैं। युद्ध में चाहे हम हारें चाहे कौरव, किन्तु हर तरह से हमारे प्यारे बन्धु-बान्धवों का नाश अवश्य ही होगा। परन्तु हमने तो अब यह निश्चय कर लिया है कि यदि राज्य पाने के लिए हमें अपने प्राण तक देने होंगे तो उन्हें भी हम सहर्ष न्योछावर कर देंगे। परन्तु यह मामला है बड़ा गम्भीर! आप दोनों पक्षों के शुभचिन्तक हैं, इसलिए हम आपही से उचित सलाह का आशा करते हैं।"

यह सुन श्रीकृष्ण ने कहा—"हे धर्मराज! इस घोर नरहत्या का दोष मुझको न दिया जाय, इसलिए युद्ध आरम्भ होने से पहले मैं चाहता हूँ कि एकबार हस्तिनापुर स्वयं जाऊँ और दोनों पक्षों के हित के लिए अन्तिम प्रयत्न कर देखूँ।"

उस समय राजा युधिष्ठिर केवल पाँच ही गाँव लेकर सन्धि करने को तैयार हो गये थे। द्रौपदी ने अपने सिर के बिखरे हुए बाल पकड़कर कहा—'द्वारकानाथ! आप जाते तो हैं, पर सभा में दुःशासन के द्वारा खींचे हुए इन बालों की सुध न भूल जाना।' यह सुन सात्यकि को साथ लेकर कृष्णचंद्र हस्तिनापुर पहुँचे। कौरवों ने उनके स्वागत का यथोचित प्रबन्ध किया। नगर तथा राज-मार्ग रेशमी वस्त्रों और रत्नों से खब सजाये गये। भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि ने स्वयम् जाकर उनका स्वागत किया। दुःशासन का मन्दिर (महल) खब सजाया गया था, उसी में श्रीकृष्णजी को लाकर ठहराया गया। उनको बहुमूल्य रत्न भेंट किये गये; परन्तु कृष्ण ने भेंट तो क्या, कौरवा के यहाँ भोजन करना भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने साफ़ कह किया कि "मैं इस समय पाण्डवों का दूत बनकर आया हूँ, इसलिए जब तक आप लाग मेरी बात को स्वीकार न करेंगे, तब तक मैं भी आपके आतिथ्य-सत्कार को अंगीकार न करूँगा।" इसी से वे विदुर के यहाँ नित्य भोजन करते थे।

धृतराष्ट्र ने सोचा था कि कृष्ण को, लालच में डाल अपने पक्ष में कर लेंगे। परन्तु उनका मनोरथ सफल न हुआ। जब राजसभा में सब लोग एकत्र हुए, तब श्रीकृष्णजी ने बड़े गम्भीर स्वर में धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहा—"हे भरतवंश-शिरोमणि! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप कौरवों-पाण्डवों में मेल करा दीजिए। यदि आपस में सन्धि न हुई तो कौरवकुल समूल नष्ट हो जायगा। दोनों पक्षों के अनेक वीरों का वृथा नाश भी होगा। जो कुछ हमें कहना है, वह सब आप जानते ही हैं। हे राजन्! विद्या,

सरलता, दया, क्षमा, सत्य और सदाचार आदि गुणों के कारण आपका कुल अन्य राजाओं के कुलों से श्रेष्ठ समझा जाता है। आप इस कुल में रत्न हैं। राज-काज की बागडोर भी आपही के हाथ में है। बड़े दुःख की बात है कि आपके समान न्यायाधीश होते हुए कौरव लोग पाण्डवों के साथ इस प्रकार का अनुचित व्यवहार करें। आप अपने पुत्रों को समझाइए। आपकी आज्ञा मानना उनके लिए हितकर होगा। कौरवकुल की भलाई और आपको समझाने के लिए ही हम यहाँ आये हैं। यदि आप इस मामले को ठंडा करने की चेष्टा न करेंगे और लापरवाही दिखलावेंगे, तो इतने बड़े राज्य का जड़ से नाश हो जाने का भय है। आप कौरवों को शान्त करें। पाण्डवों को शान्त करने का भार हम अपने ऊपर लेते हैं। इसी से नर-हत्या बच सकती है कि पाण्डवों को उनका राज्य लौटा दीजिए। जब पाण्डव आपके अधीन हो आपकी सहायता और रक्षा करेंगे, तब इन्द्र का तेज और बल भी आपके सामने फीका पड़ जायगा और आप आनन्दपूर्वक निष्कण्टक राज्य कर सकेंगे। हे भरतकुल-शिरोमणि! आपके पुत्रों ने पाण्डवों पर जो-जो अत्याचार किये हैं, उन सबका एक बार आप अपने मन में विचार तो कीजिए—भरी सभा में द्रौपदी के साथ कैसी नीचता का व्यवहार किया गया था। कपट के साथ जुआ खिलवाकर पाण्डवों को तेरह वर्ष तक वनवास में रक्खा गया। फिर भी पाण्डव लोग कौरवों का अपराध क्षमा करने को तैयार हैं। आपको उचित है कि धर्म और सत्य के लिए अथवा अपने हित और सुख के लिए आप पाण्डवों से सन्धि कर उनका आधा राज्य उनको लौटा दें। आपके पुत्र

लोभ और क्रोध की प्रबलता के कारण हतबुद्धि हो गये हैं। उन्हें ठीक रास्ते पर लाना आपका कर्तव्य है। पाण्डव लोग आपकी आज्ञा मानने के लिए हर समय तैयार हैं। अब आपको जो उचित जान पड़े, वही कीजिए।"

श्रीकृष्णजी के इस न्यायपूर्ण और गम्भीर भाषण को सुनकर सभासदों और ऋषि-मुनियों ने मन-ही-मन उनकी बड़ी प्रशंसा की। भीष्म, द्रोण, विदुर तथा अन्य ऋषियों ने कृष्ण की बात का समर्थन अवश्य किया; किन्तु दुर्योधन द्वारा अपमानित होने के भय से किसी को भी स्पष्ट कहने का साहस न हुआ। कुछ ऋषियों ने नाना प्रकार की कथाएँ कह व उपदेश देकर दुर्योधन को समझाने की चेष्टा की; किन्तु उसके निश्चय पर उनके उपदेशों का कोई असर न हुआ। उलटे उसने क्रोधित होकर यह उत्तर दिया:— "मनुष्य अपने स्वभाव के अनुकूल ही कर्म करता है। ईश्वर ने जैसी बुद्धि हमें दी है, वैसा ही हम करते हैं। हम इस विषय में आप लोगों की सम्मति नहीं चाहते।"

अपने पुत्र दुर्योधन के मुख से इस प्रकार का उद्दण्ड और अनुचित उत्तर सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा:—"हे ऋषि-गण! आपने जो उपदेश दिये, वे मानने योग्य हैं; किन्तु मुझे दुःख है कि दुर्योधन पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ। उसे समझाना मेरी शक्ति के बाहर है।" फिर श्रीकृष्णजी को सम्बोधित करके कहा:—"हे केशव! आपने जो कुछ कहा, वह उचित है, धर्मसंगत और हितकर भी है; किन्तु मैं स्वाधीन नहीं हूँ। यह मूढ़ दुर्योधन मेरा या और किसी का कहना नहीं मानता। आपही इसको समझाकर राज़ी कर लें।" तब श्रीकृष्णजी दुर्योधन की

ओर मुँह करके इस प्रकार मधुर शब्दों में उसे समझाने लगेः—"हे दुर्योधन! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। जितने भी अच्छे-अच्छे गुण हैं, वे सब तुममें मौजूद हैं। उत्तम कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। इस प्रकार का व्यवहार तुम्हारे वंश को शोभा नहीं देता। भीष्मजी, द्रोणाचार्यजी और स्वयम् राजा धृतराष्ट्र व अन्य गुरुजन भी यही चाहते हैं कि पाण्डवों के साथ सन्धि हो जाय। उनका कहना मानना तुम्हारा धर्म है। निकट भविष्य में जो अनर्थ होनेवाला है उसे रोककर अपने बन्धु-बान्धवों व मित्रों का कल्याण करो। जो पुरुष अपने सुहृदों का कहना नहीं मानता, उसे अन्त में पछताना पड़ता है। तुम जिन लोगों के भरोसे पाण्डवों को जीतना चाहते हो, वे इस योग्य हैं ही नहीं। अर्जुन को, मनुष्यों की कौन कहे, संग्राम में देवता और दैत्य भी नहीं जीत सकते। यदि तुम यह समझते हो कि हम अर्जुन को युद्ध में अवश्य हरा देंगे, तो अपने में से किसी एक वीर को अर्जुन से युद्ध करने के लिए चुन लो और इस प्रकार द्वन्द्व युद्ध के परिणाम से हार-जीत का निपटारा हो जाय। यदि इस बात को भी तुम मानने को तैयार नहीं, तो वीरों का वृथा नाश न कराकर आधा राज्य पाण्डवों को दे दो। अन्यथा तुम्हारे ही कारण, ये तुम्हारे पुत्र, भाई, बन्धु भीष्मपितामह आदि सब नाश को प्राप्त होंगे। हे राजन्! ऐसा करो, जिसमें तुम्हारा यह कुल नष्ट न हो, तुम कुलनाशक न कहलाओ, तुम्हारी कीर्ति नष्ट न हो और तुम सुखपूर्वक रहो!" कृष्णजी की बात समाप्त होने पर, भीष्मजी ने उनके प्रस्ताव का समर्थन किया और फिर वह भी दुर्योधन को समझाने लगे; किन्तु उसने उनकी बातों

पर भी कोई ध्यान नहीं दिया। यह देख विदुरजी ने कहाः—"हे दुर्योधन! हमें तुम्हारे लिए कुछ भी शोक नहीं है; किन्तु हम तुम्हारे वृद्ध माता-पिता के लिए घबरा रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि मित्र-बान्धव व पुत्रों के मारे जाने पर वे पंख उखड़े हुए दो पक्षियों के समान अनाथ इधर-उधर मारे-मारे घूमें।" राजा धृतराष्ट्र फिर दुर्योधन से कहने लगे—"हे पुत्र! महात्मा श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, वह हम लोगों के लिए हितकर और कल्याणकारी है। उसे मान लेने से तुम्हारे ऐश्वर्य में कुछ भी कमी नहीं हो सकती। प्रिय पुत्र, तुम श्रीकृष्णजी के साथ जाकर पाण्डवों से मेल कर लो। इनका कहना न मानोगे, तो अवश्य तुम्हारी हार होगी, इसमें कुछ भी सन्देह न समझो।" दुर्योधन ने और किसी की बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। केवल कृष्ण को इस प्रकार कठोरतापूर्वक उत्तर देने लगा—"हे कृष्णचन्द्र! आप क्या समझकर हमारी निन्दा कर रहे हैं? हम अब तक यह न जान सके कि हमने कौन-सा अपराध किया है? जुआ खेलने का चसका लग जाने से यदि युधिष्ठिर जुए में सर्वस्व हार गये, तो इसमें हमारा क्या दोष? हमें तो ऐसा एक भी क्षत्रिय नहीं नज़र आता जो हमें युद्ध में परास्त कर सके। हे माधव! हम क्षत्रिय हैं, शत्रु को सिर झुकाने की अपेक्षा लड़ाई के मैदान में युद्ध करके वीरों की तरह शूर-शय्या पर सोना ही हम अधिक अच्छा समझते हैं। हे वासुदेव! हमने निश्चय कर लिया है कि चाहे कुरुकुल और सब क्षत्रियों का नाश हो जाय, चाहे सारा साम्राज्य नष्ट क्यों न हो जाय, किन्तु अब हम बिना युद्ध किये सुई की नोक बराबर भी ज़मीन नहीं देंगे।"

जब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने देखा कि यह दुष्ट किसी प्रकार मानता ही नहीं, तो उन्होंने क्रोधित हो डाँटकर कहाः—"हे दुर्योधन! वह समय बहुत ही निकट है, जब रण में वीरों के योग्य शय्या पर सोने की इच्छा तुम्हारी पूर्ण होगी। हे नराधम! शीलसम्पन्न प्राणों से प्यारी पाण्डु के पुत्रों की पटरानी द्रौपदी का भरी सभा में क्या तुमने घोर अपमान नहीं किया? क्या लड़कपन में तुमने भीम को विष नहीं दिया? क्या तुमने मातासहित पाण्डवों को वारणावत नगर भेज लाक्षाभवन में उन्हें जीते ही जला डालने की चेष्टा नहीं की? तुमने ही शकुनि से क्या छलयुक्त जुआ नहीं खिलवाया था? फिर तुम कैसे कहते हो कि हमारा दोष नहीं है? तुम अपने गुरुजनों का कहना नहीं मानते, इसका परिणाम तुम्हारे हक़ में अच्छा नहीं होगा।" जब श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को इस प्रकार फटकारा, तब वह उनकी बातों का कुछ भी उत्तर न देकर कर्ण और दुःशासन के साथ सभा से उठकर चल दिया। फिर कृष्णजी ने धृतराष्ट्र से कहाः—"राजन्! आपने और दुर्योधन ने पहले अपने हितैषी विदुर आदि की बात नहीं मानी। आज यह उसी का फल है। अब केवल एक ही उपाय बाक़ी है। वह यह कि दुर्योधन को क़ैद में डालकर धर्मिष्ठ पाण्डवों को राज्य दे दें। इसके सिवा वंशक्षय न होने देने का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।" तब धृतराष्ट्र ने गान्धारी को बुलवाया और कहाः—"हे गान्धारी! तुम्हारा पुत्र बड़ा उद्दण्ड है, किसी का कहना नहीं मानता। उसकी इस मूर्खता के कारण हम लोगों पर भारी विपत्ति आनेवाली है। तुम भी एक बार उसे समझाने की चेष्टा करो।" रानी ने कहा—

"महाराज ! इसमें आपही का दोष है। जब रोग बढ़कर असाध्य हो गया, तो फिर उसकी चिकित्सा नहीं हो सकता। आपने पहले तो उसे अन्याय करने से रोका नहीं, और जब वह स्वतन्त्र हो गया, तो आप उसे ज़बरदस्ती रोकना चाहते हैं। अब भला यह कैसे हो सकता है ?" फिर दुर्योधन को बुलाकर माता गान्धारी ने उसे बहुत समझाया और आधा राज्य पाण्डवों को दे देने के लिए कहा; परन्तु दुर्योधन ने अपनी माता को कुछ भी उत्तर न दिया और सभा छोड़ चला गया। उस दिन से पतिव्रता गांधारी भी उससे रुष्ट हो गई और जब-जब वह माता के पास गया, तब-तब उन्होंने यही कहा कि बेटा 'यतो धर्मस्ततो जयः !' (जहाँ धर्म है, वहीं विजय है)

कृष्ण ने क़ैद करने की जो सलाह दी थी वह दुर्योधन को मालूम होगई, इसलिए रुष्ट होकर वह कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन के साथ कृष्ण को ही क़ैद करने की सलाह करने लगा। सात्यकि को दुर्योधन की इस दुष्टता का पता लग गया। उन्होंने श्रीकृष्णजी से चुपके से आकर कहा कि "महाराज ! अब आपका यहाँ ठहरना ठीक नहीं। मूर्ख दुर्योधन आपका अपमान किया ही चाहता है।" तब श्रीकृष्ण ने सबके सामने धृतराष्ट्र से कहाः—"हे राजन् ! सुनते हैं, दुर्योधन हमें ज़बरदस्ती क़ैद करना चाहता है। आप लोग हमारी सामर्थ्य को अच्छी तरह जानते हैं, अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कौन किसको क़ैद कर सकता है। ख़ैर, इस समय हम दूत होकर आये हैं, इसलिए दूत का धर्म छोड़कर किसी को दण्ड देना नहीं चाहते।" यह सुन धृतराष्ट्र ने दुर्योधन आदि को फिर सभा

में बुलवाया। उनके आने पर विदुरजी ने श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम का बखान कर दुर्योधन से कहा कि "कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। इन्होंने ऐसे-ऐसे कर्म किये हैं, जिन्हें साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसलिए इनसे अनुचित व्यवहार कर मृत्यु को अपने आप न बुलाओ। जो कुछ यह कहें उसे मानकर सुखपूर्वक राज्य करो।" भगवान् कृष्ण ने कहा—"हे दुर्योधन! क्या तुम अकेला जानकर हमको क़ैद करना चाहते हो? तुम बड़े दुर्बुद्धि हो!" यह कह भगवान् बड़े ज़ोर से हँसे। उनके हँसते ही चारों ओर एक दिव्य तेज फैल गया। ब्रह्मा आदि सब देवगण दिखाई देने लगे। ब्रह्माजी मस्तक में, महादेवजी छाती में, उनके दाहने अर्जुन, बायें बलराम और पीछे की ओर शेष पाण्डव इत्यादि खड़े दिखलाई देने लगे। कृष्णजी के इस अद्भुत रूप को देख लोग चकित रह गये। मारे भय के राजाओं ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। किन्तु भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य व राजा धृतराष्ट्र, विदुर व तपोधन ऋषि लोग उस रूप का दर्शन करते रहे; क्योंकि भगवान् ने उन्हें दिव्य दृष्टि दे दी थी। सब राजा लोग व ऋषिगण भगवान् की स्तुति करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण ने फिर अपना वही पहले का रूप धारण कर लिया। इसके बाद ऋषियों की आज्ञा ले, श्रीकृष्णजी बाहर चले आये और रथ पर सवार हो गये। धृतराष्ट्र ने इस समय भी अपनी असमर्थता प्रकट की। कृष्णजी ने फिर सभासदों की ओर इशारा करके कहा—"राजा धृतराष्ट्र स्वाधीन नहीं हैं। दुर्योधन सन्धि करना नहीं चाहता। अब हमें युद्ध के सिवा और कोई दूसरा रास्ता नज़र नहीं आता।" यह कह कर्ण को साथ लेकर भगवान् नगर के बाहर आये।

कृष्ण और कर्ण

बाहर आकर कृष्ण ने कर्ण को समझाया कि "कर्ण! तुम पाण्डु के ही क्षेत्रज पुत्र हो, इसलिए तुमको पाण्डवों का ही पक्ष लेना उचित है। चलो, तुम्हारा जन्म-वृत्तान्त बतलाकर पाण्डवों से मेल करा दें। तुम युधिष्ठिर से बड़े हो; इसलिए तुम्हीं को राज्य दिया जायगा। पाण्डव तुम्हारी सेवा करेंगे।" कर्ण ने उत्तर दिया—"आपका कहना बिलकुल सत्य है, और जो कुछ आपने अपने श्रीमुख से कहा, वह सब मेरी भलाई ही के लिए है। परन्तु दुर्योधन ने जो उपकार मेरे साथ किये हैं, उन्हें मैं लालच में आकर भूल नहीं सकता। यह मैं समझता हूँ कि धर्मराज युधिष्ठिर मेरे जन्म की कथा नहीं जानते। हे कृष्ण, उनको यह बात न बतलाना ही अच्छा है, क्योंकि यदि युधिष्ठिर यह जान लेंगे कि कर्ण मेरा बड़ा भाई है तो वे सारा राज्य मुझको दे देंगे। परन्तु मैं हूँ दुर्योधन का कृतज्ञ, इसलिये वह राज्य मैं दुर्योधन को ही दे दूँगा। इसमें धर्मराज की हानि होगी। हे वासुदेव! मैं धर्मराज की हानि नहीं चाहता; किन्तु अर्जुन से मेरी स्पर्द्धा है। पाण्डवों के साथ मेल कर लेने पर, द्वन्द्वयुद्ध में, मेरी और अर्जुन की जो कीर्त्ति होनेवाली है, वह भी न होगी। अब आप जाइए, पाण्डवा से इस गुप्त बात को आप न कहियेगा।" जब कृष्णजी ने देखा कि कर्ण अपनी बात पर अटल है, तब उन्होंने यह कर्ण से कहा कि "द्रोणाचार्य, कृपाचार्य व पितामह भीष्म से कह देना कि युद्ध के लिए यह महीना बड़े सुभीते का है। न गर्मी अधिक है, न सर्दी। आज के सातवें दिन अमावास्या को युद्ध होगा।"

कर्ण ने कहा—"हे कृष्ण, शकुन तो चारों ओर बुरे ही बुरे नज़र आते हैं। हार कौरवों की ही होगी और विजय जिस ओर आप हैं, उधर ही होगी। हम सब व अन्य राजा लोग जो यहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब गाण्डीव धनुषरूपी अग्नि में गिरकर अवश्य भस्म होंगे।" यह कह कर्ण श्रीकृष्ण को नमस्कार करके विदा हुआ।

कर्ण के पास कुन्ती

एक दिन कुन्ती भी कर्ण के पास गई। उस समय कर्ण भगवान् भास्कर (सूर्यनारायण) की आराधना कर रहे थे। कुन्ती कर्ण के पीछे जाकर खड़ी हो गई। जब वह सूर्यदेव की स्तुति कर चुका, तब उसने माता कुन्ती का अभिवादन किया। कुन्ती ने उसकी जन्म-कथा सुनाकर कहा कि बेटा! तुम मेरे ही पुत्र हो; इसलिए युद्ध में तुम्हें मेरे ही पुत्रों की सहायता करनी चाहिए। कर्ण ने माता कुन्ती को वही उत्तर दिया, जो भगवान् कृष्ण को दिया था। किन्तु इतनी प्रतिज्ञा कर ली कि सिवा अर्जुन के तुम्हारे चारों पुत्रों की रक्षा मैं अवश्य करता रहूँगा। हे माता! तुम वीर-पत्नी और वीर पुत्रवती हो, तुम्हें किसी बात का शोक न करना चाहिए। लड़ाई के मैदान में यह बात अवश्य होगी कि या तो मैं अर्जुन को मार डालूँगा या अर्जुन मुझे मार डालेगा। इस प्रकार हर तरह से तुम्हारे पाँच पुत्र जीवित रहेंगे। यह सुन कुन्ती लौट आई।

दुर्योधन और शल्य

मद्रदेश के राजा शल्य, जो माद्री के भाई थे, अपने भांजे

पाण्डवों को सहायता देने के लिए बहुत-सी सेना लेकर चले। जब दुर्योधन को उनके चलने का हाल मालूम हुआ तो उसने रास्ते भर उनकी बड़ी ख़ातिर की और कौरवों की ओर से युद्ध करने के लिए उनसे प्रार्थना की। दुर्योधन ने कहा—"जैसे युधिष्ठिर आपका भांजा है, वैसे ही मैं भी हूँ। यही नहीं, बल्कि मैं पहले मिला हूँ, इसलिए आपको मेरा ही पक्ष लेना चाहिए।" शल्य बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने धर्म ही को आगे रख उसकी बात स्वीकार कर ली। दुर्योधन तो हस्तिनापुर चले आये और राजा शल्य पाण्डवों से मिलने गये। पाण्डवों ने अपने मामा का बड़ा सत्कार किया। फिर राजा शल्य ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। युधिष्ठिर ने कहा कि मामा! आपने अच्छा ही किया, जो धर्म को प्रधान माना; परन्तु मेरा भी आप पर हक़ है। इतना कीजिएगा कि जब अर्जुन के साथ कर्ण का युद्ध हो, तो कर्ण के पराक्रम को घटाते रहिएगा। राजा शल्य ने उसे स्वीकार कर लिया। फिर पाण्डवों से बिदा हो कौरवों की ओर चले गये। राजा धृतराष्ट्र के एक पुत्र वेश्या से हुआ था। उसका नाम युयुत्सु था। वह पाण्डवों के पक्ष में चला आया।

युद्ध की तैयारी

हस्तिनापुर से लौट श्रीकृष्ण ने उपप्लव्य स्थान में पाण्डवों के पास जाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया और युद्ध की तैयारी करने को कहा। कौरवों के यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हुई। प्रत्येक अक्षौहिणी में एक-एक सेनापति नियुक्त हुआ। इस प्रकार आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य,

काम्बोजराज सुदक्षिण, भोजराज कृतवर्मा, कर्ण, शकुनि, भूरिश्रवा, बाह्लीक, गुरुपुत्र अश्वत्थामा और सिन्धुनरेश जयद्रथ ये ग्यारह सेनापति हुए। इन सबके प्रधान सेनापति भीष्मपितामह हुए। पाण्डवों के यहाँ सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हुई। राजा द्रुपद, विराट्, सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, द्रुपद-पुत्र शिखण्डी और भीमसेन सेनापति हुए। प्रधान सेनानायक धृष्टद्युम्न नियुक्त किये गये।

इस प्रकार तैयारी होने के पश्चात् इस रुधिर प्यासी रणभूमि पर दोनों ओर की सेनाएँ आकर डट गईं। कुरुक्षेत्र का मैदान गोल मंडलाकार था। उसका विस्तार क़रीब २० कोस में था। उसका आधा भाग कौरवों के अधिकार में और आधा पाण्डवों के अधिकार में था। इस युद्ध में आश्चर्यजनक नाना प्रकार की कलें और अस्त्र-शस्त्र थे। तहखाने, खंदक, खाई आदि द्वारा सेना का गुप्त प्रबन्ध ऐसा किया गया था कि शत्रु को पता न लगे कि किसके पास कितनी सेना रह गई है। दोनों ओर से वीरों को उत्साहित करनेवाला मारू बाजा बजने लगा। घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़, धनुष की टङ्कार, हथियारों की झंकार, वीरों के सिंहनाद और नगाड़े, शंख आदि की भयंकर ध्वनि से कुरुक्षेत्र का मैदान गूँज उठा। व्यासजी ने जब देखा कि दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं, तो धृतराष्ट्र से आकर बोलेः—"राजन्! यदि युद्ध के मैदान में तुम्हें अपने पुत्रों का मरना-मारना देखने की इच्छा हो, तो हम तुम्हें दिव्य चक्षु दे दें।" धृतराष्ट्र ने कहाः—"हे ब्रह्मर्षे, अपने प्यारे पुत्रों और कुटुम्बियों का मैं अपनी आँखों से सर्वनाश देखना

नहीं चाहता ; किन्तु युद्ध का सारा हाल मैं अवश्य सुनना चाहता हूँ। तब व्यासजी ने धृतराष्ट्र के सारथी संजय को दिव्य दृष्टि देकर यह वर दिया कि युद्ध में गुप्त या प्रकट जो कुछ होगा, वह तुमसे छिपा न रहेगा।" इस प्रकार सञ्जय को युद्ध-वृत्तान्त के सुनाने का काम सौंपकर व्यासजी चले गये। इधर ज्यों ही शंखनाद हुआ, दोनों दल बादल की भाँति गरजते हुए मैदान में सामने आये। तब अर्जुन ने देखा कि रणस्थल में जिनसे हम लड़ने जा रहे हैं, उनमें से प्रायः सभी अपने कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धी हैं, उनका हृदय करुणा और प्रेम से उमड़ पड़ा। शरीर में रोमाञ्च हो आया। प्रेम से गला भर गया। भगवान् कृष्ण जो इस समय मन्त्री, सखा और सारथी का काम कर रहे थे, उन्होंने अर्जुन से उदासीनता का कारण पूछा। इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया:—"हे भगवन्, अपने सिर पर इतनी बड़ी हत्या लेकर राज्य करने की अपेक्षा भीख माँगकर जीवन व्यतीत करना कहीं अच्छा समझता हूँ। मैं युद्ध नहीं करूँगा। अस्तु, आप रणभूमि से मेरा रथ तुरन्त लौटा ले चलिए।" अर्जुन की उपयुक्त बातों को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा:—"हे अर्जुन! मनुष्य को आजीवन अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए। मनुष्य कर्म करने का अधिकारी है। उसे फल की चिन्ता न करनी चाहिए। कर्त्तव्यनिष्ठ ही स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।" इस प्रकार की उपदेशभरी बातों को सुनकर अर्जुन को फिर ज्ञान प्राप्त हुआ और वह लड़ने को तैयार हो गया। इन्हीं उपदेशों के संग्रह को, जो अठारह अध्यायों में विभक्त है, 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहते हैं।

गीता का माहात्म्य

एक बार पृथ्वी ने भगवान् विष्णु से पूछा कि भगवन्, कर्मों का फल भोगते हुए मनुष्य आपकी परम पावन भक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यह मुझसे कहिए, मेरी सुनने की इच्छा है। भगवान् ने उत्तर दिया—"हे वसुन्धरे, अपने कर्मों का फल भोगता हुआ जो मनुष्य गीता का नित्य पाठ करता है, वह इस लोक में जीवन्मुक्त होकर सुख पाता है और कर्मों में लिप्त नहीं होता। उसके सब पाप छूट जाते हैं और महापातक भी वैसे ही उसका स्पर्श नहीं करते, जैसे जल कमल के पत्तों का स्पर्श नहीं करता। जिस घर में गीता की पुस्तक रहती है, वहाँ प्रयाग आदि सब तीर्थ निवास करते हैं। तेंतीस कोटि देवता, सब ऋषि-मुनि, योगी और नारद आदि देवर्षियों का भी वहाँ निवास रहता है। ये सब देवता और ऋषि उस मनुष्य की सदा रक्षा करते हैं जिसके घर में गीता की पुस्तक रहती है, जहाँ गीता का पठन-पाठन, श्रवण और मनन होता है, वहाँ मैं स्वयं निवास करता हूँ,

इसमें कोई सन्देह नहीं। गीता मेरा निवास-स्थान है, मैं गीता के आश्रित हूँ और गीता के ज्ञान का ही आश्रय लेकर तीनों लोकों का पालन करता हूँ। गीता ब्रह्मरूप, ओंकार-स्वरूप और पराविद्या है। इसी के द्वारा अनिर्वचनीय पद का ज्ञान प्राप्त होता है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए उपस्थित बन्धु-बान्धवों को सम्मुख देखकर अर्जुन को मोह हुआ। वह श्रीकृष्णजी से बोले कि अपने वंशजों, गुरुओं और पूज्य पुरुषों का वध करके यह महापाप मैं न करूँगा। ऐसा राज्य मुझे नहीं चाहिए, जिसके लिए अपने कुटुम्बियों का वध करना पड़े। युद्धभूमि में अर्जुन का यह मोह देखकर श्रीकृष्णजी ने तीनों वेदों का सारांश परमब्रह्म-स्वरूप तत्त्वार्थ ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया। उसी उपदेश का नाम 'गीता' है। इसमें अठारह अध्याय हैं।

जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर इन अठारहों अध्यायों का नित्य पाठ करता है, उसका सांसारिक मोह छूट जाता है। वह तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है और इस लोक में जीवन्मुक्त रहकर अंत में ब्रह्मलोक को जाता है। यदि गीता के अठारहों अध्यायों का पाठ न कर सके, तो नव अध्यायों का ही पाठ करे। आधा पाठ करने से भी सौ गोदान के बराबर पुण्य

होता है। गीता के ६ अध्यायों का पाठ करने से गंगास्नान का और ३ अध्यायों का पाठ करने से सोमयाग करने का फल मिलता है। जो मनुष्य श्रद्धा और भक्ति के साथ एक अध्याय का भी नित्य पाठ करता है, उसे शिव-लोक प्राप्त होता है। वह बहुत समय तक शिव का गण होकर शिव-लोक में निवास करता है। जो एक श्लोक का अथवा श्लोक के एक चरण का ही नित्य पाठ किया करता है, वह भी मन्वन्तर-पर्यन्त मनुष्य-शरीर पाता है ; अन्य किसी योनि में उसे जन्म नहीं लेना पड़ता।

गीता के दस, सात, पाँच, चार अथवा दो ही तीन श्लोकों का पाठ करते रहने से मनुष्य चन्द्रलोक प्राप्त करता है और वहाँ दस हजार वर्ष निवास करता है। मृत्यु के समय जो मनुष्य गीता का पाठ करता या उसे सुनता हुआ प्राण त्यागता है, उसका दूसरा जन्म मनुष्य-योनि में ही होता है, अन्य योनियों में उसे नहीं जाना पड़ता। केवल 'गीता' के नाम का ही उच्चारण करता हुआ जो मनुष्य प्राण छोड़ता है, उसे मृत्यु का कष्ट नहीं होता।

महापातकी मनुष्य भी यदि गीता का पाठ नित्य सुना करे, तो उसके सब पाप छूट जायँ। वह अन्त में वैकुंठधाम प्राप्त करे और विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करे। गीता का

ही अध्ययन और मनन करके अनेक महर्षि और राजर्षि सिद्ध हो गये हैं। योगी लोग गीता का ही मनन करके ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं। गीता मनुष्यों के लिए परम दुर्लभ पदार्थ है। इसका प्रत्येक श्लोक मनुष्यों के अज्ञान का नाश कर देता है।

हे वसुन्धरे, मैंने गीता का यह माहात्म्य तुमसे कहा। जो मनुष्य इस माहात्म्य के साथ गीता का पाठ करता है, उसे गीता-पाठ का पूर्ण फल प्राप्त होता है। माहात्म्य के विना गीता का पाठ निष्फल हो जाता है।"

करन्यास
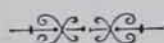
ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामंत्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषिः, अनुष्टुप्छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता।

अर्थ—ॐ यह नाम परमात्मा का है। मङ्गलाचरण के लिए प्रथम इसका उच्चारण करते हैं। इस श्रीभगवद्गीता-मालामंत्र के ऋषि श्रीभगवान् वेदव्यास हैं। इस मालामंत्र का छन्द अनुष्टुप् है और इस मंत्र के देवता सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। इति बीजम्।

अर्थ—(यह श्लोक बीजमन्त्र है) "जिसका तुझे शोक करना उचित नहीं है उसी का तू शोक करता है और फिर पण्डितों की-सी बातें बनाता है।"

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। इति शक्तिः।

अर्थ—(यह इस मालामंत्र की शक्ति है) "सब धर्मों का त्याग करके केवल मेरी शरण में आ!"

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। इति कीलकम्।

अर्थ—(यह श्लोक इस मालामंत्र का कीलक (कील) है) "मैं तुझे सब प्रकार के पापों से मुक्त कर दूँगा, इसलिए तू (ज़रा भी) शोक मत कर।"

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः।

अर्थ—इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। (यह मंत्र पढ़कर दोनों हाथ की तर्जनी * अंगुली से दोनों हाथ के अँगूठों का स्पर्श करना चाहिए)

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । इति तर्जनीभ्यां नमः ।

अर्थ—इस आत्मा को न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकता है। (यह मंत्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों तर्जनी अँगुलियों का स्पर्श करना चाहिए)

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । इति मध्यमाभ्यां नमः ।

अर्थ—यह आत्मा न काटने योग्य है, न जलाने योग्य है, न भिगोने योग्य है और न सुखाने योग्य है। (यह मन्त्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों मध्यमा † अँगुलियों का स्पर्श करना चाहिए।)

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः । इत्यनामिकाभ्यां नमः ।

अर्थ—यह आत्मा नित्य (सदा रहनेवाला), सर्वगत (सब जगह पहुँचनेवाला), स्थिर, अचल (अटल) और सनातन (अनादि) है। (यह मन्त्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों अनामिकाओं ‡ का स्पर्श करना चाहिए।)

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः । इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।

---

* तर्जनी—अँगूठे के पास की अँगुली का नाम तर्जनी है।

† मध्यमा—बीच की अँगुली को कहते हैं।

‡ अनामिका—वह अँगुली जिसमें अँगूठी पहनते हैं।

अर्थ - हे अर्जुन ! तू मेरे सैकड़ों और हज़ारों रूपों को देख (यह मन्त्र पढ़कर दोनों कनिष्ठिकाओं (सबसे छोटी अँगुली) का स्पर्श करना चाहिए ।)

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च । इति करतल-करपृष्ठाभ्यां नमः ।

अर्थ—जो रूप कि नाना प्रकार के अनेक रङ्गों और आकृति के हैं तथा दिव्य हैं । (यह मन्त्र पढ़कर पहले दाहने हाथ के नीचे बायाँ हाथ रखना चाहिए और फिर बाएँ हाथ के नीचे दाहना हाथ रखना चाहिए ।)

इति करन्यासः ।

अंगन्यास

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । इति हृदयाय नमः ।

अर्थ—इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है । (यह मन्त्र पढ़कर पाँचों अँगुलियों से हृदय का स्पर्श करते हैं ।)

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । इति शिरसे स्वाहा ।

अर्थ—इस आत्मा को न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकता है । (यह मन्त्र पढ़कर शिर का स्पर्श करते हैं ।)

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । इति शिखायै वषट् ।

अर्थ—यह आत्मा न काटने योग्य है, न जलाने योग्य है, न

भिगोने योग्य है और न सुखाने ही योग्य है। (इस मन्त्र को पढ़कर शिखा (चोटी) का स्पर्श करते हैं।)

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। इति कवचाय हुम्।

अर्थ—यह आत्मा नित्य, सर्वगत (सब जगह जा सकनेवाला), स्थायीरूप से रहनेवाला, अटल और अनादि है। (यह मन्त्र पढ़ दाहने हाथ से बाएँ खवे का और बाएँ हाथ से दाहने खवे का स्पर्श करते हैं।)

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। इति नेत्रत्रयाय वौषट्।

अर्थ—हे अर्जुन ! तू मेरे इन सैकड़ों और हज़ारों रूपों को देख। (यह मन्त्र पढ़ दाहने हाथ से नेत्रों को छूते हैं।)

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च। इति अस्त्राय फट्।

अर्थ—जो दिव्य रूप नाना प्रकार के रङ्गों और आकृति के हैं। (यह मन्त्र पढ़कर दाहने हाथ की तर्जनी और मध्यमा इन दोनों अँगुलियों को बाएँ हाथ की हथेली पर मारते हैं।)

इति अङ्गन्यासः।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः। इति संकल्पः।

अर्थ—यह संकल्प पढ़कर इस प्रकार की भावना करे कि 'मैं यह पाठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज के प्रसन्न होने के लिए करता हूँ।'

संकल्प के बाद भगवान् का किस प्रकार ध्यान करना चाहिए यह नीचे दिया जाता है—

ध्यान—कुरुक्षेत्र के मैदान में ज्योतीश्वर तीर्थ पर दोनों सेनाओं के बीच में श्वेत घोड़ों से जुते रथ पर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र

अर्जुन को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। भगवान् का स्वरूप कैसा है कि उनके चरण-कमलों के अँगूठों में सोने के छल्ले पड़े हुए हैं, उनके पैरों में सोने के कड़े तथा पँचरंगी मणियों से जड़ी हुई चाँदी-सोने की पैंजनी भी हैं। पीली धोती, जिस पर नाना रंगों के बेलबूटे बने हैं और जिसमें लाल किनारी लगी है, भगवान् उसे पहिने हैं। वे पँचरंगा बेलदार अँगरखा, जिसमें जगह-जगह गोटा-पट्टा लगा है, पहने हुए हैं; उसके नीचे लाल रंग का कुरता भी है। पँचरंगी मणि-मोतियों की तथा नाना रंग के सुगन्धित फूलों की मालाएँ भी गले में डाले हुए हैं। वे हाथ की अँगुलियों में सोने और हीरे की अँगूठियाँ तथा हाथों में सोने के कड़े और बाहों में जड़ाऊ बाजूबन्द पहने हुए हैं; गुलेनारी दुपट्टे से कमर कसी है। घूँघरवाले बालों में इत्र व फुलेल पड़ा है; सिर पर किनारीदार बसन्ती दुपट्टा बँधा हुआ है; कानों में हीरे-मोतियों के बाले लटक रहे हैं। एक हाथ में छड़ी शोभित है और दूसरे में ज्ञानमुद्रा बनाये हुए हैं। उनके दाँतों की चमक प्रातःकाल के सूर्य के समान है। उनके कमल के समान होठों पर अद्भुत लाली है। उनके बड़े-बड़े नेत्र हैं, जिनमें सुरमा लगा हुआ है और रक्त डोरे खिंचे हुए हैं। चेहरा भरा हुआ और चौड़ी, उभरी हुई छाती है। उनका रंग नीले कमल के समान अथवा नीले मणियों के सदृश है, और उन्होंने मस्तक पर चन्द्रवत् तिलक धारण कर रक्खा है। ऐसे श्रीकृष्ण महाराज मेरे हृदय में वास करें।

गीता के पाठ करनेवालों को प्रथम गीता का ध्यान और स्तुति करना आवश्यक है, वह इस प्रकार है—

अथ गीताध्यानम्

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते।

अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वा मनसा दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥

अर्थ—हे भगवद्गीते ! तुम साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा अर्जुन को समझाई गई हो। महाभारत के भीष्मपर्व में प्राचीन मुनि व्यास द्वारा गूँथी गई अर्थात् लिखी गई हो। हे भगवद्गीते ! तुम अठारह अध्यायवाली, अद्वैत अमृत की वर्षा करनेवाली और संसार से द्वेष करनेवाली हो अर्थात् इस असार संसार के दुःखों और पापों से छुड़ानेवाली हो, इसलिए हे मातः ! मैं शुद्ध मन से ध्यान कर तुम्हें अपने हृदय में धारण करता हूँ ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

अर्थ—हे विशालबुद्धे (जिनकी बुद्धि विशाल है अर्थात् जो बड़े बुद्धिमान् हैं), हे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र (जिनके नेत्र फूले हुए कमल-दल (पंखड़ी) के समान हैं) व्यासजी, आपने तेल से भरे हुए दीपक को प्रज्वलित करने के समान ज्ञान के भंडार महाभारत ग्रंथ को बनाया, ऐसे आपको प्रणाम है ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज भक्तों के लिए कल्पवृक्ष हैं। उनके एक हाथ में चाबुक (घोड़ों को हाँकनेवाला) है और दूसरे हाथ से ज्ञानमुद्रा बनाये हुए (तर्जनी अँगुली से अँगूठा मिलाये हुए) अर्जुन को उपदेश देते हैं। उन्होंने गीतारूप अमृत दुहा है। उन भगवान् कृष्णचन्द्रजी को नमस्कार है ॥ ३ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥

अर्थ—सब उपनिषद् गायों के समान, दुहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी, बछड़ा अर्जुन और दूध अमृत के समान श्रीमद्भगवद्गीता है। बुद्धिमान् उस दूध को पीते हैं अर्थात् जो ज्ञानवान् हैं वे गीता का पाठ करते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते। इसीलिए गीता-पाठ को अमृत के समान कहा है ॥ ४ ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

अर्थ—वसुदेव के पुत्र, कंस और चाणूर को मारनेवाले, देवकी को परमानन्द देनेवाले, जगत् के गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः कुरुनदी कैवर्त्तके केशवे ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्रजी की सहायता से पाँचों पाण्डव कुरुनदी के पार उतरे अर्थात् कुरुवंशी दुर्योधन आदि को परास्त किया। भीष्म और द्रोण उस नदी के दो किनारे थे। जयद्रथ उस नदी का जलस्वरूप था। गांधारी के पुत्र नील कमल थे। शल्य उस नदी में ग्राहरूप था। कृपाचार्य उस नदी का प्रवाह, कर्ण तरङ्ग, अश्वत्थामा और विकर्ण भयानक मगर और दुर्योधन उस नदी का आवर्त्त (भँवर या चक्र) था। कर्णधाररूप श्रीकृष्णजी ने पाण्डवों को उस नदी के पार उतार दिया, अर्थात् श्रीकृष्णजी की सहायता से पाण्डवों ने कौरवों को जीता ॥ ६ ॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।

लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥

अर्थ—महाभारतरूप कमल हमारा कल्याण करे। यह महाभारत-रूप कमल व्यासजी के वचन-रूप सरोवर से उत्पन्न हुआ है। यह निर्मल है, उसमें श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ तीव्र सुगन्ध है, अनेक आख्यान केसर हैं, यह श्रीकृष्णचन्द्रजी की कथा के ज्ञान से खिला हुआ है, सज्जन-रूप भ्रमर बड़े आनन्द से प्रतिदिन इस कमल के रस को पीते हैं। यह महाभारत-रूप कमल कलियुग के पापों का नाश करनेवाला है ॥ ७ ॥

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन परमानन्दस्वरूप, लक्ष्मीजी के पति की कृपा से गूँगे बोलने लगते हैं और पंगु (लँगड़े-लूले) पहाड़ पर चढ़ने योग्य हो जाते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ९ ॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों से जिनकी स्तुति करते हैं; सामवेद के गानेवाले अंग और पदक्रम के सहित उपनिषदों और वेदों द्वारा जिनके गुणों का गान करते हैं; योगी ध्यान लगाकर मन को स्थिर करके जिनको देखते हैं, देवता और दैत्य जिनके अन्त को नहीं जानते, उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥

इति ध्यानम्।

—※—

श्रीमद्भगवद्गीता
भाषाटीकासहित

पहला अध्याय
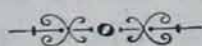
धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पदच्छेद—

धर्म-क्षेत्रे, कुरु-क्षेत्रे, समवेताः, युयुत्सवः ।
मामकाः, पाण्डवाः, च, एव, किम्, अकुर्वत, संजय ॥

धृतराष्ट्र ने कहा कि—

अन्वयः	शब्दार्थ	अन्वयः	शब्दार्थ
संजय[2]	=हे संजय !	च	=और
धर्म-क्षेत्रे	=धर्म-भूमि	एव	=ऐसे ही
कुरु[3]-क्षेत्रे	=कुरु-क्षेत्र में	पाण्डवाः[4]	=पाण्डु के पुत्रों ने
युयुत्सवः	=युद्ध की इच्छा से	किम्	=क्या
समवेताः	=इकट्ठे हुए	अकुर्वत	=किया ?
मामकाः	=मेरे		

१. धृतराष्ट्र—यह विचित्रवीर्य की स्त्री अम्बिका (काशिराज की कन्या) से उत्पन्न हुए थे। इनके अन्धे होने की कथा यों है कि जब पुत्ररहित इनकी माता विधवा हो गईं, तो इनकी सास सत्यवती को वंश लोप होने की बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने अपने पुत्र कृष्ण-द्वैपायन व्यास को, तपोबल से पुत्र उत्पन्न करने की, आज्ञा दी। व्यासजी कुरूप थे, इसलिए अम्बिका आँखों को बन्द करके व्यासजी के सामने गईं। इस पर उन्होंने कहा कि इसके अन्धी सन्तान होगी।

२. संजय—यह गवल्गन मुनि के पुत्र और धृतराष्ट्र के मन्त्री थे। व्यासदेवजी ने इन्हें दिव्य-दृष्टि दी थी, जिससे इनको कुरु-क्षेत्र का युद्ध प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता था। अन्धराज धृतराष्ट्र से ये युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन करते थे। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद धृतराष्ट्र इत्यादि के स्वर्गवासी हो जाने पर इन्होंने हिमालय में जाकर अपना शेष जीवन बिताया।

३. कुरुक्षेत्र—यह स्थान दिल्ली से १०० मील उत्तर पंजाब प्रांत के कर्नाल ज़िले में है। महाभारत काल में यह एक बहुत बड़ा उजाड़ मैदान था; परन्तु इस समय वहाँ इसी नाम का एक क़स्बा आबाद हो गया है।

४. पाण्डु—ये विचित्रवीर्य की स्त्री अम्बालिका से पैदा हुए

अर्थ—हे संजय ! धर्म-भूमि कुरु-क्षेत्र में, युद्ध की इच्छा से इकट्ठे होकर, मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? (सो मुझसे कहो)।

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दृष्ट्वा, तु, पाण्डव-अनीकम्, व्यूढम्, दुर्योधनः, तदा।
आचार्यम्, उप-संगम्य, राजा, वचनम्, अब्रवीत् ॥

संजय ने कहा कि—

तदा	=उस समय	दृष्ट्वा	=देखकर
राजा	=राजा	तु	=और
दुर्योधनः	=दुर्योधन	आचार्यम्	=द्रोणाचार्य के
व्यूढम्	=व्यूह-आकार में खड़ी की गई	उप-संगम्य	=निकट जाकर
पाण्डव-अनीकम्	=पाण्डवों की सेना को	वचनम्	=(यह) वचन
		अब्रवीत्	=बोला

थे। जब संतानरहित विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई तो इनकी सास ने व्यासजी के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी। व्यासजी के कुरूप होने के कारण अम्बालिका का मुँह पीला पड़ गया, इसलिए इनसे एक पुत्र पीलापन लिए हुए उत्पन्न हुआ; अतएव रंग के अनुसार इनका नाम पाण्डु पड़ा।

पाण्डु के दो स्त्रियाँ थीं, कुन्ती तथा माद्री। भोज की कन्या कुन्ती ने स्वयंवर में पाण्डु को वरण किया था और मद्रराज की कन्या माद्री

अर्थ—उस समय, राजा दुर्योधन पाण्डव-सेना की व्यूह-रचना यानी सेना की तरतीब या मोर्चेबन्दी को देखकर गुरु द्रोणाचार्य के पास गये और यह बोले:—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पश्य, एताम्, पाण्डु-पुत्राणाम्, आचार्य, महतीम्, चमूम्।
व्यूढाम्, द्रुपद-पुत्रेण, तव, शिष्येण, धीमता ॥

से भीष्म ने इनका विवाह कराया था। कुन्ती के गर्भ से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए तथा माद्री के गर्भ से नकुल और सहदेव। युधिष्ठिर धर्म के, भीम वायु के, अर्जुन इन्द्र के तथा नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के अंश से थे।

१. दुर्योधन—यह धृतराष्ट्र और गान्धारी का पुत्र था। व्यासजी के वरदान से गान्धारी के सौ पुत्र होनेवाले थे; परन्तु दो वर्ष तक प्रतीक्षा करने पर भी कोई सन्तान न हुई। इतने ही में कुन्ती के युधिष्ठिर के जन्म लेने का समाचार हस्तिनापुर में पहुँचा। तब गान्धारी ने ईर्ष्या से अपने पेट पर ज़ोर से घूँसा मारा जिससे एक मांसपिंड गिर पड़ा। व्यासजी ने उसे सौ भागों में विभक्त करके पृथक्-पृथक् घृतपूर्ण कलशों में रख दिया। उन्हीं घड़ों में से एक से दुर्योधन उत्पन्न हुआ।

२. द्रोणाचार्य—यह भरद्वाज ऋषि के पुत्र थे। इन्होंने अग्निवेश्य नामक ऋषि से धनुर्विद्या तथा आग्नेयास्त्र की शिक्षा-ग्रहण की एवं महेन्द्र पर्वत पर जाकर परशुरामजी से अस्त्रविद्या सीखी। पिता की आज्ञा से शरद्वान् की कन्या कृपी को व्याहा था जिससे अश्वत्थामा का जन्म हुआ।

आचार्य	=हे द्रोणाचार्य!	तव	=आप ही के
पाण्डु-पुत्राणाम्	= पाण्डु के पुत्रों की	धीमता	=बुद्धिमान्
एताम्	=इस	शिष्येण	=शिष्य
महतीम्	=बड़ी भारी	द्रुपद-पुत्रेण	=द्रुपद के पुत्र (धृष्टद्युम्न[1]) ने
चमूम्	=सेनाको	व्यूढाम्	=मोर्चा बनाकर खड़ा किया है
पश्य	=देखिये +जिसे		

अर्थ—हे गुरुजी! पाण्डु के पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए। आप ही के बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने इसकी व्यूह-रचना (मोर्चाबन्दी) की है।

[पाण्डवों की सेना में जितने शूरवीर हैं उन्हें दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्य से कहते हैं—]

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

---

१. धृष्टद्युम्न—पाञ्चालराज द्रुपद के पुत्र और पृषत के पौत्र। इन्होंने महाभारत के युद्ध में पुत्रशोकातुर द्रोणाचार्य का सिर काटा था। द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मरा नहीं था। यों ही झूठी बात उड़ाई गई थी, ताकि द्रोणाचार्य व्याकुल हो जायँ। अश्वत्थामा ने अपने पिता का बदला धृष्टद्युम्न को मारकर चुकाया। युद्ध समाप्त होने पर रात के समय धृष्टद्युम्न पाण्डवों के शिविर में सोया था, उसी समय अश्वत्थामा को उसे मारने का मौक़ा मिल गया था।

अत्र, शूराः, महा-इष्वासाः, भीम-अर्जुन-समाः, युधि।
युयुधानः, विराटः, च, द्रुपदः, च, महा-रथः॥

अत्र	=इस		समान हैं
युधि	=युद्ध में		+ जैसे
महा-इष्वासाः	= बड़े बड़े धनुषोंवाले	युयुधानः	=सात्यकि[1]
		च	=और
शूराः	=अनेक शूर-वीर	विराटः	=राजा विराट[2]
		च	=तथा
भीम-अर्जुन-समाः	= भीम और अर्जुन के	महारथः	=महारथी
		द्रुपदः	=राजा द्रुपद

१. सात्यकि—यह सत्यक के पुत्र यदुवंश के एक विख्यात वीर थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन से इन्होंने अस्त्रविद्या सीखी थी। यदुकुल के साथ इनका भी नाश हुआ। इन्होंने कौरवपक्ष के भूरिश्रवा को मारा था। इनका एक नाम युयुधान भी था।

२. विराट—यह मत्स्य देश का राजा था। अज्ञातवास के समय पाँचों पाण्डव इन्हीं के यहाँ छिपकर रहे थे। इनके साले कीचक को भीम ने मार डाला था। यह कीचक विराट् का प्रधान सेनापति और बहुत बली था। उसने त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा को जीत कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। सुशर्मा दुर्योधन की शरण लेकर हस्तिनापुर में रहने लगा। कीचक का मरना सुनकर सुशर्मा ने कौरवी सेना लेकर विराट की गोशाला पर आक्रमण किया और विराट को परास्त करके उसे क़ैद करना चाहा; परन्तु युधिष्ठिर की आज्ञा से भीम ने बचा लिया। इतने ही में दुर्योधन ने उत्तरा गोगृह पर धावा बोल दिया; परन्तु अर्जुन ने सामना करके गौओं को बचा लिया। अज्ञातवास समाप्त हो जाने पर पाण्डवों से इसका परिचय हुआ। यह द्रोण के हाथ से युद्ध के १५ वें दिन मारा गया था।

अर्थ—इस सेना में भीम और अर्जुन के समान अनेक शूरवीर और बड़े-बड़े धनुष धारण करनेवाले योद्धा यानी लड़नेवाले यह हैं—सात्यकि, विराट और महारथ द्रुपद[1]।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

धृष्टकेतुः, चेकितानः, काशिराजः, च, वीर्यवान्।
पुरुजित्, कुन्तिभोजः, च, शैव्यः, च, नर-पुङ्गवः॥

धृष्टकेतुः	=राजा धृष्टकेतु	चेकितानः	=राजा चेकितान
च	=और	वीर्यवान्	=बलवान्

---

१. द्रुपद—चन्द्रवंश के पृषत राजा का पुत्र। भरद्वाज और पृषत में परस्पर मैत्री थी, इसलिए भरद्वाज के पुत्र द्रोण और पृषत के पुत्र द्रुपद साथ-साथ खेला करते, जिससे उनमें भी मित्रता हो गई थी। जब द्रुपद पिता के मरने पर पाञ्चाल देश का राजा हुआ तो द्रोण ने उसके पास जाकर मित्रता का स्मरण दिलाया, परन्तु उसने तिरस्कार कर दिया। इस अपमान को द्रोण भूले नहीं। कौरव पाण्डवों को अस्त्रविद्या सिखाने के बाद द्रोण ने अर्जुन से द्रुपद को क़ैद कर लेने की गुरुदक्षिणा माँगी। अर्जुन द्रुपद को क़ैद भी कर लाये थे; परन्तु द्रोण ने उसे छोड़ दिया। द्रुपद ने घोर अपमानित होने से द्रोण को मारनेवाला पुत्र पैदा करने का संकल्प किया और गंगातीरवासी याज और उपयाज नामक स्नातकों से यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न पुत्र और द्रौपदी कन्या पैदा हुई और शिखण्डी-नामक एक नपुंसक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने भीष्मपितामह को मारा। युद्ध में द्रोण के हाथों द्रुपद के मारे जाने पर उसके पुत्र धृष्टद्युम्न ने द्रोण को भी मार डाला।

काशिराजः	=काशी देश का राजा	कुन्तिभोजः	=कुन्तिभोज
च	=तथा	च	=और
पुरुजित्	=राजा पुरुजित्	नर-पुङ्गवः	=मनुष्यों में श्रेष्ठ
		शैब्यः	=शैब्य

अर्थ—धृष्टकेतु, राजा चेकितान, बलवान् काशी का राजा, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युधामन्युः, च, विक्रान्तः, उत्तमौजाः, च, वीर्यवान्।
सौभद्रः, द्रौपदेयाः, च, सर्वे, एव, महा-रथाः ॥

---

१. काशिराज—यह काश के पुत्र और काशी के राजा थे। इनके तीन कन्याएँ अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका थीं। इनके लिए काशिराज ने स्वयंवर रचा। सत्यवती की आज्ञा से भीष्मपितामहजी अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य के लिए कन्या ढूँढ़ने निकले और जबरन् तीनों कन्याओं का अपहरण किया। अन्यान्य राजाओं ने युद्ध किया, लेकिन सब परास्त हुए। अम्बा आग में जलकर शिखंडी के रूप में पैदा हुई और भीष्मपितामह को मारकर पूर्व-जन्म का बदला चुकाया। और अम्बालिका तथा अम्बिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ हुआ।

२. कुन्तिभोज—यह वसुदेव के पिता शूरसेन की बुआ के पुत्र थे तथा वसुदेव के मित्र भी थे। इनको शूरसेन ने अपनी कन्या पृथा पालन करने के लिए दे दिया था; क्योंकि उसके कोई संतान न थी। यह पाण्डवपक्ष के बड़े योद्धा थे।

च	=और	सौभद्रः	=सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु [3]
विक्रान्तः	=पराक्रमी	च	=और
युधामन्युः [1]	=राजा युधामन्यु	द्रौपदेयाः	=द्रौपदी के पाँचों पुत्र
च	=और	सर्वे	=सब
वीर्यवान्	=बड़ा पराक्रमी	एव	=ही
उत्तमौजाः [2]	=उत्तमौजा	महारथाः	=महारथी हैं

अर्थ—पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र, ये सभी महारथी यहाँ मौजूद हैं।

[अब दुर्योधन अपनी सेना के शूरवीरों के नाम अपने गुरु को सुनाते हैं—]

---

१. युधामन्यु—यह पांचाल देश के राजा थे। युधा=युद्ध में और मन्यु=क्रोध अर्थात् युद्ध में क्रोध करनेवाले। इनके दूसरे भाई का नाम उत्तमौजा था। यह दोनों बड़े साहसी वीर थे।

२. उत्तमौजा—यह पांचालराज के पुत्र थे। इनके दूसरे भाई का नाम युधामन्यु था। इन दोनों ने दुर्योधन से बहुत बड़ा मोरचा लिया था। जब अर्जुन ने जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा की थी तो ये दोनों अर्जुन के पृष्ठरक्षक बने थे।

३. अभिमन्यु—ये अर्जुन के पुत्र सुभद्रा के गर्भ से पैदा हुए थे। श्रीकृष्ण के भानजे थे। ये सोलह वर्ष की अवस्था में महाभारत युद्ध में बड़ी वीरता से लड़े। इन्होंने द्रोणाचार्य के बनाये हुए व्यूह को तोड़ा था। कुछ नीचों ने अधर्म से इस बालक को उसी व्यूह में घेरकर मार डाला। इनका विवाह राजा विराट की कन्या उत्तरा से हुआ था, जिनसे राजा परीक्षित का जन्म हुआ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अस्माकम्, तु, विशिष्टाः, ये, तान्, निबोध, द्विज-उत्तम ।
नायकाः, मम, सैन्यस्य, संज्ञार्थम्, तान्, ब्रवीमि, ते ॥

द्विज-उत्तम=हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आचार्य !
अस्माकम्=हमारी ओर
तु=भी
ये=जो
विशिष्टाः=श्रेष्ठ या ख़ास (सेनापति) हैं
तान्=उनको (अर्थात् उनके नाम भी)
निबोध=जानिए
मम=मेरी
सैन्यस्य=सेना के
+ जो-जो
नायकाः=सरदार हैं
तान्=उनको
ते=आपके
संज्ञार्थम्=ध्यान में रहने के लिए
ब्रवीमि=(आप से) कहता हूँ

अर्थ—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, आचार्य ! अब अपनी सेना के प्रधान योद्धाओं के नाम, आपकी जानकारी के लिए, मैं आपसे कहता हूँ. सुनिए ।

[सेनापतियों के नाम ये हैं—]

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

भवान्, भीष्मः, च, कर्णः, च, कृपः, च, समितिं-जयः ।
अश्वत्थामा, विकर्णः, च, सौमदत्तिः, तथा, एव, च ॥

भवान्	=आप	च	=और
च	=और	विकर्णः	=विकर्ण
भीष्मः	=भीष्म[1] पितामह	च	=एवं
कर्णः	=कर्ण	सौमदत्तिः	=सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा
अश्वत्थामा	=अश्वत्थामा	तथा	=वैसे
च	=तथा	एव	=ही
समितिं जयः	=लड़ाई को जीतनेवाले	च	=और भी हैं
कृपः	=कृपाचार्य		

१. भीष्म—ये गंगा के गर्भ से उत्पन्न शन्तनु के पुत्र थे। इनका पहला नाम गांगेय या देवव्रत भी था। इनके पिता शन्तनु ने अपनी स्त्री से यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि तुम्हारे किसी कार्य में बाधा न दूँगा और न कुवचन कहूँगा। समयानुसार गंगा के आठ पुत्र हुए। जिनमें सात को गंगा ने जल में डुबो दिया। शन्तनु ने एक पुत्र भीष्म की रक्षा करने के लिए गंगा को कटु वाक्य कहे, इस पर गंगा शन्तनु को छोड़कर चली गई। कुछ दिनों बाद शन्तनु यमुनातीरवासी वसु नामी दासराज की कन्या सत्यवती पर मोहित हो गये; परन्तु दासराज ने इस प्रतिज्ञा पर विवाह करने की इच्छा प्रकट की कि मेरी कन्या का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा, यह प्रस्ताव शन्तनु ने स्वीकार न किया और दुःखित होकर अपनी राजधानी को लौट आये। यह बात छिप न सकी। देवव्रत ने भी इस बात को जान लिया। वे दासराज के समीप गये और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं आजन्म विवाह न करूँगा और सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही राजा होगा। देवव्रत ने इस भीष्म प्रतिज्ञा का पालन किया, ये इसी कारण 'भीष्म' नाम से प्रसिद्ध हुए।

अर्थ—मेरी सेना में आप, भीष्म, कर्ण[1], अश्वत्थामा[2] तथा

---

१. कर्ण—ये कुमारी कुन्ती के सूर्य से उत्पन्न हुए थे। कुन्ती ने लोकलज्जा के भय से पैदा होते ही इनको एक सन्दूक़ में रखकर नदी में डलवा दिया था। राधा नाम की किसी सूत की स्त्री ने उस सन्दूक़ को निकलवा लिया और बच्चे का पालन-पोषण किया, इससे इनका एक नाम राधेय भी है। राधा ने इनका नाम वसुषेण रखा था। इन्होंने ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र को कवच और कान का कुण्डल अंग काटकर दान किया था, तब से इनका नाम कर्ण हुआ। अर्जुन इन्हें सूतपुत्र कहते थे, इस कारण उनसे इनकी लाग-डाँट रहा करती थी। इसलिए इन्होंने दुर्योधन से मित्रता कर ली। द्रोणाचार्य ने भी इन्हें सूतपुत्र होने से अस्त्रविद्या नहीं सिखाई। तब इन्होंने परशुरामजी से अस्त्रविद्या सीखी। अस्त्रविद्या सीखते समय इन्होंने एक ब्राह्मण की गौ को बाण से मार दिया था, इसलिए ब्राह्मण ने शाप दे दिया कि जिसे तुम मारने की फ़िक्र में रहते हो, उसी के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी। फलतः महाभारत-संग्राम में ये अर्जुन के हाथ से मारे गये।

२. अश्वत्थामा—शरद्वान् की कन्या कृपी से द्रोणाचार्य ने विवाह किया, उससे अश्वत्थामा का जन्म हुआ। उत्पन्न होते ही बालक ने उच्चैःश्रवा घोड़े की भाँति शब्द किया, इसलिए देववाणी हुई कि लड़के का नाम अश्वत्थामा होगा। इन्होंने अपने पिता से ही अस्त्र-विद्या सीखी थी। महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन में दुर्योधन को छिन्न-भिन्न देखकर इन्होंने पाण्डवों का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। फलस्वरूप ये पाण्डवों के शिविर में घुस गये और द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा धृष्टद्युम्न और शिखण्डी का वध किया। यह सुनकर अर्जुन अश्वत्थामा का वध करने दौड़े; परन्तु कृष्ण ने अश्वत्थामा को यह जानकर बचा लिया कि अश्वत्थामा को तो अमर होने का वरदान है। आख़िरकार अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा के सिर की मणि कटवाकर उसे छुड़वा दिया।

लड़ाई को जीतनेवाले कृपाचार्य[१], विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा[२]) तथा और भी (बहुत से शूरवीर) हैं।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥

अन्ये, च, बहवः, शूराः, मद्-अर्थे, त्यक्त-जीविताः ।
नाना-शस्त्र-प्रहरणाः, सर्वे, युद्ध-विशारदाः ॥

अन्ये	=और दूसरे	नाना-शस्त्र-प्रहरणाः	=अनेक प्रकार के शस्त्र चलानेवाले
च	=भी		
बहवः	=बहुत से		
शूराः	=शूरवीर	सर्वे	=सब के सब
मद्-अर्थे	=मेरे लिए	युद्ध-विशारदाः	=युद्ध में चतुर (हैं)
त्यक्त-जीविताः	=जीवन की आशा त्याग देनेवाले		

अर्थ—इनके सिवा और भी बहुत से शूरवीर योद्धा हमारी

१. कृपाचार्य—इनका जन्म पुराणों में इस प्रकार मिलता है कि धनुर्विद्या के आचार्य तपस्वी शरद्वान् अपने पुत्र शिशु और कन्या को वन में छोड़ आये। अचानक शन्तनु शिकार खेलने गये तो उन दोनों बच्चों को उठा लाये और उनकी कृपा से इन दोनों बच्चों का पालन-पोषण हुआ। जिससे पुत्र का नाम कृप और कन्या का नाम कृपी पड़ा। सयाने होने पर शरद्वान् अपना परिचय देकर अपने पुत्र कृप को ले आये और उसे अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। परन्तु साधारणतः प्रसिद्धि यह है कि सरकण्डे पर फेंके हुए गौतम ऋषि के वीर्य से इनका जन्म हुआ था।

२. भूरिश्रवा—ये चन्द्रवंशी राजा सोमदत्त के पुत्र थे और दुर्योधन का पक्ष लेकर बड़ी वीरता से लड़े थे। अर्जुन ने इनका

तरफ़ हैं, जिन्होंने मेरे लिए जीवन की आशा त्याग दी है, जो नाना प्रकार के शस्त्र चलानेवाले हैं और ये सबके-सब युद्ध-विद्या में चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १० ॥

अ-पर्याप्तम्, तत्, अस्माकम्, बलम्, भीष्म-अभिरक्षितम्।
पर्याप्तम्, तु, इदम्, एतेषाम्, बलम्, भीम-अभिरक्षितम्॥

अस्माकम्	=हमारी	तु	=और
तत्	=वह	एतेषाम्	=इनकी
बलम्	=सेना	इदम्	=यह
भीष्म-अभि-रक्षितम्	=भीष्म से रक्षा की हुई (भी)	बलम्	=सेना
अ-पर्याप्तम्	=असमर्थ जान पड़ती है	भीम-अभि-रक्षितम्	=भीमसेन द्वारा रक्षित
		पर्याप्तम्	=समर्थ मालूम होती है

अर्थ—इतना होते हुए भी हमारी सेना भीष्म द्वारा रक्षित होने पर भी, समर्थ नहीं जान पड़ती और भीमसेन से रक्षित पाण्डव-सेना समर्थ जान पड़ती है।

हाथ काटा और सात्यकि ने इनका सिर। सुना जाता है, काशी (रामनगर) के पास भुइली ग्राम में इनकी राजधानी थी। यहाँ एक हनुमान्जी की मूर्ति है। जिसके विषय में कहा जाता है कि इन्होंने ही इस मूर्ति की स्थापना की थी। इस ग्राम में कुछ टूटे-फूटे खँडहर हैं, उन खँडहरों को लोग उसी समय का बतलाते हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अयनेषु, च, सर्वेषु, यथा-भागम्, अवस्थिताः ।
भीष्मम्, एव, अभिरक्षन्तु, भवन्तः, सर्वे, एव, हि ॥

च =और (इसलिए)
सर्वेषु =सब
अयनेषु =मोर्चों पर
यथा-भागम्=अपनी-अपनी जगह
अवस्थिताः=स्थित हुए (जमे हुए)
भवन्तः =आप लोग
सर्वे =सब
एव =ही
हि =निश्चय करके
भीष्मम् =भीष्मपितामह की
एव =ही
अभिरक्षन्तु=चारों ओर से रक्षा करें

अर्थ—इसलिए सब ओर अपने-अपने मोर्चों पर डटकर सबके सब भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें ।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य, संजनयन्, हर्षम्, कुरु-वृद्धः, पितामहः ।
सिंह-नादम्, विनद्य, उच्चैः, शंखम्, दध्मौ, प्रतापवान् ॥

कुरु-वृद्धः = कुरुवंशियों में सबसे बड़े
प्रतापवान् =प्रतापी
पितामहः =भीष्मपितामह ने
उच्चैः =ऊँचे स्वर से
सिंह-नादम्=शेर की गर्ज के समान
विनद्य =गर्जकर

तस्य	=उसके (दुर्योधन के)	संजनयन्	=उत्पन्न करते हुए
हर्षम्	=हर्ष को	शंखम्	=शंख
		दध्मौ	=बजाया

अर्थ——दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कुरुवंशियों में बड़े बूढ़े प्रतापी भीष्मपितामह ने शेर की तरह ऊँचे स्वर से गर्जकर शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३।

ततः, शंखाः, च, भेर्यः, च, पणव-आनक-गोमुखाः।
सहसा, एव, अभ्यहन्यन्त, सः, शब्दः, तुमुलः, अभवत्॥

ततः	=उसके बाद	सहसा	=एक साथ
शंखाः	=शंख	एव	=ही
च	=और	अभ्यहन्यन्त	=बजाये जाने लगे
भेर्यः	=नगाड़े	सः	=वह
च	=और	शब्दः	=शब्द
पणव-आनक-गोमुखाः	=ढोल, मृदङ्ग और नरसिंहा आदि बाजे	तुमुलः	=बड़ा घोर
		अभवत्	=हुआ

अर्थ——उसके पीछे राजा दुर्योधन की सेना में शंख, भेरी मृदंग, ढोल और नरसिंहे आदि नाना प्रकार के बाजे एक साथ ही बजाये जाने लगे। उन सबकी ध्वनि (आवाज़) से भारी कोलाहलकारी शब्द हुआ यानी शोर मच गया।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

ततः, श्वेतैः, हयैः, युक्ते, महति, स्यन्दने, स्थितौ ।
माधवः, पाण्डवः, च, एव, दिव्यौ, शङ्खौ, प्रदध्मतुः ॥

ततः	=इसके बाद	च	=और
श्वेतैः	=सफ़ेद	पाण्डवः	=अर्जुन ने
हयैः	=घोड़ों से	एव	=भी
युक्ते	=जुड़े हुए		+अपने-अपने
महति	=बड़े	दिव्यौ	=अलौकिक
स्यन्दने	=रथ में	शङ्खौ	=शङ्ख
स्थितौ	=बैठे हुए	प्रदध्मतुः	=बजाये
माधवः	=श्रीकृष्णचन्द्र		

अर्थ—इसके बाद सफ़ेद घोड़ों के रथ पर बैठे हुए माधव यानी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन ने भी अपने-अपने अलौकिक शंख बजाये ।

[जिन शंखों को भगवान् कृष्णचन्द्र तथा अन्य योद्धाओं ने बजाया, उनके नाम, संजय धृतराष्ट्र से, अगले चार श्लोकों में वर्णन करते हैं—]

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

पाञ्चजन्यम्, हृषीकेशः, देवदत्तम्, धनञ्जयः ।
पौण्ड्रम्, दध्मौ, महा-शङ्खम्, भीम-कर्मा, वृकोदरः ॥

हृषीकेशः	=भगवान् श्रीकृष्ण ने
पाञ्चजन्यम्	=पाञ्चजन्य नामक शङ्ख को
धनञ्जयः	=अर्जुन ने
देवदत्तम्	=देवदत्त नामक शङ्ख को
	+और
भीम-कर्मा	=भयंकर कर्म करनेवाले
वृकोदरः *	=भीमसेन ने
पौण्ड्रम्	=पौण्ड्र नामक
महा-शङ्खम्	=महाशंख को
दध्मौ	=बजाया

अर्थ—'पाञ्चजन्य' नामक शंख को श्रीकृष्ण ने, 'देवदत्त' नामक शंख को अर्जुन ने और 'पौण्ड्र' नामक महाशंख को भयानक कर्म करनेवाले भीमसेन ने बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अनन्त-विजयम्, राजा, कुन्ती-पुत्रः, युधिष्ठिरः।
नकुलः, सहदेवः, च, सुघोष-मणिपुष्पकौ ॥

कुन्ती-पुत्रः	=कुन्ती के पुत्र
राजा	=राजा
युधिष्ठिरः	=युधिष्ठिर ने
अनन्तविजयम्	=अनन्त-विजय
च	=तथा
नकुलः	=नकुल
	+और
सहदेवः	=सहदेव ने
सुघोष-मणिपुष्पकौ	=सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंख
	+बजाये

* वृक+उदरः अर्थात् भेड़िये के समान पेटवाला (भीमसेन), जिसमें बहुत-सा अन्न पचाने की शक्ति हो।

अर्थ—कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

काश्यः, च, परम-इष्वासः, शिखण्डी, च, महारथः।
धृष्टद्युम्नः, विराटः, च, सात्यकिः, च, अ-पराजितः॥

परम-इष्वासः	=बड़े धनुषवाला	**धृष्टद्युम्नः**	=धृष्टद्युम्न
काश्यः	=काशी का राजा	**च**	=और
च	=और	**विराटः**	=विराट
महारथः	=महारथी	**च**	=एव
शिखण्डी	=शिखण्डी	**अ-पराजितः**	=किसी से न हारनेवाला
च	=तथा	**सात्यकिः**	=सात्यकि

अर्थ—(हे धृतराष्ट्र!) बड़े धनुषवाले काशी के राजा, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, किसीसे न हारनेवाले सात्यकि,

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

द्रुपदः, द्रौपदेयाः, च, सर्वशः, पृथिवी-पते।
सौभद्रः, च, महाबाहुः, शङ्खान्, दध्मुः, पृथक्-पृथक्॥

द्रुपदः	=राजा द्रुपद	**द्रौपदेयाः**	=द्रौपदी के पुत्र
च	=और	**च**	=तथा

महा-बाहुः	=बड़ी भुजावाला	पृथिवी-पते	=हे महाराज!
सौभद्रः	=सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु)	पृथक्-पृथक्	=अलग-अलग
		शङ्खान्	=शङ्ख
सर्वशः	=इन सब ने	दध्मुः	=बजाये

अर्थ—राजा द्रुपद, द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र, बड़ी भुजाओं-वाला सुभद्रा का पुत्र—अभिमन्यु—इन सबने हे राजन्! अलग-अलग अपने-अपने शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १६ ॥

सः, घोषः, धार्तराष्ट्राणाम्, हृदयानि, वि-अदारयत्।
नभः, च, पृथिवीम्, च, एव, तुमुलः, वि-अनुनादयन् ॥

च	=और	पृथिवीम्	=पृथिवी को
सः	=उस	एव	=भी
तुमुलः	=बड़े भारी भयंकर	वि-अनुनादयन्	=प्रतिध्वनि से पूर्ण करते हुए
घोषः	=शोर ने (शब्द ने)	धार्तराष्ट्राणाम्	=धृतराष्ट्र के पुत्रों के
नभः	=आकाश	हृदयानि	=कलेजों को
च	=और	वि-अदारयत्	=धड़का दिया

अर्थ—पांडवों के बड़े-बड़े शंखों की उस भयंकर ध्वनि ने आकाश और पृथिवी में गूँजकर आपके पुत्रों (और सम्बन्धियों) के कलेजे फाड़ डाले।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

अथ, व्यवस्थितान्, दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान्, कपि-ध्वजः।
प्रवृत्ते, शस्त्रसंपाते, धनुः, उद्यम्य, पाण्डवः ॥
हृषीकेशम्, तदा, वाक्यम्, इदम्, आह, मही-पते।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, रथम्, स्थापय, मे, अच्युत ॥

मही-पते	=हे पृथिवी के स्वामी !		के समय
अथ	=इसके अनन्तर	धनुः	=धनुष
कपि-ध्वजः	=वानर की ध्वजावाला	उद्यम्य	=उठाकर
पाण्डवः	=अर्जुन	तदा	=उस समय
धार्तराष्ट्रान्	=दुर्योधन आदि कौरवों को	हृषीकेशम्	=कृष्ण महाराज से
व्यवस्थितान्	=भले प्रकार खड़े हुए	इदम्	=यह
दृष्ट्वा	=देखकर	वाक्यम्	=वचन
शस्त्र-सम्पाते प्रवृत्ते	=शस्त्रचलने की तैयारी	आह	=बोला (कि)
		अच्युत	=हे भगवान् कृष्ण !
		मे	=मेरे
		रथम्	=रथ को
		उभयोः	=दोनों

सेनयोः	=सेनाओं के	स्थापय	=खड़ा कीजिए
मध्ये	=बीच में		

अर्थ—हे पृथ्वीनाथ! इसके अनन्तर वानर की ध्वजावाले अर्जुन ने जब देखा कि कौरव-सेना सब तरह से लड़ने को तैयार खड़ी है और हथियार चलाना ही चाहती है, उस समय उसने अपना धनुष सँभालकर भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा— "हे अच्युत! * दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कीजिए।"

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥

यावत्, एतान्, निरीक्षे, अहम्, योद्धु-कामान्, अवस्थितान्।
कैः, मया, सह, योद्धव्यम्, अस्मिन्, रण-समुद्यमे॥

यावत्	=जिससे (ताकि)	अस्मिन्	=इस
एतान्	=इन	रण-समुद्यमे	=रण के प्रारम्भ में
योद्धु-कामान्	=युद्ध करने की इच्छा से	मया	=मुझे
अवस्थितान्	=खड़े हुए (योधाओं को)	कैः	=किनके
अहम्	=मैं	सह	=साथ
निरीक्षे	=अच्छी तरह से देख लूँ (कि)	योद्धव्यम्	=युद्ध करना चाहिए

* अच्युत—अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से न हटनेवाला।

अर्थ—ताकि मैं इन युद्ध की कामना से खड़े हुए योधाओं को अच्छी तरह देख लूँ अर्थात् मैं यह देखना चाहता हूँ कि कौन-कौन मुझसे युद्ध करने की इच्छा करते हैं और मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना चाहिए।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

योत्स्यमानान्, अवेक्षे, अहम्, ये, एते, अत्र, समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य, दुर्बुद्धेः, युद्धे, प्रिय-चिकीर्षवः॥

दुर्बुद्धेः	=दुर्बुद्धि	युद्धे	=युद्ध में
धार्तराष्ट्रस्य	=दुर्योधन की	समागताः	=आये हैं
प्रिय-चिकीर्षवः	=भलाई चाहने-वाले		+ उन
ये	=जो-जो	योत्स्यमानान्	=युद्ध करनेवालों को
एते	=ये (अन्य देशों के राजा लोग)	अहम्	=मैं
अत्र	=इस	अवेक्षे	=देखूँ

अर्थ—जो धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र—दुर्योधन—की भलाई चाहनेवाले राजा लोग, इस रणभूमि में, युद्ध करने के लिए आये हैं, उन्हें मैं अच्छी तरह से देखना चाहता हूँ।

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २४ ॥

एवम्, उक्तः, हृषीकेशः, गुडाकेशेन, भारत ।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, स्थापयित्वा, रथ-उत्तमम् ॥
भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः, सर्वेषाम्, च, महीक्षिताम् ।
उवाच, पार्थ, पश्य, एतान्, समवेतान्, कुरून्, इति ॥

संजय ने कहा—

भारत	=हे भरत की संतान धृतराष्ट्र !	**सर्वेषाम्**	=सब
गुडाकेशेन	= अर्जुन द्वारा	**महीक्षिताम्**	=राजाओं के सामने
एवम्	=इस प्रकार	**रथ-उत्तमम्**	=उत्तम रथ को
उक्तः	=कहे जाने पर	**स्थापयित्वा**	=खड़ा करके
हृषीकेशः	=श्रीकृष्ण ने	**इति**	=यह
उभयोः	=दोनों	**उवाच**	=कहा (कि)
सेनयोः	=सेनाओं के	**पार्थ**	=हे अर्जुन !
मध्ये	=बीच में	**एतान्**	=इन
भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः	= भीष्म और द्रोण के सामने	**समवेतान्**	=इकट्ठे हुए (एकत्र हुए)
		कुरून्	=कौरवों को
च	=तथा	**पश्य**	=तू देख

अर्थ—हे भरत की सन्तान धृतराष्ट्र ! इस प्रकार निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन ने जब अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने की प्रार्थना की, तब इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण-

चन्द्र ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके, भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सामने अर्जुन से कहा—"हे पार्थ ! * इन एकत्र हुए कौरवों को तू देख ।"

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

तत्र, अपश्यत्, स्थितान्, पार्थः, पितॄन्, अथ, पितामहान् ।
आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखीन्, तथा ।
श्वशुरान्, सुहृदः, च, एव, सेनयोः उभयोः, अपि ॥

अथ	=तब	मातुलान्	=मामाओं
पार्थः	=अर्जुन ने	भ्रातॄन्	=भाइयों
तत्र	=उस रणभूमि में	पुत्रान्	=पुत्रों
उभयोः	=दोनों	पौत्रान्	=पौत्रों
अपि	=ही	तथा	=और
सेनयोः	=सेनाओं में	सखीन्	=मित्रों
स्थितान्	=खड़े हुए	श्वशुरान्	=ससुरों
पितॄन्	=पिता के भाइयों या चाचाओं	च	=तथा
		सुहृदः	=सुहृदों को
पितामहान्	=दादाओं	एव	=ही
आचार्यान्	=गुरुओं	अपश्यत्	=देखा

अर्थ—वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं के बीच में खड़े हुए

---

* पार्थ—पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र ।

चाचाओं, भीष्म आदि दादाओं, द्रोणाचार्य आदि आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और सुहृदों को ही देखा ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तान् ,समीक्ष्य, सः, कौन्तेयः, सर्वान् , बन्धून् , अवस्थितान् ।
कृपया, परया, आविष्टः, विषीदन्, इदम्, अब्रवीत् ॥

तान्	=उन	कृपया	=दया से
अवस्थितान्	=इकट्ठे हुए	आविष्टः	=युक्त हो
सर्वान्	=सब	विषीदन्	=दुःखित होता हुआ (उदास होकर)
बन्धून्	=बन्धुओं को	इदम्	=यह (वचन)
समीक्ष्य	=देखकर	अब्रवीत्	=बोला
सः	=वह		
कौन्तेयः	=कुन्ती-पुत्र अर्जुन		
परया	=अत्यन्त		

अर्थ—रणभूमि में उन सब स्वजनों को खड़ा देखकर अर्जुन के जी में बड़ी दया उत्पन्न हो गई और वह दुखी होकर यह कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ॥ २८ ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा, इमम्, स्व-जनम्, कृष्ण, युयुत्सुम्, समुपस्थितम्।
सीदन्ति, मम, गात्राणि, मुखम्, च, परिशुष्यति ॥
वेपथुः, च, शरीरे, मे, रोम-हर्षः, च, जायते ॥

अर्जुन बोला कि—

कृष्ण	=हे कृष्ण !	च	=और
इमम्	=इस	मुखम्	=मुख
युयुत्सुम्	=युद्ध की इच्छा से	परिशुष्यति	=सूखा जाता है
समुपस्थितम्	=खड़े हुए	च	=तथा
स्व-जनम्	=अपने बन्धुओं को	मे	=मेरे
		शरीरे	=शरीर में
दृष्ट्वा	=देखकर	वेपथुः	=कम्प हो रहा है
मम	=मेरे	च	=एवं
गात्राणि	=अङ्ग	रोम-हर्षः	=रोमाञ्च
सीदन्ति	=ढीले होते जाते हैं	जायते	=हो रहा है

अर्थ—हे कृष्ण ! इन अपने भाई-बन्धुओं को युद्ध करने की इच्छा से तैयार खड़े हुए देखकर, मेरे अंग ढीले होते जाते हैं। मेरा मुँह सूखा जाता है, मेरा शरीर काँप रहा है और मेरे रोम खड़े हो रहे हैं।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

गाण्डीवम्, स्रंसते, हस्तात्, त्वक्, च, एव, परिदह्यते।
न, च, शक्नोमि, अवस्थातुम्, भ्रमति, इव, च, मे, मनः ॥

हस्तात्	=हाथ से	च	=और
गाण्डीवम्	=गाण्डीव धनुष	अवस्थातुम्	=खड़े रहने के लिए
स्रंसते	=फिसला जा रहा है	न शक्नोमि	=मैं समर्थ नहीं हूँ
च	=और	च	=तथा
त्वक्	=त्वचा	मे	=मेरा
एव	=भी	मनः	=मन
परिदह्यते	=जली जाती है	भ्रमति इव	=मानो भ्रम रहा है

अर्थ—गाण्डीव * धनुष हाथ से फिसला जा रहा है; मेरी त्वचा अथवा मेरा शरीर जला जाता है; मुझमें खड़े होने की शक्ति नहीं है और मेरा मन मानों भ्रम रहा है अर्थात् चक्कर खा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

निमित्तानि, च, पश्यामि, विपरीतानि, केशव ।
न, च, श्रेयः, अनुपश्यामि, हत्वा, स्व-जनम्, आहवे ॥

च	=और	पश्यामि	=(मैं) देखता हूँ
केशव	=हे कृष्ण !	आहवे	=युद्ध में
विपरीतानि	=उलटे, विपरीत (ही)	स्व-जनम्	=अपने सम्बन्धियों को
निमत्तानि	=शकुनों को	हत्वा	=मारकर

*गाण्डि—गाँठ को कहते हैं। अर्जुन के धनुष में गाँठें होने के कारण वह गाण्डीव कहलाता था।

श्रेयः	=कल्याण	न	=नहीं
च	=भी	अनुपश्यामि	=देखता हूँ
	+मैं		

अर्थ——और हे केशव ! मुझे शकुन भी बुरे दिखाई देते हैं। युद्ध में अपने भाई-बन्धु इत्यादि स्वजनों को मारने में मुझे तो कुछ लाभ नज़र नहीं आता।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

न, काङ्क्षे, विजयम्, कृष्ण, न, च, राज्यम्, सुखानि, च।
किम्, नः, राज्येन, गोविन्द, किम्, भोगैः, जीवितेन, वा॥

कृष्ण	=हे कृष्ण !	गोविन्द	= हे भगवन् !
	+मैं	नः	=हमको
विजयम्	=विजय	राज्येन	=राज्य से
न	=नहीं	किम्	=क्या(मतलब)
काङ्क्षे	=चाहता हूँ		है ?
च	=और	वा	=अथवा
राज्यम्	=राज्य	भोगैः	=भोगों से
च	=तथा		+या
सुखानि	=सुखों को(भी)	जीवितेन	=जीवन से
न	=नहीं	किम्	=क्या(प्रयोजन)
	+चाहता हूँ		=है ?

अर्थ——हे कृष्ण ! मैं अपने बन्धुओं को मारकर, विजय, राज्य और सुख नहीं चाहता। हे गोविन्द ! तब फिर राज्य, सुख-भोग

और जीवन से हमें क्या प्रयोजन है? मतलब यह है कि राज्य करने में कुछ आनन्द नहीं है। केवल परमानन्दस्वरूप आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से ही परमानन्द है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

येषाम्, अर्थे, काङ्क्षितम्, नः, राज्यम्, भोगाः, सुखानि, च।
ते, इमे, अवस्थिताः, युद्धे, प्राणान्, त्यक्त्वा, धनानि, च॥

	+क्योंकि	ते	=वे (ही)
येषाम्	=जिनके	इमे	=ये सब (लोग)
अर्थे	=लिए	युद्धे	=युद्ध में
नः	=हमें	प्राणान्	=प्राणों
राज्यम्	=राज्य	च	=और
भोगाः	=भोग	धनानि	=धन की (आशा)
च	=और	त्यक्त्वा	=त्यागकर
सुखानि	=सुख	अवस्थिताः	=खड़े हैं
काङ्क्षितम्	=चाहिए		

अर्थ—जिनके लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वे ही लोग धन और प्राणों की आशा त्यागकर यहाँ रणभूमि में मरने-मारने को खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा, एव, च, पितामहाः।
मातुलाः, श्वशुराः पौत्राः, श्यालाः, सम्बन्धिनः, तथा॥

आचार्याः	=आचार्य (गुरु-जन
पितरः	=पिता के भाई (ताऊ या चाचे)
पुत्राः	=पुत्र
च	=और
तथा	=वैसे
एव	=ही

पितामहाः	=भीष्म आदि पितामह
मातुलाः	=मामे
श्वशुराः	=ससुर
पौत्राः	=पोते
श्यालाः	=साले
तथा	=तथा (अन्य)
सम्बन्धिनः	=सम्बन्धी या रिश्तेदार हैं

अर्थ—हे भगवन् ! इस युद्ध में हमारे गुरु हैं, ताऊ, चाचा हैं, पुत्र और भतीजे हैं, भीष्म आदि पितामह हैं और ऐसे ही मामे, ससुर, पोते, साले तथा अन्य सम्बन्धी या रिश्तेदार हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

एतान्, न, हन्तुम्, इच्छामि, घ्नतः, अपि, मधु-सूदन ।
अपि, त्रै-लोक्य-राज्यस्य, हेतोः, किम्, नु, मही-कृते ॥

मधु-सूदन	=हे मधु दैत्य को मारनेवाले भगवान् कृष्ण !
घ्नतः	=मारे जाने पर
अपि	=भी (और)
त्रै-लोक्य-राज्यस्य	=तीन लोक के राज्य के

हेतोः	=कारण
अपि	=भी
एतान्	=इन सबको + मैं
हन्तुम्	=मारना
न	=नहीं
इच्छामि	=चाहता हूँ

	=फिर		लिए (तो)
मही-कृते	=इस पृथिवी (मात्र के राज्य) के	किम्	=(कहना ही) क्या है ?

अर्थ—हे मधु दैत्य को मारनेवाले कृष्ण ! चाहे ये सब बान्धव मुझे मार ही डालें, पर मैं इन्हें इस पृथ्वी के लिए तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता ; बल्कि उलटा इनसे मारा जाना मैं उत्तम समझता हूँ ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

निहत्य, धार्तराष्ट्रान्, नः, का, प्रीतिः, स्यात्, जनार्दन ।
पापम्, एव, आश्रयेत्, अस्मान्, हत्वा, एतान्, आततायिनः ॥

जनार्दन	=हे जनार्दन ! (हे कृष्ण !)	प्रीतिः	=सुख
धार्तराष्ट्रान्	=धृतराष्ट्र के पुत्रों को	स्यात्	=होगा
निहत्य	=मारकर	एतान्	=इन
नः	=हमें	आततायिनः	=आततायियों * (दुष्ट पापियों) को
का	=क्या	हत्वा	=मारकर (भी तो)

* आततायी—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हथियार लेकर मदमत्त किसी का वध करने को तुला हुआ, धन का चोर, खेत का हर लेनेवाला और स्त्रीचोर ये छः प्रकार के लोग आततायी कहलाते हैं । यथा—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैतान् षड् विद्यादाततायिनः ॥ (शुक्रनीति)

अस्मान्	=हम लोगों को	एव	=ही
पापम्	=पाप	आश्रयेत्	=लगेगा

अर्थ—हे जनार्दन ! * धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भला हमें क्या खुशी होगी ? बल्कि इन दुष्ट पापियों को मारकर हमें उलटा पाप ही लगेगा ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

तस्मात्, न, अर्हाः, वयम्, हन्तुम्, धार्तराष्ट्रान्, स्व-बान्धवान् ।
स्व-जनम्, हि, कथम्, हत्वा, सुखिनः, स्याम, माधव ॥

तस्मात्	=इसलिए	माधव	=हे माधव !
स्व-बान्धवान्	=अपने भाई-बन्धु	स्व-जनम्	=अपने बन्धुओं को
धार्तराष्ट्रान्	=धृतराष्ट्र के पुत्रों को	हत्वा	=मारकर +हम
हन्तुम्	=मारने के वास्ते	कथम्	=कैसे
वयम्	=हम	सुखिनः	=सुखी
न	=नहीं	स्याम	=होंगे ?
अर्हाः	=योग्य हैं		
हि	=क्योंकि		

* जनार्दन—सृष्टि में परमात्मारूप से रहनेवाले। संसार को ब्रह्म-रूप से उत्पन्न करनेवाले, मनुष्यों को पुरुषार्थ और मुक्ति देनेवाले, समुद्र में रहनेवाले, दैत्य-विशेष को मारनेवाले भगवान् कृष्ण का नाम है ।

अर्थ—इसलिए अपने भाई-बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को हमें मारना उचित नहीं है। क्योंकि हे माधव! * अपने ही प्रियजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥

यद्यपि, एते, न, पश्यन्ति, लोभ-उपहत-चेतसः।
कुल-क्षय-कृतम्, दोषम्, मित्र-द्रोहे, च, पातकम्॥

लोभ-उपहत-चेतसः = जिनका चित्त लोभ से भ्रष्ट हो गया है ऐसे	दोषम् = दोष को
एते = ये लोग	च = और
यद्यपि = यद्यपि (अगरचे)	मित्र-द्रोहे = मित्रों के साथ द्रोह करने में
कुल-क्षय-कृतम् = कुल के नाश से उत्पन्न होने-वाले	पातकम् = पाप को
	न = नहीं
	पश्यन्ति = देखते हैं
	+तथापि

अर्थ—यद्यपि इन दुर्योधनादि की मति राज्य पाने के लालच से मारी गई है और इन्हें कुल के नाश होने में पाप और मित्रों से शत्रुता करने में दोष नहीं दिखाई देता है (तथापि)

---

* माधव—मा=लक्ष्मी, धव=पति अर्थात् लक्ष्मी के पति मधुकुलवाला—यादव वंश में जो उत्पन्न हुआ अर्थात् कृष्ण भगवान्।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कथम्, न, ज्ञेयम्, अस्माभिः, पापात्, अस्मात्, निवर्तितुम् ।
कुल-क्षय-कृतम्, दोषम्, प्रपश्यद्भिः, जनार्दन ॥

जनार्दन	=हे कृष्ण	पापात्	=पाप से
कुल-क्षय कृतम्	=कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले	निवर्तितुम्	=निवृत्त होना अर्थात बचने का उपाय
दोषम्	=दोष को		
प्रपश्यद्भिः	=देखते हुए	कथम्	=क्यों
अस्माभिः	=हम लोगों को	न	=नहीं
अस्मात्	=इस	ज्ञेयम्	=सोचना चाहिए ?

अर्थ—हे जनार्दन ! कुल के नाश होने में जो बुराइयाँ हैं उन्हें देखते हुए हम पाप से निवृत्त होने अर्थात् बचने का उपाय क्यों न करें ? कारण यह है कि,

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुल-क्षये, प्रणश्यन्ति, कुल-धर्माः, सनातनाः ।
धर्मे, नष्टे, कुलम्, कृत्स्नम्, अधर्मः, अभिभवति, उत ॥

कुल-क्षये	=कुल के नाश होने पर	कुल-धर्माः	=कुलधर्म
सनातनाः	=सनातन	प्रणश्यन्ति	=नाश हो जाते हैं +और

धर्मे	=धर्म के	उत	=फिर
नष्टे	=नष्ट होने पर	अधर्मः	=अधर्म
कृत्स्नम्	=सारे (समस्त)	अभिभवति	=दबा लेता है
कुलम्	=कुल को		

अर्थ—कुल के नाश हो जाने पर, सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। परम्परा से चले आनेवाले धर्म के नाश हो जाने पर सारे कुल में अधर्म छा जाता है यानी वंश के सब आदमी अधर्मी हो जाते हैं।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥

अधर्म-अभिभवात्, कृष्ण, प्रदुष्यन्ति, कुल-स्त्रियः।
स्त्रीषु, दुष्टासु, वार्ष्णेय, जायते, वर्णसंकरः॥

कृष्ण	=हे कृष्ण	स्त्रीषु	=स्त्रियों के
अधर्म-अभि-भवात्	=अधर्म के बढ़ने से	दुष्टासु	=दुष्टा या भ्रष्ट होने पर
कुल-स्त्रियः	=कुल की स्त्रियाँ	वर्णसंकरः	=वर्णसंकर
प्रदुष्यन्ति	=भ्रष्ट हो जाती हैं	जायते	=उत्पन्न होता है
वार्ष्णेय	=हे वृष्णि-वंश में उत्पन्न होने-वाले (भगवान् कृष्ण)!		

अर्थ—हे कृष्ण! अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे कृष्ण! स्त्रियों के खराब हो जाने पर वर्णसंकर * उत्पन्न होते हैं।

---

* वर्णसंकर—बदचलन स्त्रियों की सन्तान को "वर्णसंकर" कहते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

संकरः, नरकाय, एव, कुलघ्नानाम्, कुलस्य, च ।
पतन्ति, पितरः, हि, एषाम्, लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः ॥

संकरः	=वर्णसंकर
कुलघ्नानाम्	=कुल नाश करने-वालों
च	=और
कुलस्य	=कुल को
नरकाय	=नरक की ओर ले जाने के लिए
एव	=ही +होता है
हि	=क्योंकि
लुप्त पिण्ड-उदक-क्रियाः	=पिण्ड और जल की क्रिया के लोप होने से
एषाम्	=इनके
पितरः	=पितर +स्वर्ग से नरक में
पतन्ति	=गिर जाते हैं

अर्थ—व्यभिचारिणी स्त्रियों से जो वर्णसंकर पैदा होते हैं वे वास्तव में, उस सारे कुल के नाश करनेवालों को नरक में ले जाने के लिए ही होते हैं; क्योंकि उनका दिया हुआ पिण्ड और जल उनके पितरों को नहीं पहुँचता; अतएव उनके पूर्वज स्वर्ग से नरक में गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

दोषैः, एतैः, कुलघ्नानाम्, वर्णसंकर-कारकैः ।
उत्साद्यन्ते, जाति-धर्माः, कुलधर्माः, च, शाश्वताः ॥

कुलघ्नानाम्	=कुलघातकों के (कुल के नाश करनेवालों के)	दोषैः	=दोषों से
एतैः	=इन	शाश्वताः	=परम्परागत
वर्णसंकर-कारकैः	= वर्णसंकर बनानेवाले	कुल-धर्माः	=कुल-धर्म
		च	=और
		जाति-धर्माः	=जाति-धर्म
		उत्साद्यन्ते	=नष्ट हो जाते हैं

अर्थ—हे भगवन् ! कुलनाशक पुरुषों के इन वर्णसंकर बनानेवाले दोषों से जाति और कुल के सनातन धर्म का नाश हो जाता है ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्, मनुष्याणाम्, जनार्दन ।
नरके, नियतम्, वासः, भवति, इति, अनुशुश्रुम ॥

जनार्दन	=हे कृष्ण !	नियतम्	=निश्चय ही
उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्	=कुल-धर्म नष्ट हुए	वासः	=निवास
मनुष्याणाम्	=मनुष्यों का	भवति	=होता है
नरके	=नरक में	इति	=ऐसा
			+हमने शास्त्रों में
		अनुशुश्रुम	=सुना है

अर्थ—हे जनार्दन ! जिन पुरुषों के कुल-धर्म नष्ट हो जाते

हैं उन्हें निश्चय ही नरक में जाना पड़ता है ; ऐसा हमने (शास्त्रों में) सुना है ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो, बत, महत्, पापम्, कर्तुम्, व्यवसिताः, वयम् ।
यत्, राज्य-सुख-लोभेन, हन्तुम्, स्व-जनम्, उद्यताः ॥

अहो	=हाय (अहो)	यत्	=जो
बत	=शोक ! (अफ़सोस !)	राज्य-सुख लोभेन	=राज्य-सुख के लोभ से
महत्	=बड़ा भारी	स्व-जनम्	=अपने सम्बन्धियों को
पापम्	=पाप	हन्तुम्	=मारने को
कर्तुम्	=करने को	उद्यताः	= उद्यत हुए हैं
वयम्	=हम लोग		
व्यवसिताः	=तैयार हुए हैं		

अर्थ—अर्जुन कहता है कि बड़े अफ़सोस की बात है जो हम लोग राज्य-सम्बन्धी सुख के लिए अपने बन्धुजनों को मारने एवं इस प्रकार भारी पाप करने को तैयार हो गये हैं ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि, माम्, अ-प्रतीकारम्, अ-शस्त्रम्, शस्त्र-पाणयः ।
धार्त्तराष्ट्राः, रणे, हन्युः, तत्, मे, क्षेमतरम्, भवेत् ॥

यदि	=अगर	धार्तराष्ट्राः	=धृतराष्ट्र के पुत्र
माम्	=मुझ	रणे	=लड़ाई में
अ-प्रतीकारम्	=सामना न करनेवाले (बदला न लेनेवाले)	हन्युः	=मार (भी) डालें
अ-शस्त्रम्	=हाथ में हथियार न रखनेवाले	तत्	=तो (वह)
शस्त्र-पाणयः	=शस्त्र हाथ में लिए हुए	मे	=मेरे लिए
		क्षेमतरम्	=अत्यन्त कल्याणकारक
		भवेत्	= होगा

अर्थ—हे कृष्ण ! धृतराष्ट्र के पुत्र, हाथों में शस्त्र लेकर, मुझे ऐसी हालत में, जब कि मेरे हाथों में हथियार न हों और मैं मुकाबला भी न करूँ, मुझे रण में मार डालें, तो कहीं अच्छा होगा।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

एवम्, उक्त्वा, अर्जुनः, संख्ये, रथ-उपस्थे, उपाविशत् ।
विसृज्य, स-शरम्, चापम्, शोक-संविग्न-मानसः ॥

संजय बोला कि—

शोक-संविग्न-मानसः	=शोक से भरे हुए मनवाला	अर्जुनः	=अर्जुन
		संख्ये	=रणभूमि में
		स-शरम्	=तीर सहित

चापम्	=धनुष को	उक्त्वा	=कहकर
विसृज्य	=छोड़कर +और	रथ-उपस्थे	=रथ के पिछले भाग में
एवम्	=इस प्रकार	उपाविशत्	=बैठ गया

अर्थ—संजय बोला—"हे धृतराष्ट्र ! ऐसा कह, रणभूमि में बाणसहित धनुष को फेंककर, शोक में डूबा हुआ अर्जुन रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया।"

प्रथम अध्याय समाप्त

गीता के पहले अध्याय का माहात्म्य

एक बार पार्वतीजी ने महादेवजी से पूछा—"भगवन्! आपने वैकुण्ठ लोक प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के धर्मों का वर्णन किया, अब मैं गीता का माहात्म्य सुनना चाहती हूँ, जिसे सुनकर भगवान् विष्णु में भक्ति बढ़ती है और अन्त में वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है। यदि आप मुझे प्यार करते हैं तो कृपा करके गीता का माहात्म्य कहिए।"

पार्वतीजी के इस प्रकार पूछने पर भगवान् शंकर सब लोकों के पूज्य विष्णु को नमस्कार करके कहने लगे—"हे देवि! विष्णु ने लक्ष्मी के पूछने पर श्रीभगवद्गीता का जो माहात्म्य उनसे कहा था, वही मैं तुमसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। एक बार लक्ष्मीजी ने भगवान् विष्णु से पूछा—"भगवन्! आप सब लोकों से विरक्त होकर क्षीरसमुद्र में अकेले क्यों सोते हैं, इसका क्या कारण है?" विष्णुजी ने उत्तर दिया—'हे प्रिये! हम यहाँ सोते नहीं हैं, हम उस अनादि, अखण्ड, अक्षर, ज्योतिस्वरूप को दिव्य दृष्टि से देखते हैं, जिसके ध्यान में योगीजन सदा मग्न रहते हैं और महात्मा व्यासजी ने जिसके तत्त्व को समझकर सम्पूर्ण वेद-शास्त्ररूपी समुद्र को मथकर गीता-शास्त्र निकाला है; उसी आनन्दस्वरूप में मग्न रहकर हम इस क्षीरसमुद्र में सोते हुए के समान निवास करते हैं।"

विष्णु भगवान् के मुँह से गीताशास्त्र की यह महिमा

सुनकर लक्ष्मीजी ने पूछा—भगवन् ! जिस गीताशास्त्र को व्यासजी ने सम्पूर्ण वेद-शास्त्ररूपी समुद्र से निकाला है, उसका माहात्म्य मुझसे कहिए।

भगवान् ने कहा—श्रीभगवद्गीता वाङ्मयी ईश्वर की मूर्ति है। आदि के पाँच अध्याय उस मूर्ति के मुख हैं, छठे से पंद्रहवें तक दस अध्याय उसकी भुजाएँ, सोलहवाँ अध्याय उसका उदर, सत्रहवाँ और अठारहवाँ अध्याय उसके चरण हैं। उस माहेश्वर-मूर्ति का दर्शन केवल ज्ञान-दृष्टि से होता है, और जो पुरुष उस मूर्ति का दर्शन करता है, उसके सब पाप छूट जाते हैं। गीता का एक अध्याय, आधा अध्याय, एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा केवल चौथाई श्लोक का अभ्यास करने से मनुष्य सुशर्मा के समान निष्पाप होकर वैकुण्ठलोक को जाता है। लक्ष्मी ने पूछा—भगवन् ! सुशर्मा कौन था और कैसे उसकी मुक्ति हुई, सो मुझसे कहिए। भगवान् ने कहा—हे देवि ! सुशर्मा नाम का एक दुराचारी ब्राह्मण था। वह पाप-कर्म करने के सिवा जप, होम अथवा अतिथि-सत्कार कभी नहीं करता था। वह खेती करता, मदिरा पीता, मांस खाता और हमेशा विषय-भोग में समय बिताता था। वह एक दिन बकरी को खिलाने के लिए बाग़ में पत्ते तोड़ने गया। वहाँ उसे साँप ने काट खाया। वह मरकर यमलोक को गया। अपने पापों के फल से बहुत वर्षों तक, नरक में रहकर फिर मृत्युलोक में आकर बैल हुआ। उस बैल को एक भिखमंगे लँगड़े ने मोल लिया। वह उस पर चढ़कर भीख माँगता था। पेट भर चारा न पाने से वह बैल बहुत दुबला हो गया। एक दिन, मार्ग में चलते-चलते,

थककर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। उसकी आँखें निकल आईं, मुँह से फेना निकलने लगा, किन्तु इतने पर भी, पूर्वजन्म के पापों के फल से, उसके प्राण नहीं निकलते थे। गाँव के लोग वहाँ इकट्ठा हो गये, उसका दुःख देखकर सबको तरस आया। उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाय और वह इस क्लेश से छुटकारा पा जाय, सब लोग ईश्वर से यही प्रार्थना करने लगे। कोई-कोई कहने लगे—"हम अपना अमुक पुण्य इस बैल को देते हैं, उसके प्रभाव से इसका दुःख छूट जाय।" भीड़ देखकर एक वेश्या भी वहाँ आ गई। उसने भी कहा—"हमारे पुण्य के प्रताप से इस बैल का दुःख छूट जाय।" यद्यपि उसने अपनी जान में कोई पुण्य तो किया नहीं था—उसने केवल हँसी में यह कह दिया था—किन्तु वह बैल उसी दम मर गया और उस वेश्या के पुण्य के प्रभाव से उसने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया। उसी पुण्य के फल से उसे अपने पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त स्मरण (याद) था। उसने वेश्या के पास जाकर उससे पूछा—"तुमने वह कौन बड़ा पुण्य किया था, जिसके प्रभाव से हमको बैल की योनि से छुटकारा दिलाकर ब्राह्मण के घर में जन्म दिलाया? क्या हमको भी उस शुभ कर्म का उपदेश दे सकती हो?" वेश्या ने उत्तर दिया—"हमने अपनी समझ में तो कभी कोई पुण्य किया नहीं, आपको क्या बतावें। हाँ, हमारे यहाँ यह तोता पला है, यह सवेरे कुछ पढ़ता है। इसकी बोली हमको बहुत प्यारी लगती है, और हम उसे ध्यान से सुना करती हैं।" तब उस ब्राह्मण ने तोते से पूछा—"तुम क्या पढ़ते हो?" तोते ने कहा—"हम पहले एक मुनि के आश्रम पर

रहते थे। मुनि के शिष्य प्रतिदिन गीता के पहले अध्याय का पाठ किया करते थे। हम भी उनसे सुनकर वह अध्याय पढ़ने लगे। एक बहेलिया हमको वहाँ से पकड़ लाया और इस वेश्या के हाथ बेच दिया, तब से हम इस पिंजरे में रहते हैं और रोज़ सुबह गीता का पहला अध्याय—जिसे मुनि के आश्रम पर सीखा था—पढ़ते हैं।" तोते की यह बात सुनकर वह ब्राह्मण उसी दिन से प्रतिदिन गीता के पहिले अध्याय का पाठ करने लगा।

विष्णुजी ने लक्ष्मी से कहा—हे देवि! अन्त को वे तीनों—तोता, वेश्या और ब्राह्मण—गीता के पहिले अध्याय के प्रभाव से वैकुण्ठधाम को गये।

दूसरा अध्याय
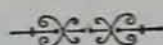
संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

तम्, तथा, कृपया, आविष्टम्, अश्रुपूर्ण-आकुल-ईक्षणम् ।
विषीदन्तम्, इदम्, वाक्यम्, उवाच, मधुसूदनः ॥

संजय ने कहा—

तथा	=इस प्रकार	तम्	=उस (अर्जुन) से
कृपया	=दया से	मधु-सूदनः	=श्रीकृष्ण महाराज ने
आविष्टम्	=युक्त (परिपूर्ण)	इदम्	=यह
अश्रु-पूर्ण आकुल ईक्षणम्	आसुओं से पूर्ण =और व्याकुल नेत्रवाले	वाक्यम्	=वचन
विषीदन्तम्	=दुःखी	उवाच	=कहा

अर्थ—संजय ने कहा—"इस प्रकार दया से परिपूर्ण, आँखों में आँसू भरे हुए और व्याकुल नेत्रवाले दुःखी अर्जुन से मधुसूदन अर्थात् कृष्ण भगवान् यह कहने लगे"—

पृष्ठ ४७ अर्जुन-विषाद

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कुतः, त्वा, कश्मलम्, इदम्, विषमे, समुपस्थितम्।
अनार्य-जुष्टम्, अ-स्वर्ग्यम्, अ-कीर्ति-करम्, अर्जुन ॥

भगवान् ने कहा—

अर्जुन =हे अर्जुन !
त्वा =तुझे
इदम् =यह
कश्मलम् =अज्ञान या (मलिनता) कायरपना
विषमे =इस संकट (रण) में
कुतः =कहाँ से या किस कारण से
समुपस्थितम्=आ गया ?
+ क्योंकि यह
अनार्य-जुष्टम् =श्रेष्ठ पुरुषों के योग्य नहीं है
अ-स्वर्ग्यम् =नरक में ले जाने-वाला है
+और
अ-कीर्ति करम् =अपयश फैलाने-वाला है

अर्थ—हे अर्जुन ! इस रणभूमि में, तुझे यह अज्ञान या कायरपन कहाँ से आ गया ? इस प्रकार लड़ाई से मुँह मोड़ना आर्य पुरुषों को शोभा नहीं देता। यह कायरता स्वर्ग से रहित करनेवाली अर्थात् नरक में ले जानेवाली है और लोक-परलोक में अपकीर्ति फैलानेवाली है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

क्लैब्यम्, मा, स्म, गमः, पार्थ, न, एतत् त्वयि, उपपद्यते ।
क्षुद्रम्, हृदय-दौर्बल्यम्, त्यक्त्वा, उत्तिष्ठ, परं-तप ॥

पार्थ	=हे अर्जुन ! (तू)
क्लैब्यम्	=नपुंसकता को
मा	=मत
गमः	=प्राप्त
स्म	=हो
एतत्	=यह
त्वयि	=तेरे लिए
न	=नहीं
उपपद्यते	=योग्य है
परं-तप	=हे शत्रुओं को तपानेवाले (अर्जुन)!
क्षुद्रम्	=तुच्छ
हृदय-दौर्बल्यम्	=हृदय की दुर्बलता को
त्यक्त्वा	=त्यागकर (छोड़कर)
	+ तू
उत्तिष्ठ	=उठ खड़ा हो

अर्थ—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! तू नपुंसक अर्थात् कायर मत बन । यह कायरता तेरे जैसे शूरवीर के योग्य नहीं । हे शत्रुओं के तपानेवाले (अर्जुन) ! अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर, तू युद्ध के लिए उठ खड़ा हो ।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

कथम्, भीष्मम्, अहम्, संख्ये, द्रोणम्, च, मधु-सूदन ।
इषुभिः, प्रति, योत्स्यामि, पूजा-अर्हौ, अरि-सूदन ॥

तब अर्जुन ने कहा—

मधुसूदन	=हे मधुसूदन !	कथम्	=किस प्रकार
संख्ये	=रण में	योत्स्यामि	=युद्ध करूँगा
द्रोणम्	=द्रोणाचार्य		+क्योंकि
च	=और	अरि-सूदन	=हे शत्रुओं को मारनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र !
भीष्मम्	=भीष्मपितामह के		+ ये दोनों ही
प्रति	=साथ	पूजा-अर्हौ	=पूजा के योग्य हैं
इषुभिः	=बाणों से		
अहम्	=मैं		

अर्थ—तब अर्जुन बोला कि हे मधु दैत्य के मारनेवाले, हे शत्रुओं का नाश करनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्र ! भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य मेरे पूज्य हैं। युद्ध में इन दोनों पर बाण कैसे चलाऊँ ? मतलब यह है कि इनके साथ युद्ध करना उचित नहीं है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरून्, अ-हत्वा, हि, महानुभावान्, श्रेयः, भोक्तुम्, भैक्ष्यम्, अपि, इह, लोके। हत्वा, अर्थ-कामान्, तु, गुरून्, इह, एव, भुञ्जीय, भोगान्, रुधिर-प्रदिग्धान् ॥

महानुभावान्	=बड़े-प्रतापशाली
गुरून्	=गुरुजनों को
अ-हत्वा	=न मारकर
इह	=इस
लोके	=लोक में
भैक्ष्यम्	=भिक्षा का अन्न (भीख माँग कर)
अपि	=भी
भोक्तुम्	=खाना
हि	=निःसन्देह
श्रेयः	=श्रेष्ठ है
तु	=और
अर्थ-कामान्	=अर्थ की कामना-वाले (यानी अर्थ-लोलुप)
गुरून्	=गुरुओं को
हत्वा	=मारकर
इह एव	इस संसार में ही
रुधिर-प्रदिग्धान्	= खून से सने हुए
भोगान्	=भोगों को +मैं
भुञ्जीय	=भोगूँगा

अर्थ—इन महाप्रतापी पूजनीय गुरुओं को मारने की अपेक्षा यदि इस लोक में मुझे भीख माँगना भी पड़े तो ऐसा करना मेरे लिए श्रेष्ठ है। धन के लोभी गुरुओं को अगर मैं मारूँ तो इस लोक में ही मैं खून से सने हुए भोगों को भोगूँगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

न, च, एतत्, विद्मः, कतरत्, नः, गरीयः, यद्वा, जयेम,

यदि, बा, नः, जयेयुः । यान्, एव, हत्वा, न, जिजीविषामः, ते, अवस्थिताः, प्रमुखे, धार्तराष्ट्राः ॥

च =और
एतत् =यह
+भी
न विद्मः =हम नहीं जानते हैं कि
नः =हमारे लिए
कतरत् =क्या
गरीयः =श्रेष्ठ है ?
+हम यह भी नहीं कह सकते कि
यद्वा =किंवा (आया)
जयेम =हम जीतेंगे
यदि वा =अथवा (या)

नः =हमको
जयेयुः =वे जीतेंगे
यान् =जिनको
हत्वा =मारकर
+हम
न जिजा-विषामः =जीना नहीं चाहते हैं
ते, एव =वे ही
धार्तराष्ट्राः =धृतराष्ट्र के पुत्र
प्रमुखे =सामने (हमारे मुक़ाबले में)
अवस्थिताः =खड़े हुए हैं

अर्थ—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मेरे लिए भीख माँगना या युद्ध करना, इन दोनों में से कौनसा धर्म श्रेष्ठ है ? हम यह भी नहीं जानते कि हम कौरवों को जीतेंगे या वे हमें ? जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे ही सब धृतराष्ट्र के पुत्र इत्यादि सम्मुख लड़ने के लिए खड़े हैं ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः, पृच्छामि, त्वाम्, धर्म-संमूढ-चेताः । यत्, श्रेयः, स्यात्, निश्चितम्, ब्रूहि, तत्, मे, शिष्यः, ते, अहम्, शाधि, माम्, त्वाम्, प्रपन्नम् ॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः	कृपणता (कायरता) या अज्ञान के =दोष से नष्ट हुए स्वभाव वाला +और	तत्	=उसको
		निश्चितम्	=निश्चय करके
		मे	=मुझसे
		ब्रूहि	=कहिए + क्योंकि
धर्म-संमूढ-चेताः	धर्म के विषय में =मूढ चित्तवाला +मैं	अहम्	=मैं
		ते	=आपका
त्वाम्	=आपसे	शिष्यः	=शिष्य हूँ
पृच्छामि	=पूछता हूँ कि	त्वाम्	=आपके
यत्	=जो	प्रपन्नम्	=शरणागत हूँ
श्रेयः	=श्रेष्ठ	माम्	=मुझको
स्यात्	=होवे	शाधि	=उपदेश दीजिए

अर्थ—कायरता अथवा आत्मज्ञान के न होने के कारण मेरी बुद्धि मारी गई है, मोह के कारण मैं अपने धर्म (कर्तव्या-कर्तव्य) को भी नहीं जान सकता ; इसलिए जो इस समय कर्तव्य हो, वह करने की इच्छा से, मैं आपसे पूछता हूँ कि

जिससे मेरी भलाई हो वही मुझे निश्चय करके बताइए। मैं आप का शिष्य हूँ; मैं आपकी शरण आया हूँ; मुझे शिक्षा दीजिए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

न, हि, प्रपश्यामि, मम, अपनुद्यात्, यत्, शोकम्, उच्छोषणम्, इन्द्रियाणाम्। अवाप्य, भूमौ, अ-सपत्नम्, ऋद्धम्, राज्यम्, सुराणाम्, अपि, च, आधिपत्यम्।

भूमौ	=पृथिवी पर	अवाप्य	=पाकर
अ-सपत्नम्	=शत्रुरहित (निष्कण्टक)		+मैं ऐसा साधन
		न	=नहीं
ऋद्धम्	=ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न (धन-धान्य-पूर्ण)	प्रपश्यामि	=देखता हूँ
		यत्	=जो
		मम	=मेरी
राज्यम्	=राज्य	इन्द्रियाणाम्	=इन्द्रियों के
च	=और	उच्छोषणम्	=सुखानेवाले
सुराणाम्	=देवताओं के	शोकम्	=(इस) शोक को
अपि	=भी	हि	=निस्संदेह
आधिपत्यम्	=आधिपत्य को	अपनुद्यात्	=दूर कर सके

अर्थ—हे भगवन्! आपसे उपदेश लेने का एक बड़ा

भारी कारण यह भी है कि यदि मैं शत्रुरहित धन-धान्य पूर्ण पृथिवी का मालिक भी हो जाऊँ और इन्द्र आदि देवताओं पर भी मैं शासन करने लगूँ, तो भी मुझे कोई ऐसा साधन या उपाय नज़र नहीं आता, जो मेरी इन्द्रियों के सुखानेवाले इस शोक को दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

एवम्, उक्त्वा, हृषीकेशम्, गुडाकेशः, परंतपः।
न, योत्स्ये, इति, गोविन्दम्, उक्त्वा, तूष्णीम्, बभूव, ह॥

संजय ने कहा—

परंतपः	=शत्रुओं को तपानेवाला और	न	=नहीं
		योत्स्ये	=लड़ूँगा
		इति	=ऐसा
गुडाकेशः	=निद्रा को जीतने-वाला—अर्जुन	गोविन्दम्	=कृष्ण से
		ह	=स्पष्ट
हृषीकेशम्	=श्रीकृष्णचन्द्र से	उक्त्वा	=कहकर
एवम्	=इस प्रकार	तूष्णीम्	=चुप
उक्त्वा	=कहकर (कि मैं)	बभूव	=हो गया

अर्थ—संजय बोला,—"हे धृतराष्ट्र! निद्रा को जीतने-वाला तथा शत्रुओं को तपानेवाला अर्जुन गोविन्द से यह कह कर कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा" चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

तम्, उवाच, हृषीकेशः, प्रहसन्, इव, भारत ।
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, विषीदन्तम्, इदम्, वचः ॥

भारत	=हे राजन् !	प्रहसन् इव	=मुसकराते हुए
उभयोः	=दोनों	हृषीकेशः	=श्रीकृष्ण महाराज
सेनयोः	=सेनाओं के	इदम्	=यह
मध्ये	=बीच में	वचः	=वचन
तम्	=उस	उवाच	=कहने लगे
विषीदन्तम्	=अति दुखित अर्जुन से		

अर्थ—इसके उपरान्त हे राजन् ! हृषीकेश अर्थात् भगवान् कृष्ण ने, दोनों सेनाओं के बीच में, उस दुखी अर्जुन से हँसते हुए इस प्रकार कहा—

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अ-शोच्यान्, अनु-अशोचः, त्वम्, प्रज्ञा-वादान्, च, भाषसे ।
गत-असून्, अ-गत-असून्, च, न, अनुशोचन्ति, पण्डिताः ॥

भगवान् बोले—

अ-शोच्यान्	=जो शोक करने के योग्य नहीं हैं उनका	त्वम्	=तू
		अनु-अशोचः	=शोक करता है
		च	=और

प्रज्ञा-वादान्	=पण्डितों की तरह बातें		+ और
भाषसे	=कहता है	अ-गत-असून्	=जीते हुओं (जीवितों) के लिए
पण्डिताः	=पण्डित लोग	न, अनुशोचन्ति	= शोक नहीं करते
गत-असून्	=मरे हुओं		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो शोक करने योग्य नहीं, उनका तू शोक करता है और पण्डितों की सी बातें कहता है ; किन्तु पण्डित लोग मरे हुए अथवा जीते हुए किसी भी प्राणी के लिए शोक नहीं करते ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न, तु, एव, अहम्, जातु, न, आसम्, न, त्वम्, न, इमे, जन-अधिपाः । न, च, एव, न, भविष्यामः, सर्वे, वयम्, अतः, परम् ॥

तु	=और	न	=नहीं
एव	=ऐसा		+था
न	=नहीं है (कि)	इमे	=ये
अहम्	=मैं	जन-अधिपाः	=राजा लोग
जातु	=कभी	न	=नहीं
न	=नहीं		+थे
आसम्	=था	च	=और
	+या	न	=न
त्वम्	=तू	एव	=ऐसा ही है

	+ कि	सर्वे	=सब
अतः	=इसके	न	=नहीं
परम्	=बाद	भविष्यामः	=रहेंगे
वयम्	=हम		

अर्थ—मैं, तू और ये राजा लोग पहिले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है ; और इसी तरह इस शरीर के छूटने पर हम सब लोग न रहेंगे, ऐसा भी नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा
तथा, देह-अन्तर-प्राप्तिः, धीरः, तत्र, न, मुह्यति ॥

यथा	=जैसे	देह-अन्तर-प्राप्तिः	= एक देह के बाद दूसरे देह की प्राप्ति होती है
देहिनः	=जीवात्मा का	तत्र	=उस विषय में
अस्मिन्	=इस	धीरः	=धीर (बुद्धिमान्) पुरुष को
देहे	=देह में	न मुह्यति	=मोह नहीं होता है
कौमारम्	=बचपन		
यौवनम्	=जवानी		
	+और		
जरा	=बुढ़ापा होता है		
तथा	=वैसे ही		

अर्थ—जिस प्रकार जीव इस शरीर में बालपन, जवानी और बुढ़ापे का अनुभव करता है, उसी प्रकार वह एक देह छोड़कर दूसरा देह बदलता है। धीर पुरुष इस बात में मोह

नहीं करते अर्थात् एक देह के नाश होने पर अथवा नए के प्राप्त होने पर न तो घबराते हैं और न शोक करते हैं, क्योंकि जीव अर्थात् आत्मा नित्य, अचल, निर्विकार और अविनाशी है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रा-स्पर्शाः, तु, कौन्तेय, शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः।
आगम-अपायिनः, अनित्याः, तान्, तितिक्षस्व, भारत ॥

तु	=और
कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र !
मात्रा-स्पर्शाः	=इन्द्रियों के साथ विषयों के सम्बन्ध ही
शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः	सर्दी-गर्मी एवं =सुख-दुःख के देनेवाले हैं
आगम-अपायिनः	=(जो) आने-जानेवाले अर्थात् क्षण-भंगुर +और
अनित्याः	=नाशवान् हैं +इसलिए
भारत	=हे अर्जुन !
तान्	=उनके संयोग-वियोग को
तितिक्षस्व	=(तू) सहनकर

अर्थ—हे कुन्ती-पुत्र ! इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध होने से ही सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख होते हैं। वे सब आने-जानेवाले अर्थात् क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं। हे अर्जुन ! तू उनको सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

यम्, हि, न, व्यथयन्ति, एते, पुरुषम्, पुरुष-ऋषभ ।
सम-दुःख-सुखम्, धीरम्, सः, अमृतत्वाय, कल्पते ॥

हि	=क्योंकि	पुरुषम्	=पुरुष को
पुरुष-ऋषभ	=हे पुरुषों मे श्रेष्ठ अर्जुन !	एते	=ये (विषय)
सम-दुःख-सुखम्	=सुख-दुःख को समान समझनेवाले	न व्यथयन्ति	=नहीं सताते हैं
यम्	=जिस	सः	=वह मनुष्य
धीरम्	=बुद्धिमान्	अमृतत्वाय	=मोक्ष के लिए
		कल्पते	=योग्य समझा जाता है

अर्थ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस ज्ञानी पुरुष को ये इन्द्रियों के विषय दुःख नहीं पहुँचाते, जो सुख और दुःख को समान समझता है, वह निस्सन्देह मोक्ष पाने का अधिकारी हो जाता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६ ॥

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः ।
उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्व-दर्शिभिः ॥

असतः	=असत् का	न विद्यते	=नहीं होता है
भावः	=भाव (अस्तित्व)	तु	=और

सतः	=सत् का	अपि	=भी
अभावः	=अभाव	अन्तः	=सार या तत्त्व
न विद्यते	=नहीं होता है	तत्त्व-दर्शिभिः	=तत्त्वदर्शी पुरुषों द्वारा
अनयोः	=इन		
उभयोः	=दोनों का	दृष्टः	=देखा गया है

अर्थ—हे अर्जुन ! असत् जो देहादिक वस्तु हैं उनका भाव नहीं होता, अर्थात् वे नित्य स्थिर नहीं रहतीं और सत् जो निर्विकार अचल आत्मा है उसका अभाव यानी नाश नहीं होता। तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों का अन्त अर्थात् भेद भले प्रकार अनुभव किया है। मतलब यह है कि यह शरीर असत् है—यथार्थ में नहीं है—इसीलिए नाशवान् है ; किन्तु आत्मा सत् है—यथार्थ में है—इसी से उसका कभी नाश नहीं होता। सत् वस्तु का नाश नहीं है और असत् वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है। आत्मा सत् है इसलिए उसका कभी नाश नहीं होता, बाक़ी सब असत् हैं अतः वे सभी नाशवान् हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्।
विनाशम्, अ-व्ययस्य, अस्य, न, कश्चित्, कर्तुम्, अर्हति ॥

तु	=और	विद्धि	=(तू) जान
तत्	=उसको	येन	=जिससे
अविनाशि	=अविनाशी	इदम्	=यह

सर्वम्	=सब (अखिल विश्व)		अविनाशी का
ततम्	=व्याप्त है	विनाशम्	=नाश
अस्य	=इस	कर्तुम्	=करने को
अ-व्ययस्य	=न घटनेवाले या	कश्चित्	=कोई भी
		न अर्हति	=समर्थ नहीं है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है अर्थात् जो इस तमाम दुनिया और आकाश में छा रहा है उसे तू अविनाशी जान ; उसे ही तू आत्मस्वरूप ब्रह्म समझ । उस अविनाशी ब्रह्म का कोई भी नाश नहीं कर सकता ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तवन्तः, इमे, देहाः, नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः ।
अ-नाशिनः, अ-प्रमेयस्य, तस्मात, युध्यस्व, भारत ॥

इमे	=ये (नाम-रूपात्मक)		प्रमाणरहित
अन्तवन्तः	=नाशवान्	शरीरिणः	=जीवात्मा की (ही)
देहाः	=देहें	उक्ताः	=कही गई हैं
नित्यस्य	=नित्य	तस्मात्	=इसलिए
अ-नाशिनः	=अविनाशी	भारत	=हे अर्जुन ! (तू)
अ-प्रमेयस्य	=अप्रमेय या	युध्यस्व	=युद्ध कर

अर्थ—मनुष्य दो वस्तुओं का बना हुआ दिखाई देता है, एक आत्मा (सत्, अर्थात् नित्य वस्तु) और दूसरी अनात्मा (असत् अर्थात् अनित्य वस्तु), आत्मा, जैसा ऊपर कहा

गया है, अविनाशी है ; और यह देह नाशवान् और अनित्य है। जब यह देह नाशवान् है ; तो फिर शोक और मोह कैसा ! मतलब यह है कि इस देह में रहनेवाला आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय अर्थात् प्रमाण-रहित या स्वतःसिद्ध है ; किन्तु यह शरीर नाशवान् है इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यः, एनम्, वेत्ति, हन्तारम्, यः, चं, एनम्, मन्यते, हतम्। उभौ, तौ, न, विजानीतः, न, अयम्, हन्ति, न, हन्यते॥

यः	=जो	उभौ	=दोनों ही
एनम्	=इस शरीरधारी जीव (आत्मा) को	न	=नहीं
		विजानीतः	=जानते हैं +क्योंकि
हन्तारम्	=मारनेवाला	अयम्	=यह (शरीरधारी जीव) आत्मा
वेत्ति	=समझता है		
च	=और		
यः	=जो	न	=न तो (किसी को)
एनम्	=इस आत्मा को	हन्ति	=मारता है +और
हतम्	=मरा हुआ		
मन्यते	=मानता है	न	=न (किसी से)
तौ	=वे	हन्यते	=मारा जाता है

अर्थ—जो यह समझता है कि आत्मा मारनेवाला है तथा जो इसको मरा हुआ जानता है, वे दोनों (पुरुष) अज्ञानी

अर्थात् मूर्ख हैं। यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी से मारा ही जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न, जायते, म्रियते, वा, कदाचित्, न, अयम्, भूत्वा, भविता, वा, न, भूयः। अजः, नित्यः, शाश्वतः, अयम्, पुराणः, न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे ॥

अयम्	=यह आत्मा	भविता	=होगा
कदाचित्	=किसी समय में भी		+क्योंकि
न जायते	=न तो जन्म लेता है	अयम्	=यह
वा	=और	अजः	=अजन्मा (जन्म-रहित)
न	=न	नित्यः	=नित्य
म्रियते	=मरता है	शाश्वतः	=एक समान रहनेवाला
वा	=अथवा		+और
	+ ऐसा भी नहीं है कि	पुराणः	=सनातन (सब का आदि कारण) है
भूत्वा	=हो करके		+तथा
भूयः	=फिर		
न	=न		

शरीरे	=शरीर के		+यह आत्मा
हन्यमाने	=नाश होने पर भी	न हन्यते	=नाश नहीं होता

अर्थ—हे अर्जुन ! यह आत्मा न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। इसी प्रकार ऐसा भी कभी नहीं होता कि वह पहले न हो और बाद को हो, या पहले हो और बाद को न हो। यह अजन्मा, नित्य, सदा एक समान रहनेवाला और सनातन है अर्थात् यह आत्मा सदा रहनेवाला और सबका आदि कारण है । शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

वेद, अविनाशिनम्, नित्यम्, यः, एनम्, अजम्, अव्ययम्।
कथम्, सः, पुरुषः, पार्थ, कम्, घातयति, हन्ति, कम्॥

यः	=जो	पार्थ	=हे अर्जुन !
एनम्	=इसको यानी इस आत्मा को	सः	=वह
		पुरुषः	=पुरुष
अविनाशिनम्	=अविनाशी	कथम्	=कैसे
नित्यम्	=नित्य	कम्	=किसको
अजम्	=अजन्मा	घातयति	=मरवाता है ?
अव्ययम्	=अव्यय यानी निर्विकार		+और
		कम्	=किसको
वेद	=जानता है	हन्ति	=मारता है ?

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी,

नित्य, अजन्मा और निर्विकार जानता है वह किसी को कैसे मरवा सकता है या मार सकता है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति, नरः, अपराणि। तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि, अन्यानि, संयाति, नवानि, देही ॥

यथा	=जिस प्रकार	**देही**	=देही अर्थात् जीवात्मा
नरः	=मनुष्य	**जीर्णानि**	=पुराने
जीर्णानि	=पुराने	**शरीराणि**	=शरीरों को
वासांसि	=कपड़ों को	**विहाय**	=छोड़कर
विहाय	=छोड़कर	**अन्यानि**	=दूसरे
अपराणि	=दूसरे	**नवानि**	=नये (शरीरों) को
नवानि	=नये कपड़ों को	**संयाति**	=प्राप्त होता है
गृह्णाति	=ग्रहण करता है		
तथा	=उसी प्रकार		

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर नये कपड़े धारण करता है, उसी प्रकार शरीर में रहनेवाला—आत्मा—पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है ।

व्याख्या—कपड़े ही पुराने होते, फटते और मैले होते हैं; किन्तु उनका पहननेवाला न पुराना होता है और न मरता है; उसी तरह शरीर ही पैदा होता है, शरीर ही घटता-बढ़ता, दुर्बल होता और उसी का नाश होता है, किन्तु शरीर रूपी कपड़े के पहिननेवाले आत्मा में कोई तब्दीली नहीं होती। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि शरीर और इन्द्रिय आदि से आत्मा अलग है। वह नित्य अविनाशी और सब विकारों से रहित है। हे अर्जुन! फिर तुझे युद्ध करने में भय और शोक कैसा?

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

न, एनम्, छिन्दन्ति, शस्त्राणि, न, एनम्, दहति, पावकः।
न, च, एनम्, क्लेदयन्ति, आपः, न, शोषयति, मारुतः॥

एनम्	=इस आत्मा को	आपः	=जल
शस्त्राणि	=शस्त्र	न	=नहीं
न	=नहीं	क्लेदयन्ति	=गला सकता है
छिन्दन्ति	=काट सकते हैं	च	=और
एनम्	=इसको		+ इसको
पावकः	=आग	मारुतः	=वायु
न	=नहीं	न	=नहीं
दहति	=जला सकती है	शोषयति	=सुखा सकता है
एनम्	=इसको		

अर्थ—हे अर्जुन! शस्त्र इसे छेद नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अ-च्छेद्यः, अयम्, अ-दाह्यः, अयम्, अ-क्लेद्यः, अ-शोष्यः, एव, च ।
नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, अयम्, सनातनः ॥

अयम्	=यह जीवात्मा
अ-च्छेद्यः	=न काटने योग्य है
अयम्	=यह
अ-दाह्यः	=न जलाने योग्य है
	+यह
अ-क्लेद्यः	=न गलाने योग्य है
च	=और
अ-शोष्यःएव	=न शोषण (सुखाने) योग्य ही है
अयम्	=यह
नित्यः	=नित्य
सर्वगतः	=सर्वव्यापक
स्थाणुः	=स्थिर
अचलः	=अचल
	+और
सनातनः	=सनातन (अनादि) है

अर्थ—यह न तो काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न जल डालकर गलाया जा सकता है और न वायु द्वारा सोखा जा सकता है। यह नित्य है, सर्वव्यापक है, अटल है, इसलिए अचल है। यह किसी कारण से पैदा नहीं हुआ है, नया नहीं है; अतएव सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्तः, अयम्, अचिन्त्यः, अयम्, अविकार्यः, अयम्, उच्यते।
तस्मात्, एवम्, विदित्वा, एनम्, न, अनुशोचितुम्, अर्हसि ॥

अयम्	=यह आत्मा	तस्मात्	=इसलिए
अव्यक्तः	=अप्रकट या मूर्ति-रहित	एनम्	=इस आत्मा को
		एवम्	=इस प्रकार
अयम्	=यह आत्मा	विदित्वा	=जानकर
अचिन्त्यः	=अचिन्त्य		+तू
अयम्	=यह आत्मा	अनुशोचितुम्	=शोक करने के
अविकार्यः	=विकाररहित		
उच्यते	=कहा जाता है	न अर्हसि	=योग्य नहीं है

अर्थ—यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् अप्रकट या मूर्ति-रहित है। यह अचिन्त्य है अर्थात् इसकी सूरत ध्यान में नहीं आ सकती ; यह अविकार्य है अर्थात् आत्मा में विकार या फेरफार नहीं होता ; इसलिए इस आत्मा को ऐसा समझकर तुझे शोक न करना चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथ, च, एनम्, नित्य-जातम्, नित्यम्, वा, मन्यसे, मृतम्।
तथा, अपि, त्वम्, महाबाहो, न, एवम्, शोचितुम्, अर्हसि ॥

च	=और		जीवात्मा) को
अथ	=अगर	नित्य-जातम्	=नित्य जन्मता हुआ
	+ तू		
एनम्	=इस (देहधारी	वा	=और

नित्यम्	=नित्य (सदा)	महाबाहो	=हे बड़ी भुजाओं-वाले अर्जुन !
मृतम्	=मरता हुआ	एवम्	=इस प्रकार
मन्यसे	=मानता है	शोचितुम्	=शोक करना
तथा, अपि	=तो भी	न अर्हसि	=उचित नहीं है
त्वम्	=तुझे		

अर्थ—और यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्म लेनेवाला और नित्य मरनेवाला मानता है, तो भी हे अर्जुन ! तुझे इस प्रकार शोक न करना चाहिए ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जातस्य, हि, ध्रुवः, मृत्युः, ध्रुवम्, जन्म, मृतस्य, च ।
तस्मात्, अपरिहार्ये, अर्थे, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि ॥

हि	=क्योंकि		(यह निश्चय है)
जातस्य	=जन्मे हुए की	तस्मात्	=इसलिए
मृत्युः	=मृत्यु	अपरिहार्ये	=न टलनेवाली (अमिट)
ध्रुवः	=निश्चित है		
च	=और	अर्थे	=बात में
मृतस्य	=मरे हुए का	त्वम्	=तू
जन्म	=जन्म	शोचितुम्	=शोक करने के
ध्रुवम्	=अवश्य होता है	न अर्हसि	=योग्य नहीं

अर्थ—जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी और जो मर गया है वह अवश्य ही जन्म लेगा ;

इसलिए तुझे इस अमिट या न टलनेवाली बात पर शोक करना उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

अव्यक्त-आदीनि, भूतानि, व्यक्त-मध्यानि, भारत।
अव्यक्त-निधनानि, एव, तत्र, का, परिदेवना॥

भारत	=हे अर्जुन!		दिखाई देते हैं)
भूतानि	=भूतों (प्राणियों या पदार्थों) का	अव्यक्त-निधनानि एव	=अन्त फिर अव्यक्त है (यानी मरने के बाद फिर नहीं दीखते)
अव्यक्त-आदीनि	=आदि अव्यक्त है (यानी आरम्भ में किसी को दिखाई नहीं देते)	तत्र	=ऐसों के लिए अथवा उनके विषय में
		का	=क्या
व्यक्त-मध्यानि	=मध्य व्यक्त है (यानी बीच में	परिदेवना	=शोक है?

अर्थ—हे अर्जुन! भूतों (प्राणियों या पदार्थों) का आदि अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है और उनका अन्त फिर अव्यक्त है, इसलिए उनके विषय में विलाप कैसा? मतलब यह कि ये प्राणी प्रारम्भ में किसी को दिखाई नहीं देते, बीच में दिखाई देते हैं और अन्त में मरने के बाद फिर नहीं दीखते। ऐसों के लिए शोक करने की क्या जरूरत है?

व्याख्या—ये सब प्राणी अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी इन पाँच तत्त्वों के मेल से बने हैं। पैदा होने के पहले ये हमें नज़र नहीं आते थे। अब हम इन्हें देखते हैं। इसी तरह नाश होने पर हमें फिर न दीखेंगे। जो चीज़ आदि और अन्त में न दीखे, ख़ाली बीच में दीखे, उसे वास्तव में कुछ न समझना चाहिए। स्त्री, पुत्र, बाप, दादे, बेटे, पोते आदि स्वप्नवत् हैं। इस समय तू इन्हें देख रहा है। पहले तूने इन्हें कभी न देखा था और मरने के बाद तू इन्हें फिर न देखेगा! ये अनित्य और नाशवान् हैं। यह पाँच तत्त्वों से बना शरीर नाश होने पर इन्हीं में मिल जायगा। इसलिए इसे रस्सी के साँप के समान झूठा समझकर हरगिज़ रंज न कर।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

आश्चर्यवत्, पश्यति, कश्चित्, एनम्, आश्चर्यवत्, वदति, तथा, एव, च, अन्यः। आश्चर्यवत्, च, एनम्, अन्यः, शृणोति, श्रुत्वा, अपि, एनम्, वेद, न, च, एव, कश्चित् ॥

कश्चित्	=कोई	तथा एव	=वैसे ही
एनम्	=इस आत्मा को	अन्यः	=कोई
आश्चर्यवत्	=आश्चर्य की नाईं	एनम्	=इसको
		आश्चर्यवत्	=आश्चर्य ज्यों
पश्यति	=देखता है	वदति	=कहता है
च	=और	च	=और

अन्यः	=कोई
एनम्	=इसको
आश्चर्यवत्	=आश्चर्य की नाईं
शृणोति	=सुनता है
च	=और
श्रुत्वा	=सुनकर
अपि	=भी
एनम्	=इस आत्मा को
कश्चित्	=कोई
वेद	=जान
एव न	=नहीं सकता

अर्थ—हे अर्जुन ! इस आत्मा को कोई आश्चर्यजनक चीज़ की तरह देखता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़ की तरह कहता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़ की तरह सुनता है; सुनकर भी कोई इसको ठीक-ठीक समझ नहीं पाता अर्थात् कोई विरला ही इसे ठीक तरह से समझ पाता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देही, नित्यम्, अवध्यः, अयम्, देहे, सर्वस्य, भारत।
तस्मात्, सर्वाणि, भूतानि, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि।

भारत	=हे अर्जुन !
अयम्	=यह
देही	=जीवात्मा
सर्वस्य	=सबके
देहे	=शरीर में
नित्यम्	=नित्य ही
अवध्यः	=अवध्य है (कभी मारे जानेवाला नहीं है)
तस्मात्	=इसलिए
सर्वाणि	=सब
भूतानि	=प्राणियों के लिए
त्वम्	=तू
शोचितुम्	=शोक करने के
अर्हसि	=योग्य
न	=नहीं है

अर्थ—हे अर्जुन ! सब प्राणियों के शरीर में रहनेवाला आत्मा सदा अवध्य (कभी न मारा जा सकनेवाला) है; इसलिए तुझे किसी भी प्राणी के लिए शोक न करना चाहिए ।

व्याख्या—किसी भी प्राणी के शरीर का नाश क्यों न हो जाय, किन्तु इस आत्मा का नाश कभी नहीं होता ; क्योंकि यह अजर, अमर और निर्विकार है । इसलिए आत्मा के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं । रहा शरीर, यह एक न एक दिन ज़रूर नष्ट होगा, अतएव इसके लिए भी शोक करने की ज़रूरत नहीं है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्व-धर्मम्, अपि, च, अवेक्ष्य, न, विकम्पितुम्, अर्हसि ।
धर्म्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते ॥

च	=और	**हि**	=निश्चय ही
स्व-धर्मम्	=अपने धर्म को	**धर्म्यात्**	=धर्मयुक्त
अपि	=भी	**युद्धात्**	=युद्ध से बढ़कर
अवेक्ष्य	=देख करके	**अन्यत्**	=और कोई (काम)
विकम्पितुम्	=काँपने (डोलने) के	**क्षत्रियस्य**	=क्षत्रिय के लिए
अर्हसि	=योग्य + तू	**श्रेयः**	=श्रेष्ठ
		न	=नहीं
न	=नहीं है	**विद्यते**	=है

अर्थ—और अपने क्षत्रिय-धर्म को देखकर भी तुझे युद्ध करने से विचलित न होना चाहिए ; क्योंकि क्षत्रियों के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई उत्तम कर्म नहीं है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यदृच्छया, च, उपपन्नम्, स्वर्ग-द्वारम्, अपावृतम् ।
सुखिनः, क्षत्रियाः, पार्थ, लभन्ते, युद्धम्, ईदृशम् ॥

च	=और	ईदृशम्	=ऐसे
अपावृतम्	=खुला हुआ	युद्धम्	=युद्ध को
स्वर्ग-द्वारम्	=स्वर्ग का दरवाज़ा	सुखिनः	=भाग्यवान्
यदृच्छया	=अपने आप	क्षत्रियाः	=क्षत्रिय
उपपन्नम्	=प्राप्त हुआ है		+ही
पार्थ	=हे अर्जुन!	लभन्ते	=पाते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध करने का ऐसा सु-अवसर स्वर्ग का दरवाज़ा है। ऐसा मौक़ा बड़े भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं; यानी युद्ध-भूमि में लड़कर मरने से क्षत्रिय सीधा बिना रोक-टोक स्वर्ग में चला जाता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ, चेत्, त्वम्, इमम्, धर्म्यम्, संग्रामम्, न, करिष्यसि ।
ततः, स्व-धर्मम्, कीर्तिम्, च, हित्वा, पापम्, अवाप्स्यसि ॥

अथ	=और	धर्म्यम्	=धर्मरूप
चेत्	=अगर	संग्रामम्	=संग्राम को
त्वम्	=तू	न	=नहीं
इमम्	=इस	करिष्यसि	=करेगा

ततः	=तो	हित्वा	=त्यागकर
स्व-धर्मम्	=अपने धर्म	पापम्	=पाप को
च	=और	अवाप्स्यसि	=प्राप्त होगा
कीर्तिम्	=कीर्ति को		

अर्थ—और अगर तू इस धर्मरूप संग्राम में नहीं लड़ेगा, तो अपने क्षत्रिय-धर्म और कीर्ति को खोकर पाप का भागी बनेगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अकीर्तिम्, च, अपि, भूतानि, कथयिष्यन्ति, ते, अव्ययाम्। सम्भावितस्य, च, अकीर्तिः, मरणात्, अतिरिच्यते ॥

च	=और		(करते रहेंगे)
भूतानि	=प्राणीमात्र यानी सब लोग	च	=और
ते	=तेरा	संभावितस्य	=माननीय पुरुष की
अव्ययाम्	=निरन्तर	अकीर्तिः	=निन्दा
अकीर्तिम्	=अपयश	मरणात्	=मरने से +कहीं
अपि	=भी (ही)		
कथयिष्यन्ति	=कहेंगे	अतिरिच्यते	= बढ़कर होती है

अर्थ—और लोग सदा तेरी निन्दा ही किया करेंगे। माननीय (प्रतिष्ठावान्) पुरुष के लिए अपयश मृत्यु से कहीं बढ़कर होता है, अर्थात् भले आदमी के लिए बदनामी उठाने से मरना कहीं अच्छा है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भयात्, रणात्, उपरतम्, मंस्यन्ते, त्वाम्, महारथाः ।
येषाम्, च, त्वम्, बहुमतः, भूत्वा, यास्यसि, लाघवम् ॥

	+ हे अर्जुन !	त्वम्	=तू
महारथाः	=शूरवीर लोग		+आज तक
त्वाम्	=तुझको	बहुमतः	=बहुत माननीय
भयात्	=भय के कारण	भूत्वा	=होकर (रहा)
रणात्	=रण से		+उनके सामने तू
उपरतम्	=हटा हुआ या भागा हुआ	लाघवम्	=लघुता को (छुटाई को)
मंस्यन्ते	=समझेंगे	यास्यसि	=प्राप्त होगा .
च	=और		
येषाम्	=जिनका		

अर्थ—हे अर्जुन ! महारथी लोग समझेंगे कि तू भय के कारण रणभूमि से भाग गया है । जो लोग आज तेरा मान करते हैं, उन्हीं की नजरों में तू नीचा हो जायगा ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अवाच्य-वादान्, च, बहून्, वदिष्यन्ति, तव, अ-हिताः ।
निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यम्, ततः, दुःखतरम्, नु, किम् ॥

च	=और	अवाच्य-वादान्	=अपशब्द (अनुचित वचन)
तव	=तेरे	वदिष्यन्ति	=कहेंगे
अ-हिताः	=शत्रु	ततः	=उससे
तव	=तेरे	दुःखतरम्	=अधिक दुःख
सामर्थ्यम्	=पराक्रम की	नु	=फिर (और)
निन्दन्तः	=निन्दा करते हुए		+ तुझे
बहून्	=बहुत से	किम्	=क्या होगा ?

अर्थ—तेरे शत्रु तेरे बल की निन्दा करते हुए, तेरे लिए बहुत से अपशब्द (कायर, डरपोक आदि) कहेंगे और तरह-तरह की बातें सुनावेंगे, इससे अधिक दुःख और तुझे क्या होगा ?।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हतः, वा, प्राप्स्यसि, स्वर्गम्, जित्वा, वा, भोक्ष्यसे, महीम्।
तस्मात्, उत्तिष्ठ, कौन्तेय, युद्धाय, कृत-निश्चयः ॥

वा	=अगर		(राज्य)
	+ तू	भोक्ष्यसे	=भोगेगा
हतः	=मारा गया (तो)	तस्मात्	=इसलिए
स्वर्गम्	=स्वर्ग को	कौन्तेय	=हे अर्जुन !
प्राप्स्यसि	=प्राप्त होगा		+ तू
वा	=या	युद्धाय	=युद्ध के लिए
जित्वा	=जीतकर	कृत-निश्चयः	= निश्चय करके
महीम्	=पृथिवी का	उत्तिष्ठ	=उठ खड़ा हो

अर्थ—अगर तू युद्ध में मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, और अगर जीत गया तो पृथिवी का राज्य भोगेगा। इसलिए हे अर्जुन! युद्ध के लिए पक्का विचार करके तू उठ खड़ा हो।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख-दुःखे, समे, कृत्वा, लाभ-अलाभौ, जय-अजयौ।
ततः, युद्धाय, युज्यस्व, न, एवम्, पापम्, अवाप्स्यसि ॥

सुख-दुःखे	=सुख-दुःख	युद्धाय	=युद्ध के लिए
लाभ-अलाभौ	=लाभ-हानि	युज्यस्व	=तैयार हो जा
	+ और	एवम्	=ऐसा करने से
जय-अजयौ	=जीत-हार को		+ तू
समे	=समान	पापम्	=पाप को
कृत्वा	=समझकर	न	=नहीं
ततः	=उसके बाद	अवाप्स्यसि	=प्राप्त होगा

अर्थ—किसी प्रकार की लाभ-हानि, हार-जीत और सुख-दुःख की इच्छा से युद्ध मत कर, बल्कि इन सबको समान जानते हुए, युद्ध को अपना धर्म समझकर युद्ध करने की तैयारी कर। इस प्रकार युद्ध करने से तू किसी प्रकार के पाप का भागी न होगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९॥

एषा, ते, अभिहिता, सांख्ये, बुद्धिः, योगे, तु, इमाम्, शृणु ।
बुद्धया, युक्तः, यया, पार्थ, कर्म-बन्धम्, प्रहास्यसि ॥

एषा	=यह	**यया**	=जिस
ते	=तुझसे	**बुद्धया**	=बुद्धि से
सांख्ये	=आत्म-तत्त्व-विषय का	**युक्तः**	=युक्त हुआ
बुद्धिः	=ज्ञान	**पार्थ**	=हे अर्जुन ! + तू कर्म करता हुआ भी
अभिहिता	=कहा गया		
तु	=अब	**कर्म-बन्धम्**	= कर्मों के बन्धन से
योगे	=कर्मयोगविषय में	**प्रहास्यसि**	=छुटकारा पा जायगा
इमाम्	=इस ज्ञान को		
शृणु	=तू सुन		

अर्थ—यह मैंने तुझे आत्म-ज्ञान बताया । अब कर्मयोग-विषय में तू सुन ; जिस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर, हे अर्जुन ! तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मबन्धनों से छुटकारा पा जायगा ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

न, इह, अभिक्रम-नाशः, अस्ति, प्रत्यवायः, न, विद्यते ।
स्वल्पम्, अपि, अस्य, धर्मस्य, त्रायते, महतः, भयात् ॥

इह	=इस समत्व निष्काम कर्मयोग में	**अभिक्रम-नाशः**	प्रारम्भ का नाश =(जो कुछ भी

	किया जाय उस-का नाश)	न	=नहीं
		विद्यते	=होता
न	=नहीं	अस्य	=इस
अस्ति	=है	धर्मस्य	=धर्म का
	+ और	स्वल्पम् अपि	=थोड़ा भी आ-चरण
प्रत्यवायः	=(विधि का उल्लंघन करने से)	महतः	=बड़े भारी
	उलटा परिणाम	भयात्	=भय से
	या पाप (भी)	त्रायते	=बचा देता है

अर्थ—इस निष्काम कर्मयोग में जो कुछ भी किया जाता है वह बेकार नहीं जाता और न विधि का उल्लंघन करने से इस में उलटा पाप ही लगता है। यह धर्म किसी भी अंश में किया जाय, जन्ममृत्युरूप महान् भय से उद्धार कर देता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसाय-आत्मिका, बुद्धिः, एका, इह, कुरु-नन्दन।
बहु-शाखाः, हि, अनन्ताः, च, बुद्धयः, अ-व्यवसायिनाम् ॥

कुरु-नन्दन	=हे अर्जुन !		करनेवाला
इह	=इस मोक्ष-मार्ग में	बुद्धिः	=ज्ञान
		एका, हि	=एक ही है
व्यवसाय-आत्मिका	आत्मा के =विषय में निश्चय	अ-व्यव-सायिनाम्	अज्ञानी पुरुषों =की

बुद्धयः	=बुद्धियाँ	अनन्ताः	=अनन्त प्रकार की होती हैं
बहु-शाखाः	=बहुत भेदवाली		
च	=और		

अर्थ—हे अर्जुन ! इस मोक्ष-मार्ग में आत्मा के विषय में निश्चय करनेवाली बुद्धि तो एक ही है, किन्तु जिनका निश्चय दृढ़ नहीं है, उनकी नाना प्रकार की शाखावाली अनन्त बुद्धियाँ हैं ।

व्याख्या—जो निश्चलमति हैं उसकी बुद्धि एक ही है। वह योग-मार्ग पर चलकर अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर, आत्मज्ञान की प्राप्ति करता है और अन्त में सब झंझटों से छुटकारा पा परमानन्द-स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। लेकिन जिसका निश्चय दृढ़ नहीं है, जो चञ्चलमति है वह अनेक राहों में भटकता रहता है और सदा संसार-बन्धन में बँधा रहता है ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

याम्, इमाम्, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अ-विपश्चितः ।
वेद-वाद-रताः, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिनः ॥
काम-आत्मानः, स्वर्ग-पराः, जन्म-कर्म-फल-प्रदाम् ।
क्रिया-विशेष-बहुलाम्, भोग-ऐश्वर्य-गतिम्, प्रति ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !
वेद-वाद-रताः	=वेदों के रोचक वाक्यों में प्रीति रखनेवाले
अ-विपश्चितः	=अविवेकी पुरुष
जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्	=जन्मरूप कर्म-फल को देने-वाली
क्रिया-विशेष-बहुलाम्	=बहुत से कर्म-काण्डों के प्रपंच करानेवाली
भोग-ऐश्वर्य-गतिम् प्रति	=भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए
याम्	=जो
इमाम्	=इस प्रकार की
पुष्पिताम्	=सुहावनी
वाचम्	=वाणी
प्रवदन्ति	=बोलते हैं कि + इससे अधिक
अन्यत्	=और कुछ
न अस्ति	=नहीं है
इति	=ऐसा
वादिनः	=कहनेवाले पुरुष
काम-आत्मानः	=कामी (विषयी) + और
स्वर्ग-पराः	=स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ माननेवाले हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! जो वेदों के रोचक वाक्यों पर मोहित हैं, जो कहते हैं कि इस वेद-वाद के सिवा और कुछ नहीं है, जो कामी अर्थात् इच्छा से भरे हुए हैं, जो स्वर्ग ही को परम श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वे अविवेकी अर्थात् मूर्ख हैं। वे कहते हैं कि कर्मों के फल से जन्म मिलता है यानी इसी कारण से मनुष्य इस लोक में वारंवार जन्म लेते और मरते हैं तथा अमुक-अमुक क्रियाओं के करने से इस संसार में सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्, तया, अपहृत-चेतसाम् ।
व्यवसाय-आत्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते ॥

तया	=उस सुहावनी वाणी से		हुए चित्तवालों की
अपहृत-चेतसाम्	जिनका चित्त =हर लिया गया है ऐसे	व्यवसाय-आत्मिका	=निश्चयात्मक
		बुद्धिः	=बुद्धि
भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्	भोग और =ऐश्वर्य में फँसे	समाधौ	=ईश्वर ध्यान में
		न विधीयते	=स्थिर नहीं होती

अर्थ—जिनका चित्त ऐसी मीठी-मीठी बातों से बहँका हुआ है, और जो भोग और ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं, ऐसे पुरुषों की निश्चयात्मक बुद्धि ईश्वर-ध्यान में स्थिर नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रै-गुण्य-विषयाः, वेदाः, निस्-त्रै-गुण्यः, भव, अर्जुन ।
निर्-द्वन्द्वः, नित्य-सत्त्व-स्थः, निर्-योग-क्षेमः, आत्मवान् ॥

त्रै-गुण्य-विषयाः	तीनों गुणों =(सत्त्व, रज	और तम) के विषयवाले

वेदाः	=वेद हैं	नित्य-सत्त्व-स्थः	सदा सत्त्व-गुण =में स्थित और
	+ इसलिए	निर्-योग-क्षेमः	योग-क्षेम यानी =अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा करने के ख़्याल से रहित होकर
अर्जुन	=हे अर्जुन !	आत्मवान्	=अपने (असली स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर
निस्-त्रै-गुण्यः	=तीनों गुणों से रहित अर्थात् निष्काम या गुणातीत		
भव	=हो		
निर्-द्वन्द्वः	=सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित		

अर्थ—वेदों में सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीन गुणों के कार्य का वर्णन है। हे अर्जुन ! तू इन तीनों गुणों से अलग हो जा यानी स्वर्गादि फल की इच्छा से रहित हो जा। सुख-दुःख, जीत-हार, पुण्य-पाप आदि द्वन्द्वों का ख़याल मत कर। सदा सत्त्व में स्थित हो अर्थात् कायर या अज्ञानी न बनकर हर घड़ी परमात्मा का ध्यान कर। योगक्षेम से रहित हो अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसके प्राप्त करने की और जो है उसकी रक्षा करने की चिंता मत कर। आत्मवान् या प्रमादरहित हो अर्थात् संसारी विषयों में न फँसकर और ईश्वर को अपना मालिक समझकर निरन्तर उसी के ध्यान में रह।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यावान्, अर्थः, उद-पाने, सर्वतः, संप्लुत-उदके ।
तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः ॥

यावान्	=जितना
अर्थः	=प्रयोजन
उद-पाने	=छोटे-छोटे जलाशयों में अर्थात् जगह-जगह भ्रमण करने से सिद्ध होता है
तावान्	=उतना ही
सर्वतः	=सब ओर से
संप्लुत-उदके	=भरे हुए समुद्र में (एक ही जगह सिद्ध हो जाता है) + उसी तरह
सर्वेषु, वेदेषु	=सब वेदों में अर्थात् समस्त वेदोक्त कर्मों से जो आनन्द प्राप्त होता है उतना ही या उससे भी बढ़कर
विजानतः	=परमार्थ तत्त्व को जाननेवाले
ब्राह्मणस्य	=परमहंस ब्रह्म-विज्ञानी ब्राह्मण को प्राप्त होता है

अर्थ—जितना मतलब तालाब, बावड़ी, कूप और नदी इत्यादि से (जगह-जगह भ्रमण करने से) निकलता है, उतना ही सब ओर से उमड़ते हुए परिपूर्ण समुद्र से एक ही जगह निकल जाता है ; इसी प्रकार जितना आनन्द अनेक प्रकार के वेदोक्त (अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि) कर्म करने से मिलता है यानी स्वर्ग और स्त्री, पुत्र आदि से जो सुख प्राप्त होता है, उतना ही बल्कि उससे अधिक आनन्द निष्काम ब्रह्मज्ञानी

ब्राह्मण को एक मात्र ब्रह्मविद्या या ईश्वर के ज्ञान से प्राप्त होता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु, कदाचन।
मा, कर्म-फल-हेतुः, भूः, मा, ते, सङ्गः, अस्तु, अकर्मणि॥

ते	=तेरा	मा	=मत
कर्मणि	=कर्म में	भूः	=हो
एव	=ही		+और
अधिकारः	=अधिकार है	ते	=तेरी
फलेषु	=फल में	अकर्मणि	=अकर्म में (काम न करने में)
कदाचन	=कदापि	सङ्गः	=प्रीति (आसक्ति)
मा	=नहीं	मा	=न
कर्म-फल-हेतुः	=कर्म के फल का कारण	अस्तु	=हो

अर्थ—हे अर्जुन! तू अभी कर्म करने योग्य है; इसलिए कर्म कर। कर्मों के फलों के लालच से कर्म न कर। जो कर्म तू करे उसके फल की इच्छा मत कर। इसी प्रकार काम करने से मुँह भी मत मोड़। कर्म-फल की चाहना ही जन्म-मरण की जड़ है, अतएव मनुष्य को निष्काम होकर कर्म करना ही सबसे अच्छा है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योग-स्थः, कुरु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, धनञ्जय ।
सिद्धि-असिद्ध्योः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, उच्यते ॥

धनञ्जय	=हे धनञ्जय !		+ और
सिद्धि-असिद्ध्योः	=सिद्धि और असिद्धि में (सफलता-असफलता में)	**योग-स्थः**	=योग में स्थित हो
		कर्माणि	=कर्मों को
		कुरु	=कर
समः	=सम (बराबर)		+ ऐसा
भूत्वा	=होकर	**समत्वम्**	=समत्व ही
सङ्गम्	=फल की लालसा	**योगः**	=योग
त्यक्त्वा	=त्यागकर	**उच्यते**	=कहा जाता है

अर्थ—हे धनञ्जय ! 'योग' ज्ञान का मार्ग है। इसमें स्थिर-चित्त होकर अपने किये हुए कामों के फलों की लालसा छोड़-कर, और सिद्धि-असिद्धि अर्थात् सफलता-असफलता को समान समझते हुए, कामों को कर । सिद्धि असिद्धि में समान रहने का नाम ही "समत्व योग" है ।

व्याख्या—जब फल की इच्छा त्यागकर कर्म किये जाते हैं, तब मन पवित्र हो जाता है । चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है । चित्त का हर्ष-विषाद को प्राप्त न होना, किन्तु सब प्रकार की अवस्था में सम रहना ही 'योग' है । अतः योग में अटलचित्त होकर केवल परमात्मा के लिए तू कर्म कर ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

दूरेण, हि, अवरम्, कर्म, बुद्धि-योगात्, धनञ्जय।
बुद्धौ, शरणम्, अन्विच्छ, कृपणाः, फल-हेतवः ॥

बुद्धि-योगात्	=ज्ञानयोग से	शरणम्	=आश्रय
कर्म	=(सकाम) कर्म	अन्विच्छ	=ले
दूरेण	=अत्यन्त	हि	=क्योंकि
अवरम्	=निकृष्ट है + इस वास्ते	फल-हेतवः	=कर्म-फल की इच्छा से काम करनेवाले
धनञ्जय	=हे अर्जुन !		
बुद्धौ	=बुद्धियोग अर्थात् परमार्थ ज्ञान का	कृपणाः	=दीन अथवा अज्ञानी होते हैं

अर्थ—हे धनञ्जय ! कर्मफल की इच्छा त्यागकर, जो काम किया जाता है, वह कर्मफल की कामना रखकर किये हुए काम से अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसलिए तू परमात्मविषयक बुद्धि अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म-योग का साधन कर। इसके विपरीत जो कर्मफल पाने की इच्छा से कर्म करते हैं, वे मूर्ख हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धि-युक्तः, जहाति, इह, उभे, सुकृत-दुष्कृते ।
तस्मात्, योगाय, युज्यस्व, योगः, कर्मसु, कौशलम् ॥

बुद्धि-युक्तः	=समत्व ज्ञान से युक्त पुरुष	तस्मात्	=इस वास्ते
इह	=यहाँ (इस लोक में ही)	योगाय	=ज्ञानयोग के लिए ही
सुकृत-दुष्कृते	=पुण्य और पाप	युज्यस्व	=प्रयत्न कर + क्योंकि
उभे	=इन दोनों को ही	कर्मसु	=कर्मों में
जहाति	=त्याग देता है	योगः	=समत्व ज्ञान-योग ही
		कौशलम्	=कल्याणरूप है

अर्थ—जो बुद्धियोग (सिद्धि-असिद्धि में समानभाव) से कर्म करता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से वह पुण्य-पाप दोनों को इसी लोक में छोड़ देता है, इसलिए तू योग के लिए कर्म में लग जा। कामों के बीच में ज्ञानयोग ही कल्याणरूप है ; क्योंकि इसी रीति से मनुष्य कर्म-बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्म-जम्, बुद्धि-युक्ताः, हि, फलम्, त्यक्त्वा, मनीषिणः ।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः, पदम्, गच्छन्ति, अनामयम् ॥

हि	=क्योंकि		+ तथा
बुद्धि-युक्ताः	=समत्व बुद्धि से युक्त	जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः	=जन्म-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर
मनीषिणः	=ज्ञानी पुरुष	अनामयम्	=दुःख-रहित (शान्तिदायक)
कर्म-जम्	=कर्म से उत्पन्न हुए	पदम्	=परम पद को
फलम्	=(अच्छे-बुरे) फल को	गच्छन्ति	=प्राप्त होते हैं
त्यक्त्वा	=त्यागकर		

अर्थ—समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष, कर्म से उत्पन्न हुए (अच्छे-बुरे) फल को त्यागकर, आत्मज्ञान के प्रभाव से जन्म-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर उस अविनाशी स्थान (निर्वाण-पद) को चले जाते हैं, जहाँ किसी प्रकार का दुःख नहीं है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा, ते, मोह-कलिलम्, बुद्धिः, व्यतितरिष्यति।
तदा, गन्ता-असि, निर्वेदम्, श्रोतव्यस्य, श्रुतस्य, च ॥

यदा	=जब	व्यति-तरिष्यति	=भले प्रकार तैर कर पार कर जायगी
ते	=तेरी		
बुद्धिः	=बुद्धि		
मोह-कलिलम्	=मोह (अज्ञान) रूपी दलदल को	तदा	=तब
			+ तू

श्रोतव्यस्य	=सुनने योग्य (आगे जो कुछ सुनेगा)	निर्वेदम्	=वैराग्य को
च	=और	गन्ता-असि	=प्राप्त होगा अर्थात् भेदवाद के शास्त्रों के वचन सुनने से तेरा मन हट जायगा
श्रुतस्य	=सुने हुए के (पीछे जो कुछ सुना है) उससे		

अर्थ—जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि सांसारिक विषयों को पार कर जायगी, तब कर्मों के स्वर्गादिक फलों के सम्बन्ध में जो कुछ तूने आज तक सुना है या जो कुछ तू भविष्य में सुनेगा उससे तेरा मन हट जायगा यानी तुझे वैराग्य प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—जिस समय तेरे अन्तःकरण पर से अज्ञान का पर्दा हट जायगा, उस समय तू आत्मा और शरीर के भेद को समझेगा और तुझे सभी प्राणियों में एक ही अविनाशी आत्मा दिखाई देने लगेगा। जब तुझे यह जगत् स्वप्न की माया के समान दिखाई देने लगेगा, उस समय जो कुछ तू ने सुना है या सुनेगा सबसे घृणा हो जायगी यानी चित्त के शुद्ध होने पर तुझे वैराग्य प्राप्त हो जायगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुति-विप्रतिपन्ना, ते, यदा, स्थास्यति, निश्चला।
समाधौ, अचला, बुद्धिः, तदा, योगम्, अवाप्स्यसि ॥

यदा	=जब	अचला	=अचल
			+ और
श्रुति-विप्रतिपन्ना	=अनेक शास्त्र-पुराण और श्रुति-स्मृति आदि के सुनने से विचलित होकर भटकती हुई	निश्चला	=निश्चल
			+ होकर
		स्थास्यति	=ठहर जायगी
		तदा	=तब
			+ तू
ते	=तेरी	योगम्	=समत्व बुद्धि-योग को
बुद्धिः	=बुद्धि		
समाधौ	=परमात्मा के ध्यान में	अवाप्स्यसि	=प्राप्त होगा

अर्थ—अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़ने से व नाना प्रकार के वेद-मन्त्र सुनने से तेरी बुद्धि व्याकुल हो गई है। जब मोहजाल को उल्लघन करके इसका इधर-उधर भटकना बन्द हो जायगा अर्थात् जब उसके संशय दूर हो जायँगे, तब वह अचल रूप से परमात्मा के ध्यान में लग जायगी। उसी समय तुझे समत्व बुद्धियोग की प्राप्ति होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

स्थित-प्रज्ञस्य, का, भाषा, समाधि-स्थस्य, केशव।
स्थित-धीः, किम्, प्रभाषेत, किम्, आसीत, व्रजेत, किम्॥

अर्जुन ने पूछा—

केशव	=हे केशव !	स्थित-धीः	=स्थित-बुद्धि पुरुष
समाधि-स्थस्य	साम्य में =जिसकी बुद्धि स्थित हो जाती है उस	किम्	=कैसे
		प्रभाषेत	=बोलता है ?
		किम्	=कैसे
स्थित-प्रज्ञस्य	= स्थित-बुद्धि पुरुष का	आसीत	=बैठता है ? + और
का	=क्या	किम्	=कैसे
भाषा	=लक्षण है ?	व्रजेत	=चलता है ?

अर्थ—हे केशव ! साम्य में जिसकी बुद्धि स्थित हो जाती है, उस स्थितबुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं ? स्थित-बुद्धि * पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और किस तरह चलता है ?

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

---

* स्थित-बुद्धि अर्थात् आत्मस्वरूप में अटल विश्वास रखनेवाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक जो समाधि में तत्पर हैं ; दूसरे जो समाधि में तत्पर नहीं हैं। यहाँ अर्जुन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लक्षण भगवान् कृष्ण से पूछते हैं, जिनका उत्तर भगवान् ५५ वें श्लोक से अध्याय के अन्त तक देते हैं ।

प्रजहाति, यदा, कामान्, सर्वान्, पार्थ, मनः-गतान्।
आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्टः, स्थित-प्रज्ञः, तदा, उच्यते॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा—

पार्थ	=हे अर्जुन !
यदा	=जब +पुरुष
मनःगतान्	=हृदय में प्रविष्ट हुई
सर्वान्	=सारी की सारी
कामान्	=इच्छाओं को +नितान्त
प्रजहाति	=त्याग देता है +और
आत्मनि	=आत्मा में (अपने स्वरूप में)
एव	=ही
आत्मना	=आत्मा से (आप ही करके)
तुष्टः	=संतुष्ट (होता) है
तदा	=तब +वह
स्थित-प्रज्ञः	=स्थित-बुद्धिवाला
उच्यते	=कहा जाता है

अर्थ—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जब पुरुष मन में आई हुई सारी इच्छाओं को नितान्त त्याग देता है, आत्मा के ही ध्यान में मग्न रहता है, आत्मा से ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ या स्थिर-बुद्धिवाला कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु, अनुद्विग्न-मनाः, सुखेषु, विगत-स्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः, स्थित-धीः, मुनिः, उच्यते॥

दुःखेषु =दुःखों में	वीत-राग-भय-क्रोधः =जो राग, भय और क्रोध से रहित हो गया है
अनुद्विग्न-मनाः =जिसका मन उद्विग्न नहीं होता	+ ऐसा
+और	मुनिः =महात्मा
सुखेषु = सुखों में	स्थित-धीः =स्थिर बुद्धि-वाला या ब्रह्म-ज्ञानी
विगत-स्पृहः=जिसकी इच्छा दूर हो गई है	उच्यते =कहा जाता है
+ तथा	

अर्थ—जो दुःख के पड़ने से मन में दुखी नहीं होता जो सुख के समय सुख भोगने की इच्छा नहीं करता, जो किसी चीज़ से प्रीति नहीं रखता, जिसे किसी से भय नहीं है और जो क्रोधरहित है वह महात्मा "स्थिर-बुद्धिवाला" या ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यः, सर्वत्र, अनभि-स्नेहः, तत्,तत्, प्राप्य, शुभ-अशुभम् ।
न, अभिनन्दति, न ेष्टि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

सर्वत्र =सर्वत्र (पुत्र-पौत्रादि व स्वर्ग आदि किसी भी पदार्थ में)	अनभि-स्नेहः= स्नेह-रहित होता हुआ
	तत्-तत् =उस-उस
	शुभ-अशुभम्=शुभ और

	अशुभ(प्रिय और अप्रिय पदार्थ)	न	=न
प्राप्य	=मिलने पर	द्वेष्टि	=द्वेष करता है
यः	=जो पुरुष	तस्य	=उसकी
न	=न	प्रज्ञा	=बुद्धि
अभिनन्दति	=प्रसन्न होता है +और	प्रतिष्ठिता	=स्थिर है(ठहरी हुई है)

अर्थ—हे अर्जुन ! पुत्र, पौत्रादि व स्वर्ग आदि किसी भी वस्तु में जिसका स्नेह या प्रेम नहीं है। जो अच्छी चीज को पाकर प्रसन्न और बुरी चीज को पाकर अप्रसन्न नहीं होता, उस महात्मा की बुद्धि निश्चल या ठहरी हुई है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा, संहरते, च, अयम्, कूर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः।
इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

च	=और	यदा	=जब
कूर्मः	=कछुआ +अपने	अयम्	=यह योगी
अङ्गानि	=अंगों को	सर्वशः	=सब ओर से + अपनी
इव	=जिस प्रकार +भय के समय सिकोड़ लेता है वैसे ही	इन्द्रियाणि	=इन्द्रियों को
		इन्द्रिय-अर्थेभ्यः	=इन्द्रियों के विषयों से
		संहरते	=खींच लेता है

	(बटोर लेता है)	प्रज्ञा	=बुद्धि
	+ तब	प्रतिष्ठिता	स्थिर है (ऐसा
तस्य	=उस विद्वान् की		जानना चाहिए)

अर्थ—जिस प्रकार कछुआ (भय के कारण) सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब योगी राग-द्वेष आदि के डर से अथवा समाधि में विघ्न होने के भय से अपनी आँख, कान आदि इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषयाः, विनिवर्तन्ते, निराहारस्य, देहिनः ।
रस-वर्जम्, रसः, अपि, अस्य, परम्, दृष्ट्वा, निवर्तते ॥

निराहारस्य	=निराहारी	परम्	=पूर्ण-ब्रह्म सच्चि-
देहिनः	=पुरुष के		दानन्द आत्मा
विषयाः	=विषय		(परमात्मा) का
	+ तो	दृष्ट्वा	=साक्षात् करके
विनिवर्तन्ते	=छूट जाते हैं	अस्य	=इस (स्थिर बुद्धि-
	+ पर		वाले) का
रस-वर्जम्	=राग छोड़कर	रसः	=राग (विषयों में
	(अर्थात् विषयों		प्रीति)
	से उसकी प्रीति	अपि	=भी
	दूर नहीं होती)	निवर्तते	=दूर हो जाता है
	+ किन्तु		

अर्थ—निराहार अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुष की विषयों से निवृत्ति हो जाती है यानी असमर्थ होने के कारण वह विषयों की इच्छा नहीं करता, किन्तु विषयों की प्रीति उसके मन से नहीं जाती ; किन्तु जो योगी परमात्मा को (आत्मसाक्षात्कार से) साक्षात् देख लेता है, उसके हृदय में विषयों की प्रीति नहीं रहती (क्योंकि आत्मानन्द के सामने विषयानन्द नितान्त तुच्छ हैं।)

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभम्, मनः ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !		+ये
यततः	=यत्न करनेवाले (उपाय करते हुए)	प्रमाथीनि	=मथन करने वाली (प्रबल)
विपश्चितः	=विद्वान्	इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ
पुरुषस्य	=पुरुष के	हि	=निश्चय करके
मनः	=मन को	प्रसभम्	=ज़बरदस्ती
अपि	=भी	हरन्ति	=हर लेतीं याना खींच लेती हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! उपाय करते हुए अर्थात् हर समय इन्द्रियों को वश में करने की कोशिश करते रहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष के मन को यह आँख, कान, नाक आदि प्रबल

इन्द्रियाँ उसके मन को ज़बरदस्ती क़ाबू में ले आती हैं अर्थात् तत्त्व-चिन्तन से हटाकर विषय-चिन्तन में लगा देती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

तानि, सर्वाणि, संयम्य, युक्तः, आसीत, मत्परः।
वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

	+ इसलिए		+ और
तानि	=उन	यस्य	=जिसकी
सर्वाणि	=सब इन्द्रियों को	इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ
संयम्य	=वश में करके (रोककर)	वशे	=वश में हैं
		तस्य	=उसकी
युक्तः	=एकाग्र चित्त हो	हि	=ही
	+जो	प्रज्ञा	=बुद्धि
मत्परः	=मेरे आश्रय होकर	प्रतिष्ठिता	=स्थिर अथवा ठहरी हुई है
आसीत	=बैठता है		

अर्थ—अतएव उन सब इन्द्रियों को वश में कर, दृढ़ चित्त हो, जो मनुष्य मुझ सच्चिदानन्द के ध्यान में लौ लगाकर बैठता है और जिसने अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार वश में कर लिया है उसी मनुष्य की बुद्धि स्थिर है।

विषयों का ध्यान करने से क्या बुराइयाँ होती हैं, यह भगवान् आगे बताते हैं:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

ध्यायतः, विषयान्, पुंसः, सङ्गः, तेषु, उपजायते ।
सङ्गात्, संजायते, कामः, कामात्, क्रोधः, अभिजायते ॥

विषयान्	=विषयों का		पर (प्रीति से)
ध्यायतः	=ध्यान करने से	कामः	=कामना
पुंसः	=पुरुष की	संजायते	=उत्पन्न होती है
तेषु	=उन विषयों में		+और
संगः	=आसक्ति (प्रीति)	कामात्	=कामना से
उपजायते	=उत्पन्न होती है	क्रोधः	=क्रोध
सङ्गात्	=पुरुष हो जाने	अभिजायते	=उत्पन्न होता है

अर्थ—जो पुरुष विषयों का ध्यान करते हैं, उनके मन में, विषयों के लिए प्रीति उत्पन्न हो जाती है ; प्रीति से काम (इच्छा) उत्पन्न होता है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधात्, भवति, संमोहः, संमोहात्, स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृति-भ्रंशात्, बुद्धि-नाशः, बुद्धिनाशात्, प्रणश्यति ॥

क्रोधात्	= क्रोध से	संमोहात्	=अज्ञान से
संमोहः	=अज्ञान	स्मृति-विभ्रमः	=स्मरण-शक्ति
भवति	=उत्पन्न होता है		का नाश हो

जाता है	+और
+और	बुद्धि-नाशात्=विचार-शक्ति का नाश होने से
स्मृति-भ्रंशात्=स्मरण-शक्ति का नाश होने से	+मनुष्य स्वयं
बुद्धि-नाशः =बुद्धि नष्ट हो जाती है	प्रणश्यति =नष्ट हो जाता है

अर्थ—क्रोध के पैदा होने से अविवेक या अज्ञान पैदा होता है। मोह अर्थात् अज्ञान से स्मृति का नाश होता है। स्मरणशक्ति का नाश हो जाने पर बुद्धि (conscience) का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य आप नष्ट हो जाता है अर्थात् वह आत्मिक उन्नति से गिर जाता है।

विचारवान् मनुष्य को चाहिए कि मन को अपने अधीन करने की कोशिश करे, ताकि विषयों का ध्यान ही न हो, क्योंकि मन सारथी है और इन्द्रियाँ इनके घोड़े हैं। जिस मनुष्य का मन अपने अधीन नहीं है वह भाँति-भाँति के विषयों का ध्यान करता हुआ नष्ट हो जाता है। इन्द्रियों के वश करने ही से शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है। अब आगे भगवान् कृष्ण मोक्ष के उपाय बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरंन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

राग-द्वेष-वियुक्तैः, तु, विषयान्, इन्द्रियैः, चरन्।
आत्म-वश्यैः, विधेय-आत्मा, प्रसादम्, अधिगच्छति ॥

तु	=किन्तु	विषयान्	=विषयों को
राग-द्वेष-वियुक्तैः	=राग और द्वेष से रहित	चरन्	=भोगता हुआ
आत्म-वश्यैः	=अपने वश में की हुई	विधेय-आत्मा	=विवेकी पुरुष
इन्द्रियैः	=इन्द्रियों द्वारा	प्रसादम्	=प्रसन्नता को
		अधिगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—जिसने अपने मन को अपने वश में कर रक्खा है, वह विवेकी मनुष्य राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा, विषयों को भोगता हुआ भी सुख और आनन्द को प्राप्त होता है।

व्याख्या—मतलब यह है कि अज्ञानी रागद्वेष से युक्त होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है, और ज्ञानी पहले अपने मन को अपने अधीन करता है, उसमें से रागद्वेष को बाहर निकाल देता है और तब इन्द्रियों द्वारा ज़रूरी विषयों का सेवन करता है। इस प्रकार उसका चित्त परमात्मा के दर्शन करने योग्य हो जाता है और उसे पूर्ण शान्ति मिलती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे, सर्व-दुःखानाम्, हानिः, अस्य, उपजायते।
प्रसन्न-चेतसः, हि, आशु, बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते ॥

प्रसादे	=ब्रह्मानन्द के प्राप्त होने पर अथवा चित्त के स्वच्छ		शान्त और प्रसन्न रहने पर
		अस्य	=इसके अर्थात्

	परमहंस ज्ञानी महापुरुष के
सर्व-दुःखानाम्	=सम्पूर्ण दुःखों का
हानिः	=नाश
उपजायते	=हो जाता है
हि	=क्योंकि
प्रसन्न-चेतसः	=प्रसन्न चित्त-वाले की
बुद्धिः	=बुद्धि
आशु	=शीघ्र
	+ही
पर्यवतिष्ठते	=स्थिर या निश्चल हो जाती है

अर्थ—चित्त के स्वच्छ, शान्त और प्रसन्न रहने पर योगी के शारीरिक और मानसिक सब दुःखों का नाश हो जाता है, क्योंकि शुद्ध और प्रसन्न चित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही निश्चल या स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

न, अस्ति, बुद्धिः, अयुक्तस्य, न, च, अयुक्तस्य, भावना।
न, च, अभावयतः, शान्तिः, अशान्तस्य, कुतः, सुखम्॥

अयुक्तस्य	=जिसका चित्त एकाग्र नहीं हुआ ऐसे पुरुष की
बुद्धिः	=बुद्धि
	+स्थिर या निश्चयात्मक
न	=नहीं
अस्ति	=होती
च	=और
अयुक्तस्य	=अज्ञानी या समत्व-योग-रहित पुरुष की
	+श्रद्धा
भावना	=आत्मज्ञान में (आत्मा के ध्यान में)

न	=नहीं (होती)		+फिर
च	=और	अशान्तस्य	=शान्ति-रहित पुरुष को
अभावयतः	श्रद्धाहीन या नास्तिक पुरुष को	सुखम्	=सुख
शान्तिः	=शान्ति	कुतः	=कहाँ ?
न	=नहीं (मिलती)		

अर्थ—जिसका मन अपने वश में नहीं अर्थात् इधर-उधर विषयों में दौड़ता रहता है, उसकी बुद्धि स्थिर या निश्चयात्मक नहीं हो सकती ; और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है अथवा जिस अज्ञानी की श्रद्धा आत्मज्ञान में नहीं है उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के स्वरूप को वह नहीं जान सकता; जिसे आत्मज्ञान नहीं, उस पुरुष को भला शान्ति कैसे मिल सकती है ? फिर अशान्त चित्तवाले को सुख कहाँ से मिल सकता है ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणाम्, हि, चरताम्, यत्, मनः, अनुविधीयते ।
तत्; अस्य, हरति, प्रज्ञाम्, वायुः, नावम्, इव, अम्भसि ॥

हि	=क्योंकि	मनः	=मन
चरताम्	=विषयों में विचरनेवाली	अनुविधीयते	=अधीन हो जाता है
इन्द्रियाणाम्	=इन्द्रियों में से	तत्	=वही इन्द्रिय
यत्	=जिस इन्द्रिय के	अस्य	=इस पुरुष की

प्रज्ञाम्	=बुद्धि को +इस प्रकार	वायुः	=पवन
		नावम्	=नाव को
हरति	=हर लेती है या चल-विचल कर देती है	अम्भसि	=जल में +डावाँडोल कर देता है
इव	=जैसे		

अर्थ—विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के अधीन मन हो जाता है तो वह इन्द्रिय योगी की आत्मविषयक बुद्धि को इस प्रकार चल-विचल कर देती है, जिस प्रकार पवन जल में पड़ी हुई नौका को मार्ग से हटाकर कुमार्ग में लगा देता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८ ॥

तस्मात्, यस्य, महाबाहो, निगृहीतानि, सर्वशः।
इन्द्रियाणि, इन्द्रिय-अर्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता ॥

महाबाहो	=हे अर्जुन !		हुई हैं (अर्थात् अपने वश में की हुई हैं)
तस्मात्	=इसलिए		
यस्य	=जिसकी		
इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ	तस्य	=उसी ब्रह्मज्ञानी की
इन्द्रिय-अर्थेभ्यः	=इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों से	प्रज्ञा	=बुद्धि
सर्वशः	=सब ओर से	प्रतिष्ठिता	=स्थिर या निश्चल होती है
निगृहीतानि	=निरुद्ध या रुकी		

अर्थ—-इसलिए हे अर्जुन ! उसी योगी की बुद्धि स्थिर या निश्चल है जिसने अपनी इन्द्रियों को शब्दादिक सब विषयों से हटा लिया है अर्थात् जिसने अपनी सारी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

या, निशा, सर्व-भूतानाम्, तस्याम्, जागर्ति, संयमी।
यस्याम्, जाग्रति, भूतानि, सा, निशा, पश्यतः, मुनेः॥

या	=जो	यस्याम्	=जिसमें (अर्थात् कर्मनिष्ठा में)
सर्व-भूतानाम्	=सब प्राणियों की	भूतानि	=सब प्राणी
निशा	=रात है	जाग्रति	=जागते हैं
तस्याम्	=उसमें (अर्थात् ज्ञान-निष्ठा में)	सा	=वह
संयमी	=अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाला विचारवान् पुरुष	पश्यतः	=आत्मा का अनुभव करनेवाले
		मुनेः	=ज्ञानी संन्यासी के लिए
जागर्ति	=जागता है +और	निशा	=रात्रि है

अर्थ—-जो सब प्राणियों की रात है वही अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाले विचारवान् पुरुषों के लिए जागने का समय है और जिस समय सब प्राणी जागते हैं उस समय तत्त्वदर्शी ज्ञानी संन्यासी के लिए रात है।

व्याख्या—जहाँ अज्ञानरूपी अँधेरा छाया हुआ है, वह रात के समान है और जहाँ ज्ञानरूपा सूर्य का उदय है वह दिन के सदृश है। इस लिए अज्ञान को रात की समता दी है और ज्ञान को दिन की। मनुष्यों को प्रायः अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, किन्तु बाहरी पदार्थों का ज्ञान ख़ूब होता है, किन्तु संयमी को अपने स्वरूप का ज्ञान ख़ूब होता है, क्योंकि उसके भीतर आत्मज्ञान का सूर्य उदय रहता है। साथ ही संसारी पदार्थों से वह प्रायः अज्ञानी बना रहता है। मतलब यह कि मन को जीतनेवाला पुरुष अपने स्वरूप की ओर से तो जागता रहता है, किन्तु संसार की ओर से सोता रहता है। इस प्रकार इन दोनों में भेद है जिसे भगवान् ने ऊपर के श्लोक में कहा है।

(२) विषयों में फँसे हुए मनुष्यों के लिए आत्मज्ञान रात के समान है, किन्तु वही आत्मज्ञान इन्द्रियों के जीतनेवाले पुरुषों के लिए दिन के समान है। इसी प्रकार इस असार संसार के विषयों का सुख अज्ञानियों के लिए दिन के सदृश है मगर ज्ञानिया के लिए रात के समान है अर्थात् वे विषय-भोगों को तुच्छ समझते हैं।

अब भगवान् यह समझाते हैं कि जिसने सब प्रकार की इच्छाओं को त्याग दिया है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वही योगी मोक्ष-लाभ कर सकता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

आपूर्यमाणम्, अचल-प्रतिष्ठम्, समुद्रम्, आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्। तद्वत्, कामाः, यम्, प्रविशन्ति, सर्वे, सः, शान्तिम्, आप्नोति, न, काम-कामी ॥

आपूर्यमाणम्	=चारों ओर से भरे हुए	यम्	= जिस पुरुष में
		सर्वे	=सारी
अचल-प्रतिष्ठम्	=अचल मर्यादा-वाले	कामाः	=कामनाएँ
		प्रविशन्ति	=लय होती हैं
समुद्रम्	=समुद्र में	सः	=वह
यद्वत्	=जैसे	शान्तिम्	=परम शान्ति को
आपः	=जल अर्थात् नदियाँ	आप्नोति	=प्राप्त होता है
		न	=न कि
प्रविशन्ति	=प्रवेश करती हैं	काम-कामी	=भोगों की कामना करनेवाला पुरुष
तद्वत्	=वैसे ही		

अर्थ—जिस कार चारों ओर से भरे हुए समुद्र में नदियाँ बहकर उसमें आ गिरती हैं, किन्तु उसकी सीमा—मर्यादा—ज्यों की त्यों बनी रहती है उसी प्रकार जो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं—नदियों—के आ मिलने से घटता बढ़ता नहीं किन्तु समुद्र की नाईं गम्भीर और स्थिरबुद्धि रहता है वही शान्ति प्राप्त करता है, किन्तु जो इन इच्छाओं के फेर में पड़ जाता है उसे शान्ति नहीं मिलती।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहाय, कामान्, यः, सर्वान्, पुमान्, चरति, निःस्पृहः।
निर्-ममः, निर्-अहङ्कारः, सः, शान्तिम्, अधिगच्छति ॥

यः	=जो	सर्वान्	=सब (सारी)
पुमान्	=मनुष्य	कामान्	=कामनाओं क

विहाय	=छोड़कर		व्यवहार करता है
निःस्पृहः	=इच्छारहित	सः	=वही ज्ञानी मनुष्य
निर्-ममः	=ममतारहित और	शान्तिम्	=शान्ति को (मोक्ष को)
निर्-अहङ्कारः	=अहङ्काररहित हो	अधिगच्छति	=प्राप्त होता है
चरति	=विचरता है अर्थात् जगत् के		

अर्थ—इसलिए जो संन्यासी, सब प्रकार की कामनाओं (इच्छाओं) को त्यागकर विना किसी लालसा, ममता और अहङ्कार के विचरता है अर्थात् किसी चीज़ के पास न होने पर उसकी इच्छा नहीं करता, पास होने पर उसमें ममता नहीं रखता और जिसे अपने ज्ञान का भी अहङ्कार नहीं है वही स्थिरबुद्धि-वाला ज्ञानी शान्ति (मोक्ष) लाभ करता है अर्थात् वह ब्रह्म-ज्ञानी हो जाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

एषा, ब्राह्मी, स्थितिः, पार्थ, न, एनाम्, प्राप्य, विमुह्यति।
स्थित्वा, अस्याम्, अन्तकाले, अपि, ब्रह्म-निर्वाणम्, ऋच्छति।

पार्थ	=हे अर्जुन !	स्थितिः	=स्थिति है
एषा	=यह	एनाम्	=इसको
ब्राह्मी	=ब्रह्म-विषयक या ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली	प्राप्य	=पाकर + शुद्ध अन्तः-करणवाला

न विमुह्यति	=मोह को प्राप्त नहीं होता है	अस्याम्	=इस ब्रह्म-स्थिति में
	+ तथा	स्थित्वा	=स्थित होकर
अन्तकाले	=मरने के समय में		+वह संन्यासी
		ब्रह्म-निर्वाणम्	=मोक्ष को
अपि	=भी	ऋच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है, जो इस अवस्था को पहुँच जाता है वह माया-मोह में नहीं फँसता। अन्त काल यानी मरने के समय भी पुरुष, इस स्थिति में स्थित होने से ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—"हे देवि ! अब दूसरे अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। दक्षिण देश में पुरन्दरपुर नाम का एक नगर था। वहाँ देवशर्मा नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा धार्मिक था, हमेशा साधु, अभ्यागतों का सत्कार, देवताओं और पितरों का पूजन तथा हवन किया करता था, किन्तु ऐसे शुभ आचरण करते रहने पर भी, देवशर्मा का मन शान्त न होता था। कुछ दिनों बाद उसे मित्रवान् नाम का एक ब्रह्मज्ञानी शान्तचित्त तपस्वी मिला। देवशर्मा ने मित्रवान् से पूछा—"हे तपोधन ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे बतलाइए। मैं सदा धर्म का पालन करता हूँ—धर्म के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता, किन्तु मेरा चित्त शान्त नहीं होता। मैं उस आत्म-तत्त्व को जानना चाहता हूँ, जो एकमात्र संसार से मुक्त होने का मार्ग है।" ब्राह्मण का यह प्रश्न सुनकर मित्रवान् ने कहा—"मैं इस विषय में एक प्राचीन वृत्तान्त कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठान नाम का एक नगर है। वहाँ दुर्दम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। प्रतिष्ठानपुर राजा विक्रम के राज्य में था। राजा के दान-दक्षिणा से ही दुर्दम अपना जीवन-निर्वाह करता था। जब दुर्दम की मृत्यु हुई, तो यमराज के दूत उसके गले में फाँसी लगाकर यमपुरी को ले गये। वहाँ, बहुत दिनों तक, सब नरकों का कष्ट भोगकर उसे फिर एक ब्राह्मण के घर में जन्म मिला। युवा होने पर, नीचकुल में उत्पन्न एक कर्कशा स्त्री से उसका

विवाह हुआ। वह दुराचारिणी एक चाण्डाल पुरुष से प्रेम करने लगी। अपने पति को विघ्नरूप समझकर, एक दिन सोते समय उसका सिर काट डाला। दुर्दम मरकर यमलोक को गया और अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्त को उसे बाघ का जन्म मिला। वह व्यभिचारिणी स्त्री भी मरने पर नरकों का कष्ट भोगकर बकरी हुई। एक दिन वन में उस बकरी को देखकर बाघ उसे मारने के लिये झपटा। किन्तु उसके समीप आते ही वह वैर छोड़कर चुप खड़ा रह गया। बकरी ने कहा—'हे बाघ! तुम हमारा मांस क्यों नहीं खाते हो? तब बाघ ने उत्तर दिया—हम तुमको मार डालने के लिए दौड़े थे, किन्तु इस स्थान पर आकर, न मालूम क्यों, अब तुमको मारने को हमारा जी नहीं चाहता।' मित्रवान् ने देवशर्मा से कहा—"हे ब्राह्मण! उस स्थान पर एक ब्रह्मज्ञानी महात्मा रहते थे। वे गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करते थे। उसी के प्रभाव से बाघ का बकरी को मारने का इरादा जाता रहा। बाघ और बकरी दोनों वैर छोड़कर उस आश्रम पर बैठ गये और गीता का पाठ सुनने लगे। अन्त को वे दोनों शरीर छूटने पर वैकुण्ठलोक को गये। अतएव तुम भी गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करो, इसी से तुम्हारा चित्त शान्त होगा और शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक प्राप्त करोगे। भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—उसी दिन से देवशर्मा गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करने लगा। उसी के प्रभाव से वह शान्ति से जीवन बिताकर अन्त में विष्णुलोक को गया।"

तीसरा अध्याय
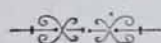
अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन ।
तत्, किम्, कर्मणि, घोरे, माम्, नियोजयसि, केशव ॥

अर्जुन ने प्रश्न किया कि—

जनार्दन	=हे जनार्दन ! (हे कृष्ण !)	तत्	=तो फिर
चेत्	=यदि	किम्	=क्यों
कर्मणः	=कर्म से	घोरे	=भयानक (हिंसात्मक)
बुद्धिः	=ज्ञान	कर्मणि	=कर्म में
ज्यायसी	=श्रेष्ठ	केशव	=हे केशव
ते	=आप से	माम्	=मुझे
मता	=माना गया	नियोजयसि	=लगाते हैं

अर्थ—हे जनार्दन ! यदि आप कर्मयोग से ज्ञानयोग को श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव ! आप मुझे इस भयङ्कर कर्म—युद्ध—में क्यों लगाते हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, मे।
तत्, एकम, वद, निश्चित्य, येन, श्रेयः, अहम्, आप्नुयाम् ॥

व्यामिश्रेण	=मिले हुए (मिले-जुले)	तत्	=उस
इव	=जैसे	एकम्	=एक (मार्ग) को
वाक्येन	=वाक्य से	निश्चित्य	=निश्चय करके
मे	=मेरी	वद	=कहिए
बुद्धिम्	=बुद्धि को	येन	=जिससे
इव	=मानो	अहम्	=मैं
मोहयसि	=भ्रांति कराते हो +इसलिए	श्रेयः	=कल्याण को
		आप्नुयाम्	=प्राप्त होऊँ

अर्थ—आपकी मिली-जुली उलझनदार बातों के सुनने से मेरी बुद्धि चकरा गई है; इसलिए निश्चय करके केवल एक बात (मार्ग) बतलाइए जिसके अनुसार चलने से मेरा कल्याण हो।

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

लोके, अस्मिन्, द्विविधा, निष्ठा, पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ।
ज्ञान-योगेन, सांख्यानाम्, कर्म-योगेन, योगिनाम् ॥

अर्जुन के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

अनघ	=हे निष्पाप ! (हे अर्जुन !)
अस्मिन्	=इस
लोके	=लोक में
द्वि-विधा	=दो प्रकार की
निष्ठा	=निष्ठा (साधन की अवस्थाएँ)
मया	=मैंने
पुरा	=पहिले
प्रोक्ता	=कही हैं
सांख्यानाम्	=विरक्त संन्यासी शुद्ध अन्तःकरण वालों को
ज्ञान-योगेन	=ज्ञान-योग के सहारे से
	+और
योगिनाम्	=कर्म-योगियों को
कर्म-योगेन	=कर्म-योग के सहारे से

अर्थ—अर्जुन की बात सुनकर भगवान् इस प्रकार कहते हैं—हे अर्जुन ! यह मैं पहिले ही बतला चुका हूँ कि इस लोक में दो प्रकार की राह यानी साधन-अवस्थाएँ हैं—सांख्यवालों के लिए ज्ञान-योग की और कर्म-योगियों के लिए कर्म-योग की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न, कर्मणाम्, अनारम्भात, नैष्कर्म्यम्, पुरुषः, अश्नुते ।
न, च, संन्यसनात्, एव, सिद्धिम्, समधिगच्छति ॥

कर्मणाम्	=कर्मों के	संन्यसनात्	=कर्मों के केवल त्याग से
अनारम्भात्	=न करने से (अनारम्भ से)	एव	=भी
पुरुषः	=मनुष्य		+पुरुष
नैष्कर्म्यम्	=निष्कर्म भाव को	सिद्धिम्	=ज्ञानरूपी सिद्धि को
न	=नहीं	न	=नहीं
अश्नुते	=प्राप्त होता	समधिगच्छति	=प्राप्त होता
च	=और		

अर्थ—हे अर्जुन ! कर्मों के न करने से कोई पुरुष कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता और न कर्मों के त्याग देने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। मतलब यह कि काम न करने से मनुष्य को निष्कर्म भाव प्राप्त नहीं होता, क्योंकि केवल संन्यास लेने से, बिना चित्त की वृत्तियों के शुद्ध हुए, किसी का सिद्धि नहीं प्राप्त होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

न, हि, कश्चित, क्षणम्, अपि, जातु, तिष्ठति, अकर्म-कृत्।
कार्यते, हि, अवशः, कर्म, सर्वः, प्रकृतिजैः, गुणैः ॥

हि	=क्योंकि	जातु	=कभी
कश्चित्	=कोई भी पुरुष	अकर्म-कृत्	=बिना काम किये हुए
क्षणम्	=पल भर		
अपि	=भी	न	=नहीं

तिष्ठति	=रहता	हि	=निश्चय ही
सर्वः	=प्राणीमात्र को		+ कुछ-न-कुछ
प्रकृतिजैः	=प्रकृति से उत्पन्न हुए	कर्म	=कर्म
गुणैः	=गुणों के द्वारा	कार्यते	=करना ही पड़ता है
अवशः	=विवश होकर		

अर्थ——असल बात यह है कि कोई भी पुरुष क्षण भर भी बिना काम किये नहीं रह सकता ; क्योंकि प्रकृति के सत्त्व, रज और तमोगुण के कारण प्राणि-मात्र को विवश होकर काम करना ही पड़ता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥

कर्म-इन्द्रियाणि, संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन्।
इन्द्रिय-अर्थान्, विमूढ-आत्मा, मिथ्या-आचारः, सः, उच्यते॥

कर्म-इन्द्रियाणि	=कर्म-इन्द्रियों को (ज़बरदस्ती)	आस्ते	=रहता है
संयम्य	=रोककर	सः	=वह
यः	=जो (मूर्ख)	विमूढ-आत्मा	=मलिन अन्तः-करणवाला (मूर्ख)
इन्द्रिय-अर्थान्	=शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों का	मिथ्या-आचारः	=मिथ्याचारी या कपटी
मनसा	=मन से	उच्यते	=कहा जाता है
स्मरन्	=स्मरण करता		

अर्थ——जो मूर्ख पुरुष कर्मेन्द्रियों * को (ज़बरदस्ती) रोककर कुछ काम तो नहीं करता, किन्तु मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी या कपटी है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन।
कर्म-इन्द्रियैः, कर्म-योगम्, असक्तः, सः, विशिष्यते॥

तु	=परन्तु
अर्जुन	=हे अर्जुन !
यः	=जो पुरुष
मनसा	=मन द्वारा
इन्द्रियाणि	=ज्ञानेन्द्रियों को
नियम्य	=रोककर या वश में करके
असक्तः	=फल की इच्छा न करता हुआ या उनके विषयों में मन न लगाकर
कर्म-इन्द्रियैः	=कर्मेन्द्रियों द्वारा
कर्म-योगम्	=कर्म-योग को
आरभते	=आरम्भ करता है
सः	=वह पुरुष
विशिष्यते	=श्रेष्ठ है

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! जो पुरुष आँख, कान आदि

---

* हाथ, पाँव, मुँह, गुदा और लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। हाथ का विषय काम करना, पाँव का विषय चलना, मुँह का विषय भोजन करना या बोलना, गुदा का विषय मल त्यागना और लिंग का विषय मूत्र त्यागना है।

ज्ञानेन्द्रियों*को मन द्वारा वश करके, उनके विषयों में मन न लगाकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म, ज्यायः, हि, अकर्मणः।
शरीर-यात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः ॥

त्वम्	=तू +अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार	कर्म	=कर्म करना (ही)
नियतम्	=नियत अथवा शास्त्रोक्त	ज्यायः	=श्रेष्ठ है
कर्म	=कर्म	च	=और
कुरु	=कर	अकर्मणः	=बिना काम किये
हि	=क्योंकि	ते	=तेरी
अकर्मणः	=कर्म न करने से	शरीर-यात्रा	=(यह) शरीर-यात्रा अथवा जीवन-यात्रा
		अपि	=भी
		न प्रसिद्ध्येत्	=सिद्ध न होगी

अर्थ—इसलिए, तू (अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार) नियत कर्म कर; क्योंकि काम न करने से काम करना कहीं अच्छा है। अगर तू अपनी कर्मेन्द्रियों से कुछ भी काम न

---

* आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आँख का काम देखना, कानों का विषय सुनना, नाक का विषय सूँघना, जीभ का विषय चखना और त्वचा का विषय छूना है, इसी से हमें स्पर्श-ज्ञान होता है।

लेगा यानी काम करना छोड़ देगा तो तेरी यह जीवन-यात्रा भी सफल न होगी। (अतएव मनुष्य को कर्मेन्द्रियों से काम लेना बड़ा जरूरी है।)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ-अर्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्म-बन्धनः।
तत्-अर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्त-सङ्गः, समाचर ॥

यज्ञ-अर्थात्	=यज्ञार्थ यानी ईश्वरार्पण निमित्त
कर्मणः	=कर्म के
अन्यत्र	=अतिरिक्त (सिवा) + और जितने भी सकाम कर्म हैं उनसे
अयम्	=यह
लोकः	=जीव (मनुष्य)
कर्म-बन्धनः	=कर्म-बन्धन में फँस जाता है + इसलिए
कौन्तेय	=हे अर्जुन!
मुक्त-सङ्गः	=फल की इच्छा को त्यागते हुए (निष्काम हो-कर)
तत्-अर्थम्	=उस परमेश्वर के लिए
कर्म	=(तू) कर्म
समाचर	=कर

अर्थ—यज्ञ अथवा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे ही ठीक हैं; इनको छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं, उनसे मनुष्य कर्म-बन्धन में फँस जाता है, जिससे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पा सकता। इसलिए हे

अर्जुन ! तू निष्काम होकर, मन में किसी प्रकार की इच्छा न रखकर, केवल उस परमेश्वर के निमित्त ही कर्म कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सह-यज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, पुरा, उवाच, प्रजा-पतिः।
अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एषः, वः, अस्तु, इष्ट-काम-धुक् ॥

प्रजा-पतिः	=ब्रह्माजी ने	प्रसविष्यध्वम्	=तुम बढ़ो (फलो-फूलो)
पुरा	=सृष्टि के आदि में	एषः	=यह यज्ञ
सह-यज्ञाः	=यज्ञ सहित	वः	=तुम लोगों को
प्रजाः	=प्रजाओं यानी मनुष्यों को	इष्ट-काम-धुक्	=वांछित फल देनेवाला
सृष्ट्वा	=उत्पन्न करके	अस्तु	=हो
उवाच	=कहा था		+यह मेरा आशीर्वाद है
	+ कि		
अनेन	=इस यज्ञ से		

अर्थ—आदिकाल में सृष्टि-रचना के समय, प्रजापति यानी ब्रह्मा ने यज्ञ-सहित प्रजाओं को पैदा करके यह कहा था—"तुम सब इस यज्ञ द्वारा फलो-फूलो और यह तुम्हारी अभीष्ट इच्छाओं को पूर्ण करे।"

व्याख्या—सृष्टि-रचना के समय ब्रह्मा ने प्राणिमात्र को उत्पन्न करके कहा था—"तुम लोग यज्ञ करो, यज्ञ करने से तुम्हारी वृद्धि होगी और इससे तुम्हें मनचाहा फल मिलेगा।" जैसे वृक्ष अपनी

वायु मनुष्यों को अर्पण करता है और मनुष्य अपने मुँह की वायु सदा वृक्षों को अर्पण करते हैं, जिससे दोनों की वृद्धि और पुष्टि होती रहती है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों से यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुतियाँ देने से वे प्रसन्न और सन्तुष्ट होते हैं और देवगण वर्षा द्वारा अन्न की वृद्धि करते हुए मनुष्यों को प्रसन्न और सन्तुष्ट करते हैं। सारांश यह कि मनुष्यों को नित्यप्रति यज्ञ करना चाहिए।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

देवान्, भावयत, अनेन, ते, देवाः, भावयन्तु, वः।
परस्परम्, भावयन्तः, श्रेयः, परम्, अवाप्स्यथ ॥

अनेन	=इस यज्ञ से		+ इस प्रकार
देवान्	=देवताओं को	परस्परम्	=आपस में (एक दूसरे को)
भावयत	=(तुम) प्रसन्न या सन्तुष्ट करो	भावयन्तः	=सन्तुष्ट करते हुए
ते	=वे		+तुम दोनों
देवाः	=देवता	परम्	=परम (अत्यन्त)
वः	=तुमको	श्रेयः	=कल्याण को
भावयन्तु	=बढ़ावें (अर्थात् वांछित फल देवें	अवाप्स्यथ	=प्राप्त होगे

अर्थ——इस यज्ञ से तुम देवताओं की पूजा करो और उन्हें सन्तुष्ट करो; वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे और तुम्हारी वृद्धि करेंगे। इस प्रकार आपस में एक दूसरे को सन्तुष्ट करने से तुम दोनों का कल्याण होगा।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

इष्टान्, भोगान्, हि, वः, देवाः, दास्यन्ते, यज्ञ-भाविताः ।
तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः, यः, भुङ्क्ते, स्तेनः, एव, सः ॥

यज्ञ-भाविताः	=यज्ञ से सन्तुष्ट हुए	दत्तान्	=दिये हुए भोगों को
देवाः	=देवता	एभ्यः	=उनके तईं
वः	=तुमको	अप्रदाय	=न देकर
	+ तुम्हारे	यः	=जो पुरुष
इष्टान्	=इच्छित		+केवल आप ही
भोगान्	=भोग	भुङ्क्ते	=भोगता है
हि	=निस्सन्देह	सः	=वह
दास्यन्ते	=देंगे	एव	=निश्चय ही
तैः	=उनसे (देवताओं के द्वारा)	स्तेनः	=चोर है

अर्थ—यज्ञ से सन्तुष्ट होकर, देवता तुमको अवश्य इच्छित भोग (अर्थात् अन्न, धन, पशु इत्यादि) देंगे । जो उनके दिये हुए पदार्थों को उनके तईं अर्पण न कर, स्वयम् भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञशिष्ट-अशिनः, सन्तः, मुच्यन्ते, सर्व-किल्बिषैः।
भुञ्जते, ते, तु, अघम्, पापाः, ये, पचन्ति, आत्म-कारणात् ॥

यज्ञ-शिष्ट-अशिनः =यज्ञ से शेष बचे हुए भाग को खानेवाले
सन्तः =सज्जन पुरुष
सर्व-किल्बिषैः=सब पापों से
मुच्यन्ते =छूट जाते हैं
तु =किन्तु
ये =जो [illegible]न,
पापाः =पापी पुरुष
आत्म-कारणात् =अपना और अपने कुटुम्ब का पेट भरने के लिए ही
पचन्ति =(अन्न) पकाते हैं (रसोई बनाते हैं)
ते =वे (पापी)
अघम् =पाप का ही
भुञ्जते =भोजन करते हैं अर्थात् पाप को ही भोगते हैं

अर्थ—जो मनुष्य बलिवैश्वदेव आदि पञ्चयज्ञ* करने के पीछे, बचे हुए अन्न को खाते हैं, वे सारे पापों से छुटकारा पा जाते हैं, किन्तु जो विना यज्ञ किये अपने और अपने कुटुम्बियों के वास्ते पकाते और उसे खाते हैं वे पापी निश्चय ही पापों से भरा हुआ भोजन करते हैं।

---

* (१) पशु-पक्षी को भोजन और जल देना भूत-यज्ञ है। (२) अतिथि-अभ्यागतों का सत्कार कर भोजन कराना मनुष्य-यज्ञ है। (३) श्राद्ध और तर्पण करना पितृ-यज्ञ है। (४) हवन और बलिवैश्वदेव कर्म करना देव-यज्ञ है (५) वेदों का पढ़ाना ब्रह्म-यज्ञ है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि, पर्जन्यात्, अन्न-सम्भवः ।
यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः, यज्ञः, कर्म-समुद्भवः ॥

अन्नात्	=अन्न से	यज्ञात्	=यज्ञ से
भूतानि	=(सारे) प्राणी	पर्जन्यः	=वर्षा
भवन्ति	=उत्पन्न होते हैं	भवति	=होती है
	+और		+और
पर्जन्यात्	=वर्षा (मेघ)से	यज्ञः	=यज्ञ
अन्न-सम्भवः	=अन्न की उत्पत्ति होती है	कर्म-समुद्भवः	=कर्म से उत्पन्न होनेवाला है

अर्थ— सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा होने से पैदा होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म, ब्रह्म-उद्भवम्, विद्धि, ब्रह्म, अक्षर-समुद्भवम् ।
तस्मात्, सर्व-गतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम् ।

कर्म	=कर्म को		से उत्पन्न हुआ
	+तू	विद्धि	=जान
ब्रह्म-उद्भवम्	=ब्रह्म अर्थात् प्रकृतिरूपशरीर		+और
		ब्रह्म	=ब्रह्म(प्रजापति

अक्षर-समुद्भवम्	वेद या प्रकृति) = अक्षर यानी अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है	सर्वगतम्	=सर्वव्यापक
		ब्रह्म	=परमात्मा
		नित्यम्	=नित्य(सदाही)
		यज्ञे	=यज्ञ में
		प्रतिष्ठितम्	=स्थित है
तस्मात्	=इसलिए		

अर्थ—कर्म, ब्रह्म—सजीव शरीर या प्रकृति—से उत्पन्न होता है और यह ब्रह्म अक्षर यानी अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न होता है। इसलिए उस सर्व-व्यापक परमात्मा को सदा ही यज्ञ में मौजूद जानो।

व्याख्या—अन्न खाने से प्राणियों की जीवन-रक्षा और उत्पत्ति होती है; क्योंकि अन्न जब पेट में जाता है तब उसके रस से वीर्य, रक्त, रस, मांस, अस्थि, मज्जा आदि धातुएँ बनती हैं, जो इस मनुष्य-देह को क़ायम रखती हैं। इन्हीं की वृद्धि से शरीर की वृद्धि और इन्हीं के नष्ट होने से शरीर का नाश होता है अतएव प्राणियों की जीवन-रक्षा अन्न पर निर्भर है। अन्न वर्षा से होता है। यदि वर्षा न हो तो अन्न पैदा ही न हो, इसलिए अन्न का पैदा होना वर्षा पर निर्भर है। मेह यज्ञ से होता है अर्थात् यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होकर मेघ बनाती और उससे वृष्टि होती है। अगर यज्ञ न किया जाय तो बादल ही न बने और जब बादल ही न बनेंगे तो वर्षा कहाँ से होगी? मतलब यह कि वर्षा होने के लिए यज्ञ करना ज़रूरी है। यज्ञ कर्म से होता है, कर्म शरीर से उत्पन्न होता है और यह शरीर अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न होता है। यहाँ कृष्ण भगवान् "कर्म" की ही प्रधानता सिद्ध कर रहे हैं।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम्, न, अनुवर्तयति, इह, यः।
अघ-आयुः, इन्द्रिय-आरामः, मोघम्, पार्थ, सः, जीवति ॥

यः	=जो	पार्थ	=हे अर्जुन!
एवम्	=इस प्रकार	सः	=वह
प्रवर्तितम्	=प्रचलित (चलाये हुए)	इन्द्रिय-आरामः	=इन्द्रियों में ही सुख का अनुभव करनेवाला
चक्रम्	=संसार-चक्र के	अघ-आयुः	=पाप की आयु-वाला पुरुष
न अनुवर्तयति	=अनुसार नहीं चलता (अर्थात् शास्त्रों के अनुसार कर्मों को नहीं करता)	इह	=इस संसार में
		मोघम्	=वृथा ही
		जीवति	=जीवित है

अर्थ—हे अर्जुन! जो मनुष्य इस सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं चलता यानी जो पुरुष जीते जी इस सृष्टि-क्रम के अनुसार काम करना छोड़ देता है, वह पापी अपनी इन्द्रियों के विषयों में सुख का अनुभव करता हुआ अपने जीवन को वृथा खोता है।

किसे कर्म न करने से पाप नहीं लगता, यह भगवान् आगे बतलाते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

यः, तु, आत्म-रतिः, एव, स्यात्, आत्म-तृप्तः, च, मानवः ।
आत्मनि, एव, च, संतुष्टः, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते ॥

तु	=परन्तु	आत्मनि	=आत्मा में
यः	=जो	एव	=ही
मानवः	=मनुष्य (ऐसा है कि)	संतुष्टः	=(जो) संतुष्ट
		स्यात्	=हो
आत्म-रतिः एव	=आत्मा में ही जिसकी प्रीति है	तस्य	=उसके लिए
		कार्यम्	=करने योग्य
च	=और	न	=कुछ भी (कर्म) नहीं
आत्म-तृप्तः	=आत्मा में ही जो तृप्त है	विद्यते	=है
च	=तथा		

अर्थ—लेकिन जो पुरुष आत्मा (अपने आप) में ही मग्न रहता है (न कि विषय-भोगों में), आत्मा से ही तृप्त रहता है (न कि अन्न-पानादि से), आत्मा से ही संतुष्ट रहता है (न कि बाहरी धन-सम्पत्ति से), ऐसे (ज्ञानी परमहंस) पुरुष के लिए कुछ भी कर्म करने की जरूरत नहीं है ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अ-कृतेन, इह, कश्चन ।
न, च, अस्य, सर्व-भूतेषु, कश्चित्, अर्थ-व्यपाश्रयः ॥

इह	=इस लोक में		ज्ञानी को
तस्य	=उसको यानी	कृतेन	=कर्म करने से

एव	=भी +कोई	न	=नहीं होता
अर्थः	=प्रयोजन	च	=तथा
न	=नहीं है +और	अस्य	=इस ज्ञानी का
अ-कृतेन	=न करने से(भी) +उस ज्ञानी को	सर्व-भूतेषु	=सब प्राणियों में
कश्चन	=कोई +पाप	कश्चित्	=कुछ भी
		अर्थ-व्यपाश्रयः	=व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्ध
		न	=नहीं रहता है

अर्थ—उस ज्ञानी के लिए काम करना और न करना दोनों बराबर हैं। उसे प्राणिमात्र से किसी प्रकार का व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्ध जोड़ने अथवा प्रयोजन का आश्रय लेने की भी जरूरत नहीं रहती ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मात्, अ-सक्तः, सततम्, कार्यम्, कर्म, समाचर ।
अ-सक्तः, हि, आचरन्, कर्म, परम्, आप्नोति, पूरुषः ॥

तस्मात्	=इसलिए	कर्म	=कर्म को
अ-सक्तः	=फल की इच्छा से रहित हो	समाचर	=(तू) कर
सततम्	=निरन्तर	हि	=क्योंकि
कार्यं	=करने के योग्य	अ-सक्तः	=फल की इच्छा से रहित

पूरुषः	=पुरुष		(भी)
कर्म	=कर्म	परम्	=मोक्ष को
आचरन्	=करता हुआ	आप्नोति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! इसलिए तू इन्द्रियों को अपने वश में करके, फल की इच्छा से रहित हो, करने के योग्य निरन्तर कर्म कर ; क्योंकि इन्द्रियों को जीतकर, निष्काम कर्म करने-वाला पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त होता है (अर्थात् ऐसा ही पुरुष परम पद या परमात्मा को पा सकता है) ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा, एव, हि, संसिद्धिम्, आस्थिताः, जनक-आदयः ।
लोक-संग्रहम्, एव, अपि, संपश्यन्, कर्तुम्, अर्हसि ॥

जनक-आदयः	=जनक आदि राजऋषि भी	लोक-संग्रहम्	=लोक-मर्यादा (लोकाचार) को
कर्मणा	=कर्म द्वारा	संपश्यन्	=देखते हुए
एव	=ही	अपि	=भी
संसिद्धिम्	=(अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा) सच्चे ज्ञान को		+तू
		कर्तुम्	=कर्म करने के
		एव	=ही
आस्थिताः	=प्राप्त हुए हैं	अर्हसि	=योग्य है
हि	=इसलिए		

अर्थ—राजा जनक इत्यादि ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए ही

(अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा) परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुझे भी लोगों की भलाई के लिये अथवा लोक-मर्यादा के अनुसार ही कर्म करना चाहिए।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः, तत्, तत्, एव, इतरः, जनः ।
सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोकः, तत्, अनुवर्तते ॥

यत्-यत्	=जिस-जिस कर्म को		+भी करते हैं
श्रेष्ठः	=श्रेष्ठ पुरुष	सः	=वह श्रेष्ठ पुरुष
आचरति	=करता है	यत्	=जिस (कर्मयोग या ज्ञान-योग)
तत्-तत्	=उस-उस कर्म को	प्रमाणम्	=प्रमाण को
		कुरुते	=ग्रहण करता है
एव	=ही	लोकः	=दुनिया भी
इतरः	=अन्य (और)	तत्	=उसी प्रमाण को
जनः	=मनुष्य	अनुवर्तते	=मानती है

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, दूसरे साधारण लोग भी उसी के अनुसार चलते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष जिस बात को चला देता है, संसार उसी पर चलने लगता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

न, मे, पार्थ, अस्ति, कर्तव्यम्, त्रिषु, लोकेषु, किंचन ।
न, अनवाप्तम्, अवाप्तव्यम्, वर्ते, एव, च, कर्मणि ॥

पार्थ	=हे अर्जुन		वस्तु
त्रिषु	=तीनों	अनवाप्तम्	=अप्राप्त
लोकेषु	=लोकों में	न	=नहीं है
मे	=मेरे लिए		+तो भी मैं
किंचन	=कुछ भी	कर्मणि	=कर्म में
कर्तव्यम्	=करने योग्य कर्म	एव	=ही
न	=नहीं	वर्ते	=लगा रहता हूँ (अर्थात् कर्म करता ही रहता हूँ)
अस्ति	=है		
च	=और		
अवाप्तव्यम्	=प्राप्त होने योग्य		

अर्थ—हे अर्जुन ! तीनों लोकों में मेरे लिये ऐसा कोई काम नहीं है जो मुझे करना ही चाहिये, और न कोई ऐसी चीज़ है जो मुझे न मिल सकती हो ; तो भी मैं काम करने में लगा रहता हूँ (जिससे लोग मेरी देखा-देखी काम में लगे रहें और अज्ञान से कुमार्ग में न जायँ)।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

यदि, हि, अहम्, न, वर्तेयम्, जातु, कर्मणि, अतन्द्रितः ।
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ॥

हि	=क्योंकि		(लगा रहूँ)
यदि	=अगर		+तो
अतन्द्रितः	=आलस्य-रहित हुआ	पार्थ	=हे अर्जुन !
		सर्वशः	=सब प्रकार से
अहम्	=मैं	मनुष्याः	=मनुष्य
जातु	=कदाचित्	मम	=मेरे
कर्मणि	=कर्म में	वर्त्म	=मार्ग का
न	=न	अनुवर्तन्ते	=अनुसरण करने लगेंगे
वर्तेयम्	=प्रवृत्त होऊँ		

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! यदि मैं आलस्य-रहित होकर कामों में न लगा रहूँ, तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलने लगेंगे अर्थात् सब लोग कर्म छोड़कर बैठ जायँगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उत्सीदेयुः, इमे, लोकाः, न, कुर्याम्, कर्म, चेत्, अहम् ।
संकरस्य, च, कर्ता, स्याम्, उपहन्याम्, इमाः, प्रजाः ॥

चेत्	=अगर	लोकाः	=लोक
अहम्	=मैं	उत्सीदेयुः	=भ्रष्ट हो जायँ
कर्म	=कर्म	च	=और
न	=न	संकरस्य	=वर्णसंकर का
कुर्याम्	=करूँ	कर्ता	=उत्पन्न करने-वाला
	+तो		
इमे	=ये सब		+मैं ही

स्याम्	=बनूँ +तथा	उपहन्याम्	=बिगाड़नेवाला या मारनेवाला मैं ही होऊँ
इमाः	=इन		
प्रजाः	=प्रजाओं को		

अर्थ—अगर मैं कर्म न करूँ तो ये तीनों लोक भ्रष्ट या नष्ट हो जायँगे। मैं वर्णसंकर करनेवाला और इन प्रजाओं का नाश करनेवाला या बिगाड़नेवाला ठहरूँगा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः, कर्मणि, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, भारत।
कुर्यात्, विद्वान्, तथा, असक्तः, चिकीर्षुः, लोक-संग्रहम् ॥

भारत	=हे अर्जुन!	असक्तः	=(कर्म में) निरासक्त होकर (यानी फल की इच्छा से रहित होकर)
यथा	=जैसे		
अविद्वांसः	=अज्ञानी पुरुष (मूर्ख लोग)		
कर्मणि	=कर्म में		
सक्ताः	=आसक्त होकर (फल की इच्छा करते हुए)	लोक-संग्रहम्	=लोगोंकीभलाई को या समाज की सुव्यवस्थिति को
कुर्वन्ति	=कर्म करते हैं		
तथा	=वैसे ही	चिकीर्षुः	=चाहता हुआ
विद्वान्	=ज्ञानी पुरुष	कुर्यात्	=कर्म करे

अर्थ—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! जिस भाँति अज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त होकर (यानी कर्मों में मोह रखकर) कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष, लोगों की भलाई या समाज की सुव्यवस्थिति की इच्छा से, कर्मों में आसक्त न हो, कर्म करे ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

न, बुद्धि-भेदम्, जनयेत्, अज्ञानाम्, कर्म-सङ्गिनाम् ।
जोषयेत्, सर्व-कर्माणि, विद्वान्, युक्तः, समाचरन् ॥

+और
कर्म-सङ्गिनाम् = कर्मों में प्रीति रखनेवाले
अज्ञानाम् =अज्ञानियों की (मूर्खों की)
बुद्धि-भेदम् =बुद्धि में भेद
न जनयेत् =न उत्पन्न करे
+किन्तु
विद्वान् =ज्ञानी पुरुष
युक्तः =अपने आत्म-स्वरूप में साव-धान होकर
सर्व-कर्माणि =सब कर्मों को
समाचरन् =करता हुआ
जोषयेत् =(अज्ञानियों को कर्म में) लगावे (अर्थात् आप भी करे और उनसे भी करावे)

अर्थ—जिन अज्ञानी पुरुषों का मन काम में लगा हुआ है, विद्वानों को चाहिए कि वे उनका मन काम से कभी न हटावें, बल्कि आत्मस्वरूप में सावधान होकर स्वयम् भी सब कर्म करें और उनको भी सारे कामों में लगावें ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः ।
अहंकार-विमूढ-आत्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते ॥

सर्वशः	=(अच्छे बुरे) समस्त		+कर्मों का
कर्माणि	=कर्म	कर्ता	=करनेवाला हूँ
प्रकृतेः	=प्रकृति के	इति	=ऐसा
गुणैः	=सत्त्व,रज आदि गुणों द्वारा	अहंकार-विमूढ-आत्मा	= अहंकारी भ्रष्ट-बुद्धि पुरुष
क्रियमाणानि	=किए जाते हैं	मन्यते	=जानता (समझता) है
अहम्	=मैं		

अर्थ—हे अर्जुन ! संसार के अच्छे-बुरे सब कार्य प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों द्वारा होते हैं; किन्तु अहंकार ने जिसके अन्तःकरण को मलिन कर दिया है अथवा जिसकी बुद्धि इसके कारण भ्रष्ट हो गई है, वह यह समझता है कि "इन कर्मों का करनेवाला और कोई नहीं, मैं ही हूँ।"

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

तत्त्व-वित्, तु, महाबाहो, गुण-कर्म-विभागयोः ।
गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते, इति, मत्वा, न, सज्जते ॥

तु	=परन्तु	गुणाः	=गुण (इन्द्रियाँ)
महाबाहो	=हे अर्जुन !	गुणेषु	=गुणों (विषयों) में
गुणकर्म-विभागयोः	=गुण-कर्म-विभाग संबन्धी रहस्य के	वर्तन्ते	=बर्त रहे हैं
		इति	=ऐसा
तत्त्ववित्	=तत्त्व को जानने-वाला +ज्ञानी	मत्वा	=समझकर (कर्मों में)
		न सज्जते	=नहीं फँसता

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! जो मनुष्य सत्त्व, रज आदि तीनों गुणों और उनके कर्मों के विभाग के तत्त्व को जानता है, वह (ज्ञानी) यह समझता है कि सत्त्व आदि गुण अपने आप कर्म करा रहे हैं, ऐसा समझकर वह उनमें नहीं फँसता। मतलब यह है कि तत्त्वज्ञानी, प्रकृति द्वारा इन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करती हुई समझते हैं, वे इन्द्रियों के कर्मों को अपना कार्य नहीं समझते, किन्तु मूर्ख पुरुष इन्द्रयों के कामों को अपना ही समझते हैं।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

प्रकृतेः, गुण-संमूढाः, सज्जन्ते, गुण-कर्मसु।
तान्, अ-कृत्स्न-विदः, मन्दान्, कृत्स्न-वित्, न, विचालयेत्॥

प्रकृतेः	=प्रकृति के	गुण-कर्मसु	=गुणों के कार्यों में
गुण-संमूढाः	=गुणों से भ्रमे हुए (मोहित) पुरुष	सज्जन्ते	=फँस जाते हैं या

लिप्त हो जाते हैं	
तान् =उन	
अ-कृत्स्न-विदः =कम जानने-वाले (अल्पज्ञ)	
मन्दान् =मंद-बुद्धि पुरुषों को	
कृत्स्न-वित् =अच्छी तरह	
जाननेवाला या तत्त्वज्ञानी पुरुष +कर्म करने से	
न विचालयेत्=विचलित न करे (अर्थात् कर्म करने से न हटावे)	

अर्थ—जो सत्त्व, रज आदि प्रकृति के गुणों में भ्रमे हुए अथवा उनमें भूले हुए हैं, वे मोह के कारण इन गुणों के कार्यों में लिप्त हो जाते हैं अर्थात् विषय-भोगों में फँस जाते हैं। ऐसे मंदबुद्धि अज्ञानी पुरुषों को ज्ञानी लोग सकाम कर्म करने से विचलित न करें (बल्कि स्वयं निष्काम कर्म करते हुए उन्हें अपने उदाहरण से कर्म में लगाये रहें)।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मयि, सर्वाणि, कर्माणि, संन्यस्य, अध्यात्म-चेतसा।
निर्-आशीः, निर्-ममः, भूत्वा, युध्यस्व, विगत-ज्वरः ॥

अध्यात्म-चेतसा =विवेक-बुद्धि से अथवा चित्त को आत्मा के ध्यान में लगाकर

मयि =मुझ परमेश्वर में

सर्वाणि =सब

कर्माणि =कर्मों को

संन्यस्य =अर्पण करके

निर्-आशीः	=आशा-रहित	विगत-ज्वरः	=शोक-रहित
निर्-ममः	=ममता-रहित	भूत्वा	=होकर
	+और	युध्यस्व	=तू युद्ध कर

अर्थ—हे अर्जुन ! तुझे अब उचित है कि तू अध्यात्मचित्त से अर्थात् आत्मा में चित्त लगाकर, सब कामों को मुझ सच्चिदानन्द भगवान् पर छोड़ दे और आशा, ममता से रहित होकर, बिना शोक-संताप, अथवा झिझक या डर के युद्ध कर।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये, मे, मतम्, इदम्, नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति, मानवाः।
श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः ॥

ये	=जो	इदम्	=इस
श्रद्धावन्तः	=श्रद्धावाले	मतम्	=मत के
अनसूयन्तः	=ईर्ष्या-रहित (दोष-बुद्धि से रहित या किसी प्रकार का दोष न निकालनेवाले)	अनुतिष्ठन्ति	=अनुसार चलते हैं
		ते	=वे
		अपि	=भी
		कर्मभिः	=कर्मों के बन्धन से
मानवाः	=मनुष्य		
नित्यम्	=नित्य	मुच्यन्ते	=छूट जाते हैं
मे	=मेरे		

अर्थ—जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश के अनुसार

नित्य चलते हैं और इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं निकालते, वे (चाहे किसी भी जाति या किसी भी आश्रम के हों) कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढाँस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

ये, तु, एतत्, अभ्यसूयन्तः, न, अनुतिष्ठन्ति, मे, मतम्।
सर्व-ज्ञान-विमूढान्, तान्, विद्धि, नष्टान्, अचेतसः॥

तु	=परन्तु	तान्	=उनको
ये	=जो		+तू
अभ्यसूयन्तः	=निन्दा करते हुए	सर्व-ज्ञान-विमूढान्	=संपूर्ण ज्ञान से मूढ़ (निरामूर्ख)
एतत्	=इस	अचेतसः	=बुद्धि-रहित (विवेकहीन)
मे	=मेरे		+और
मतम्	=मत के	नष्टान्	=भ्रष्ट हुआ
न अनुतिष्ठन्ति	=अनुसार आचरण नहीं करते	विद्धि	=जान

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन! जो मेरे इस उपदेश की निन्दा करते हैं, या कपोलकल्पित समझकर मेरी शिक्षा के अनुसार नहीं चलते, वे घोर मूर्ख हैं और भ्रष्टबुद्धि पुरुष हैं। उन्हें तू नष्ट हुआ ही समझ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

सदृशम्, चेष्टते, स्वस्याः, प्रकृतेः, ज्ञानवान्, अपि ।
प्रकृतिम्, यान्ति, भूतानि, निग्रहः, किम्, करिष्यति ॥

स्वस्याः	=अपनी	भूतानि	=सब प्राणी (भी)
प्रकृतेः	=प्रकृति (स्वभाव) के	प्रकृतिम्	=अपने स्वभाव (प्रकृति) को ही
सदृशम्	=अनुसार	यान्ति	=प्राप्त होते हैं +वहाँ
ज्ञानवान्	=ज्ञानी पुरुष	निग्रहः	=निग्रह (रोकना)
अपि	=भी	किम्	=क्या
चेष्टते	=चेष्टा करता है +तथा	करिष्यति	=करेगा

अर्थ—ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति—स्वभाव—के अनुसार ही कार्य करता है (तब अज्ञानी का तो भला कहना ही क्या ?) जब सब प्राणी (अपने पूर्वजन्म के संस्कार के अनुसार) अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हैं, तब ज़बर्दस्ती इन्द्रियों को रोकने से क्या फ़ायदा ? मतलब यह कि स्वभाव या प्रकृति के मुक़ाबले में इन्द्रियां को कोई रोक नहीं सकता ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे	=प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में
राग-द्वेषौ	=राग और द्वेष (प्रीति और अप्रीति) दोनों
व्यवस्थितौ	=स्थित हैं
	+ मनुष्य
तयोः	=उन दोनों के
वशम्	=वश में
न	=न
आगच्छेत्	=हो
हि	=क्योंकि
अस्य	=इसके (मोक्ष चाहनेवाले के मोक्ष-मार्ग में)
तौ	=वे (राग-द्वेष ही)
परिपन्थिनौ	=विरोधी (महान् शत्रु) हैं

अर्थ--हरएक इन्द्रिय अपनी अनुकूल वस्तु से प्रेम और प्रतिकूल से वैर करती है। मनुष्य को राग-द्वेष के वशीभूत होना ठीक नहीं है; क्योंकि राग-द्वेष (किसी चीज़ से प्रेम करना और किसी से घृणा करना) ही मोक्ष के रास्ते में विघ्न पैदा करनेवाले महान् शत्रु हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रेयान्, स्व-धर्मः, वि-गुणः, पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात्।
स्व-धर्मे, निधनम्, श्रेयः, पर-धर्मः, भय-आवहः ॥

सु-अनुष्ठितात्	= अच्छी तरह किये गये
पर-धर्मात्	=पराये धर्म से
स्व-धर्मः	=अपना धर्म
वि-गुणः	=गुणरहित
	+भी हो तो भी

श्रेयान्	=अच्छा है	श्रेयः	=अच्छा है
स्व-धर्मे	=अपने धर्म में	पर-धर्मः	=पराया धर्म
निधनम्	=मरना	भय-आवहः	=भय का देने-
	+ भी		वाला है

अर्थ—अपना धर्म गुणहीन ही क्यों न हो ; किन्तु वह पराये सर्व-गुण-सम्पन्न धर्म से कहीं अच्छा है। अपने धर्म में मरना भला है ; क्योंकि पराया धर्म भयानक होता है ।

व्याख्या—हे अर्जुन ! अपने वर्ण या आश्रम के अनुसार जो धर्म है वह चाहे कितना ही तुच्छ और सब अंगों से अपूर्ण क्यों न हो, तथापि वह पराये धर्म से श्रेष्ठ है। अपने धर्म के अनुसार चलने में यदि मृत्यु भी हो जाय तो सुखदायी है। राग-द्वेष के अधीन होकर अपना धर्म छोड़ना और पराया धर्म ग्रहण करना ठीक नहीं है। तुम क्षत्रिय हो; तुम्हारा धर्म युद्ध करना है। अगर तुम अपने क्षत्रिय-धर्म को छोड़ दोगे, तो नरक में पड़ोगे और जो अपना कर्तव्य कर्म करते हुए प्राणत्याग करोगे, तो मोक्ष पद पाओगे। इसलिए युद्ध-धर्म को छोड़कर भीख माँगने पर तैयार मत हो।

उपर्युक्त बातें सुनकर अर्जुन भगवान् से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम्, पापम्, चरति, पूरुषः ।
अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय, बलात्, इव, नियोजितः ॥

अर्जुन ने पूछा कि—

अथ	=फिर	चरति	=करता है ?
वार्ष्णेय	=हे कृष्ण !		+ ऐसा प्रतीत होता है कि
अनिच्छन्	=इच्छा न करते हुए	बलात्	=बल से (ज़बर-दस्ती से)
अपि	=भी		
अयम्	=यह	इव	=जैसे
पूरुषः	=जीव (पुरुष)		+ यह
केन	=किससे	नियोजितः	=(पाप में)जोड़ दिया गया है अथवा(पापमें) लग रहा है ।
प्रयुक्तः	=प्रेरित हुआ (उकसाया हुआ)		
पापम्	=पापाचरण		

अर्थ—हे कृष्ण ! किसकी प्रेरणा से या किसके उसकाने से यह मनुष्य पाप करने लगता है ? अर्थात् किस ज़बरदस्त कारण से मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध चलने को तैयार हो जाता है, ऐसा मालूम होता है कि मानों कोई उससे ज़बरदस्ती पाप करवा रहा है ।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजः-गुण-समुद्भवः ।
महा-अशनः, महा-पाप्मा, विद्धि, एनम्, इह, वैरिणम् ॥

रजः-गुण-समुद्भवः	=रजोगुण से उत्पन्न हुआ		होती
			+ और
एषः	=यह	महा-पाप्मा	=बड़ा पापी है
कामः	=काम ही	इह	=इस संसार में
क्रोधः	=क्रोध है	एनम्	=इसको
एषः	=यह		+ तू
महा-अशनः	=बड़ा खानेवाला है यानी इसकी तृप्तिकभी नहीं	वैरिणम्	=शत्रु
		विद्धि	=जान

भगवान् कहते हैं—

हे अर्जुन ! जिसको तुम पूछते हो, वह काम ही क्रोध है, जो रजोगुण से पैदा हुआ है। सब कुछ खा जाने पर भी इसकी तृप्ति नहीं होती ; यह बड़ा पापी है। इस संसार में हमारा सबसे बड़ा शत्रु "काम" (विषय-वासना) ही है।

व्याख्या—अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से यह पूछा था कि मनुष्य को ज़बरदस्ती पाप-कर्म में लगानेवाला कौन है ? उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—"जिस बलवान् प्रेरणा करनेवाले को तुम पूछते हो, उसे मैं यद्यपि दूसरे अध्याय में बतला चुका हूँ, तथापि तुम्हारे दुबारा प्रश्न करने पर फिर बतलाता हूँ कि यह "काम" यानी इच्छा है। जब इच्छानुसार वस्तुएँ नहीं मिलतीं, तब यह 'काम' 'क्रोध' में बदल जाता है। इस इच्छा के पेट की कोई थाह नहीं। यह काम पदार्थों के भोगों से कभी सन्तुष्ट नहीं होता। मतलब यह कि जैसे-जैसे इच्छानुसार भोग मिलते जाते हैं वैसे ही वैसे "इच्छा" बढ़ती जाती है। जब इच्छा पूरी नहीं होती तो मनुष्य "इच्छा" पूरी करने के लिए अनेक

प्रकार के पाप व नीच कर्म करने लगता है। मतलब यह कि काम ही हमारा परम "शत्रु" है। भगवान् के कहने का सार यह है कि केवल कामना या इच्छा ही मनुष्य से ज़बरदस्ती पाप कराती है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूमेन, आव्रियते, वह्निः, यथा, आदर्शः, मलेन, च।
यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः, तथा, तेन, इदम्, आवृतम् ॥

यथा	=जैसे	यथा	=जैसे
धूमेन	=धुएँ से	उल्बेन	=झिल्ली (जरायु) से
वह्निः	=अग्नि	गर्भः	=गर्भ
आव्रियते	=ढक जाती है	आवृतः	=ढका रहता है
च	=और	तथा	=वैसे ही
मलेन	=धूलिसे (मैलसे)	तेन	=उस (काम) से
आदर्शः	=दर्पण (शीशा)	इदम्	=यह (आत्म-ज्ञान)
	+ आच्छादित हो जाता है	आवृतम्	=ढका हुआ है
	+ और		

अर्थ—जैसे धुएँ से अग्नि ढक जाती है, धूलि से दर्पण (शीशा) ढक जाता है और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है वैसे ही यह 'आत्मज्ञान' भी काम से ढका रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

आवृतम्, ज्ञानम्, एतेन, ज्ञानिनः, नित्य-वैरिणा ।
काम-रूपेण, कौन्तेय, दुष्पूरेण, अनलेन, च ॥

च	=और		स्वभाववाले
कौन्तेय	=हे अर्जुन !	एतेन	=इस
नित्य-वैरिणा	=सदा के वैरी	काम-रूपेण	=काम-रूप ने
दुष्पूरेण	=भोगों से कभी तृप्त न होनेवाले	ज्ञानिनः	=ज्ञानी के
		ज्ञानम्	=ज्ञान को
अनलेन	=अग्नि-सदृश	आवृतम्	=ढक रक्खा है

अर्थ—इस काम ने मनुष्य के 'ज्ञान' पर परदा डाल रक्खा है। यह ज्ञान का नित्य वैरी है। जैसे काष्ठ व घृतादि से अग्नि कदापि तृप्त नहीं होती, बल्कि उल्टी धधकती है, उसी प्रकार यह कामरूपी अग्नि भी विषय-भोग को पाकर कदापि शान्त नहीं होती ; बल्कि उल्टी बढ़ती ही जाती है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः, अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते ।
एतैः, विमोहयति, एषः, ज्ञानम्, आवृत्य, देहिनम् ॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ		+ और
मनः	=मन	बुद्धिः	=बुद्धि

अस्य	=इस (काम) के	ज्ञानम्	=आत्म-ज्ञान को
अधिष्ठानम्	=रहने के स्थान	आवृत्य	=ढककर
उच्यते	=कहे जाते हैं	देहिनम्	=जीवात्मा को
एषः	=यह (काम)	विमोहयति	=मोहित करता है
एतैः	=इन्हीं के द्वारा		

अर्थ—दसों इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये तीनों काम (इच्छा) के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इन्हीं तीनों की सहायता से यह 'काम" प्राणियों के ज्ञान (बुद्धि) को ढककर उन्हें अनेक प्रकार के मोह, भ्रम या धोखे में डालता है (इसी कारण जीवात्मा को अपने असली स्वरूप का ज्ञान नहीं होता)।

भगवान् कहते हैं कि मनुष्य इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है, मन से संकल्प करता है, बुद्धि से निश्चय करता है, इसलिए यही तीनों 'कामना' के रहने की जगहें हैं। इन्हीं तीनों के बल से 'कामना' ज्ञान को ढक लेती और मनुष्य को मोह में फँसाती है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

तस्मात्, त्वम्, इन्द्रियाणि, आदौ, नियम्य, भरत-ऋषभ।
पाप्मानम्, प्रजहि, हि, एनम्, ज्ञानविज्ञान-नाशनम् ॥

तस्मात्	=इसलिए	आदौ	=पहिले ही से
भरत-ऋषभ	=हे भरतकुल में श्रेष्ठ !	इन्द्रियाणि	=इन्द्रियों को
		नियम्य	=रोककर (वश में करके)
त्वम्	=तू		

ज्ञान-विज्ञान-नाशनम्	ज्ञान-विज्ञान =के नाश करने-वाले		को + तू
एनम्	=इस	हि	=निश्चय करके
पाप्मानम्	=पापी (काम)	प्रजहि	=मार

इसलिए हे अर्जुन ! तू पहिले अपनी इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान-विज्ञाननाशक पापी "काम" को अवश्य मार डाल यानी इसको जीत।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः। मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियों को (स्थूल देह से)	मनसः	=मन से
		तु	=भी
पराणि	=श्रेष्ठ	परा	=श्रेष्ठ है
आहुः	=कहते हैं	यः	=जो
इन्द्रियेभ्यः	=इन्द्रियों से	बुद्धेः	=बुद्धि से
मनः	=मन	तु	=भी
परम्	=श्रेष्ठ है	परतः	=श्रेष्ठ है
बुद्धिः	=बुद्धि	सः	=वह आत्मा है

अर्थ—इन्द्रियाँ तो प्रबल हैं ही, इन्द्रियों से प्रबल मन है,

मन से प्रबल बुद्धि है क्योंकि वह मन के विचार को रोकना चाहे तो रोक सकती है। आत्मा इन सबसे अलग और श्रेष्ठ है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना।
जहि, शत्रुम्, महाबाहो, काम-रूपम्, दुर्-आसदम् ॥

एवम्	=इस प्रकार (उस आत्मा को)		(अपने आप को)
बुद्धेः	=बुद्धि से	**संस्तभ्य**	=रोककर
परम्	=श्रेष्ठ	**महाबाहो**	=हे अर्जुन !
बुद्ध्वा	=जानकर + और	**दुर्-आसदम्**	=दुःख से जीते जानेवाले
आत्मना	=आत्मा से (आत्मबलसे)	**काम-रूपम्**	=कामरूपी
आत्मानम्	=आत्मा को	**शत्रुम्**	= शत्रु को +तू
		जहि	=मार

अर्थ—हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से परे (श्रेष्ठ) जानकर और मन को निश्चल करके आत्मा से आत्मा को अर्थात् अपने प्राण को अपने ही आत्मबल से रोककर इस दुर्विजय कामरूप शत्रु का नाश कर डाल।

तीसरा अध्याय समाप्त

गीता के तीसरे अध्याय का माहात्म्य ।

भगवान् विष्णु ने कहा—"हे देवि ! अब गीता के तीसरे अध्याय का माहात्म्य सुनो । कौशिक-वंश में जड़ नाम का एक अधर्मी ब्राह्मण था । वह अपना धर्म-कर्म छोड़कर बनियों की वृत्ति करता था । वह बड़ा दुराचारी, व्यसनी, जुआरी और शराबी था । हमेशा शिकार खेला करता था । जब उसके पास धन न रह गया तब वह चोरी करने लगा । चोरी से कुछ धन सञ्चय करके व्यापार करने के लिये विदेश को चला गया । वहाँ व्यापार की बहुत-सी वस्तुएँ खरीदकर जब अपने देश को वापिस आ रहा था, तब मार्ग में चोरों ने उसका सब माल छीन लिया और उसे मार डाला । अपने दुष्कर्मों के फल से वह भयानक प्रेत हुआ; वह हमेशा भूख-प्यास से व्याकुल रहता था । उस कालरूप प्रेत की जाँघें भारी थीं, पेट पीठ में लगा था, बाल खड़े थे और आँखें विकराल थीं । जब बहुत दिन बीत गये और वह लौटकर घर न आया, तो उसका पुत्र अपने पिता को ढूँढ़ने के लिए निकला । मार्ग में अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह बड़ा दुखी हुआ । उसका पुत्र बड़ा विद्वान् और धर्मात्मा था । उसने अपने पिता की परलोक-क्रिया करने की इच्छा से, सब सामग्री लेकर काशी की यात्रा की । मार्ग में चलते-चलते उसी पेड़ के नीचे पहुँचा, जहाँ उसके पिता की मृत्यु हुई थी । सन्ध्या

हो गई थी, इसलिए वह इसी पेड़ के नीचे ठहर गया। सन्ध्योपासन करके वह गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करने लगा। उसी समय उसने देखा कि अपने तेज से सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ एक सुन्दर विमान आकाश से आया और उसका पिता उस विमान पर बैठ गया। वह पीताम्बर ओढ़े है, बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ उसके साथ बैठी हैं और मुनिगण उसकी स्तुति कर रहे हैं। उसने लपककर पिता को प्रणाम किया और उनका हाल पूछा। पिता ने कहा—बेटा, तुमने गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके हमारे सब पापों का नाश कर दिया है। अब हम वैकुण्ठ धाम को जाते हैं और तुम अपने घर को लौट जाओ। तुम जिस निमित्त काशी को जा रहे थे वह काम पूरा हो गया। पुत्र ने फिर पूछो—'पिताजी ! और जो कुछ हमारे करने योग्य काम हो वह बताइए।' पिता ने कहा—'हे निष्पाप ! हमारा भाई भी हमारे ही समान पापी है, वह भी नरक में पड़ा है, उसका भी उद्धार करो। और भी हमारे पूर्वज नरक में पड़े हैं, उनका भी दुःख से छुड़ाओ।' पुत्र ने पूछा—'किस कर्म के करने से उनकी मुक्ति हो सकती है, सो आप बताइए।' पिता ने कहा—'बेटा ! जिस कर्म से हमको प्रेत-योनि से छुड़ाया है, उसी कर्म से अर्थात् गीता के तीसरे अध्याय के पाठ से उनका भी उद्धार करो। गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके उसका पुण्य उनको दे दो, उसी के प्रभाव से वे नरक से छुटकारा पाकर परमपद को जायँगे।' पिता पुत्र को यह आज्ञा देकर विष्णु के श्रेष्ठपद— वैकुण्ठलोक—को चला गया। पुत्र

अपने पिता की आज्ञा के अनुसार गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके नरकगामी पूर्वजों को मुक्त करने लगा। इस प्रकार उसके पिता का भाई और अन्य सब पूर्व-पुरुष वैकुण्ठ को चले गये। वह पुत्र भी अन्त को अपने पुण्य के प्रभाव से विष्णुलोक को गया।"

चौथा अध्याय
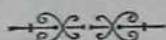
श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इमम्, विवस्वते, योगम्, प्रोक्तवान्, अहम्, अव्ययम् ।
विवस्वान्, मनवे, प्राह, मनुः, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत् ॥

भगवान् कृष्ण बोले—

इमम् =इस
अव्ययम् =अविनाशी (सनातन)
योगम् =योग को
+प्रथम सृष्टि के आदि में
अहम् =मैंने
विवस्वते =सूर्य से
प्रोक्तवान् =कहा था

विवस्वान् =सूर्य ने
मनवे =वैवस्वत मनु से
प्राह =कहा
+ और
मनुः =मनु ने
इक्ष्वाकवे =अपने पुत्र इक्ष्वाकु से
अब्रवीत् =कहा

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि इस अविनाशी (सनातन) कर्म-योग को मैंने पहले सूर्य से कहा था; सूर्य ने अपने पुत्र मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

एवम्, परम्परा-प्राप्तम्, इमम्, राज-ऋषयः, विदुः।
सः, कालेन, इह, महता, योगः, नष्टः, परंतप ॥

एवम्	=इस प्रकार	योगः	=योग
परम्परा-प्राप्तम्	=परम्परा (एक दूसरे) से प्राप्त होते हुए	इह	=इस संसार में
		परंतप	=हे अर्जुन!
		महता	=दीर्घ
इमम्	=इस योग को	कालेन	=कालव्यतीत हो जाने के कारण
राज-ऋषयः	=राजऋषियों ने		
विदुः	=जाना	नष्टः	=नष्ट हो गया है
सः	=वह		

अर्थ—यह योग इसी तरह परम्परा से चला आया। इसे जनक, अजातशत्रु और निमि आदि राज-ऋषि जानते थे। हे शत्रुओं के तपानेवाले अर्जुन! दीर्घ काल बीत जाने से यह सुखदायक योग संसार से प्रायः लुप्त हो गया है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सः, एव, अयम्, मया, ते, अद्य, योगः, प्रोक्तः, पुरातनः ।
भक्तः, असि, मे, सखा, च, इति, रहस्यम्, हि, एतत्, उत्तमम् ॥

सः	=वह	च	=और
एव	=ही	सखा	=सखा (मित्र)
अयम्	=यह	असि	=है
पुरातनः	=सनातन	इति	=इसीलिए (मैंने तुझे बतलाया है)
योगः	=योग		
अद्य	=आज		
मया	=मैंने	हि	=क्योंकि
ते	=तुझसे	एतत्	=यह योग
प्रोक्तः	=कहा है + तू	उत्तमम्	=अति उत्तम
मे	=मेरा	रहस्यम्	=रहस्य या गोपनीय ज्ञान है
भक्तः	=भक्त		

अर्थ—तू मेरा भक्त और सखा है ; इसी लिए मैंने तुझसे उस सनातन योग को कहा है । यह योग निस्सन्देह अति उत्तम रहस्य या गोपनीय ज्ञान है ।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अपरम्, भवतः, जन्म, परम्, जन्म, विवस्वतः ।
कथम्, एतत्, विजानीयाम्, त्वम्, आदौ, प्रोक्तवान्, इति ॥

श्रीकृष्ण के वचन सुन अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् !

भवतः	=आपका	एतत्	=यह
जन्म	=जन्म	विजानीयाम्	=मैं जानूँ
अपरम्	=पीछे (द्वापर के अन्त में अब हुआ है)		+ कि
विवस्वतः	=सूर्य का	त्वम्	=आपने
जन्म	=जन्म	आदौ	=सृष्टि के आदि में
परम्	=पहिले(सत्ययुग में हुआ था)		+ सूर्य से
कथम्	=कैसे	इति	=यह
		प्रोक्तवान्	=कहा था ?

अर्थ—हे भगवन् ! आपका जन्म अब हुआ है और सूर्य का जन्म पहले हुआ था । यह मैं कैसे समझूँ कि आप ही ने सूर्य को सबसे पहले यह उत्तम योग बतलाया था ।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

बहूनि, मे, व्यतीतानि, जन्मानि, तव, च, अर्जुन ।
तानि, अहम्, वेद, सर्वाणि, न, त्वम्, वेत्थ, परंतप ॥

इस पर भगवान् ने उत्तर दिया—

अर्जुन	=हे अर्जुन	तव	=तेरे
मे	=मेरे	बहूनि	=बहुत से
च	=और	जन्मानि	=जन्म

व्यतीतानि	=बीत चुके हैं		+ परन्तु
तानि	=उन	परंतप	=हे अर्जुन !
सर्वाणि	=सबको	त्वम्	=तू
अहम्	=मैं	न	=नहीं
वेद	=जानता हूँ	वेत्थ	=जानता

अर्थ—इस पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सब जन्मों की बातें मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।

व्याख्या—अर्जुन का संदेह दूर करने के लिए भगवान् ने इस प्रकार कहा कि 'हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। मेरी ज्ञानशक्ति सदैव बनी रहती है; इसलिए मुझे हर एक जन्म की बात याद रहती है; किन्तु तुझ पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है; इसीलिए तुझे पूर्व जन्मों की बात याद नहीं है।'

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः, अपि, सन्, अव्यय-आत्मा, भूतानाम्, ईश्वरः, अपि, सन्।
प्रकृतिम्, स्वाम्, अधिष्ठाय, सम्भवामि, आत्म-मायया ॥

अजः	=जन्मरहित (अजन्मा)	अपि	=भी
			+ और
अव्यय-आत्मा	=अविनाशी (निर्विकार) आत्मा	भूतानाम्	=प्राणियों का
		ईश्वरः	=ईश्वर(मालिक)
		सन्	=होते हुए
सन्	=होते हुए	अपि	=भी

स्वाम्	=अपनी	आत्म-मायया	=अपनी माया से (अपनी शक्ति से)
प्रकृतिम्	=प्रकृति (माया) को	सम्भवामि	=मैं प्रकट होता हूँ
अधिष्ठाय	=वश करके (आश्रय करके)		

अर्थ—यद्यपि मैं जन्मरहित और अविनाशी हूँ और (स्थावर-जंगम) सब प्राणियों का मालिक भी हूँ; परन्तु अपनी ही प्रकृति (त्रिगुणवाली शुद्ध सत्त्वप्रधान माया) का आश्रय लेकर, अपनी ही इच्छा से, मैं जन्म लेता हूँ ।

यह जन्म कब होता है, उसे भगवान् नीचे कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा, यदा, हि, धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत ।
अभ्युत्थानम्, अधर्मस्य, तदा, आत्मानम्, सृजामि, अहम् ॥

भारत	=हे अर्जुन		+ होती है
यदा, यदा	=जब-जब	तदा	=उस समय
धर्मस्य	=धर्म की	हि	=ही
ग्लानिः	=हानि	अहम्	=मैं
भवति	=होती है +और	आत्मानम्	=अपने आपको
अधर्मस्य	=अधर्म की	सृजामि	=उत्पन्न करता या प्रकट करता हूँ
अभ्युत्थानम्	=वृद्धि		

अर्थ—हे भारत ! जब-जब धर्म की घटती और अधर्म की वृद्धि होती है अर्थात् जिस समय लोग अपना कर्तव्य पालन करना छोड़ बैठते हैं और दिन-रात अनर्थ करने पर उतारू हो जाते हैं, ठीक उसी समय मैं अवतार लेता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

परित्राणाय, साधूनाम्, विनाशाय, च, दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापन-अर्थाय, संभवामि, युगे, युगे ॥

साधूनाम्	=साधु महात्माओं की		लिए + तथा
परित्राणाय	=रक्षा के लिए	धर्म संस्थापन-अर्थाय	=धर्म को भले प्रकार स्थापन करने के लिए
च	=और		
दुष्कृताम्	=दुष्टों (पापियों) के	युगे युगे	=हरएक युग में
विनाशाय	=नाश करने के	सम्भवामि	=मैं जन्म लेता हूँ

अर्थ—साधु स्वभाववाले पुरुष यानी धर्मात्माओं की रक्षा करने के लिए, दुष्ट मनुष्यों का नाश करने लिए और धर्म की स्थापना अर्थात् बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक करने के लिए मैं सतयुग आदि हर एक युग में अवतार लेता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जन्म, कर्म, च, मे, दिव्यम्, एवम्, यः, वेत्ति, तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा, देहम्, पुनः, जन्म, न, एति, माम्, एति, सः, अर्जुन ॥

मे	= मेरे	सः	=वह
दिव्यम्	=अलौकिक (दिव्य)	देहम्	=देह को
		त्यक्त्वा	=त्यागकर
जन्म	=जन्म	पुनः	=फिर
च	=और	जन्म	=जन्म को
कर्म	=कर्म को	न एति	=प्राप्त नहीं होता
यः	=जो		=+ परन्तु
एवम्	=इस प्रकार	माम्	=मुझ शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को
तत्त्वतः	=यथार्थ परमार्थ दृष्टि से		
वेत्ति	=जानता है	एति	=प्राप्त होता है
अर्जुन	=हे अर्जुन !		

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस मनुष्य को मेरे इस अलौकिक स्वरूप का और धर्म क़ायम रखने के लिए मेरे दिव्य (असाधारण) कर्मों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह देह छोड़ने पर फिर जन्म नहीं लेता; बल्कि मुझमें ही मिल जाता है ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

वीत-राग-भय-क्रोधाः, मत्-मयाः, माम्, उपाश्रिताः ।
बहवः, ज्ञान-तपसा, पूताः, मत्-भावम्, आगताः ॥

वीत-राग-भय-क्रोधाः	=राग, भय और क्रोध से रहित	ज्ञान-तपसा	=ज्ञानरूपी तप से या ज्ञानाग्नि से
मत्-मयाः	=मेरे ही प्रेम या ध्यान में मग्न रहनेवाले	पूताः	=शुद्ध (पवित्र) हुए
माम्	=मेरे	मत्-भावम्	=मेरे भाव अर्थात् मेरे स्वरूप या मोक्ष को
उपाश्रिताः	=आश्रित	आगताः	=प्राप्त हुए हैं
बहवः	=बहुत से पुरुष		

अर्थ—जिनको न किसी में मोह है, न किसी से भय है, जो न किसी पर क्रोध करते हैं, सब प्रकार से मेरे ही ध्यान में लीन रहते हैं, मेरे ही भरोसे रहते हैं और ज्ञानरूपी तप या ज्ञानाग्नि से शुद्ध हो गए हैं, ऐसे मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मुझमें ही जा मिलते हैं (जिससे उनको जन्म-मरण के झंझट में फिर नहीं पड़ना पड़ता)।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

ये, यथा, माम्, प्रपद्यन्ते, तान्, तथा, एव, भजामि, अहम्।
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ॥

ये	=जो		भाव से)
माम्	=मुझ सच्चिदानन्द को	प्रपद्यन्ते	=भजते हैं (याद करते हैं)
यथा	=जैसे (जिस	अहम्	=मैं

	+ भी	सर्वशः	= सब प्रकार से
तान्	=उनको	मम	=मेरे (ही)
तथा	=वैसे	वर्त्म	=मार्ग (ज्ञान-मार्ग या कर्म-मार्ग) का
एव	=ही		
भजामि	=भजता हूँ (फल देता हूँ)	अनुवर्तन्ते	=अनुसरण करते हैं
पार्थ	=हे अर्जुन !		
मनुष्याः	=मनुष्य		

अर्थ— लोग जिस भाव से मुझको भजते हैं, मैं उन्हें वैसा ही फल देता हूँ। हे अर्जुन ! मनुष्य किसी भी रास्ते पर क्यों न चलें, सब मेरे ही मार्ग हैं।

व्याख्या—जो जिस अभिप्राय से भगवान् की शरण में जाते हैं, भगवान् उनको वैसा ही फल देते हैं; किन्तु 'इच्छा' रखकर भजनेवालों की बनिस्बत 'इच्छा' न रखकर भजनेवाले श्रेष्ठ हैं; क्योंकि ऐसे मनुष्य परमपद को प्राप्त होते हैं। सकामी मनुष्य अपने कर्मों का प्रतिफल (बदला) चाहते हैं; अतः भगवान् उनका चाहा हुआ वैसा ही फल देते हैं। भगवान् दुःखी मनुष्यों के दुःख को दूर करते हैं, धन चाहनेवालों को धन देते हैं और ज्ञानियों को मोक्ष देते हैं। मतलब यह कि मनुष्य किसी भी मार्ग से क्यों न जाय सब उसी के मार्ग हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

काङ्क्षन्तः, कर्मणाम्, सिद्धिम्, यजन्ते, इह, देवताः।
क्षिप्रम्, हि, मानुषे, लोके, सिद्धिः, भवति, कर्म-जा॥

कर्मणाम्	=कर्मों की	हि	=क्योंकि
सिद्धिम्	=सिद्धि (फल)	मानुषे, लोके	=इस मनुष्य-लोक में
काङ्क्षन्तः	=चाहनेवाले लोग	कर्म-जा	=कर्मों से उत्पन्न होनेवाली
इह	=इस संसार में अथवा इस मनुष्यदेह में	सिद्धिः	=सिद्धि
देवताः	=देवताओं को	क्षिप्रम्	=शीघ्र
यजन्ते	=पूजते हैं	भवति	=होती है

अर्थ—लोग, इस लोक में फल पाने की इच्छा से देवताओं की पूजा करते हैं; क्योंकि उन्हें इस मनुष्यलोक में कर्मों की सिद्धि शीघ्र होती है।

व्याख्या—इस लोक में दो तरह के मनुष्य हैं--(१) 'सकाम' यानी फल की इच्छा रखनेवाले (२) 'निष्काम' जो फलों की चाहना नहीं रखते। सकाम कर्म करनेवालों को देवताओं के संतुष्ट करने से, पुत्र, धन, स्त्री आदि सांसारिक अनित्य—न रहनेवाले—पदार्थ शीघ्र ही मिल जाते हैं; किन्तु साक्षात् परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने से ज्ञान का उदय होता है और उस ज्ञान का फल मोक्ष है। मनुष्य को 'मोक्ष' बड़ी देर से और कठिनाई से मिलता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य को धन, स्त्री-पुत्र आदि छोड़कर वैराग्य लेना पड़ता है; किन्तु जो सांसारिक पदार्थों के जाल में फँसे हुए हैं, वे ऐसा नहीं करते। भगवान् कहते हैं कि मनुष्य फल पाने की इच्छा से देवताओं को भजते हैं—उन्हीं की पूजा करते हैं—सीधे मुझ ईश्वर की नहीं; यद्यपि टेढ़ी रीति से वह भी मेरी ही उपासना या पूजा है; क्योंकि वे देवता भी मेरे ही दूसरे रूप हैं। वास्तव में "मोक्ष" ही सबसे ऊँचा और

सबसे श्रेष्ठ फल है ; अतएव मनुष्य को निष्काम कर्म करते हुए परमात्मा की ही पूजा करनी चाहिए ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्-वर्ण्यम्, मया, सृष्टम्, गुण-कर्म-विभागशः ।
तस्य, कर्तारम्, अपि, माम्, विद्धि, अकर्तारम्, अव्ययम् ॥

गुण-कर्म-विभागशः	=सत्त्वादि गुणों के विभाग से कर्मों का विभाग करके	कर्तारम्	=कर्ता +होते हुए
		अपि	=भी
		माम्	=मुझ (सबके आत्मा) को
चातुर्-वर्ण्यम्	= चारों वर्ण	अकर्तारम्	=अकर्ता +और
मया	=मुझसे		
सृष्टम्	=रचे गए हैं	अव्ययम्	=निर्विकार
तस्य	=उनका	विद्धि	=जान

अर्थ—हे अर्जुन ! गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार मैंने चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) रचे हैं, अगरचे मैं उनका कर्ता—करनेवाला—हूँ ; तो भी मुझे अकर्ता और अविनाशी ही समझ ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

न, माम्, कर्माणि, लिम्पन्ति, न,मे, कर्म-फले, स्पृहा ।
इति, माम्, यः, अभिजानाति, कर्मभिः, न, सः, बध्यते ॥

न	=न	इति	=इस तरह
कर्माणि	=कर्म	यः	=जो
माम्	=मुझको	माम्	=मुझे
लिम्पन्ति	=लिपायमान करते हैं	अभिजानाति	=यथार्थतया जानता है
न	=न	सः	=वह
मे	=मेरी	कर्मभिः	=कर्मों से
कर्म-फले	=कर्म-फल में	न बध्यते	=बाधित नहीं होता
स्पृहा	=चाह ही होती है		

अर्थ—मुझ पर न तो कर्म कुछ असर ही करते हैं, और न मुझे कर्मों के फल पाने की इच्छा ही होती है । जो मुझे इस प्रकार यथार्थतया जानता है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता ।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवम्, ज्ञात्वा, कृतम्, कर्म, पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः ।
कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वम्, पूर्वैः, पूर्वतरम्, कृतम् ॥

एवम्	=इस प्रकार	पूर्वैः	=पहिले के
ज्ञात्वा	=जानकर + कि	मुमुक्षुभिः	= (राजा जनक आदि) मुक्ति की

	इच्छावालों ने
अपि	=भी
कर्म	=कर्म
कृतम्	=किये हैं
तस्मात्	=इसलिए
पूर्वैः	=पूर्वजों द्वारा (पूर्व पुरुषों से)
पूर्वतरम्	=पूर्व काल में
कृतम्	=किए हुए
कर्म	=कर्म को
एव	=ही
त्वम्	=तू +भी
कुरु	=कर

अर्थ—यह जानकर कि (राजा जनक आदि) मोक्ष चाहनेवालों ने पहले भी कर्म किये हैं; हे अर्जुन ! पूर्व पुरुषों की तरह तू भी (अपने को 'कर्ता' और 'भोक्ता' न समझ कर) कर्म कर।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६॥

किम्, कर्म, किम्, अकर्म, इति, कवयः, अपि, अत्र, मोहिताः।
तत्, ते, कर्म, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥

कर्म	=कर्म
किम्	=क्या है
अकर्म	=अकर्म
किम्	=क्या है
इति	=यह जो विषय है
अत्र	=इस विषय में
कवयः	=बुद्धिमान् लोग
अपि	=भी
मोहिताः	=भ्रम में पड़े हुए हैं +मैं
ते	=तुझे

तत्	=उस	यत्	=जिसको
कर्म	=कर्म (के रहस्य) को	ज्ञात्वा	=जानकर
प्रवक्ष्यामि	=कहूँगा (बतलाऊँगा)	अशुभात्	=दुःखरूपी संसार से
		मोक्ष्यसे	=तू छूट जायगा

अर्थ—'कर्म' क्या है और 'अकर्म' क्या है अर्थात् कौन-सा काम करना चाहिए और कौन-सा नहीं—इस विषय में बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों की भी बुद्धि चकरा गई है। इसलिए मैं तुझे उस कर्म के रहस्य को बतलाऊँगा जिसके जानने से तू संसार के दुःखों से छूट जायगा अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पा जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मणः, हि, अपि, बोद्धव्यम्, बोद्धव्यम्, च, विकर्मणः।
अकर्मणः, च, बोद्धव्यम्, गहना, कर्मणः, गतिः॥

कर्मणः	=कर्म का स्वरूप	अकर्मणः	=अकर्म का स्वरूप भी
बोद्धव्यम्	=जानने योग्य है		
च	=और	बोद्धव्यम्	=जानने योग्य है
विकर्मणः	=निषिद्ध कर्म का स्वरूप	हि	=क्योंकि
		कर्मणः	=कर्म की
अपि	=भी	गतिः	=गति (मार्ग)
बोद्धव्यम्	=जानने योग्य है	गहना	=कठिन या बड़ी गंभीर है
च	=और		

अर्थ—कर्म का, विकर्म का और अकर्म का तत्त्व जानना बड़ा ज़रूरी है; क्योंकि कर्म-मार्ग बड़ा गम्भीर, कठिन व रहस्य से भरा हुआ है।

मतलब यह कि शास्त्र में जिन कामों के करने की आज्ञा है उन्हें 'कर्म' कहते हैं; जिन कामों के करने की आज्ञा नहीं है, उन्हें 'विकर्म' कहते हैं। तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर, इन्द्रियों के सब व्यापारों को बन्द करके चुपचाप बैठ जाने को या शास्त्रोक्त कर्म के छोड़ देने को 'अकर्म' कहते हैं। इन तीनों का असली मतलब समझना बड़ा कठिन है; इस लिए भगवान् इन तीन तरह के कर्मों का भेद आगे समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि, अकर्म, यः, पश्येत्, अकर्मणि, च, कर्म, यः।
सः, बुद्धिमान्, मनुष्येषु, सः, युक्तः, कृत्स्न-कर्म-कृत् ॥

यः	=जो	मनुष्येषु	=मनुष्यों में
कर्मणि	=कर्म में	बुद्धिमान्	=बुद्धिमान् है
अकर्म	=अकर्म		+ क्योंकि
पश्येत्	=देखता है	सः	=वह
च	=और	कृत्स्न-कर्म-कृत्	=समस्त कर्म करता हुआ (भी)
यः	=जो	युक्तः	=युक्त यानी योगी
अकर्मणि	=अकर्म में		+ रहता है
कर्म	=कर्म		
	+ देखता है		
सः	=वह		

अर्थ—जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, क्योंकि वह सब काम करते हुए भी युक्त (योगी) रहता है।

व्याख्या—सत्त्व, रज और तमोगुण के कारण ही समस्त इन्द्रियाँ अपने आप काम करती रहती हैं ; अतएव जो मनुष्य इन्द्रियों के काम को इन्द्रियों का ही काम समझता है, किन्तु आत्मा का काम नहीं समझता यानी जो यह समझता है कि इनका करनेवाला आत्मा नहीं है वही कर्म में अकर्म देखनेवाला है। काम का सम्बन्ध देह से है न कि आत्मा से। वास्तव में न तो आत्मा कुछ काम ही करता है और न फलस्वरूप कुछ दुःख और सुख ही भोगता है। देह और इन्द्रियाँ ही काम करती हैं और ज्ञान होने पर वे ही काम करना छोड़ती हैं। संसार में काम करते हुए आत्मा को कामों का न करनेवाला समझना ही "कर्म में अकर्म" देखना है। इसी प्रकार काम के छोड़ देने पर आत्मा को काम छोड़नेवाला न समझना ही "अकर्म में कर्म" देखना है। जिस प्रकार मनुष्य चलते हुए जहाज़ या रेल से किनारे के वृक्षों को चलते हुए देखता है और भ्रम से वृक्षों को चलता हुआ समझता है, इसी प्रकार मनुष्य की देह और इन्द्रियाँ तो काम करती हैं ; किन्तु भ्रमवश वह अपने आत्मा को काम करता हुआ समझता है। इसी भ्रान्ति और भूल को दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं—"जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है।"

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

यस्य, सर्वे, समारम्भाः, काम-संकल्प-वर्जिताः।
ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्, तम्, आहुः, पण्डितम्, बुधाः ॥

यस्य	=जिसके	ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्	=जिसने ज्ञानरूपी अग्नि से कर्मों को भस्म कर दिया है
सर्वे	=सारे (सम्पूर्ण)	तम्	=उसको
समारम्भाः	=कार्य (काम)	बुधाः	=बुद्धिमान् लोग
काम-संकल्प-वर्जिताः	=कामना और संकल्प से रहित हैं	पण्डितम्	=पण्डित
	+ और	आहुः	=कहते हैं

अर्थ—जो बिना इच्छा और सङ्कल्प के सारे काम करता है, जिसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से नष्ट हो गये हैं अर्थात् जो ज्ञानी पहले कहे हुए 'कर्म' 'अकर्म' के तत्त्व को समझ गया है उसी को बुद्धिमान् लोग पंडित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

त्यक्त्वा, कर्म-फल-आसङ्गम्, नित्य-तृप्तः, निर्-आश्रयः।
कर्मणि, अभिप्रवृत्तः, अपि, न, एव, किञ्चित्, करोति, सः॥

कर्म-फल-आसङ्गम्	=कर्मों के फल भोगने की अभिलाषा को	निर्-आश्रयः	=जो आश्रयरहित है (अर्थात् सिवाय आत्मानन्द के और किसी विषय का आश्रय नहीं है जिसको)
त्यक्त्वा	=त्यागकर		
नित्य-तृप्तः	=सदा आत्मस्वरूप में तृप्त और		

सः	=वह		+ वास्तव में
कर्मणि	=कर्म में	किञ्चित्	=कुछ
अभिप्रवृत्तः	=अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ	एव	=भी
		न	=नहीं
अपि	=भी	करोति	=करता है

अर्थ—जिसने कर्मों के फलों की इच्छा त्याग दी है, जो (अपने आप में) हमेशा सन्तुष्ट रहता है अर्थात् जिसे इन्द्रियों के विषयों के भोगने की अभिलाषा नहीं है, जो आत्मा के सिवाय और किसी के आश्रय नहीं रहता अर्थात् जिसे अपने आत्मा—अपने स्वरूप—में ही आनन्द मिलता है, वह चाहे ऊपर से अच्छी तरह काम करता हुआ दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वह कुछ भी कर्म नहीं करता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निर्-आशीः, यत-चित्त-आत्मा, त्यक्त-सर्व-परिग्रहः।
शारीरम्, केवलम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम्॥

निर्-आशीः	=जो आशा-रहित है	त्यक्तसर्व-परिग्रहः	=सांसारिक पदार्थों के संग्रह करने में जिसका ममत्व छूट गया है
यत-चित्त-आत्मा	=जिसने अन्तःकरण और मन को जीत लिया है		+ ऐसा पुरुष
	+ तथा	केवलम्	=केवल

शारीरम्	=शरीर द्वारा	किल्बिषम्	=पाप को
कर्म	=(कर्त्तव्य) कर्म को	न	=नहीं
कुर्वन्	=करता हुआ	आप्नोति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो सर्व प्रकार की आशा से रहित है यानी जिसे लोक और परलोक के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है, जिसने अपने अन्तःकरण और मन को वश में कर लिया है और विषय-भोगों के पदार्थों (धन, मकान, स्त्री, पुत्र इत्यादि) के संग्रह करने में जिसका ममत्व छूट गया है, ऐसे मनुष्य को शरीर-निर्वाह के लिए अथवा केवल शरीर द्वारा अपना कर्तव्य कर्म करते हुए भी पाप नहीं होता ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः, द्वन्द्व-अतीतः, वि-मत्सरः ।
समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते ॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः	=(अपने-आप) बिना इच्छा के प्राप्त हुई वस्तु पर सन्तोष करने-वाला	वि-मत्सरः	=ईर्ष्या (वैर)-रहित
द्वन्द्व-अतीतः	=हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे	सिद्धौ	=सिद्धि(सफलता)
		च	=और
		असिद्धौ	=असिद्धि (असफलता) में
		समः	=एक समान रहने वाला पुरुष

कृत्वा	=कर्मों को करते हुए	न निबध्यते	=बन्धन को प्राप्त नहीं होता है
अपि	=भी		

अर्थ—अपने आप या बिना इच्छा के प्राप्त हुई वस्तु पर सन्तोष करनेवाला, सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी और मान-अपमान को समान समझनेवाला, किसी से ईर्ष्या-द्वेष यानी हसद न रखनेवाला, लाभ-हानि और जय-पराजय में समान रहनेवाला पुरुष, काम करता हुआ भी, कर्म-बन्धन में नहीं फँसता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गत-सङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञान-अवस्थित-चेतसः।
यज्ञाय, आचरतः, कर्म, समग्रम् प्रविलीयते ॥

गत-सङ्गस्य	=आसक्ति-रहित (राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित)		+ और
मुक्तस्य	=धर्म-अधर्म से छूटे हुए पुरुष के	यज्ञाय	=परमेश्वरार्थ
ज्ञान-अवस्थित-चेतसः	=ज्ञान में स्थित चित्तवाले के	आचरतः	=कर्म करनेवाले के
		समग्रम्	=संपूर्ण
		कर्म	=कर्म
			+ ब्रह्म में
		प्रविलीयते	=लीन हो जाते हैं

अर्थ—जिसका मन लोक और परलोक के पदार्थों में आसक्त नहीं है अर्थात् जिसका प्रेम स्त्री, पुत्र, धन-दौलत

आदि में नहीं है, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त यानी आज़ाद है। जिसका चित्त हर समय ब्रह्मज्ञान में ही लगा रहता है, जो ईश्वर को अर्पण करने के लिए अथवा यज्ञ की सिद्धि व रक्षा के लिए कर्म करता है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं यानी बिल्कुल नाश हो जाते हैं। (ऐसा पुरुष कर्मबन्धन में कभी नहीं फँसता)।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म, अर्पणम्, ब्रह्म, हविः, ब्रह्म-अग्नौ, ब्रह्मणा, हुतम्।
ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यम्, ब्रह्म-कर्म-समाधिना ॥

अर्पणम्	=अर्पण किया जावे जिससे अर्थात् स्रुवा आदि पदार्थ (जिससे आहुति दी जाती है)
ब्रह्म	=ब्रह्म है
हविः	=हवि (घृत, तिल इत्यादि) (भी)
ब्रह्म	=ब्रह्म ही है
ब्रह्म-अग्नौ	=ब्रह्मरूपी अग्नि में
ब्रह्मणा	=ब्रह्मरूप कर्ता से
हुतम्	=जो होम किया गया है
	+ वह भी ब्रह्म ही है
	+ ऐसा जो समझता है
तेन	=उसको
ब्रह्म	=ब्रह्म
एव	=ही

गन्तव्यम्	=प्राप्त होगा + क्योंकि	ब्रह्मकर्म समाधिना	=ब्रह्मरूप कर्म में उसका चित्त समाधान है

अर्थ—जिसे ज्ञान-योग हो गया है, उसकी समझ में स्रुवा (जिससे हवन किया जाता है) ब्रह्म है ; घी, तिल आदि हवन की सामग्री भी ब्रह्म है ; अग्नि, जिसमें घी वग़ैरह हवन के पदार्थ डाले जाते हैं वह भी ब्रह्म है ; हवन करनेवाला भी ब्रह्म है, जिसके लिए हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म है; जो मनुष्य हर काम में ब्रह्म को देखता है, वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दैवम्, एव, अपरे, यज्ञम्, योगिनः, पर्युपासते ।
ब्रह्म-अग्नौ, अपरे, यज्ञम्, यज्ञेन, एव, उपजुह्वति ॥

अपरे	=कई एक (कोई)	ब्रह्म-अग्नौ	=ब्रह्मरूपी अग्नि में
योगिनः	=कर्मयोगी	यज्ञम्	=ब्रह्म-रूप यज्ञ की (आत्मा को)
दैवम्	=दैव	यज्ञेन एव	=ब्रह्म-ध्यानरूपी यज्ञ-कर्म से (अपने आत्मिक बल द्वारा) ही
यज्ञम्	=यज्ञ की	उपजुह्वति	=होमते हैं
एव	=ही		
पर्युपासते	=उपासना करते हैं		
अपरे	=और कितने ही ब्रह्मज्ञानी महात्मा		

अर्थ—कई एक कर्म-योगी देवताओं के लिए दैव-यज्ञ करते हैं अर्थात् सांसारिक सुखों के लिए देवताओं की उपासना करते हैं, और कितने ही ब्रह्मज्ञानी महात्मा ब्रह्माग्नि में ब्रह्मरूपी यज्ञ को (अपने आत्मा को) ब्रह्म-ध्यान रूपी यज्ञ-कर्म से (अपने आत्मिक बल द्वारा) ही होमते हैं।

व्याख्या—जिस यज्ञ में अग्नि, इन्द्र, रामचन्द्र आदि साकार देवताओं की उपासना की जाती है, उसे दैव-यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ का फल अन्न, वृष्टि, पुत्र, स्त्री व स्वर्गादि तुच्छ भोगों की प्राप्ति है। दूसरे यज्ञ का नाम ज्ञान-यज्ञ है। इसमें ज्ञानी लोग देवताओं को निराकार, निर्विकार समझते हैं। इस यज्ञ के करने से ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। इस यज्ञ में तत्त्व-ज्ञानी अपने आपका अपने आप में अपने आत्मिक बल से हवन करते हैं जिससे 'मोक्ष' को प्राप्त होते हैं। इन दोनों का मुक़ाबला करने से साफ़ ज़ाहिर है कि इन दोनों में से 'ज्ञान-यज्ञ' ही श्रेष्ठ है और 'जीव' और 'ब्रह्म' में कुछ भी भेद नहीं है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

श्रोत्र-आदीनि, इन्द्रियाणि, अन्ये, संयम-अग्निषु, जुह्वति।
शब्द-आदीन्, विषयान्, अन्ये, इन्द्रिय-अग्निषु, जुह्वति॥

अन्ये =और (कर्मयोगी)
श्रोत्र-आदीनि=कान आदि
इन्द्रियाणि =इन्द्रियों को
संयम-अग्निषु=संयम रूपी अग्नि में
जुह्वति =हवन करते हैं
अन्ये =और कोई (योगी लोग)
शब्द-आदीन् =शब्द स्पर्श आदि

विषयान्	=विषयों को	जुह्वति	अग्नि में =होमते हैं
इन्द्रिय-अग्निषु	=इन्द्रिय रूपी		

अर्थ—कितने ही कान, नाक आदि इन्द्रियों को संयम-रूपी अग्नि में होम देते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लेते हैं और कितने ही इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में होम देते हैं यानी इन्द्रियों को शास्त्रोक्त विषयों में लगाते हैं जिससे विषय तो भोगते हैं परन्तु चित्त पर उन विषयों का ज़रा-सा भी प्रभाव (असर) नहीं पड़ने देते, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों के वश में नहीं होने देते।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

सर्वाणि, इन्द्रिय-कर्माणि, प्राण-कर्माणि, च, अपरे।
आत्म-संयम-योग-अग्नौ, जुह्वति, ज्ञान-दीपिते ॥

	+और	प्राण-कर्माणि	=प्राण अपान आदि के व्यापारों को
अपरे	=कुछ कर्मयोगी	ज्ञान-दीपिते	=ज्ञान से प्रज्वलित
सर्वाणि	=सारे (सम्पूर्ण)		
इन्द्रिय-कर्माणि	=इन्द्रियों के कर्मों को		
च	=और		

आत्म-संयम-योग-अग्नौ	=आत्म-संयम-रूपी योगअग्नि में	जुह्वति	=होमते हैं (हवन करते हैं)

अर्थ—कितने ही कर्मयोगी सारे इन्द्रियों के कर्मों तथा प्राण-अपान आदि के व्यापारों को ज्ञान से प्रकाशित अन्तः-करण की संयमरूपी योग-अग्नि में होमते हैं।

व्याख्या—मतलब यह कि कितने ही कर्मयोगी इस असार संसार की विषय-वासनाओं से मन हटाकर केवल आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द में लीन हो जाते हैं अथवा कितने ही ज्ञानी प्राण, अपान आदि वायुओं को अपने-अपने कर्मों से रोककर तथा इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा के ध्यान में लौ लगा देते हैं।

(यहाँ तक भगवान् ने पाँच प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है।)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्य-यज्ञाः, तपः-यज्ञाः, योग-यज्ञाः, तथा, अपरे।
स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः, च, यतयः, संशित-व्रताः ॥

द्रव्य-यज्ञाः	=द्रव्य-यज्ञ के करनेवाले (लोकसेवा में धन ख़र्च करने-वाले)		वाले(व्रत,नियम अथवा इन्द्रियों का निग्रह करने वाले)
तपः-यज्ञाः	=तप-यज्ञ के करने-	योग-यज्ञाः	=योगयज्ञ के करनेवाले

	(समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म का अनुष्ठान करनेवाले)
तथा	=तथा (वैसे ही)
अपरे	=और कोई
स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञाः च	=स्वाध्याय और ज्ञान-यज्ञ-वाले अर्थात् वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रंथों का विधिपूर्वक पाठ करनेवाले और शास्त्रों के अर्थ का विचार करने-वाले
यतयः	=यती पुरुष(यत्न-शीलवाले)
संशित-व्रताः	=तीव्र व्रत अर्थात् अत्यन्त दृढ़ व्रत-रूप यज्ञ के करने-वाले कहे जाते हैं

अर्थ—कितने ही धन से यज्ञ करते हैं अर्थात् कितने ही दानी अपने धन से दीन-दुखियों के दुःख को दूर करते हैं; कुछ लोग तप-यज्ञ करते हैं यानी चान्द्रायण व्रत, नियम, मौन आदि का पालन करते हैं; बहुत-से प्राणी योग-यज्ञ करते हैं अर्थात् फल की इच्छा त्यागकर अष्टाङ्गयोग * का साधन और प्राणायाम आदि करते हैं; कितने ही वेदशास्त्रों तथा अन्य धर्मग्रन्थों के पढ़ने को यज्ञ करते हैं; कितने ही पुरुष ज्ञान-यज्ञ करते हैं

* अष्टांगयोग—(१) पाँच नियम (शौच, सन्तोष, तप, वेदों का पाठ करना और ईश्वर-भक्ति), (२) पाँच यम (अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और किसी के धन को लेने का लालच न करना), (३) आसन, (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (इंद्रियों को विषयों से खींचना), (६) ध्यान, (७) धारणा और (८) समाधि इन आठ अङ्गों का नाम अष्टांगयोग है ।

अर्थात् शास्त्रों का अर्थ विचारने में लगे रहते हैं और इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं; ये पाँचों प्रकार के यज्ञ करनेवाले बड़े दृढ़-व्रती यति हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

अपाने, जुह्वति, प्राणम्, प्राणे, अपानम्, तथा, अपरे।
प्राण-अपान-गती, रुद्ध्वा, प्राणायाम-परायणाः॥

अपरे	=और कुछ कर्म-योगी	प्राणायाम-परायणाः	=प्राणायाम में तत्पर हुए
प्राण अपान-गती	=प्राण (श्वास को अन्दर खींचने) और अपान (श्वास को बाहर छोड़ने) की गति को	अपाने	=अपान वायु में
		प्राणम्	=प्राणवायु को
		तथा	=और
		प्राणे	=प्राणवायु में
		अपानम्	=अपान वायु को
		जुह्वति	=होमते हैं
रुद्ध्वा	=रोककर		

अर्थ—कितने ही पुरुष प्राणायाम * करते हुए प्राण और

---

* प्राणायाम—यह योग का एक अङ्ग है। आसन के स्थिर होने पर प्राण और अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास की चाल को रोकना ही प्राणायाम का स्वरूप है। प्राण उस वायु का नाम है, जो फेफड़ों (Lungs) में काम करती है, बाहरी वायु को अन्दर खींचती है। इसे श्वास (Jnspitaion) भी कहते हैं। अपान उस वायु को कहते हैं, जो शरीर के भीतर से व्यर्थ

अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति (चाल) को रोककर अपान में प्राण को और प्राण में अपान को होमते हैं अर्थात् पूरक † रेचक ‡ और कुम्भक × प्राणायाम करते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अपरे, नियत-आहाराः, प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति ।
सर्वे, अपि, एते, यज्ञ-विदः, यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः ॥

अपरे	=कई एक	यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः	=यज्ञों द्वारा नाश हो गया है पाप जिनका
नियत-आहाराः	=नियत आहार करनेवाले (थोड़ा भोजन करनेवाले) कर्मयोगी		+ ऐसे
प्राणान्	=प्राणों (इन्द्रियों) को	एते	=ये
प्राणेषु	=प्राणों में	सर्वे अपि	=सभी (ज्ञानी पुरुष)
जुह्वति	=होमते हैं	यज्ञ-विदः	=यज्ञ के जाननेवाले हैं

सड़ी हुई वस्तुओं को बाहर निकाल देती है। यहाँ उस वायु से मतलब है, जो श्वास को बाहर की ओर निकालता है। इसे प्रश्वास E(xpiration) भी कहते हैं।

† पूरक=वायु को अन्दर भरना। ‡ रेचक—वायु को ख़ाली करना या बाहर निकालना। ×कुम्भक—प्राण और अपान वायु को रोकना या श्वास की गति को रोकना।

अर्थ—कुछ लोग अन्दाज़ से थोड़ा भोजन करके प्राणों (अपनी इन्द्रियों) को प्राणों में होमते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष जिनके सारे पाप यज्ञों द्वारा ही नष्ट हो गये हैं, वे सभी यज्ञ के जाननेवाले हैं।

व्याख्या—थोड़ा भोजन करने या कम खाने से प्राणों का वेग बहुत भड़कता है जो इन्द्रियों के बल को ही खाने लग जाता है, जिससे प्राण शिथिल पड़ जाते हैं और प्राणवायु की गति यानी श्वास को अन्दर खींचने की क्रिया कम हो जाती है। प्राण-वायु की चाल कम होने से मन रुकता है। मन की गति रुकने से ही मनुष्य आत्मस्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार प्राणों में इन्द्रियबल का स्वाहा होना 'प्राणों में प्राणों का' हवन होना कहा जाता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः, यान्ति, ब्रह्म, सनातनम्।
न, अयम्, लोकः, अस्ति, अ-यज्ञस्य, कुतः, अन्यः, कुरु-सत्तम ॥

	+ और	यान्ति	=प्राप्त होते हैं
यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः	=यज्ञ से बचे हुए अमृत को भोगनेवाले मनुष्य	कुरु-सत्तम	=हे कुरुकुल में श्रेष्ठ अर्जुन !
		अयज्ञस्य	=यज्ञ न करनेवाले को
सनातनम्	=सनातन		+ जब
ब्रह्म	=परब्रह्म परमात्मा को	अयम्	=इस

लोकः	=लोक	अन्यः	=परलोक (में)
	+ में ही सुख		+ सुख-शान्ति
न	=नहीं	कुतः	=कहाँ से
अस्ति	=है (मिलता)		+ मिल सकती है
	+ तब फिर		

अर्थ—जो यज्ञ से बचे हुए अमृतरूपी भोजन को करते हैं, वे सनातन ब्रह्म—मोक्ष—को प्राप्त होते हैं। लेकिन हे अर्जुन! जो इनमें से कोई भी यज्ञ नहीं करते, उनके लिए जब इस लोक में ही सुख नहीं मिलता, तब परलोक में फिर भला कैसे सुखशान्ति मिल सकती है?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम्, बहु-विधाः, यज्ञाः, वितताः, ब्रह्मणः, मुखे।
कर्म-जान्, विद्धि, तान्, सर्वान्, एवम्, ज्ञात्वा, विमोक्ष्यसे॥

एवम्	=इस तरह		वाचिक और
ब्रह्मणः मुखे	=ब्रह्मा के मुख		मानसिक
	यानी वेदों में	कर्म-जान्	=कर्म से उत्पन्न
बहु-विधाः	=बहुत प्रकार के		हुआ
यज्ञाः	=यज्ञों का	विद्धि	=जान
वितताः	=विस्तार है	एवम्	=इस प्रकार
तान्	=उन	ज्ञात्वा	=जानकर
सर्वान्	=सब यज्ञों को	विमोक्ष्यसे	=तू संसार बन्धन
	+तू कायिक,		से छूट जायगा

अर्थ—इस तरह के बहुत-से यज्ञों का वर्णन वेद में है। उन सब यज्ञों की उत्पत्ति कर्मों से हुई है (क्योंकि आत्मा कर्म-रहित है यानी आत्मा कुछ नहीं करता, तू यह समझ कि "मैं कर्मरहित हूँ, मेरा कर्मों से कुछ सरोकार नहीं है") इस प्रकार समझने से तू मुक्त हो जायगा यानी इस श्रेष्ठ ज्ञान के बल से तू सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाकर संसार-बन्धन से छूट जायगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

श्रेयान्, द्रव्य-मयात्, यज्ञात्, ज्ञान-यज्ञः, परंतप।
सर्वम्, कर्म, अखिलम्, पार्थ, ज्ञाने, परिसमाप्यते ॥

परन्तप	=हे अर्जुन !	पार्थ	=हे पृथा-पुत्र अर्जुन !
द्रव्य-मयात् यज्ञात्	=द्रव्यमय यज्ञ यानी होम-दानादि यज्ञ से	सर्वम्	=सारे
		कर्म	=कर्म
ज्ञान-यज्ञः	=ज्ञान-यज्ञ	अखिलम्	=सम्पूर्ण रूप से
श्रेयान्	=श्रेष्ठ है	ज्ञाने	=ब्रह्म-ज्ञान में (ही)
	+ क्योंकि	परिसमाप्यते	=समाप्त होते हैं

अर्थ—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञान का फल मोक्ष है। सब कर्म, फलसहित, इस ज्ञान-अग्नि में ही समाप्त होते हैं।

व्याख्या—जितने प्रकार के यज्ञ ऊपर कहे गये हैं, उन सबमें

ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे साक्षात् मोक्ष-रूप फल की प्राप्ति होती है और दूसरे यज्ञों से केवल संसाररूप फल यानी पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि की प्राप्ति होती हैं। इस ज्ञान-यज्ञ के करनेवाले को किसी अन्य कर्म के करने की ज़रूरत नहीं रहती; क्योंकि ज्ञान से ही कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है—ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानम्, ज्ञानिनः, तत्त्व-दर्शिनः ॥

+ इसलिए ब्रह्मनिष्ठों के पास जाकर प्रथम उनको
प्रणिपातेन =दंडवत् नमस्कार करके
परिप्रश्नेन =निष्कपट भाव से प्रश्न करके
+ और
सेवया =सेवा करके
+ तू
तत् =उस ज्ञान को
विद्धि =सीख (जान)
+ वे
तत्त्व-दर्शिनः =तत्त्वदर्शी यानी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
ज्ञानिनः =ज्ञानी
ते =तुझे
+ उस
ज्ञानम् =आत्मज्ञान का
उपदेक्ष्यन्ति =उपदेश करेंगे

अर्थ—इसलिए हे अर्जुन! जब तत्त्वज्ञानी पण्डितों और संन्यासियों के पास जाकर तू उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम करेगा; उनकी सेवा करेगा और निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस

ज्ञान को जानने की प्रार्थना करेगा, तब वे (प्रसन्न होकर) तुझे आत्म-ज्ञान का उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः, मोहम्, एवम्, यास्यसि, पाण्डव।
येन, भूतानि, अशेषेण, द्रक्ष्यसि, आत्मनि, अथो, मयि ॥

यत्	=जिस ज्ञान को	येन	=जिस ज्ञान के कारण
ज्ञात्वा	=जानकर	अशेषेण	=सम्पूर्ण
पुनः	=फिर	भूतानि	=भूतों-प्राणियों को
एवम्	=इस प्रकार(ऐसे)	आत्मनि	=अपने (आत्म स्वरूप) में
मोहम्	=मोह यानी अज्ञान को	अथो	=तथा (वैसे ही)
न यास्यसि	=तू न प्राप्त होगा + और	मयि	=मुझ वासुदेव में
पाण्डव	=हे अर्जुन	द्रक्ष्यसि	=तू देखेगा

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के जान लेने पर तुझे इस भाँति का मोह न होगा और उसी ज्ञान के कारण सब भूत प्राणियों को अपने आपमें तथा मुझ (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा) में साक्षात् देखेगा और इस तरह सारे विश्व को, मुझको और अपने-आप को एक ही आत्मा के अनेक रूप समझेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अपि, चेत्, असि, पापेभ्यः, सर्वेभ्यः, पापकृत्तमः।
सर्वम्, ज्ञान-प्लवेन, एव, वृजिनम्, सन्तरिष्यसि ॥

चेत्	=अगर	सर्वम्	=सारे
सर्वेभ्यः	=सब	वृजिनम्	=पापों को
पापेभ्यः	=पापियों से		+ तू
अपि	=भी	ज्ञान-प्लवेन	=ज्ञानरूपी नाव से
पाप-कृत्तमः	=बढ़कर (तू) पाप करनेवाला	एव	=निस्सन्देह
असि	=है + तो भी	सन्तरिष्यसि	=पार कर जायगा

अर्थ—अगर तू सब पापियों से भी अधिक पापी है, तो भी तू इस ज्ञानरूपी नाव से पापरूप समुद्र के पार हो जायगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

यथा, एधांसि, समिद्धः, अग्निः, भस्मसात्, कुरुते, अर्जुन।
ज्ञान-अग्निः, सर्व-कर्माणि, भस्मसात्, कुरुते, तथा ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !	अग्निः	=अग्नि
यथा	=जैसे	एधांसि	=(सूखी) लकड़ियों को
समिद्धः	=प्रज्वलित (जलती हुई)	भस्मसात्	=भस्मीभूत

(जलाकर राख)	पापरूपी कर्मों को
कुरुते =कर देती है	भस्मसात् =जलाकर भस्म
तथा =वैसे ही	कुरुते =कर देती है
ज्ञान-अग्निः =ज्ञानरूपी अग्नि	
सर्व-कर्माणि =सम्पूर्ण पुण्य-	

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार जलती हुई अग्नि सूखी लकड़ियों को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि सारे पुण्य-पापरूपी कर्मों * को जलाकर भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

न, हि, ज्ञानेन, सदृशम्, पवित्रम्, इह, विद्यते ।
तत्, स्वयम्, योग-संसिद्धः, कालेन, आत्मनि, विन्दति ॥

हि =निस्सन्देह	वाला या उत्तम पदार्थ
इह =इस संसार में या मोक्षमार्ग में	न विद्यते =और कोई नहीं है
ज्ञानेन =ज्ञान के	योग-संसिद्धः =शुद्ध अन्तः-करणवाला योगी सिद्ध
सदृशम् =बराबर (तुल्य)	
पवित्रम् =पवित्र करने-	

* कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रारब्ध, जो अपना फल दे रहे हैं। (२) संचित, जो पूर्व में किये जा चुके हैं। (३) क्रियमाण (वर्तमान), जो किये जा रहे हैं।

	पुरुष		पर
तत्	=उस ज्ञान को	स्वयम्	=अपने
कालेन	=कुछ समय अभ्यास करने	आत्मनि	=अन्तःकरण में
		विन्दति	=पाता है

अर्थ—इस संसार में ज्ञान के बराबर पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। जिसने कर्म योग द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे कुछ समय में ही, यह ज्ञान अपने आप आ जाता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३६॥

श्रद्धावान्, लभते, ज्ञानम्, तत्परः, संयत-इन्द्रियः ।
ज्ञानम्, लब्ध्वा, पराम्, शान्तिम्, अचिरेण, अधिगच्छति ॥

श्रद्धावान्	=जो (महापुरुषों के उपदेशों में) श्रद्धा रखता हो	ज्ञानम्	=इस ज्ञान को
		लभते	=प्राप्त करता है +और
तत्परः	=जो तत्परता से लगनेवाला हो + और	ज्ञानम्	=ज्ञान
		लब्ध्वा	=पा करके + वह
संयत-इन्द्रियः	=जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो + वही	पराम्	=परम
		शान्तिम्	=शान्ति (मोक्ष) को
		अचिरेण	=शीघ्र
		अधिगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—जो पुरुष महात्माओं के उपदेशों के सुनने में श्रद्धा रखता हो, जो श्रद्धा से सुन उनके अनुसार आचरण करने में दृढ़तापूर्वक निरन्तर लगा रहता हो और जिसने अपने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, वही इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जिसे ज्ञान हो जाता है, उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, च, संशय-आत्मा, विनश्यति।
न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, न, सुखम्, संशय-आत्मनः॥

अज्ञः	=अज्ञानी (मूर्ख)		लिए
च	=और	न	=न (तो)
अश्रद्दधानः	=श्रद्धाहीन	अयम्	=यह
च	=और	लोकः	=लोक है
संशय-आत्मा	=जिसके अन्तः करण में संशय भरा रहता है ऐसा पुरुष		+ और
		न	=न
		परः	=परलोक
			+ तथा
विनश्यति	=नाश को प्राप्त होता है	न	=न
			+ उसको कहीं
	+ किन्तु	सुखम्	=सुख (ही)
संशय-आत्मनः	=संदेहयुक्त या वहमी पुरुष के	अस्ति	=होता है (मिलता है)

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष अज्ञानी यानी मूर्ख है, जो श्रद्धारहित है अर्थात् जिसे शास्त्र, गुरु व महात्माओं के उपदेशों पर विश्वास नहीं है और जो संशयात्मा है यानी जो संशयों में डूबा रहता है, ऐसा मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। शक्की या वहमी पुरुष को इस लोक में और परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

योग-संन्यस्त-कर्माणम्, ज्ञान-संछिन्न-संशयम्।
आत्मवन्तम्, न, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय ॥

धनंजय	=हे अर्जुन !	**ज्ञान-संछिन्न-संशयम्**	आत्मज्ञान द्वारा =नाश हो गये हैं सम्पूर्ण संशय जिसके ऐसे
योग-संन्यस्त-कर्माणम्	सब जीवों में =एक ही आत्मा को सम देखने से त्याग कर दिया है सम्पूर्ण कर्मों को जिसने	**आत्मवन्तम्**	=आत्मज्ञानी को
		कर्माणि	=कर्म
		न	=नहीं
	+ और	**निबध्नन्ति**	=बाँधते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसने समत्वभाव में युक्त होने से संपूर्ण कर्मों को त्याग दिया है, जिसके सब संशय ज्ञान द्वारा कट गये हैं और जो अपने-आपको अपने वश में रखनेवाला है, वह किसी प्रकार के कर्म-बन्धन में नहीं फँसता।

व्याख्या—जो यह समझते हैं कि सब कर्म सतोगुण आदि गुणों

के कारण से होते हैं, या जो सदा अपने आत्मा में मग्न रहते हैं, अथवा जो अपने सब कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देते हैं, उन पर कर्मों का भला या बुरा प्रभाव नहीं पड़ता ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात्, अज्ञान-सम्भूतम्, हृत्-स्थम्, ज्ञान-असिना, आत्मनः ।
छित्त्वा, एनम्, संशयम्, योगम्, आतिष्ठ, उत्तिष्ठ, भारत ॥

भारत =हे अर्जुन !
तस्मात् =इस कारण
अज्ञान-सम्भूतम् =अज्ञान से उत्पन्न
+और
हृत्-स्थम् =हृदय में स्थित हुए
आत्मनः =अपने
एनम् =इस
संशयम् =संशय को (युद्ध करूँ या न करूँ)
ज्ञान-असिना=आत्मज्ञानरूपी तलवार से
छित्त्वा =काटकर
योगम् =कर्म-योग में
आतिष्ठ =लग
+और
उत्तिष्ठ =(युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो

अर्थ—इसलिए जो सन्देह तेरे मन में अज्ञान से उत्पन्न हो गया है, उसे आत्मज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से काट डाल। हे अर्जुन ! कर्मयोग में लग जा और उठ अर्थात् "मैं युद्ध करूँ या न करूँ" इस सन्देह को त्यागकर तू खड़ा हो और युद्ध कर।

चौथा अध्याय समाप्त

गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य ।

भगवान् ने कहा—"हे लक्ष्मी, अब गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य सुनो, जिसके प्रभाव से बेर के दो पेड़ स्वर्ग को गये। काशीपुरी में एक आत्मज्ञानी तपस्वी रहते थे। एक दिन वे गीता का पाठ करते-करते नगर के बाहर निकल गये। एक स्थान पर बेर के दो पेड़ पास ही पास लगे थे। तपस्वी ने उन्हीं पेड़ों के नीचे बैठकर गीता के चौथे अध्याय का पाठ किया और फिर उनको नींद आगई। वे एक पेड़ की जड़ पर सिर और दूसरे पेड़ पर पैर रखकर सो गये। थोड़ी देर सोकर मुनि जागे और अपने स्थान को चले गये और वे पेड़ सूखकर गिर पड़े। उसके बाद वे दोनों बेर के पेड़ एक ब्राह्मण की कन्या हुईं। कन्याएँ जब सात वर्ष की हुईं, तब एक दिन वही मुनि उनको देख पड़े। कन्याओं ने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर मुनि को प्रणाम किया और उनसे कहा—'हे तपोधन, आपकी कृपा से हम दोनों का दुःख छूट गया। बेर के पेड़ से छूटकर हमको मनुष्य का जन्म मिला है।' कन्याओं की यह बात सुनकर, मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने चकित होकर पूछा—'मैंने किस समय, कैसे, तुमको बेर के पेड़ से मुक्त किया है सो बताओ।' कन्याओं ने वह सब वृत्तान्त—जिस प्रकार मुनि बेर के नीचे गीता के चौथे अध्याय का पाठ करके सो गये थे—बताया। मुनि ने फिर पूछा—'तुम अपने पूर्व जन्मों का भी हाल

बताओ और बेर का पेड़ कैसे हुईं, सो भी कहो।' कन्याओं ने कहा—'हम दोनों स्वर्गलोक की अप्सराएँ हैं, जिस कारण से हम बेर का पेड़ हुई थीं वह वृत्तान्त कहती हैं, सुनिए। हे महर्षि! गोदावरी नदी के किनारे छिन्नपाप नाम का एक तीर्थ है। वहाँ सत्यतपा नाम के महर्षि कठोर तपस्या करते थे। उनकी तपस्या देखकर देवराज इन्द्र को यह डर हुआ कि यह ऋषि तपोबल से कहीं हमारा राज्य न छीन लें। इसलिए उन्होंने हम दोनों अप्सराओं से कहा कि तुम ऋषि के पास जाकर इनकी तपस्या में विघ्न डालो। हम इन्द्र की आज्ञा के अनुसार महर्षि के पास गईं और मृदंग आदि बाजे बजाकर, मनोहर गीत गा, हाव-भाव दिखा-कर मुनि को रिझाने लगीं। किन्तु वे महर्षि जितेन्द्रिय थे, हमारे गाने-बजाने और हाव-भाव दिखाने से उनका मन न डिगा। गाने-बजाने का शब्द सुनकर जब उनका ध्यान टूटा, तब उन्होंने कुपित होकर हम दोनों को शाप दिया कि तुम बेर का पेड़ हो जाओ। हे महर्षि! मुनि का शाप सुनकर हम लोगों ने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि महाराज! हम लोग पराधीन हैं, आप कृपा करके हमारा अपराध क्षमा कीजिए। तब उन्होंने प्रसन्न होकर कहा कि हमारा शाप मिथ्या नहीं हो सकता। तुम दोनों बेर का पेड़ अवश्य हो जाओगी, किन्तु भरत नाम के एक महर्षि उन पेड़ों के नीचे आवेंगे और उनके मुख से गीता के चौथे अध्याय का पाठ सुनकर तुम हमारे शाप से छूट जाओगी।' यह कहकर कन्याओं ने भरत मुनि की [illegible] उन पेड़ों के नीचे

आवेंगे और उनके मुख से गीता के चौथे अध्याय का पाठ सुनकर तुम हमारे शाप से छूट जाओगी।' यह कहकर कन्याओं

ने भरत मुनि की पूजा की [illegible]

चले गये और कन्याएँ गीता के चौथे अध्याय का पाठ करने लगीं। अन्त में वे दोनों कन्याएँ स्वर्गलोक को गईं।"

भगवान् विष्णु नें लक्ष्मीजी से कहा—"सुना गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य। जिसके केवल एक अध्याय के श्रवणमात्र से बेर के पेड़ मनुष्य हो गये, उस गीता के सम्पूर्ण पाठ का माहात्म्य कौन कह सकता है?"

पाँचवाँ अध्याय
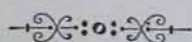
अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

संन्यासम्, कर्मणाम्, कृष्ण, पुनः, योगम्, च, शंससि ।
यत्, श्रेयः, एतयोः, एकम्, तत्, मे, ब्रूहि, सुनिश्चितम् ॥

अर्जुन ने पूछा—

कृष्ण	=हे कृष्णचन्द्र !
कर्मणाम्	=कर्मों के
संन्यासम्	=त्याग की
च	=और
पुनः	=फिर
योगम्	=कर्मयोग की
शंससि	=आप प्रशंसा करते हैं
	+इसलिए
एतयोः	=इन दोनों में से
यत्	=जो
एकम्	=एक
श्रेयः	=श्रेष्ठ (हो)
तत्	=वही
मे	=मुझसे
सुनिश्चितम्	=अच्छी तरह निश्चय करके
ब्रूहि	=कहिए

अर्थ—हे कृष्ण ! (कभी) आप कर्मों के छोड़ने को अच्छा कहते हैं और कभी आप कर्मों में लगने की आज्ञा देते हैं ; इसलिए कृपापूर्वक अच्छी तरह निश्चय करके बतलाइए कि इन दोनों में से वास्तव में कौन सा एक श्रेष्ठ है ?

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥१॥

संन्यासः, कर्मयोगः, च, निःश्रेयसकरौ, उभौ ।
तयोः, तु, कर्म-संन्यासात् , कर्म-योगः, विशिष्यते ॥

अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

संन्यासः	=कर्मों का त्याग	तु	=परन्तु
च	=और	तयोः	=उन दोनों में
कर्म-योगः	=निष्काम कर्म-योग	कर्म-संन्यासात्	=कर्म-संन्यास से
उभौ	=ये दोनों ही	कर्म-योगः	=निष्काम कर्म-योग
निःश्रेयसकरौ	=कल्याणकारी या मोक्ष देनेवाले हैं	विशिष्यते	=अधिक श्रेष्ठ है

अर्थ—अर्जुन के प्रश्न करने पर श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन ! संन्यास (कर्मों का छोड़ना) और कर्मयोग (कर्म का करना) दोनों ही कल्याणकारी या मोक्ष के देनेवाले हैं

लेकिन इन दोनों में कर्म-संन्यास से निष्काम कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।

व्याख्या—सच्चा कर्म-संन्यास जो ज्ञान सहित है, कर्मयोग से बहुत ऊँचे दर्जे पर है। कर्मयोग संन्यास से आसान है; अतएव अज्ञानियों के लिए, ज्ञान प्राप्त करने के लिए, कर्मयोग ही अच्छा है। हे अर्जुन! तू क्षत्रिय है इसलिए युद्ध कर। बिना कर्मयोग के तेरा अन्तःकरण शुद्ध न होगा।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञेयः, सः, नित्य-संन्यासी, यः, न, द्वेष्टि, न, काङ्क्षति।
निर्-द्वन्द्वः, हि, महाबाहो, सुखम्, बन्धात्, प्रमुच्यते ॥

यः	=जो पुरुष	ज्ञेयः	=जानना चाहिए
न	=न	हि	=क्योंकि
द्वेष्टि	=द्वेष करता है +और	महाबाहो	=हे अर्जुन!
न	=न	निर्-द्वन्द्वः	=राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित वह पुरुष
काङ्क्षति	=अभिलाषा रखता है	सुखम्	सुखपूर्वक (सहज ही में)
सः	=उसी को कर्मयोगी	बन्धात्	=संसार-बन्धन से
नित्य-संन्यासी	=नित्य संन्यासी (निश्चय ही)	प्रमुच्यते	=छूट जाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो कर्मयोगी न किसी से द्वेष करता है, और न किसी चीज़ की इच्छा करता है, उसी को सच्चा संन्यासी समझना चाहिए। राग-द्वेष, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से रहित संन्यासी सहज ही में कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य-योगौ, पृथक्, बालाः, प्रवदन्ति, न, पण्डिताः।
एकम्, अपि, आस्थितः, सम्यक्, उभयोः, विन्दते, फलम् ॥

सांख्य-योगौ	=ज्ञान-योग और कर्मयोग को
बालाः	=मूर्ख या बे-समझ लोग ही
पृथक्	=अलग-अलग
प्रवदन्ति	=कहते हैं
न	=न कि
पण्डिताः	=पण्डित लोग +क्योंकि दोनों में से
एकम्	=एक को
अपि	=भी
सम्यक्	=अच्छी तरह
आस्थितः	=पकड़े हुए + पुरुष को
उभयोः	=दोनों का
फलम्	=फल
विन्दते	=प्राप्त होता है

अर्थ—ज्ञानयोग और कर्मयोग को मूर्ख या नासमझ लोग ही अलग-अलग कहते हैं न कि पण्डित, अर्थात् विचारवान् पुरुषों की राय में सांख्य (घर गृहस्थी से अलग हो, -कर्मों को त्यागकर और एकान्त स्थान में चुपचाप क्रियारहित स्थित होकर, अध्यात्म-विचार में लगे रहना) और कर्म-योग

(घर-गृहस्थी में रहते हुए समत्व बुद्धि से व्यावहारिक व पारमार्थिक निष्काम कर्म करते हुए आत्म-ध्यान में निरन्तर लगे रहना) इन दोनों से एक ही प्रकार का फल मिलता है। जो इन दोनों में से किसी एक का भी भले प्रकार साधन कर लेता है उसे दोनों का फल मिल जाता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानम्, तत्, योगैः, अपि, गम्यते।
एकम्, सांख्यम्, च, योगम्, च, यः, पश्यति, सः, पश्यति॥

यत्	=जो	च	=और
स्थानम्	=स्थान (परमपद)	यः	=जो
सांख्यैः	=ज्ञानयोगियों द्वारा	सांख्यम्	=ज्ञानयोग
प्राप्यते	=प्राप्त किया जाता है	च	=तथा
तत्	=वही स्थान (परमपद)	योगम्	=कर्मयोग को
योगैः	=निष्काम कर्मयोगी	एकम्	=एक समान
अपि	=भी	पश्यति	=देखता है
	+ कर्मों के न छोड़ने पर	सः	=वही
गम्यते	=प्राप्त करते हैं		+शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को
		पश्यति	=(यथार्थ रूप से) देखता है

अर्थ—जो स्थान (परम पद) सांख्यवाले प्राप्त करते हैं, वही निष्काम-कर्म-योगी भी प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोग और कर्मयोग को जो पुरुष एक समान देखता है, वहा वास्तव में यथार्थदर्शी या सम्यक्दर्शी है।

व्याख्या—सांख्यवाले, कर्मेन्द्रियों के सब कर्मों को छोड़कर, जिस स्थान—मोक्ष—को प्राप्त करते हैं, उसी को निष्काम कर्म-योगी, शास्त्रानुसार कर्म करके शुद्ध-ज्ञान प्राप्त कर, अपने सब कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर एवं अपने स्वार्थ के लिये किसी फल की इच्छा न करते हुए शुद्ध ज्ञान द्वारा पा जाते हैं। मतलब यह कि सांख्य और कर्म-योग दोनों से एक ही प्रकार का फल मिलता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

संन्यासः, तु, महाबाहो, दुःखम्, आप्तुम्, अयोगतः।
योग-युक्तः, मुनिः, ब्रह्म, न, चिरेण, अधिगच्छति ॥

तु	=परन्तु		कठिन है
महाबाहो	=हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन !		+ इसलिए
संन्यासः	=संन्यास	योग-युक्तः	=कर्म-योग में लगा हुआ
अयोगतः	=निष्काम कर्म-योग के बिना	मुनिः	=ज्ञानी
आप्तुम्	=पाना (प्राप्त होना)	ब्रह्म	=ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म-भाव को
दुःखम्	=(अत्यन्त)	न चिरेण	=तुरन्त ही
		अधिगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ--हे अर्जुन ! बिना कर्मयोग के संन्यास का मिलना कठिन है अर्थात् जब तक चित्त शुद्ध न होगा तबतक संन्यास या ब्रह्मज्ञान का होना कठिन है। निष्काम कर्मयोग में लगे हुए ज्ञानी को संन्यास के प्राप्त करने में देर नहीं लगती। (इसीसे भगवान् ने कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाया है।)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

योग-युक्तः, विशुद्ध-आत्मा, विजित-आत्मा, जित-इन्द्रियः।
सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते॥

योग-युक्तः	=निष्काम कर्मयोगी	**सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा**	=सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझनेवाला पुरुष
विशुद्ध-आत्मा	=शुद्ध अन्तःकरणवाला	**कुर्वन्**	=कर्म करता हुआ
विजित-आत्मा	=अपने मन को जीतनेवाला	**अपि**	=भी
जित-इन्द्रियः	=जितेन्द्रिय (अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाला)	**न लिप्यते**	=कर्म-बन्धन में नहीं फँसता या लिप्त नहीं होता
	+ और		

अर्थ--जो पुरुष निष्काम कर्मयोगी है, जिसका चित्त शुद्ध

हो गया है, जिसने अपने शरीर या मन को जीत लिया है, जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है अर्थात् जो सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा से अलग नहीं मानता अथवा सारे जगत् को अपने में और अपने को सारे जगत् में अनुभव करता है, ऐसा मनुष्य जगत् के सब व्यवहार करता हुआ भी कर्म-बन्धन में नहीं फँसता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

न, एव, किञ्चित्, करोमि, इति, युक्तः, मन्येत, तत्त्व-वित्, पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्; निमिषन्, अपि, इन्द्रियाणि, इन्द्रिय- अर्थेषु, वर्तन्ते, इति, धारयन्॥

तत्त्व-वित्	=तत्त्व को जानने-वाला	अश्नन्	=खाता हुआ
युक्तः	=कर्मयोगी	गच्छन्	=चलता हुआ
पश्यन्	=देखता हुआ	स्वपन्	=सोता हुआ
शृण्वन्	=सुनता हुआ	श्वसन्	साँस लेता हुआ
स्पृशन्	=छूता हुआ	प्रलपन्	=बोलता हुआ
जिघ्रन्	=सूँघता हुआ	विसृजन्	=त्यागता हुआ (देता हुआ)

गृह्णन्	=ग्रहण करता हुआ (लेता हुआ)
उन्मिषन्	=नेत्रों को खोलता हुआ
	+ और
निमिषन्	=नेत्रों को मूँदता हुआ
अपि	=भी
इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ
इन्द्रिय-अर्थेषु	=इन्द्रियों के विषयों में
वर्तन्ते	=बर्त रही हैं

	(लगी हुई हैं)
इति	=ऐसी
धारयन्	=धारणा रखता हुआ
इति	=इस प्रकार
मन्येत	=मानता है
	+ कि मैं
एव	=निश्चय ही
किञ्चित्	=कुछ भी
न	=नहीं
करोमि	=करता हूँ

अर्थ——तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी पुरुष देखता है, सुनता है, छूता है, सूँघता है, खाता है, चलता है, सोता है, साँस लेता है, बोलता है, त्यागता है, पकड़ता है, आँखों को खोलता तथा मूँदता है; मगर वह यही समझता है कि "इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में लगी हुई हैं ; आत्मा न कुछ करता है और न उससे किसी काम से सरोकार है।"

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, करोति, यः।
लिप्यते, न, सः, पापेन, पद्म-पत्रम्, इव, अम्भसा ॥

कर्माणि	=कर्मों को	करोति	=(उन्हें) करता है
ब्रह्मणि	=ब्रह्म या परमेश्वर में	सः	=वह
आधाय	=अर्पण करके + और	अम्भसा	=जल से
सङ्गम्	=फल की इच्छा को	पद्म-पत्रम्	=कमल के पत्ते का
त्यक्त्वा	=त्यागकर	इव	=नाईं
यः	=जो पुरुष	पापेन	=पाप से
		न लिप्यते	=अलिप्त रहता है

अर्थ—जो पुरुष अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देता है और अपने किए हुए कामों के फल की इच्छा नहीं रखता, वह पापों में इस प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः, इन्द्रियैः, अपि।
योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति, सङ्गम्, त्यक्त्वा, आत्म-शुद्धये ॥

केवलैः	=केवल	बुद्ध्या	=बुद्धि से
इन्द्रियैः	=इन्द्रियों द्वारा	अपि	=भी
कायेन	=शरीर से	योगिनः	=कर्मयोगी लोग
मनसा	=मन से +और	सङ्गम्	=फल की इच्छा को

त्यक्त्वा	=त्यागकर	कर्म	=कर्म
आत्म-शुद्धये	=अन्तःकरण की शुद्धि के लिए	कुर्वन्ति	=किया करते हैं।

अर्थ—शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रिय द्वारा भी कर्मयोगी लोग कर्म-फल की इच्छा त्यागकर, अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

युक्तः, कर्म-फलम्, त्यक्त्वा, शान्तिम्, आप्नोति, नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः, काम-कारेण, फले, सक्तः, निबध्यते॥

युक्तः	=निष्काम कर्म-योगी भगवद्भक्त	अयुक्तः	=विषयी या कामी पुरुष
कर्म-फलम्	=कर्म-फल को	काम-कारेण	=कामना की प्रेरणा से
त्यक्त्वा	=त्यागकर	फले	=फल में
नैष्ठिकीम्	=मोक्षरूपी	सक्तः	=आसक्त होकर
शान्तिम्	=शान्ति को	निबध्यते	=कर्मबन्धन में फँस जाता है
आप्नोति	=प्राप्त होता है + किन्तु		

अर्थ—जो निष्काम कर्मयोगी (या ईश्वर निमित्त कर्म करनेवाला योगी) कर्मों के फल की इच्छा छोड़कर, काम करता है, उसे परम शान्ति मिलती है; मगर जो कामी पुरुष अपने कर्मों के फलों की चाह रखकर कर्म करता है, वह

जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है (अर्थात् उसकी मोक्ष नहीं होती) वह आवागमन के चक्र में सदैव फँसा ही रहता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

सर्व-कर्माणि, मनसा, संन्यस्य, आस्ते, सुखम्, वशी।
नव-द्वारे, पुरे, देही, न, एव, कुर्वन्, न, कारयन् ॥

सर्व-कर्माणि	=सब कर्मों को		(स्वयम्)
मनसा	=मन से	कुर्वन्	=करता हुआ
संन्यस्य	=त्यागकर		+ और
वशी	=अपने को वश में रखनेवाला अथवा शुद्ध अन्तःकरण-वाला	न	=न (कुछ)
		कारयन्	=कराता हुआ
		नव-द्वारे	=नौ द्वारों के
		पुरे	=(शरीर रूपी) नगर में
देही	=देह का स्वामी-आत्मा	सुखम्	=सुखपूर्वक
		आस्ते	=वास करता है
न एव	=न तो कुछ		

अर्थ—अपने को वश में रखनेवाला देह का स्वामी—जीव—सब कर्मों को मन से त्यागकर न तो कुछ स्वयं करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, नौ द्वार (दो कान, दो आँखें, दो नाक के छिद्र, एक मुख और मल-मूत्र त्यागने के दो स्थान) वाले शरीररूपी नगर में आनन्दपूर्वक रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न, कर्तृत्वम्, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः।
न, कर्म-फल-संयोगम्, स्वभावः, तु प्रवर्तते ॥

प्रभुः	=ईश्वर	न	=न
लोकस्य	=जीव या लोगों के	कर्म-फल-संयोगम्	=कर्मफल के संयोग को
न	=न	सृजति	=सिरजता है
कर्तृत्वम्	=कर्तापन को	तु	=किन्तु
न	=न	स्वभावः	=प्रकृति ही
कर्माणि	=कर्मों को		+ यह सब
	+ और	प्रवर्तते	=कराती है

अर्थ—ईश्वर प्राणियों के न तो कर्तापन को, न कर्मों को और न कर्म-फल के सम्बन्ध को उत्पन्न करता है अर्थात् यह जगत् का स्वामी न किसी से कहकर कर्म कराता है, न आप कर्म करता है, न किसी को फल भुगाता है और न आप भोगता है; किन्तु प्रकृति या दैवी माया ही कार्य करती और कराती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न, आदत्ते, कस्यचित्, पापम्, न, च, एव, सुकृतम्, विभुः।
अज्ञानेन, आवृतम्, ज्ञानम्, तेन, मुह्यन्ति, जन्तवः ॥

विभुः	=ईश्वर	अज्ञानेन	=अज्ञान से
न	=न	ज्ञानम्	=ज्ञान
कस्यचित्	=किसी के	आवृतम्	=ढका हुआ है
पापम्	=पाप को	तेन	=इसी (अज्ञान) से
च	=और	जन्तवः	=सब जीव (लोग)
न	=न	मुह्यन्ति	=मोह को प्राप्त हो रहे हैं (धोखा खा रहे हैं)
	+किसी के		
सुकृतम्	=पुण्य को		
आदत्ते	=ग्रहण करता है		

अर्थ—परमेश्वर (अकर्ता होने के कारण) न किसी के पाप को और न किसी के शुभ कर्मों को ग्रहण करता है। अज्ञान का पर्दा ज्ञान पर पड़ा हुआ है, इसी से लोग मोहित हो रहे हैं यानी धोखा खा रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

ज्ञानेन, तु, तद्, अज्ञानम्, येषाम्, नाशितम्, आत्मनः। तेषाम्, आदित्यवत्, ज्ञानम्, प्रकाशयति, तत्परम्॥

तु	=किन्तु	अज्ञानम्	=अज्ञान को
आत्मनः	=आत्मविषयक	नाशितम्	=नष्ट कर दिया है
ज्ञानेन	=ज्ञान ने	तेषाम्	=उन (महात्मा पुरुषों) का
येषाम्	=जिन पुरुषों के		+ वह
तत्	=उस		

ज्ञानम् =आत्मज्ञान आदित्यवत् =सूर्य-की तरह तत्परम् =उस परमतत्त्व (सच्चिदानन्द परमात्मा के	वास्तविक स्व-रूप) को प्रकाशयति =प्रकाशित करता है

अर्थ—किन्तु जिनका अज्ञान आत्म-ज्ञान से मिट गया है, उन महात्मा पुरुषों का वह ज्ञान, उस परब्रह्म-परम तत्त्व (अर्थात् सच्चिदानन्द परमात्मा के वास्तविक स्वरूप) को इस भाँति प्रकाशित करता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को मिटाकर, देखने योग्य चीज़ों को दिखा देता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत्-बुद्धयः, तत्-आत्मानः, तत्-निष्ठाः, तत्-परायणाः।
गच्छन्ति, अ-पुनरावृत्तिम्, ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः ॥

तत्-बुद्धयः =उसी में यानी ब्रह्मज्ञान में जिन-की बुद्धि है तत्-आत्मानः=उस परमस्वरूप =में ही जिनका आत्मा (मन) है तत्-निष्ठाः =उस सच्चिदानन्द परमात्मा के	स्वरूप में ही जिनकी दृढ़ स्थिति है +और तत्-परायणाः=उस परमात्मा का ही जो आश्रय लेते हैं + तथा

ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः	=ज्ञान द्वारा जिनके पाप मिट गए हैं (ऐसे महात्मा पुरुष)	अ-पुनरा-वृत्तिम्	=मोक्ष को
		गच्छन्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—जिनकी बुद्धि ब्रह्मज्ञान के विचार में लगी रहती है, जिनका मन उस परम स्वरूप में ही सदैव रमा रहता है, जिनका चित्त अपने परम स्वरूप के निश्चय में दृढ़ है, जो हर घड़ी उस परमात्मा का ही आश्रय लेते हैं, "मैं शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म हूँ" इस प्रकार के आत्मज्ञान से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, ऐसे महात्मा पुरुष जब शरीर त्यागते हैं तब उस पद को पहुँचते हैं, जहाँ से कोई फिर नहीं लौटता यानी सीधे मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या-विनय-संपन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि।
शुनि, च, एव, श्वपाके, च, पण्डिताः, सम-दर्शिनः ॥

विद्या-विनय-संपन्ने	=विद्या और नम्रता से युक्त	च	=तथा
ब्राह्मणे	=ब्राह्मण में	श्वपाके	=चाण्डाल में
गवि	=गौ में	च	=भी
हस्तिनि	=हाथी में	पण्डिताः	=(आत्मज्ञानी) बुद्धिमान् पुरुष
शुनि	=कुत्ते में	सम-दर्शिनः	=समदर्शी
		एव	=ही (होते हैं)

अर्थ—विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में तथा कुत्ते और चाण्डाल में भी ज्ञानवान् पुरुष (आत्म-दृष्टि से) समता (sameness) का व्यवहार करते रहते हैं।

व्याख्या—ज्ञानी पुरुष ऊँचे दरजे के ब्राह्मण से लेकर नीचे दरजे के कुत्ते और चाण्डाल को भी समान भाव से देखते हैं। वे समझते हैं कि जो आत्मा हममें है, वही उनमें भी है। अतः परमात्मा की सारी सृष्टि को वे एक दृष्टि से देखते हैं और किसी से घृणा नहीं करते।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१६॥

इह, एव, तैः, जितः, सर्गः, येषाम्, साम्ये, स्थितम्, मनः।
निर्दोषम्, हि, समम्, ब्रह्म, तस्मात्, ब्रह्मणि, ते, स्थिताः॥

येषाम्	=जिनका	ब्रह्म	=परमात्मा या ईश्वर
मनः	मन	निर्दोषम्	=निर्दोष यानी विकारों से रहित + और
साम्ये	=समता में (सम-दृष्टि में)	समम्	=सम है
स्थितम्	=स्थित है	तस्मात्	=इसी कारण
तैः	=उन्होंने	ते	=वे (समदर्शी)
इह	=इस जन्म में	ब्रह्मणि	=ब्रह्म में (परमात्मा में ही)
एव	=ही	स्थिताः	=स्थित रहते हैं
सर्गः	=(सारा) संसार		
जितः	=जीत लिया है		
हि	=क्योंकि		

अर्थ—जो सबको समदृष्टि—एक नज़र—से देखते हैं, उन्होंने जीतेजी इस मृत्युलोक को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समान है यानी जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित तथा सदैव एक समान रहनेवाला है; इसी कारण वे (समदर्शी) निस्सन्देह ब्रह्म में ही अभिन्नरूप से स्थित हैं अर्थात् ब्रह्म-भाव को प्राप्त होते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

न, प्रहृष्येत्, प्रियम्, प्राप्य, न, उद्विजेत्, प्राप्य, च, अप्रियम्। स्थिर-बुद्धिः, असंमूढः, ब्रह्मवित्, ब्रह्मणि, स्थितः॥

असंमूढः	=अज्ञान या मोह से रहित
स्थिर-बुद्धिः	=स्थिर बुद्धि-वाला
ब्रह्मवित्	=ब्रह्म को जानने-वाला
	+और
ब्रह्मणि	=परब्रह्म परमा-त्मा में
स्थितः	=स्थित हुआ
	(पुरुष)
प्रियम्	=प्यारी वस्तु को
प्राप्य	=पाकर
न प्रहृष्येत्	=प्रसन्न न हो
च	=और
अप्रियम्	=अप्रिय वस्तु को
प्राप्य	=पाकर
न उद्विजेत्	=उद्विग्न या दुखी न हो

अर्थ—स्थिर बुद्धिवाला, (जिसकी बुद्धि डाँवा-डोल न हो) अज्ञान से रहित, ब्रह्म को जाननेवाला और ब्रह्म में

स्थित रहनेवाला प्यारी वस्तु को पाकर प्रसन्न अथवा अप्रिय वस्तु को पाकर दुखी नहीं होता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्य-स्पर्शेषु, अ-सक्त-आत्मा, विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखम्। सः, ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा, सुखम्, अक्षयम्, अश्नुते॥

बाह्य-स्पर्शेषु	=शब्द आदि बाहरी इन्द्रियों के विषयों में	**सुखम्**	=सुख को
अ-सक्त-आत्मा	=जिसका अन्तःकरण (मन या चित्त) फँसा हुआ नहीं है ऐसा पुरुष	**विन्दति**	=पाता है
आत्मनि	=अपने अन्तःकरण में	**सः**	=वही
यत्	=जिस (शान्ति-रूपी)	**ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा**	=ब्रह्म-भाव में स्थित समत्व योगी
		अक्षयम्	=नाश न होनेवाले
		सुखम्	=सुख को
		अश्नुते	=अनुभव करता है

अर्थ—आँख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों को अपने अधीन करके, उन इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में जो योगी नहीं फँसता, वह अपने निर्मल अन्तःकरण में शान्ति-रूप सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार शान्ति पाकर

वह योग द्वारा समाधि लगाकर जब ब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाता है तब उसे अक्षय (कदापि नष्ट न होने-वाला) सुख मिलता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये, हि, संस्पर्श-जाः, भोगाः, दुःख-योनयः, एव, ते।
आदि-अन्त-वन्तः, कौन्तेय, न, तेषु, रमते, बुधः ॥

हि	=क्योंकि
संस्पर्श-जाः	=इन्द्रियों और शब्द आदि विषयों के संस्पर्श से पैदा होनेवाले
ये	=जो भी
भोगाः	=विषय-सुख या भोग हैं
ते	=वे
दुःख-योनयः एव	=दुःख के ही कारण हैं
	+ और
आदि-अन्त-वन्तः	=आदि अन्तवाले हैं अर्थात् नित्य नहीं हैं
	+ इसी लिए
कौन्तेय	=हे अर्जुन !
बुधः	=बुद्धिमान् पुरुष
तेषु	=उन विषय-भोगों में
न रमते	=नहीं रमता

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों से जो मिथ्या सुख होते हैं, वे सब दुःख पैदा करनेवाले हैं (जैसे विष-वृक्ष की लता देखने में बड़ी सुन्दर, कोमल मालूम होती है, पर सूँघते ही प्राण

हर लेती है, वैसे ही ये विषय-भोग आदि में बड़े प्यारे मालूम होते हैं, परन्तु अन्त में दुःख रूप ही होते हैं) ये विषय-सुख आदि-अन्तवाले हैं अर्थात् सदा नहीं रहते इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में नहीं रमते अर्थात् इनमें प्रीति न रखकर इन्हें विष के समान जान त्यागने का उपाय करते रहते हैं ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शक्नोति, इह, एव, यः, सोढुम्, प्राक्, शरीर-विमोक्षणात् । काम-क्रोध-उद्भवम्, वेगम्, सः, युक्तः, सः, सुखी, नरः ॥

यः	=जो पुरुष	वेगम्	=वेग को
इह एव	=यहीं पर (इसी जन्म में)	सोढुम्	=सहन करने में
शरीर-विमोक्षणात्	=शरीर छूटने से	शक्नोति	=समर्थ है
प्राक्	=पहिले	सः	=वही
काम-क्रोध-उद्भवम्	=काम और क्रोध से उत्पन्न होने-वाले	युक्तः	=योगी है + और
		सः	=वही
		सुखी	=सुखी
		नरः	=महापुरुष है

अर्थ— जो मनुष्य मरते दम तक यानी शरीर छूटने के

अन्तिम समय तक काम[1] और क्रोध[2] के प्रबल वेगों को सह सकता है अर्थात् जो मरण-समय तक इनके वेगों को अपने वश में रख सकता है, वही कर्मयोगी और वही सुखी है (अन्य नहीं)।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः, अन्तः-सुखः, अन्तर्-आरामः, तथा, अन्तर्-ज्योतिः, एव, यः।
सः, योगी, ब्रह्म-निर्वाणम्, ब्रह्म-भूतः, अधिगच्छति ॥

यः	=जो (महात्मा)	अन्तर्-आरामः	=(अपने) अन्तः-करण में ही रमण या विहार करनेवाला है
अन्तः-सुखः	=अपने अन्तः-करण में ही सुख का अनुभव करता है	तथा	=तथा
	+ और	यः	=जो

१. काम का अर्थ इच्छा है। इन्द्रियों को जिस विषय के संयोग से सुख हुआ है, उस विषय को फिर भोगने का नाम "काम" है। (२) स्त्री-पुरुष दोनों की विषय-संबंधी अभिलाषा का भी बहुधा "काम" कहते हैं। परन्तु यहाँ अपने अनुकूल विषयों में इच्छा का नाम "काम" है।

२. क्रोध—जिन विषयों के संयोग से दुःख हुआ है उनके नष्ट करने की इच्छा का नाम "क्रोध" है। इसे द्वेष भी कहते हैं। क्रोध से मनुष्य का शरीर काँपने लगता है, नेत्र लाल हो जाते हैं और मनुष्य होंठों को चबाने लगता है।

अन्तर्-ज्योतिः	=(अपने) आत्मा में ही प्रकाश देखनेवाला है अथवा जिसकी दृष्टि अपने आत्मा में ही है	योगी	=योगी
सः	=वही	ब्रह्म-भूतः	=ब्रह्मस्वरूप हो-कर
		ब्रह्म-निर्वाणम्	=परमानन्द रूप मोक्ष को
		एव	=निश्चय ही
		अधिगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—(इस प्रकार काम-क्रोध के वेग को वश में कर लेने से) जिसको अपने भीतर ही सुख है अर्थात् जो अपने शुद्ध अन्तःकरण में सुख का अनुभव करता है, जो अपने आत्मा या अन्तःकरण में ही रमण करता या विश्राम पाता है, जो अपने आत्मा में ही प्रकाश देखता है अथवा जिसकी दृष्टि अपने आत्मा में ही है, वही योगी ब्रह्म में लीन होकर, ब्रह्मस्वरूप होता हुआ (शरीर छोड़ते ही) ब्रह्म-निर्वाण पद (मोक्ष) को पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभन्ते, ब्रह्म-निर्वाणम्, ऋषयः, क्षीण-कल्मषाः ।
छिन्न-द्वैधाः, यत-आत्मानः, सर्व-भूत-हिते, रताः ॥

क्षीण-कल्मषाः	=जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं
छिन्नद्वैधाः	=(आत्मज्ञान द्वारा) जिनके सब संशय दूर हो गए हैं

यत-आत्मानः=जिन्होंने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है
+ और
सर्व-भूत-हिते रताः = जो नित्य सब का भला चाहते रहते हैं
+ ऐसे
ऋषयः =ऋषिलोग
ब्रह्म-निर्वाणम्=ब्रह्मनिर्वाण पद अर्थात् मोक्ष को
लभन्ते =प्राप्त होते हैं

अर्थ— निष्काम कर्मों द्वारा जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, आत्म-विचार द्वारा जिनके सब सन्देह मिट गए हैं, जिन्होंने अपने को अपने वश में कर लिया है, और जो नित्य सब प्राणियों की भलाई चाहते रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण पद यानी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

काम-क्रोध-वियुक्तानाम्, यतीनाम्, यत-चेतसाम्।
अभितः, ब्रह्म-निर्वाणम्, वर्तते, विदित-आत्मनाम्॥

काम-क्रोध-वियुक्तानाम् = जो काम और क्रोध से रहित हैं
यत-चेतसाम्=जिन्होंने अपने चित्त या अन्तः-करण को अपने वश में कर लिया है
+ और
विदित-आत्मनाम् = जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मसच्चिदानन्द नित्यमुक्त आत्मा को जान

	लिया है +ऐसे	अभितः	=सब अवस्थाओं में
यतीनाम्	=संन्यासियों को	ब्रह्म-निर्वाणम्	=मोक्ष ही
		वर्तते	=प्राप्त होता है

अर्थ—जो काम और क्रोध को अपने पास नहीं फटकने देते अथवा जिन्होंने काम और क्रोध के वेगों को जीत रक्खा है, जिन्होंने अपने चित्त या अन्तःकरण को अपने वश में कर लिया है और जिन्होंने अपने आत्म-स्वरूप को पहचान लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए जीतेजी और शरीर त्यागने पर सब जगह हर हालत में मोक्षरूपी परमानन्द ही परमानन्द है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्, चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः।
प्राण-अपानौ, समौ, कृत्वा, नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ॥

बाह्यान्	=बाहर रहनेवाले	च	=और
स्पर्शान्	=शब्द आदि विषयों को	चक्षुः	=नेत्रों को
बहिः	=बाहर	भ्रुवोः	=दोनों भवों के
एव	=ही	अन्तरे	=बीच में
कृत्वा	+करके(त्याग-कर)	कृत्वा	=स्थित कर (लगाकर)

नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ	=नासिका के अन्दर आने-जानेवाले	समौ	=अपान वायु की गति को सम (बराबर)
प्राण-अपानौ	=प्राण और	कृत्वा	=करके

अर्थ—जो आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि बाहरी विषयों को (विवेक और वैराग्य के प्रभाव से) बाहर निकालकर, अर्थात् अपने मन से विषयों का ध्यान हटाकर, नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में ठहराकर, नासिका यानी नाक के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके (एक-जैसा विचरनेवाला करके) अथवा कुम्भक प्राणायाम करके

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८॥

यत-इन्द्रिय-मनः-बुद्धिः, मुनिः, मोक्ष-परायणः ।
विगत-इच्छा-भय-क्रोधः, यः, सदा, मुक्तः, एव, सः ॥

यत-इन्द्रिय-मनः-बुद्धिः	=जीती हैं इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जिसने (अथवा जिसने अपनी इन्द्रियों मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है)	मोक्ष-परायणः	=मोक्ष ही है परम गति जिसकी
		विगत-इच्छा-भय-क्रोधः	=इच्छा, भय और क्रोध से रहित है (ऐसा)
		यः	=जो
		मुनिः	=मुनि (संन्यासी) है

सः	=वह	मुक्तः एव	=मुक्त ही है
सदा	=सदा		

अर्थ—जिसने अपने मन, इन्द्रियों और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है, जो काम, क्रोध और भय से रहित है, मोक्ष ही जिसकी परम गति है, ऐसा मुनि सदा (जीता हुआ भी या साधन की अवस्था में भी) मुक्त ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

भोक्तारम्, यज्ञ-तपसाम्, सर्व-लोक-महा-ईश्वरम्।
सुहृदम्, सर्व-भूतानाम्, ज्ञात्वा, माम्, शान्तिम्, ऋच्छति॥

	(वह ज्ञानी)		+ तथा
माम्	=मुझ परमात्मा को	सर्व-भूतानाम्	=सब प्राणियों का
यज्ञ-तपसाम्	=यज्ञों और तपों का	सुहृदम्	=बिना प्रयोजन उपकार करनेवाला
भोक्तारम्	=भोगनेवाला	ज्ञात्वा	=जानकर
सर्व-लोक-महा-ईश्वरम्	सम्पूर्ण लोकों =का महान् ईश्वर	शान्तिम्	=मोक्षरूप शान्ति को
		ऋच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—(इस ध्यानयोग से) सब यज्ञों और तपों के भोगनेवाले, सारे लोकों के महान् ईश्वर और सब प्राणियों के सुहृद् मुझ सच्चिदानन्द को अच्छी तरह जान जाने पर मननशील मुनि को मोक्षरूप शान्ति मिलती है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

गीता के पाँचवें अध्याय का माहात्म्य

विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—'हे देवि! अब हम गीता के पाँचवें अध्याय का माहात्म्य कहते हैं, मन लगाकर सुनो। पुरुकुत्स नाम के नगर में कुलीन ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न पिंगल नाम का एक दुराचारी ब्राह्मण था। वह शास्त्र-विहित धर्मों को छोड़कर मृदंग आदि बाजे बजाता, गाता और नाचता था। उसकी स्त्री का नाम अरुणा था। वह भी बड़ी व्यभिचारिणी थी। उसने एक दिन आधी रात को अपने पति को मार डाला। पिंगल अपने पापों के फल से यमलोक में नरकों के क्लेश भोगकर वन में गिद्ध हुआ। अरुणा के भी भगन्दर-रोग हुआ और वह भी मर गई। वह दुष्टा भी नरक को गई। अन्त को उसे भी उसी वन में—जहाँ उसका पति गिद्ध हुआ था—सुग्गी का जन्म मिला। गिद्ध ने पूर्वजन्म की शत्रुता को याद करके उस सुग्गी को मार डाला। वह मरकर संयोग-वश एक मनुष्य की खोपड़ी में गिरी। उसी समय गिद्ध भी किसी बहेलिये के जाल में फँसकर मर गया, और उसकी भी हड्डियाँ उसी मनुष्य की खोपड़ी में गिरीं। जब उन दोनों को यमराज के दूत यमलोक को ले गये, तब यमराज ने उनसे कहा कि यद्यपि तुम दोनों ने पूर्वजन्म में बड़े पाप किये हैं, किन्तु तुम्हारी हड्डियाँ मनुष्य की खोपड़ी में गिरीं, इसलिए अब तुम श्रेष्ठलोक को जाओ। जिसकी खोपड़ी में तुम गिरे हो, वह एक ब्रह्मज्ञानी योगी की खोपड़ी है। वह

गीता के पाँचवें अध्याय का पाठ करता था, जिसके प्रभाव से ममताहीन, विरक्त और शुद्धात्मा होकर ब्रह्मलोक को गया है। उस सिद्ध पुरुष की खोपड़ी में गिरने से तुम भी पवित्र हो गए। अब अपनी इच्छा के अनुसार अभीष्ट लोकों में जाओ। यमराज के कहने पर वे दोनों विमान पर बैठकर वैकुण्ठ लोक को गये।

छठा अध्याय
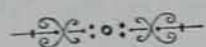
श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

अनाश्रितः, कर्म-फलम्, कार्यम्, कर्म, करोति, यः।
सः, संन्यासी, च, योगी, च, न, निर्-अग्निः, न, च, अ-क्रियः॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले--हे अर्जुन!

यः	=जो मनुष्य	सः	=वही
कर्मफलम्	=कर्मफल का	संन्यासी	=संन्यासी
अनाश्रितः	=आश्रय न करते हुए	च	=और
कार्यम्	=करने योग्य	योगी	=योगी है
कर्म	=कर्म	च	=और
करोति	=करता है	निर्-अग्निः	=अग्नि-हीन अर्थात् यज्ञ-

	होमादि को त्यागनेवाला	न	=न
न	=न तो (संन्यासी है)	अ-क्रियः	=कर्मों से रहित होनेवाला ही (सच्चा संन्यासी और योगी है)
च	=और		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष, कर्म-फल की तृष्णा को छोड़-कर, (निष्काम हृदय से) करने योग्य कर्मों को करता है, वही वास्तव में कर्म-संन्यासी और कर्म-योगी है ; किन्तु यज्ञ होमादि को त्यागनेवाला (अग्नि-हीन) और तप-दानादि कर्म छोड़नेवाला (कर्म-हीन) पुरुष वास्तव में न संन्यासी है और न कर्मयोगी ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यम्, संन्यासम्, इति, प्राहुः, योगम्, तम्, विद्धि, पाण्डव ।
न, हि, अ-संन्यस्त-संकल्पः, योगी, भवति, कश्चन ॥

यम्	=जिसको	हि	=क्योंकि
संन्यासम्	=संन्यास	अ-संन्यस्त-संकल्पः	=मानसिक संकल्पों को त्यागे विना
प्राहुः	=कहते हैं		
पाण्डव	=हे अर्जुन !		
तम्	=उसी को +तू	कश्चन	=कोई भी पुरुष
योगम् इति	=योग करके	योगी	=(समत्व) योगी
विद्धि	=जान	न भवति	=नहीं होता

अर्थ— हे अर्जुन ! जिसे 'संन्यास' कहते हैं, उसे ही तू योग समझ। जिसने * संकल्पों को नहीं त्यागा है अथवा जिसने कर्म-फलों के सम्बन्ध को नहीं छोड़ा है, वह वास्तव में योगी नहीं है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते।
योग-आरूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणम्, उच्यते ॥

आरुरुक्षोः	=ज्ञान-योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले
मुनेः	=मुनि के लिए
कर्म	=(निष्काम चित्त से) कर्म ही
योगम्	=योग का
कारणम्	=कारण
उच्यते	=कहा जाता है
तस्य	=उस
योग-आरूढस्य	=ज्ञान-योग में आरूढ़ हुए पुरुष के +चित्त की शान्ति और वैराग्य क प्राप्ति के लिए
शमः	=शम (तृष्णा व संकल्पों का त्याग)
एव	=ही
कारणम्	=कारण
उच्यते	=कहा जाता है

* संकल्प—मन की इच्छा या कामना। किन्तु यहाँ कर्मों को दुःख व सुखरूपी फलों से जोड़ने का नाम 'संकल्प' है।

अर्थ--जो मुनि योग में आरूढ़ होने की इच्छा करता है यानी अपने अन्तःकरण को शुद्ध और दृढ़ बनाना चाहता है, उसे निष्काम हृदय से कर्म करना चाहिए। जब वह मुनि योगारूढ़ हो जाय यानी जब कर्म करते-करते उसका चित्त शुद्ध और शान्त हो जाय, तब ध्यान-योग की प्राप्ति के लिए शमरूप संन्यास (तृष्णा व संकल्पों का त्यागं) का साधन करना चाहिए।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

यदा, हि, न, इन्द्रिय-अर्थेषु, न, कर्मसु, अनुषज्जते ।
सर्व-संकल्प-संन्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते ॥

यदा	=जिस समय	अनुषज्जते	=आसक्त होता है
	+वह महापुरुष	तदा	=उस समय
न	=न तो		+वह पुरुष
इन्द्रिय-अर्थेषु	=इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में	सर्व-संकल्प-संन्यासी	सब संकल्पों (फल-कामनाओं) का त्याग करनेवाला
	+ और		
न	=न	योगारूढः	=योगारूढ़
कर्मसु	=कर्मों में	उच्यते	=कहलाता है
हि	=ही		

अर्थ—जिस समय पुरुष इन्द्रियों के कर्मों और उनके विषयों

को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है और जब किसी कामना या विषय का एक भी संकल्प मनुष्य के हृदय में नहीं रहता, बल्कि वह सब संकल्पों को त्याग देता है; तब योगारूढ़ कहलाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्।
आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपुः, आत्मनः॥

आत्मना =आत्मा से (अपने आप से)
आत्मानम् =आत्मा का— जीव का— (अपने आपका)
उद्धरेत् =(संसार से) उद्धार करे
+ और
आत्मानम् =अपनी आत्मा को (अपने आप को)
न अवसादयेत्=नीचे न गिरावे (इस संसार-समुद्र में पुनः आसक्त न होने दे)
हि =क्योंकि
आत्मा =आत्मा
एव =ही
आत्मनः =आत्मा का
बन्धुः =बन्धु है (संसार से मुक्त करानेवाला है)
+और
आत्मा =आत्मा (आप)
एव =ही
आत्मनः =आत्मा का (अपना)
रिपुः =वैरी है

अर्थ—मनुष्य को उचित है कि आत्मा से आत्मा का उद्धार करता रहे और अपने को इस संसार-समुद्र में पुनः डूबने न दे अर्थात् अपने को नीचे न गिरावे; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

व्याख्या—मनुष्य को चाहिए कि अपने आत्मा को संसार के झंझटों में न फँसावे, बल्कि एकान्त स्थान में बैठकर आत्म-ध्यान के बल से अपना उद्धार करे। मनुष्य यदि अपनी उन्नति करना चाहे, तो वह विषय-वासनाओं में न फँसकर परमपद-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है और यदि मनुष्य अपनी आत्मा को या अपने को नीचे गिरा देगा तो वही आत्मा उसको संसार के बन्धन में फँसा देगा।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बन्धुः,आत्मा,आत्मनः, तस्य,येन, आत्मा, एव, आत्मना, जितः।
अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत् ॥

तस्य एव	=उसी		करण को
आत्मनः	=जीवात्मा का	जितः	=वश में कर लिया है या जीत लिया है
आत्मा	=आत्मा	तु	=किन्तु
बन्धुः	=बन्धु है	अनात्मनः	=जिसने अंतः-करण आदि को वश में नहीं
येन	=जिस		
आत्मना	=जीवात्मा ने		
आत्मा	=शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अंतः-		

	लिया उसका अर्थात् जिसने अपने को नहीं जीता और नहीं पहचाना उसका	एव	=निस्सन्देह
		शत्रुवत्	=शत्रु के समान
		शत्रुत्वे वर्तत	=शत्रुता में वर्तता है यानी वैरी होता है
आत्मा	=आत्मा		

अर्थ—जिसने अपने आत्मा से आत्मा को जीत लिया है अर्थात् जिसने अपने शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण को वश में कर लिया है, उस मनुष्य के लिए उसका आत्मा ही मित्र है ; लेकिन जिसने अपने अन्तःकरण आदि को वश में नहीं किया है यानी जो जितेन्द्रिय और विवेकी नहीं है, वह स्वयम् अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है अर्थात् उसका आत्मा ही शत्रु की तरह उसे हानि पहुँचाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जित-आत्मनः, प्रशान्तस्य, परमात्मा, समाहितः ।
शीतउष्ण-सुख-दुःखेषु, तथा, मान-अपमानयोः ॥

जित-आत्मनः	=जिसने अपने आत्मा(मन) को जीत लिया है		जिसका आत्मा अर्थात् अंतःकरण पूर्ण शान्त है उसका
प्रशान्तस्य	= (और इसी से)	परमात्मा	=अन्तर-आत्मा

	(परम स्वरूप)	मान अप-मानयोः	=मान और अप-मान में
शीत-उष्ण	=सर्दी-गर्मी और	समाहितः	=एकाग्र या स्थिर रहता है
सुख-दुःखेषु	=सुख-दुःख		
तथा	=एवं		

अर्थ—जिसने अपने आत्मा को अपने वश में कर लिया है और जो पूर्ण शान्त है, उसका परम-आत्मा (परम स्वरूप) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान (इज़्ज़त-बेइज़्ज़ती) में एक समान अथवा अचल रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा, कूट-स्थः विजित-इन्द्रियः।
युक्तः, इति, उच्यते, योगी, सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः ॥

ज्ञान-विज्ञान तृप्त-आत्मा	=जिसका अन्तः-करण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त (सन्तुष्ट) है +और		विकारों से रहित है +तथा
कूट-स्थः	=निहाई के समान आत्मा में जिस-की स्थिति दृढ़ हो गई है अथवा जिसकी स्थिति राग-द्वेष आदि	विजित-इन्द्रियः	=जिसने अपनी इन्द्रियों को अच्छी तरह जीत लिया है +और
		सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः	=जो मिट्टी पत्थर, तथा सोने को समान समझता

	है (वह)		सिद्ध
योगी	=योगी	उच्यते	=कहा जाता है
युक्तः इति	=योगारूढ़ या पूर्ण		

अर्थ — जिस योगी का आत्मा ज्ञान * और विज्ञान † से सन्तुष्ट (तृप्त) हो गया है, और निहाई के समान आत्मा में जिसका दृढ़ विश्वास है अथवा जिसका मन विषयों के समीप होने पर भी अचल और विकारों से रहित है, जिसने अपनी इन्द्रियों को अच्छे प्रकार से वश में कर लिया है और जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को एकसमान समझता है, वही पूर्ण सिद्ध योगी कहलाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु ।
साधुषु, अपि, च, पापेषु, सम-बुद्धिः, विशिष्यते ॥

सुहृद्	=सुहृद् (शुभ-चिन्तक)	उदासीन	=उदासीन (बे-परवाह)
मित्र	=मित्र (स्नेही)	मध्यस्थ	=मध्यस्थ (निष्पक्ष
अरि	=शत्रु (वैरी)		

* ज्ञान—जो विषय गुरु के उपदेश या शास्त्र से जाना जाय उसे 'ज्ञान' या 'परोक्ष ज्ञान' कहते हैं।

† विज्ञान—जो विषय अनुभव से स्वतः प्राप्त हो उसे "विज्ञान" या "अपरोक्ष ज्ञान" कहते हैं।

	भाव से बर्ताव करनेवाला)	पापेषु	=पापियों में
द्वेष्य	=द्वेषी	अपि	=भी (जिसकी)
	+और	सम-बुद्धिः	=बुद्धि सम है अर्थात् जो इन सबको एक ही आत्मा के अनेक रूप समझता है
बन्धुषु	=बन्धुजनों में		+ वही योगी
	+तथा	विशिष्यते	=अधिक श्रेष्ठ है
साधुषु	=साधुओं (सदाचारी पुरुषों)		
च	=और		

अर्थ—जो मनुष्य सुहृद् (अपने शुभचिन्तक) मित्र, शत्रु, उदासीन, (पक्षपातरहित), मध्यस्थ (दोनों पक्षों का भला चाहनेवाला) द्वेषी (दूसरे का भला देखकर कुढ़नेवाला), बन्धु (रिश्तेदार), साधुओं (धर्मात्माओं) और अधर्मियों (पापियों) को भी एक दृष्टि से देखता है, अथवा इन सबको एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप समझता है वही योगियों में अधिक श्रेष्ठ है। (सारांश यह है कि जो सोने, पत्थर आदि को एक समान समझता है वह तो पहुँचा हुआ योगी है ही, किन्तु जो मित्र और शत्रु में कुछ भेद न जानकर प्राणीमात्र को एक समान समझता है, उस योगी को अधिक पहुँचा हुआ समझना चाहिए।)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

योगी, युञ्जीत, सततम्, आत्मानम्, रहसि, स्थितः ।
एकाकी, यत-चित्त-आत्मा, निर्-आशीः, अ-परिग्रहः ।

यत-चित्त-आत्मा	=जिसने अपने चित्त और आत्मा (इन्द्रियों) को अपने वश में कर लिया है ऐसा	योगी	=योगी
		एकाकी	=अकेला ही
		रहसि	=एकान्त में
		स्थितः	=बैठकर
		सततम्	=निरन्तर
निर्-आशीः	=वासना से रहित और	आत्मानम्	=अपने को या अपनी आत्मा को
अ-परिग्रहः	=धन या पदार्थों के संग्रह करने की ममता से रहित (होकर)		+परमात्मा के ध्यान में
		युञ्जीत	=लगावे

अर्थ—योगी को चाहिए कि अकेले एकान्त स्थान में रह कर, अपने चित्त और आत्मा (अन्तःकरण और इन्द्रियों) को अपने वश में करके सब प्रकार की आशा और इच्छाओं को त्यागकर पदार्थों का संग्रह करने की ममता से रहित होकर यानी किसी भी चीज को अपने पास न रखकर अपने आत्मा (अपने मन) को ईश्वर के ध्यान में लगावे यानी योगाभ्यास करे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मनः।
न, अति-उच्छ्रितम्, न, अति-नीचम्, चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्॥

शुचौ	=पवित्र (शुद्ध)	अति-उच्छ्रितम्	=बहुत ऊँचा हो
देशे	=भूमि में (स्थान में)	न	= न
आत्मनः	=अपना	अति-नीचम्	=बहुत नीचा यानी समतल भूमि हो
आसनम्	=आसन		
स्थिरम्	=स्थिर (अचल)		
प्रतिष्ठाप्य	=स्थापित करके +जो	चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्	उसके ऊपर कुश, मृगचर्म =और वस्त्र (बिछावे)
न	=न		

अर्थ—शुद्ध और पवित्र स्थान में (जैसे गंगा का किनारा) जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, किन्तु समतल भूमि पर अपना आसन ऐसा जमावे कि जरा भी हिलने न पावे। उस आसन पर पहले कुश, फिर मृगछाला या व्यांघ्रचर्म और उसके ऊपर कोमल वस्त्र बिछावे।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

तत्र, एक-अग्रम्, मनः, कृत्वा, यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः।
उपविश्य, आसने, युञ्ज्यात्, योगम्, आत्म-विशुद्धये॥

	+और
तत्र	=वहाँ अर्थात् उस
आसने	=आसन पर
उपविश्य	=बैठकर
मनः	=मन को
एक-अग्रम्	=एकाग्र
कृत्वा	=करके
	+तथा
यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः	=अपने चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को अधीन करके
आत्म-विशुद्धये	=अंतःकरण की शुद्धि के लिए
योगम्	=योग में
युञ्ज्यात्	=लगे

अर्थ—उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों के कामों को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मन और चित्त को (अपने स्वरूप के ध्यान में) एकाग्र करके योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

सम्म्, काय-शिरःग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः।
संप्रेक्ष्य, नासिका-अग्रम्, स्वम्, दिशः, च, अनवलोकयन्॥

काय-शिरः-ग्रीवम्	=देह का मध्य-भाग, शिर (मस्तक) और गर्दन इन तीनों को
समम्	=सीधा (एक-समान रख)
अचलम्	= अचल
धारयन्	=धारण करता हुआ यानी हिलने-डुलने से रहित हो

स्थिरः	=दृढ़प्रयत्नवाला होकर	संप्रेक्ष्य	=दृष्टि टिकाकर
स्वम्	=अपनी	च	=और
नासिका-अग्रम्	नासिका (नाक) =के अग्रभाग (नोक) पर	दिशः	= (पूर्व आदि) दिशाओं को
		अनवलोकयन्	=न देखता हुआ

अर्थ—शरीर, सिर और गर्दन इन तीनों को अचल, स्थिर और (दण्ड के समान) सीधा रक्खे, अपने नाक की नोक पर दृष्टि टिकावे यानी अपनी नाक के अगले भाग पर नज़र रक्खे और इधर-उधर किसी तरफ़ न देखे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

प्रशान्त-आत्मा, विगत-भीः, ब्रह्मचारि-व्रते, स्थितः ।
मनः, संयम्य, मत्-चित्तः, युक्तः, आसीत, मत्-परः ॥

प्रशान्त-आत्मा	=शान्त अन्तःकरणवाला	मनः	=मन को
विगत-भीः	=भय से रहित (निर्भय होकर)	संयम्य	=रोककर
ब्रह्मचारि-व्रते	=ब्रह्मचर्यव्रत में	मत्-चित्तः	=मुझ सच्चिदानन्द में चित्त लगाये हुए
स्थितः	=स्थित हुआ (योगी)	युक्तः	=आत्म-ध्यान में युक्त हो(सावधान होकर)

मत्-परः	+और =मुझ परब्रह्म ही को परम आश्रय और परम	आसीत	पुरुषार्थ समझ कर =(ध्यान में) बैठे

अर्थ—तत्पश्चात् चित्त को शान्त करके, निडर होकर, ब्रह्मचर्यव्रत को पालन करता हुआ मन को विषयभोगों से हटाकर, मुझ परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में ध्यान लगाकर और मुझ परब्रह्म ही को परम प्रिय और परमपुरुषार्थ समझकर मुझमें लौ लगाकर योगाभ्यास करे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, नियत-मानसः।
शान्तिम्, निर्वाण-परमाम्, मत्-संस्थाम्, अधिगच्छति॥

एवम्	=इस प्रकार	नियत-मानसः	=निरोध को प्राप्त हुए मनवाला (अपने मन को अपने वश में करनेवाला)
आत्मानम्	=अपने आत्मा को या अपने मन को	योगी	=योगी
सदा	=नित्य	मत्-संस्थाम्	=मुझमें रहनेवाली
युञ्जन्	=(मुझ परमस्वरूप परमेश्वर के ध्यान में) लगाता हुआ		

निर्वाण-परमाम्	=परम निर्वाण (मोक्ष) रूप	शान्तिम्	=शान्ति को
		अधिगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—इस प्रकार जिसने अपना मन अपने वश में कर रक्खा है, वह योगी ऊपर कही हुई रीति से निरन्तर योगाभ्यास करता रहता है, वह मुझमें रहनेवाली परम निर्वाणरूप शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह योगी अन्त में मुझमें ही लीन होकर कैवल्यपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६॥

न, अति, अश्नतः, तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अनश्नतः।
न, च, अति, स्वप्न-शीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन ॥

तु	=किन्तु		(निराहार) को
अर्जुन	=हे अर्जुन !	योगः	=यह योग
न	=न	अस्ति	=सिद्ध होता है
अति	=बहुत	च	=और
अश्नतः	=भोजन करने-वाले को	न	=न
च	=और	अति	=बहुत
न	=न	स्वप्न-शीलस्य	=सोनेवाले को
एकान्तम्	=नितान्त (बिल्कुल)	च	=और
अनश्नतः	=न खानेवाले	न	=न
		जाग्रतः	=(अधिक) जागनेवाले को

एव	=ही	होता है
	सिद्ध	

अर्थ—हे अर्जुन ! जो बहुत अधिक खाता है और जो बिल्कुल नहीं खाता, जो आवश्यकता से अधिक सोता रहता है या जो अधिक जागता रहता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

युक्त-आहार-विहारस्य, युक्त-चेष्टस्य, कर्मसु।
युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य, योगः, भवति, दुःख-हा॥

युक्त-आहार-विहारस्य	=नियमपूर्वक आहार और विहार (खाना-पीना चलना-फिरना आदि) करनेवाले का		चेष्टा करनेवाले का
			+और
		युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य	=समय पर सोने और जागने-वाले का
		योगः	=योगाभ्यास
कर्मसु	=कर्मों में	दुःखहा	=दुःखनाशक
युक्त-चेष्टस्य	=नियम-अनुसार	भवति	=होता है

अर्थ—जो नियम-पूर्वक शक्ति भर अपना आहार-विहार (खाना-पीना, चलना-फिरना इत्यादि) करता है, जो नियम-अनुसार अपने कार्य करता है, जो ठीक समय पर ही सोता

या जागता है, उसका योगाभ्यास उसके दुःखों का नाश कर देता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा, विनियतम्, चित्तम्, आत्मनि, एव, अवतिष्ठते ।
निःस्पृहः, सर्व-कामेभ्यः, युक्तः, इति, उच्यते, तदा ॥

यदा	=जिस समय
विनियतम्	=भली प्रकार निरुद्ध हुआ (अपने वश में किया हुआ)
चित्तम्	=चित्त (मन)
आत्मनि एव	=आत्मा (अपने परम शुद्ध स्वरूप) में ही
अवतिष्ठते	=ठहरता है
	+और
सर्व-कामेभ्यः	=सब कामनाओं से
निःस्पृहः	=इच्छारहित हो जाता है
तदा	=उस समय
	+ वह पुरुष
युक्तः	=सिद्ध-योगी
उच्यते इति	=कहलाता है

अर्थ—जिस समय योगी का भली प्रकार निरुद्ध हुआ चित्त शुद्ध होकर आत्मा (अपने परम स्वरूप) में स्थिर हो जाता है, अर्थात् एकाग्र हो जाता है और (लोक तथा परलोक की) सारी इच्छाओं को त्यागकर लालसा या तृष्णा से रहित हो जाता है, उस समय वह योगी सिद्ध कहा जाता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यथा, दीपः, निवात-स्थः, न, इङ्गते, सा, उपमा, स्मृता।
योगिनः, यत-चित्तस्य, युञ्जतः, योगम्, आत्मनः ॥

यथा	=जैसे
निवात-स्थः	=पवनरहित स्थान में रखा हुआ
दीपः	=दीपक
न	=नहीं
इङ्गते	=हिलता
सा	=ठीक वही
उपमा	=अवस्था (उपमा या दशा)
आत्मनः योगम्	=आत्म-ध्यान योग का
युञ्जतः	=अभ्यास करते हुए
यत-चित्तस्य	=चित्त के रोकनेवाले
योगिनः	=योगी की
स्मृता	=कही गई है

अर्थ—जैसे वायु से रहित स्थान में रखा हुआ दीपक न इधर-उधर हिलता है और न बुझने ही पाता है, ठीक वैसी ही दशा या अवस्था उस योगी की कही जाती है, जो एकाग्र चित्त से अपने स्वरूप के ध्यान में लीन हो रहा हो और जिसने अपने चित्त को अपने वश में कर रखा हो।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

यत्र, उपरमते, चित्तम्, निरुद्धम्, योग-सेवया।
यत्र, च, एव, आत्मना, आत्मानम्, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति॥

यत्र	=जब (जिस अवस्था में)	आत्मानम्	=अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप को
योग-सेवया	=योग-अभ्यास द्वारा	पश्यन्	=देखता हुआ या साक्षात् करता हुआ
निरुद्धम्	=निरुद्ध हुआ (रुका हुआ)		+योगी
चित्तम्	=चित्त	आत्मनि	=अपने में या सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में
	+सांसारिक विषयों से विरक्त होकर		
उपरमते	=शान्त हो जाता है		
च	=और	एव	=ही
यत्र	=जब	तुष्यति	=सन्तुष्ट (प्रसन्न) होता है
आत्मना	=आत्मिक बल से (समाधि से शुद्ध हुए अन्तः करण द्वारा)		+उस काल में योग की सिद्धि होती है

अर्थ—जिस समय योगाभ्यास से निरुद्ध—रुका हुआ—चित्त सांसारिक विषयों से विरक्त होकर शान्त हो जाता है या आत्मस्वरूप के ध्यान में रम जाता है और अपने आत्मिक बल से अपने शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप को देखता हुआ वह अपने ही में सन्तुष्ट हो जाता है, उस अवस्था में ही योगी के योग की सिद्धि होती है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखम्, आत्यन्तिकम्, यत्, तत्, बुद्धि-ग्राह्यम्, अति-इन्द्रियम् ।
वेत्ति, यत्र, न, च, एव, अयम्, स्थितः, चलति, तत्त्वतः ॥

यत्	=जो	स्थितः	=आत्म-स्वरूप में स्थित हुआ
सुखम्	=सुख (आनन्द)	तत्	=उस सुख का
आत्यन्तिकम्	=अनन्त है	वेत्ति	=अनुभव करता है +तथा
च	=और	तत्त्वतः	=अपने आत्म-तत्त्व से
अति-इन्द्रियम्	=नेत्रादि इन्द्रियों के विषयों से परे है + परन्तु	एव	=भी
बुद्धि-ग्राह्यम्	=आत्मबुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है +और	न चलति	=नहीं डिगता अर्थात् विचलित नहीं होता +उस समय उसे योग की सिद्धि होती है।
यत्र	=जब (जिस अवस्था में)		
अयम्	= यह योगी		

अर्थ—जब बुद्धिमान् पुरुष उस सुख को जान जाता है जिससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है, जो नेत्रादि इन्द्रियों के विषयों से परे है किन्तु जो केवल आत्मबुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, और जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी अपने

स्वरूप का ज्ञान होने के कारण विचलित नहीं होता उस अवस्था में ही उसे योग की सिद्धि होती है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यम्, लब्ध्वा, च, अपरम, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम्, ततः।
यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचाल्यते ॥

च =और
यम् =जिस (आत्म- सुख) को
लब्ध्वा =पाकर
अपरम् =अन्य (दूसरे)
लाभम् =लाभ को
ततः =उससे
अधिकम् =अधिक (बढ़कर)
न =नहीं
मन्यते =मानता +तथा
यस्मिन् =जिस अवस्था में (आत्म- स्वरुप सुख में)
स्थितः =स्थित हुआ +योगी
गुरुणा =महान्
दुःखेन =दुःख से
अपि =भी
न विचाल्यते=चलायमान नहीं होता + तभी मानों कि वह पूर्ण योग-समाधि में स्थित हुआ है

अर्थ—जिस आत्म-सुख को पाकर वह योगी उससे अधिक किसी लाभ को नहीं समझता (बल्कि इसको पाकर अपने को कृत-कृत्य समझता है) और जिसमें स्थित होकर वह महान्

दुःख से भी विचलित नहीं होता उस आत्मसुख के मिलने पर समझो कि वह पूर्ण सिद्ध योगी है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

तम्, विद्यात्, दुःख-संयोग-वियोगम्, योग-संज्ञितम्।
सः, निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः, अ-निर्विण्ण-चेतसा॥

तम्	=उस	विद्यात्	= जान
योग-संज्ञितम्	=योग-संज्ञा को अर्थात् चित्त के संयम यानी निरोध को + तू	सः	=वह
		योगः	=योग
		अ-निर्विण्ण-चेतसा	=न उकताये हुए चित्त से (उद्वेग-रहित होकर)
दुःख-संयोग-वियोगम्	=दुःख के संयोग का नाशक	निश्चयेन	=निश्चयपूर्वक
		योक्तव्यः	=अभ्यास किये जाने योग्य है

अर्थ—जिस अवस्था में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता, उसी अवस्था का नाम "योग" है। उस योग का अभ्यास पक्के निश्चय से तथा उद्वेगरहित होकर अवश्य करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्प-प्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः ।
मनसा, एव, इन्द्रिय-ग्रामम्, विनियम्य, समन्ततः ॥

संकल्प-प्रभवान्	संकल्प से =उत्पन्न हुई		+ फिर
सर्वान्	=सारी (सब)	मनसा	=मन से
कामान्	=कामनाओं को	एव	=ही
अशेषतः	=सम्पूर्ण रीति से (समूल)	इन्द्रिय-ग्रामम्	=इन्द्रियों के समूह को
त्यक्त्वा	=त्यागकर	समन्ततः	=सब ओर से
		विनियम्य	=रोककर

अर्थ—संकल्पों से उत्पन्न हुई या होनेवाली सभी कामनाओं यानी इच्छाओं को सम्पूर्ण रीति से त्यागकर फिर मन द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियों को सब ओर से रोककर,

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

शनैः, शनैः, उपरमेत्, बुद्ध्या, धृति-गृहीतया ।
आत्म-संस्थम्, मनः, कृत्वा, न, किंचित्, अपि, चिन्तयेत् ॥

शनैः-शनैः	=धीरे-धीरे अर्थात् अभ्यास-क्रम से		की हुई
उपरमेत्	=शान्ति को प्राप्त हो	बुद्ध्या	=(निश्चय स्वरूपा) बुद्धि से
	+ और	मनः	=मन को
धृति-गृहीतया	=धीरज से वश	आत्म-संस्थम्	=आत्मा में स्थित
		कृत्वा	=करके

+सिवा परमात्मा के बाहरी विषयों का		किंचित्	=कुछ
		अपि	=भी
		न चिन्तयेत्	=चिन्तन न करे

अर्थ—धीरे-धीरे सब तरफ़ से मन को हटाकर, धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में स्थित करे अर्थात् चित्त को शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के ध्यान में लगावे। इस प्रकार मन को परमात्मा के ध्यान में लगाकर किसी प्रकार के बाहरी विषयों की चिन्ता न करे।

किस प्रकार मन को आत्मा में स्थिर करे—यह भगवान् आगे बतलाते हैं।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यतः, यतः, निश्चरति, मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्।
ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मनि, एव, वशम्, नयेत् ॥

अस्थिरम्	=स्थिर न रहनेवाला	ततः, ततः	=उस-उससे
चंचलम्	=चंचल	नियम्य	=रोककर (हटाकर)
मनः	=मन	एतत्	=इस मन को +अपने अधीन कर
यतः, यतः	=जिस-जिस विषय को लेकर (जिधर-जिधर)	आत्मनि	=परमानन्दघन आत्मा में
निश्चरति	=भटके		

एव	=ही	वशम्	=वश	स्थिर करे
		नयेत्	=करे	या लगावे

अर्थ—हे अर्जुन ! जब ध्यान करते समय यह स्थिर न रहनेवाला मन बाहर विषयों की ओर भागे, तब अभ्यासी पुरुष को चाहिए कि जहाँ-जहाँ यह मन जाय वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा के अधीन करे (अर्थात् मन को विषयों से हटाकर निरन्तर परमानन्दस्वरूप आत्मा में लगावे)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

प्रशान्त-मनसम्, हि, एनम्, योगिनम्, सुखम्, उत्तमम् ।
उपैति, शान्त-रजसम्, ब्रह्म-भूतम्, अ-कल्मषम् ॥

प्रशान्त-मनसम्	=जिसका मन पूर्ण शान्त हो गया है	अ-कल्मषम्	=जो पाप से रहित है ऐसे
शान्त-रजसम्	=जिसकी रजोगुण वृत्ति शान्त हो गई है	एनम्	=इस
ब्रह्म-भूतम्	=जो ब्रह्मरूप है	योगिनम्	=योगी को
	+ और	हि	=निश्चय ही
		उत्तमम्	=अति उत्तम
		सुखम्	=सुख
		उपैति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! मन को निरन्तर आत्मध्यान में लगाये रहने से जिसका चित्त शान्त हो गया है, जिसका रजोगुण नष्ट हो गया है, जो समझता है कि "यह सभी जगत् ब्रह्मरूप

है" और जो निष्पाप हो गया है ऐसे योगी को निस्सन्देह अति उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम, योगी, विगत-कल्मषः।
सुखेन, ब्रह्म-संस्पर्शम्, अत्यन्तम्, सुखम्, अश्नुते ॥

	+ और		हुआ
विगत-कल्मषः	=दूर हो गए हैं पाप जिसके ऐसा	ब्रह्म-संस्पर्शम्	=जीव और ब्रह्म की एकता को प्राप्त होनेवाले अथवा ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाले
योगी	=योगी	अत्यन्तम्	=अनन्त
एवम्	=इस प्रकार	सुखम्	=सुख को
सदा	=निरन्तर	सुखेन	=आनन्दपूर्वक
आत्मानम्	=अपने आत्मा को (अपने मन को)	अश्नुते	=भोगता है
युञ्जन्	=परमात्मा के ध्यान में लगाता		

अर्थ—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! इस प्रकार जो निष्पाप योगी लगातार अपने मन को अपने परम स्वरूप के ध्यान में लगाता है, वह अनायास (आसानी से) ही ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाले अनन्त सुख को आनन्दपूर्वक भोगता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९ ॥

सर्व-भूत-स्थम्, आत्मानम्, सर्व-भूतानि, च, आत्मनि।
ईक्षते, योग-युक्त-आत्मा, सर्वत्र, सम-दर्शनः॥

योग-युक्त-आत्मा	=योग से युक्त अन्तःकरण-वाला या समा-हित चित्तवाला	आत्मानम्	=अपने आत्मा को
		सर्व-भूत-स्थम्	=सब प्राणियों में स्थित
	+ और	च	=और
सर्वत्र	=सबमें	सर्व-भूतानि	=सब प्राणियों को
सम-दर्शनः	=एक आत्मा देखनेवाला योगी या समदर्शी	आत्मनि	=अपने आत्मा में (स्थित)
		ईक्षते	=देखता है

अर्थ—जिसका अन्तःकरण या मन अपने परम स्वरूप के ध्यान में पक्का हो गया है (जो यह समझता है कि "मैं ही शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ") और जो सबको एक दृष्टि (नजर) से देखता है, वही समत्व-योगी सब प्राणियों में अपने आत्मा को और अपने आत्मा में सब प्राणियों को देखता है (अर्थात् उसके लिए अपना-पराया कोई नहीं है यानी उसके लिए सब ही ब्रह्म है)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३० ॥

यः, माम् पश्यति, सर्वत्र, सर्वम्, च, मयि, पश्यति।
तस्य, अहम्, न, प्रणश्यामि, सः, च, मे, न, प्रणश्यति॥

यः	=जो	न	=न
सर्वत्र	=सब प्राणियों में	अहम्	=मैं
माम्	=मुझ सच्चिदानन्द परमेश्वर को	प्रणश्यामि	=अदृश्य (दूर) होता हूँ
पश्यति	=देखता है	च	=और
च	=और	न	=न
सर्वम्	=सब भूतों (सब जीवों) को	सः	=वह
		मे	=मेरे लिए
मयि	=मुझ वासुदेव में	प्रणश्यति	=अदृश्य (दूर) होता है
पश्यति	=देखता है		
तस्य	=उसके लिए		

अर्थ— जो मनुष्य मुझ "वासुदेव" को सब प्राणियों में देखता है और सब जीवों को सबके अन्तर्यामी मुझ परमात्मा में देखता है, उस आत्मा की एकता समझनेवाले के पास से न मैं कभी दूर होता हूँ और न वह मुझसे कभी दूर होता है अर्थात् मैं सदा उसके पास रहता हूँ और वह सदा मेरे पास रहता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सर्व-भूत-स्थितम्, यः, माम्, भजति, एकत्वम्, आस्थितः।
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, सः, योगी, मयि, वर्तते॥

यः	=जो योगी	भजति	=भजता है
एकत्वम् आस्थितः	=ब्रह्म के साथ एकता में स्थित हुआ अथवा एकत्व रूप ज्ञान का आश्रय करता हुआ	सः	=वह
सर्व-भूत-स्थितम्	=सब प्राणियों में रहनेवाले	योगी	=योगी यानी ज्ञानी
माम्	=मुझ ईश्वर को	सर्वथा	=सब प्रकार से
		वर्तमानः	=व्यवहार करते हुए (वर्तते हुए)
		अपि	=भी
		मयि	=मुझ(सच्चिदानन्द स्वरूप) में ही
		वर्तते	=वर्तता है यानी निवास करता है

अर्थ—जो योगी यह समझता है कि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है" और सब जीवों में रहनेवाले मुझ ईश्वर को भजता है, वह चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, सदा मुझ (परमानन्दस्वरूप) में ही निवास करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

आत्म-औपम्येन, सर्वत्र, समम्, पश्यति, यः, अर्जुन।
सुखम्, वा, यदि, वा, दुःखम्, सः, योगी, परमः, मतः ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन		समान समझकर
यः	=जो	सर्वत्र	=प्राणिमात्र में
आत्म-औपम्येन	=सबको अपने आत्मा के	सुखम्	=सुख को
		वा	=भी

यदि वा	=अथवा		महसूस करता है
दुःखम्	=दुःख को (भी)	सः	=वह
समम्	=अपने समान ही	योगी	=योगी
		परमः	=अधिक श्रेष्ठ
पश्यति	=देखता है या	मतः	=माना गया है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस विद्वान् की समझ में प्राणिमात्र में सब आत्माएँ एक हैं, जो पराये सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है, वह निस्सन्देह परम (श्रेष्ठ) योगी है।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३ ३॥

यः, अयम्, योगः, त्वया, प्रोक्तः, साम्येन, मधुसूदन।
एतस्य, अहम्, न, पश्यामि, चञ्चलत्वात्, स्थितिम्, स्थिराम्॥

श्रीभगवान् का यह उपदेश सुनकर अर्जुन बोला—

मधुसूदन	=हे मधुसूदन !	साम्येन	=समता करके
यः	=जो	प्रोक्तः	=कहा गया है (कहा है)
अयम्	=यह		
योगः	=योग	एतस्य	=इसकी
त्वया	=आपसे (आपने)	स्थिराम्	=दीर्घ काल तक रहनेवाली

स्थितिम्	=स्थिति को	अहम्	=मैं
चञ्चलत्वात्	=मन की चञ्च-लता के कारण	न	=नहीं
		पश्यामि	=देखता हूँ

अर्थ— हे मधु दैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्ण ! आपने सबको एक समान समझने का जो योग बतलाया है, वह मन की चंचलता के कारण सदैव मन में स्थिर नहीं रह सकता (अर्थात् यह संभव है कि कुछ समय के लिए पुरुष को यह साम्य योग प्राप्त हो जाय, परन्तु मन के चंचल होने के कारण बहुत समय तक निरन्तर इस योग की दृढ़ स्थिति मुझे दिखाई नहीं देती)।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

चञ्चलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम् ।
तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव, सु-दुष्करम् ॥

हि	=क्योंकि		+ और
कृष्ण	=हे कृष्ण !	दृढम्	=हठी है
मनः	=मन		+ ऐसी दशा में
चञ्चलम्	=बड़ा चंचल	तस्य	=उस मन का
प्रमाथि	=उपद्रवी (बखेड़िया)	निग्रहम्	=रोकना (निरोध)
		अहम्	=मैं
बलवत्	=बलवान् (ज़बर्दस्त)	वायोः	=वायु के
		इव	=समान

सु-दुष्करम्	=अति कठिन	
मन्ये	=मानता (समझता) हूँ	

अर्थ—हे कृष्ण ! मन निस्सन्देह बड़ा चंचल, उपद्रवी (बखेड़िया), बलवान् और हठी है, मेरा ख़्याल है कि मन का रोकना ठीक उसी तरह कठिन है, जिस भाँति वेगवान् वायु का रोकना।

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५ ॥

अ-संशयम्, महाबाहो, मनः, दुर्-निग्रहम्, चलम्।
अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् उत्तर देते हैं—

महाबाहो	=हे अर्जुन !	कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र !
मनः	=मन	वैराग्येण	=वैराग्य
अ-संशयम्	=निश्चय ही	च	=और
चलम्	=चञ्चल + और	अभ्यासेन	=अभ्यास से +यह मन
दुर्-निग्रहम्	=कठिनता से रोका जानेवाला है	गृह्यते	=वश में किया जा सकता है
तु	=किन्तु		

अर्थ—हे लम्बी भुजाओंवाले अर्जुन ! इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि मन बड़ा चंचल है अर्थात् बहुत देर तक

आत्म-ध्यान में नहीं टिक सकता और इसका रोकना बड़ा कठिन है, किन्तु हे कुन्तीपुत्र ! वैराग्य * और अभ्यास † द्वारा मन की गति रोकी जा सकती है अर्थात् इन दो उपायों से मन वश में हो सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अ-संयत-आत्मना, योगः, दुष्प्रापः, इति, मे, मतिः ।
वश्य-आत्मना, तु, यतता, शक्यः, अवाप्तुम्, उपायतः ॥

अ-संयत-आत्मना	=जिसने अपने मन को अच्छी तरह से नहीं जीता है (उसी को)	तु	=परन्तु
योगः	=समत्व योग	वश्य-आत्मना	=जिसका अन्तः-करण (वैराग्य और अभ्यास-रूपी उपायों से) वश में हो गया है ऐसे
दुष्प्रापः	=प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है	यतता	=यत्न करनेवाले को

* वैराग्य= साधारण बोलचाल में सांसारिक विषयों में प्रीति न रखने का नाम वैराग्य है।

† अभ्यास=किसी भी काम को बार-बार करना अभ्यास कहलाता है, किन्तु यहाँ स्थिति के लिए पुनः-पुनः यत्न करने का नाम अभ्यास है।

उपायतः	=(उक्त) उपाय से अर्थात् वैराग्य और अभ्यास द्वारा	अवाप्तुम्	=प्राप्त होना
		शक्यः	=सम्भव है
		इति	=ऐसा
		मे	=मेरा
	+यह योग	मतिः	=मत है

अर्थ— हे अर्जुन ! यह मेरा निश्चय है कि जिस पुरुष ने अपने मन को अपने वश में नहीं किया उसे यह योग (जीव और ब्रह्म की एकता) प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, किन्तु जो अपने मन या अन्तःकरण को अपने वश में करके वैराग्य और अभ्यास द्वारा योग प्राप्त करने का उपाय करता रहता है, वह सहज में योग प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन उवाच––

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अयतिः, श्रद्धया, उपेतः, योगात्, चलित-मानसः ।
अ-प्राप्य, योग-संसिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण, गच्छति ॥

अपना संशय निवारण करने के लिए अर्जुन
भगवान् से इस प्रकार पूछता है—

श्रद्धया	=(ज्ञान-योग में) श्रद्धा से	अयतिः	=(पूरे तौर से) यत्न न करने-वाला
उपेतः	=युक्त (पुरुष)		+और
	+किन्तु		

योगात्	=योग-मार्ग से		और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को
चलित-मानसः	=जिसका मन चलायमान हो गया हो अर्थात् विषयों की ओर लग गया हो (ऐसा पुरुष)	अ-प्राप्य	=न पाकर
		कृष्ण	=हे कृष्ण !
			+मरने के बाद
		काम्	=किस
योग-संसिद्धिम्	=योग की सिद्धि को अर्थात् जीव	गतिम्	=गति को
		गच्छति	=प्राप्त होता है ?

अर्थ—हे कृष्ण ! समाधियोग में तथा शास्त्रों में जिसकी श्रद्धा—विश्वास—तो हो, पर उसके प्राप्त करने में पूरे तौर से यत्न न करता हो, अगर ऐसे पुरुष का मन योग-मार्ग से हट जाय, अर्थात् विषयों की ओर लग गया हो तो ऐसा अभ्यासी योग की पूर्ण अवस्था को न पहुँचकर मरने के बाद किस गति को प्राप्त होता है ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित्, न, उभय-विभ्रष्टः, छिन्न-अभ्रम्, इव, नश्यति ।
अ-प्रतिष्ठः महा-बाहो, विमूढः, ब्रह्मणः, पथि ॥

महा-बाहो	=हे विशालबाहु भगवान् कृष्ण !	पथि	=मार्ग में
		विमूढः	=भटका हुआ
ब्रह्मणः	=ब्रह्म के	अ-प्रतिष्ठः	=आश्रयहीन

पुरुष	
कच्चित् =क्या	छिन्न-अभ्रम् =बिखरे हुए बादल की
उभय-विभ्रष्टः =दोनों ओर से (ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग से) भ्रष्ट होकर	इव =तरह
	नश्यति न } =नष्ट तो नहीं हो जाता ?

अर्थ—हे विशालबाहु, भगवान् कृष्ण! जिस तरह छिन्न-भिन्न यानी बिखरा हुआ बादल का टुकड़ा आश्रय-रहित होने के कारण नष्ट हो जाता है, उसी तरह कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों से भ्रष्ट हुआ पुरुष (उक्त बादल के समान) ब्रह्ममार्ग से विचलित—निराश्रय—होने के कारण नष्ट तो नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत्, मे, संशयम्, कृष्ण, छेत्तुम्, अर्हसि, अ-शेषतः ।
त्वत्-अन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते ॥

कृष्ण =हे कृष्ण !	के लिए)
एतत् =इस	अर्हसि =(आप ही) योग्य हैं
मे =मेरे	
संशयम् =सन्देह को	हि =क्योंकि
अ-शेषतः =संपूर्ण रूप से	त्वत्-अन्यः =आपके सिवा दूसरा
छेत्तुम् =काटने के लिए (निवारण करने	अस्य =इस

संशयस्य	=सन्देह का	न उपपद्यते	=नहीं मिल सकता
छेत्ता	=काटनेवाला (दूर करनेवाला)		

अर्थ— हे कृष्ण ! आप मेरे इस सन्देह को सम्पूर्ण रूप से दूर कीजिए, क्योंकि आपके सिवा मुझे और कोई दिखाई नहीं देता जो मेरे इस सन्देह को मिटा सके ।

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते ।
न, हि, कल्याण-कृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति ॥

संशय-निवारणार्थ भगवान् अब उत्तर देते हैं—

पार्थ	=हे अर्जुन !	विद्यते	=होता है
न	=न तो	हि	=क्योंकि
एव इह	=इस लोक में (यहाँ) + और	तात	=हे प्यारे !
न	=न	कल्याण-कृत्	=शुभ कर्म करनेवाला
अमुत्र	=परलोक में	कश्चित्	=कोई भी हो (वह)
तस्य	=उस योग-भ्रष्ट पुरुष का	दुर्गतिम्	=दुर्गति को
विनाशः	=विनाश	न गच्छति	=प्राप्त नहीं होता

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! न तो इस लोक में और न पर-लोक में उस योग-भ्रष्ट पुरुष का विनाश होता है (अर्थात् देह छोड़ने पर, योग-भ्रष्ट पुरुष को इस वर्तमान जन्म से बुरा जन्म नहीं मिलता) हे प्यारे ! अच्छा काम करनेवाला कोई भी क्यों न हो, उसको बुरी गति कभी नहीं होती।

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

प्राप्य, पुण्य-कृतान्, लोकान्, उषित्वा, शाश्वतीः, समाः।
शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, योग-भ्रष्टः, अभिजायते ॥

योग-भ्रष्टः	=योग-भ्रष्ट हुआ पुरुष	**समाः**	=वर्षों तक
पुण्य-कृतान्	=पुण्य कर्म करने-वालों को मिलने-वाले	**उषित्वा**	=निवास करकर
लोकान्	=लोकों को	**शुचीनाम्**	=शुद्ध अन्तः-करणवाले
प्राप्य	=प्राप्त होकर + वहाँ	**श्रीमताम्**	=ऐश्वर्यवान् पुरुषों के
शाश्वतीः	=अगणित (बहुत)	**गेहे**	=घर में
		अभिजायते	=जन्म लेता है

अर्थ—पुण्य-कर्म करनेवाले पुरुष जिन उत्तम लोकों में, मरने के बाद, पहुँचते हैं, यह योग-भ्रष्ट पुरुष भी वहाँ अन-गिनती—अनेक—वर्षों तक निवास करता है (वहाँ पूर्ण सुख भोगकर) फिर इस मृत्युलोक में किसी पवित्र और धनवान् पुरुष के घर में वह जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा, योगिनाम्, एव, कुले, भवति, धीमताम् ।
एतत्, हि, दुर्लभतरम्, लोके, जन्म, यत्, ईदृशम् ॥

अथवा	=या	**लोके**	=इस संसार में
धीमताम्	=बुद्धिमान्	**ईदृशम्**	=इस प्रकार का
योगिनाम्	=योगियों के	**यत्**	=जो
कुले	=कुल में	**जन्म**	=जन्म है
एव	=ही	**एतत्**	=यह
	+वह	**हि**	=निःसन्देह
भवति	=जन्म लेता है	**दुर्लभतरम्**	=अति दुर्लभ है

अर्थ—अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। किन्तु ऐसा जन्म इस संसार में बड़ी कठिनता से मिलता है, अर्थात् ऐसा जन्म निस्सन्देह किसी भाग्यवान् पुरुष को ही प्राप्त होता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्र, तम्, बुद्धि-संयोगम्, लभते, पौर्व-देहिकम् ।
यतते, च, ततः, भूयः, संसिद्धौ, कुरु-नन्दन ॥

तत्र	=वहाँ (इस जन्म में)	**तम्**	=उस
		पौर्व-देहिकम्	=पूर्व देह में

	अभ्यास किये हुए		अर्जुन !
		ततः	=उसके कारण
बुद्धि संयोगम्	=ज्ञान-योग को +सहज ही में वह	भूयः	=फिर (पहले से अधिक) +वह
लभते	=पा लेता है	संसिद्धौ	=योग-सिद्धि के लिए या भगव-त्प्राप्ति के लिए
च	=और		
कुरु-नन्दन	=हे कुरु-कुल को प्रसन्न करनेवाले	यतते	=यत्न करता है

अर्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार किसी राजा महाराजा या ज्ञानवान् योगी के घर जन्म लेकर वह योग-भ्रष्ट पुरुष, इस नये जन्म में, पहिले जन्म की अभ्यास की हुई ब्रह्म-विद्या को सहज ही में पा लेता है। तब वह फिर पहिले जन्म की अपेक्षा (बनिस्बत) योग-सिद्धि की प्राप्ति के लिए अधिक उत्साह के साथ प्रयत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पूर्व-अभ्यासेन, तेन, एव, ह्रियते, हि, अवशः, अपि, सः।
जिज्ञासुः, अपि, योगस्य, शब्द-ब्रह्म, अतिवर्तते ॥

तेन	=उस	एव	=ही
पूर्व-अभ्यासेन	=पूर्व जन्म के अभ्यास के बल से	सः	=वह (योग-भ्रष्ट पुरुष)

अवशः	=विवश हुआ (विषयों में फँसा हुआ)		+तथा
अपि	=भी	योगस्य	=ज्ञानयोग का
हि	=निस्सन्देह	जिज्ञासुः	=जिज्ञासु (जानने का इच्छुक)
ह्रियते	=योग-प्राप्ति की ओर झुक जाता है (भगवत्प्राप्ति की ओर खींचा जाता है)	अपि	=भी
		शब्द-ब्रह्म	=वेद या वेदोक्त कर्मों के फल (स्वर्गादि) को
		अतिवर्तते	=उल्लंघन कर जाता है

अर्थ—उस पूर्व याने पहले जन्म के अभ्यास के बल से विवश (मजबूर) होकर, वह योग-भ्रष्ट पुरुष स्वतः योग-प्राप्ति की ओर निश्चय ही झुक जाता है (अर्थात् विषय-वासनाओं को छोड़कर योगमार्ग में काम करने लगता है), योगरीति जानने की इच्छा रखने के कारण वह शब्द-ब्रह्म से ऊपर पहुँच जाता है, अर्थात् वेद में कहे हुए कर्मकाण्डों से छुटकारा पा जाता है या यों समझो कि वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों के फल उसके सामने कोई महत्त्व नहीं रखते ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नात्, यतमानः, तु, योगी, संशुद्ध-किल्बिषः ।
अनेक-जन्म-संसिद्धः, ततः, याति, पराम्, गतिम् ॥

तु	=और (फिर)	अनेक-जन्म-संसिद्धः	=अनेक जन्मों में (पुण्यकर्मों द्वारा) भले प्रकार सिद्ध होकर अर्थात् ब्रह्मवित् होकर
प्रयत्नात्	=प्रयत्नपूर्वक	ततः	=फिर
यतमानः	=उपाय करनेवाला	पराम्	=श्रेष्ठ
संशुद्ध-किल्बिषः	=धोये हुए-पापोंवाला (अर्थात् जिसके सब पाप दूर हो गए हैं ऐसा)	गतिम्	=गति को
योगी	=योगी	याति	=प्राप्त होता है

अर्थ—इस प्रकार जो योगी अधिक परिश्रम के साथ उस योगसिद्धि के लिए यत्न करता है, उसके सब पाप दूर हो जाते हैं, और अनेक जन्मों में पुण्य कर्मों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त करके परम-गति [मोक्ष] को प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, अधिकः।
कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन॥

योगी	=ध्यान-योगी	च	=और
तपस्विभ्यः	=तपस्वियों से	ज्ञानिभ्यः	=ज्ञानियों से
अधिकः	=श्रेष्ठ है	अपि	=भी

अधिकः	=विशेष श्रेष्ठ	अधिकः	=अधिक श्रेष्ठ है
मतः	=माना गया है	तस्मात्	=इसलिए
	+तथा	अर्जुन	=हे अर्जुन !
कर्मिभ्यः	=अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालों से भी		+तू भी
		योगी	=ध्यान-योगी
		भव	=हो
योगी	=योग-अभ्यासी		

अर्थ——योगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से और अग्निहोत्र आदि कर्म करनेवालों से श्रेष्ठ माना गया है ; इसलिए हे अर्जुन ! तू भी ध्यान-योगी हो।

व्याख्या——मतलब यह कि जो राजसी और तामसी प्रकृति के लोग उपवास आदि कर अपनी देह को क्षीण कर डालते हैं ; और सरदी-गरमी आदि की परवा न कर अपने शरीर को कष्ट देकर अनेक प्रकार के तप करते हैं और जो यज्ञ, हवन आदि करते तथा कुएँ, तालाब और धर्मशाला आदि बनवाते हैं ; जो रात-दिन केवल शास्त्रों के अर्थ-विचार में लगे रहते हैं, उन सबसे ध्यान-योगी कहीं उत्तम हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७॥

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तर-आत्मना।
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्त-तमः, मतः ॥

सर्वेषाम्	=सब	अपि	=भी
योगिनाम्	=योगियों में	यः	=जो

श्रद्धावान्	=श्रद्धावान् पुरुष		को
मद्गतेन	=मुझ वासुदेव में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ	भजते	=भजता है
		सः	=वह भक्त (ध्यान-योगी)
अन्तर्-आत्मना	=हृदय से (अन्तः करण से)	मे	=मेरी
		मतः	=समझ में
माम्	=मुझ परमेश्वर	युक्ततमः	=सबसे श्रेष्ठ है

अर्थ—— हे अर्जुन ! जो एकमात्र मुझ वासुदेव सच्चिदानन्द-स्वरूप में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ हृदय से मेरा ही ध्यान करता है, उसे मैं सब योगियों से उत्तम समझता हूँ।

छठा अध्याय समाप्त

गीता के छठे अध्याय का माहात्म्य

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी से कहा——हे देवि ! गीता के छठे अध्याय का माहात्म्य सुनो । गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठानपुर नाम का एक नगर है। वहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों का मर्मज्ञ ज्ञानश्रुति नाम का राजा राज्य करता था । वह धर्मात्मा राजा पुत्र के समान प्रजा का पालन, अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान, साधु-महात्माओं का पूजन और ब्राह्मणों को भोजन कराता था। वह अपने धर्म-कृत्यों से संसार भर में प्रसिद्ध था। एक दिन हंसों का झुंड आकाश में उड़ता हुआ उस नगर के ऊपर से निकला । पीछे उड़नेवाले हंसों ने आगे के हंसों से कहा—'देखो, यह राजा ज्ञानश्रुति की राजधानी है। यह धर्मात्मा महातेजस्वी राजा अपने पुण्य-प्रताप से सम्पूर्ण जगत् में विख्यात है ।' आगेवाले हंसों ने हँसकर उत्तर दिया, 'तुमको मालूम नहीं ब्रह्मवादी रैक्य का तेज इस राजा से भी बढ़कर है।' हंसों की ये बातें महाराज ज्ञानश्रुति सुन रहे थे। महात्मा रैक्य का प्रभाव सुनकर उनके दर्शन की इच्छा से राजा ज्ञानश्रुति उनको ढूँढ़ने के लिए निकले । महर्षि रैक्य का पता राजा को मालूम न था, इसलिए वे काशी, गया, उज्जैन आदि नगरों में गंगा, गोदावरी आदि पवित्र नदियों के तटों पर, मुख्य-मुख्य तीर्थों में, गोवर्धन, विन्ध्याचल और हिमालय आदि पुण्यभूमि में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते काश्मीर देश में माणिक्येश्वर-नामक

महादेव के स्थान पर रैक्य मुनि को देखा। बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उनको प्रणाम करके राजा ने पूछा—'महाराज, आपका अद्भुत प्रभाव सुनकर, मैं अनेक देशों में आपको ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया हूँ। कृपा करके मुझे बताइए कि किस धर्म से आपको यह महिमा प्राप्त हुई है। महर्षि रैक्य ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं प्रतिदिन गीता के छठे अध्याय का पाठ करता हूँ, उसी के प्रभाव से मेरा तेज देवताओं को भी दुस्सह हो गया है।'

महात्मा रैक्य के मुँह से गीता का यह माहात्म्य सुनकर राजा ज्ञानश्रुति भी गीता के छठे अध्याय का पाठ करने लगे और उसी के प्रभाव से इस असार-संसार को त्यागकर वैकुण्ठ-धाम को गये।

सातवाँ अध्याय
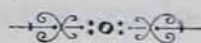
श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

मयि, आसक्त-मनाः, पार्थ, योगम्, युञ्जन्, मत्-आश्रयः ।
अ-संशयम्, समग्रम्, माम्, यथा, ज्ञास्यसि, तत्, शृणु ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथा-पुत्र (अर्जुन)!	मत्-आश्रयः	=मेरे आसरे रहकर
मयि	= मुझमें + अनन्य भक्ति से	योगम्	=योगाभ्यास
		युञ्जन्	=करते हुए
		माम्	=मुझे
आसक्त-मनाः	=मन लगानेवाला	यथा	=जिस प्रकार

समग्रम्	=पूर्ण रूप से (विभूति, बल ऐश्वर्य आदि गुणों के साथ)		सन्देह के
		ज्ञास्यसि	=जानेगा
		तत्	=उसको
		शृणु	=तू सुन
असंशयम्	=बिना किसी		

अर्थ—हे अर्जुन ! मुझमें अपना चित्त लगाकर, मेरी शरण में आकर, योगाभ्यास करते हुए, बिना किसी सन्देह के पूर्ण रूप से (विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि गुणों के साथ) जिस तरह तू मेरे शुद्ध, सच्चिदानन्द स्वरूप को जानेगा उसे तू सावधान होकर सुन ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानम्, ते, अहम्, स-विज्ञानम्, इदम्, वक्ष्यामि, अशेषतः ।
यत्, ज्ञात्वा, न, इह, भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यम्, अवशिष्यते ॥

अहम्	=मैं	यत्	=जिसके
इदम्	=इस	ज्ञात्वा	=जान लेने पर
ज्ञानम्	=(अपने स्वरूप के) ज्ञान को	भूयः	=फिर
		अन्यत्	=और कुछ (भी)
स-विज्ञानम्	=विज्ञान-सहित (अनुभव-सहित)	ज्ञातव्यम्	=जानने-योग्य
		इह	=इस संसार में
अशेषतः	=सम्पूर्ण रूप से	न अवशिष्यते	=बाक़ी नहीं रह जाता
ते	=तुझसे		
वक्ष्यामि	=कहूँगा		

अर्थ—मैं इस ईश्वरीय ज्ञान को अनुभव और युक्तियों से तुझे सम्पूर्ण रूप से बतलाऊँगा, जिसके जान लेने पर, फिर इस संसार में और कुछ भी जानने को बाक़ी नहीं रह जाता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

मनुष्याणाम्, सहस्रेषु, कश्चित्, यतति, सिद्धये।
यतताम्, अपि, सिद्धानाम्, कश्चित्, माम्, वेत्ति, तत्त्वतः॥

सहस्रेषु	=हज़ारों	यतताम्	=प्रयत्न करनेवाले
मनुष्याणाम्	=मनुष्यों में से	सिद्धानाम्	=सिद्ध पुरुषों में
कश्चित्	=कोई एक	अपि	=भी
सिद्धये	=मोक्ष-रूप सिद्धि के प्राप्त करने के लिए अथवा मुझ सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिए	कश्चित्	=विरलाही (कोई एक)
		माम्	=मेरे वास्तविक स्वरूप को
		तत्त्वतः	=यथार्थ (ठीक-ठीक)
यतति	=प्रयत्न करता है + और उन	वेत्ति	=जानता है

अर्थ—हज़ारों मनुष्यों में से कोई एक इस सिद्धि—ईश्वरीय-ज्ञान—अथवा ध्यान-योग से प्राप्त मोक्षरूप सिद्धि को पाने की कोशिश करता है। फिर इस सिद्धि के लिए प्रयत्न करनेवाले हज़ारों सिद्ध पुरुषों में भी विरला ही कोई

ऐसा होता है, जो मेरे वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक जानता हो ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः, एव, च ।
अहंकारः, इति, इयम्, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्टधा ॥

भूमिः	=पृथिवी	एव	=ऐसे ही
आपः	=जल	अहंकारः	=अहंकार
अनलः	=अग्नि (तेज)	इति	=इस प्रकार
वायुः	=वायु (हवा)	भिन्ना	=अलग-अलग
खम्	=आकाश (पोल)	अष्टधा	=आठ भेदोंवाली
मनः	=मन	इयम्	=यह
बुद्धिः	बुद्धि	मे	=मेरी
च	=और	प्रकृतिः	=प्रकृति है

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—यह मेरी आठ भेदोंवाली प्रकृति है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अपरा, इयम्, इतः, तु, अन्याम्, प्रकृतिम्, विद्धि, मे, पराम् ।
जीव-भूताम्, महा-बाहो, यया, इदम्, धार्यते, जगत् ॥

इदम्	=यह (प्रकृति)	पराम्	=परा (उत्कृष्ट, शुद्ध या परम पुरुष से अभेद रखनेवाली)
अपरा	=अपरा अर्थात् निकृष्ट या परम पुरुष से अलग रखनेवाली है	प्रकृतिम्	=प्रकृति
तु	=और	विद्धि	=जान
इतः	=इससे	यया	=जिससे
अन्याम्	=दूसरी	इदम्	=यह
महा-बाहो	=हे अर्जुन !	जगत्	=(सम्पूर्ण) जगत
मे	=मेरी	धार्यते	=धारण किया जाता है
जीव-भूताम्	=जीव-स्वरूप		

अर्थ---यह अपरा अर्थात् जड़ या अचेतन प्रकृति है। अब इससे अलग, हे अर्जुन ! मेरी जीव-स्वरूप परा यानी उत्कृष्ट या सचेतन प्रकृति है, जिसने इस जगत् को धारण कर रक्खा है।

व्याख्या—जिससे यह जगत् बना है, उसी का नाम "प्रकृति" है। भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश—इन पाँचों के मेल से इस शरीर का ढाँचा बनता है। मन विचार करने का द्वार है, बुद्धि से निश्चय किया जाता है और अहंकार ममता भाव को प्रकट करने का द्वार है। इन आठ प्रकार के जड़ पदार्थों का नाम ही अपरा प्रकृति है जो मेरी ही है। इसी का दूसरा नाम "ईश्वरीय माया" भी है। इस "अपरा" प्रकृति के अलावा जो मेरी दूसरी प्रकृति है, उसका नाम "परा" है। यह प्रकृति ऊँचे दर्जे की है। मतलब यह कि जड़ और चेतन अथवा "अपरा" और "परा" इन दो प्रकृतियों से जगत् की रचना हुई

है। "परा" प्रकृति मेरी ख़ास आत्मा है। संक्षेप में मतलब यह कि इस जड़-जगत् में प्राणिमात्र के शरीर में मैं—सच्चिदानन्द भगवान्—ही जीवरूप से घुसा हुआ हूँ। इस प्रकार मेरी एक ही शक्ति, जड़ और चेतन भेद से दो प्रकार की कहलाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

एतत्, योनीनि, भूतानि, सर्वाणि, इति, उपधारय।
अहम्, कृत्स्नस्य, जगतः, प्रभवः, प्रलयः, तथा ॥

सर्वाणि	=सम्पूर्ण	अहम्	=मैं
भूतानि	=प्राणी	कृत्स्नस्य	=(इस) सारे
एतत्	=इन्हीं दोनों प्रकृतियों से	जगतः	=विश्व को
योनीनि	=पैदा हुए हैं	प्रभवः	=पैदा करने-वाला
इति	=ऐसा	तथा	=तथा
उपधारय	=तू जान + अतः	प्रलयः	=नाश करने-वाला हूँ

अर्थ—हे अर्जुन! सारे प्राणी इन्हीं दोनों (परा और अपरा) प्रकृतियों से पैदा हुए हैं, ऐसा तू जान। इसलिए मैं ही इस सारे जगत् की उत्पत्ति और लय का स्थान हूँ यानी मैं ही समस्त जगत् को पैदा करनेवाला और मैं ही नाश करनेवाला हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

मत्तः, परतरम्, न, अन्यत्, किंचित्, अस्ति, धनंजय।
मयि, सर्वम्, इदम्, प्रोतम्, सूत्रे, मणि-गणाः, इव॥

धनंजय	=हे अर्जुन!	सर्वम्	=सब (जगत्)
मत्तः	=मुझसे	सूत्रे	=धागे में
परतरम्	=अधिक श्रेष्ठ	मणि-गणाः	=मणियों की लड़ी के
अन्यत्	=और	इव	=समान
किंचित्	=कुछ	मयि	=मुझमें
न	=नहीं	प्रोतम्	=ओत-प्रोत या गुँथा हुआ है
अस्ति	=है		
इदम्	=यह		

अर्थ—जब कि मैं ही सबकी उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ, ऐसी सूरत में हे अर्जुन! मुझ परमात्मा से अधिक श्रेष्ठ इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं है। जिस तरह धागे में मणियों के दाने पिरोये रहते हैं, उसी तरह यह जगत् अथवा सारे प्राणी मुझमें ओत-प्रोत हैं। (भगवान् के कहने का मतलब यह है कि इस संसार का जो कुछ भी बनाव है वह वस्तुतः मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है; जो कुछ भी है, वह सब मेरे ही अनेक रूप हैं।)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

रसः, अहम्, अप्सु, कौन्तेय, प्रभा, अस्मि, शशि-सूर्ययोः।
प्रणवः, सर्व-वेदेषु, शब्दः, खे, पौरुषम्, नृषु ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !	प्रणवः	=ओंकार
अप्सु	=जल में		+ मैं हूँ
रसः	=रस	खे	=आकाश में
अहम्	=मैं हूँ	शब्दः	=शब्द
शशि-सूर्ययोः	=चन्द्र और सूर्य में		+ और
		नृषु	=पुरुषों में
प्रभा	=तेज या प्रकाश	पौरुषम्	=पौरुष (उद्यम या पराक्रम)
अस्मि	=मैं हूँ		+ मैं हूँ
सर्व-वेदेषु	=सब वेदों में		

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! किस प्रकार से मैं सब में स्थित हूँ, यह सुन। जल में साररूप रस मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा यानी तेज या प्रकाश मैं हूँ, सब वेदों में ओंकाररूप प्रणव मैं हूँ, आकाश का सार "शब्द" है, वह शब्द मैं हूँ और पुरुषों में पौरुष यानी उद्यम या पराक्रम मैं हूँ (मतलब यह कि ये सब मेरे शरीर हैं और मैं ही इन-में रहनेवाला शरीरी हूँ। दूसरे शब्दों में सबके प्राण, सबका सार वास्तव में मैं ही हूँ, मेरे बिना इनमें कुछ नहीं है)।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्यः, गन्धः, पृथिव्याम्, च, तेजः, च, अस्मि, विभावसौ।
जीवनम्, सर्व-भूतेषु, तपः, च, अस्मि, तपस्विषु ॥

च	=और	सर्वं-भूतेषु	=सब प्राणियों में
पृथिव्याम्	=पृथिवी में	जीवनम्	=जीवन-शक्ति (जीवन)
पुण्यः	=पवित्र	च	= और
गन्धः	=गंध	तपस्विषु	= तपस्वी-पुरुषों में
च	=तथा	तपः	=तप
विभावसौ	=अग्नि में	अस्मि	=मैं हूँ
तेजः	=तेज		
अस्मि	=मैं हूँ		

अर्थ—पृथिवी में पवित्र गन्ध मैं हूँ, अग्नि में जो तेज है वह सारभूत तेज मैं हूँ, सब प्राणियों में—जीव-जन्तुओं में—जीवन-शक्ति मैं हूँ। ऐसे ही तपस्वियों में तप मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजम्, माम्, सर्व-भूतानाम्, विद्धि, पार्थ, सनातनम्।
बुद्धिः, बुद्धिमताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम् ॥

पार्थ	=हे अर्जुन! (तू)		की
सर्व-भूतानाम्	=सब प्राणियों का	बुद्धिः	=बुद्धि
सनातनम्	=सनातन		+और
बीजम्	=बीज (कारण)	तेजस्विनाम्	=तेजधारी पुरुषों का
माम्	=मुझको	तेजः	=तेज
विद्धि	=जान	अस्मि	=हूँ
अहम्	=मैं		
बुद्धिमताम्	=बुद्धिमान् पुरुषों		

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! सब प्राणियों का सनातन बीज या अनादि काल से उत्पत्ति का कारण तू मुझे समझ। बुद्धिमान् पुरुषों में जो बुद्धि है वह उनकी सारभूत बुद्धि मैं हूँ। ऐसे हा तेजधारी पुरुषों में जो तेज है, उनका सारभूत तेज मैं हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

बलम्, बलवताम्, च, अहम्, काम-राग-विवर्जितम्।
धर्म-अविरुद्धः, भूतेषु, कामः, अस्मि, भरत-ऋषभ॥

च	=और	अहम्	=मैं (हूँ)
बलवताम्	=बलवानों का	भरत-ऋषभ	=हे अर्जुन !
काम-राग-विवर्जितम्	=काम-राग के विकारों से रहित (तृष्णा और आसक्ति से शून्य)	भूतेषु	=(सब) प्राणियों में
		धर्म-अविरुद्धः	=धर्मानुकूल (धर्म-शास्त्र के अनुसार)
		कामः	=काम
बलम्	=बल	अस्मि	=मैं हूँ

अर्थ—हे भरत-वंशियों में श्रेष्ठ, अर्जुन ! बलवानों में जो बल काम-राग (अर्थात् अप्राप्त वस्तु की चाहना और प्राप्त वस्तु में प्रीति) उत्पन्न नहीं करता वह सात्त्विक बल मैं हूँ और प्राणियों में जो अपने धर्म के अनुसार कार्य या कर्तव्य कर्म करने की इच्छा है वह सात्त्विक काम मैं ही हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये, च, एव, सात्त्विकाः, भावाः, राजसाः, तामसाः, च, ये ।
मत्तः, एव, इति, तान्, विद्धि, न, तु, अहम्, तेषु, ते, मयि ॥

च =और
ये =जो
एव =भी
सात्त्विकाः=सतोगुणवाले
च =और
ये =जो
राजसाः =रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले
+तथा
तामसाः =तमोगुण से पैदा होनेवाले
भावाः =भाव (गुण या पदार्थ) हैं
+ ये सब
मत्तः मुझसे
एव =ही (पैदा हुए हैं)
इति =ऐसा
तान् =उनको
विद्धि =तू जान
तेषु =उनमें यानी उन भावों में अर्थात् उनके अधीन
अहम् =मैं
न = नहीं हूँ
तु =परन्तु
ते =वे सब
मयि =मुझमें हैं या मेरे अधीन हैं

अर्थ—शम, दम आदि सतोगुण, राग-द्वेष व हर्ष आदि रजोगुण और शोक-मोह आदि तमोगुण—इन तीनों भावों को हे अर्जुन ! तू मुझ परमेश्वर से ही पैदा हुए जान

तो भी मैं उनमें नहीं हूँ, बल्कि वे मुझमें हैं यानी मैं संसारी जीवों की तरह उनके अधीन नहीं हूँ, परन्तु वे मेरे अधीन हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

त्रिभिः, गुणमयैः, भावैः, एभिः, सर्वम्, इदम्, जगत्।
मोहितम्, न, अभिजानाति, माम्, एभ्यः, परम्, अव्ययम्॥

एभिः	=इन
त्रिभिः	=तीन प्रकार के
गुणमयैः	=गुणवाले (गुणमय)
भावैः	=भावों (राग-द्वेष आदि विकारों) से
इदम्	=यह
सर्वम्	=सम्पूर्ण
जगत्	=जगत्
मोहितम्	=मोहित हो रहा है
	+ इसलिए
एभ्यः	=इन गुणों से
परम्	=परे (अलग)
	+यह जगत्
माम्	=मुझ
अव्ययम्	=अविनाशी को
न अभिजानाति	=नहीं जानता

अर्थ—सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणमय भावों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है। इसलिए यह जगत् इन भावों से परे (अलग) मुझ निर्विकार (अविनाशी) को नहीं जानता।

व्याख्या— मतलब यह कि सत्त्व, रज और तम, इन भावों

ने ही संसारी मनुष्यों पर अज्ञान का पर्दा डाल रक्खा है, जिसके कारण प्राणी नित्य-अनित्य वस्तु के विषय में कुछ विचार नहीं कर सकते और इसी कारण मुझ अविनाशी परमात्मा या मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। प्रकृति के सौन्दर्य ने प्राणियों को ऐसा मोह रक्खा है कि रात-दिन वे उसी में रमे रहते हैं; उससे परे उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार पानी पर सेवार उत्पन्न होने से वह पानी को ढक लेता है अथवा जिस प्रकार मेघ से आकाश ढक जाता है उसी प्रकार इस त्रिगुणात्मक माया ने अपना जाल बिछा रक्खा है, जिससे मनुष्य को सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता और वह सदैव इस संसार के झूठे माया-मोह में फँसा रहता है।

इस दैवी माया को प्राणी किस प्रकार जीत सकता है, यह भगवान् आगे कहते हैं, सुनो—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया।
माम्, एव, ये, प्रपद्यन्ते, मायाम्, एताम्, तरन्ति, ते॥

हि	= निश्चय ही	माया	=माया
एषा	=यह	दुरत्यया	=बड़ी दुस्तर (कठिन) है
मम	=मेरी		+परन्तु
गुणमयी	=तीन गुणों से युक्त	ये	=जो ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु
दैवी	=अलौकिक (दिव्य)	माम्	=मुझको

एव	=ही	मायाम्	=माया को
प्रपद्यन्ते	=निरन्तर भजते रहते हैं	तरन्ति	=तर जाते हैं, यह उन्हें नहीं व्यापती है
ते	=वे		
एताम्	=इस		

अर्थ—सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से युक्त मेरी दिव्य माया को जीतना बड़ा कठिन है, परन्तु जो सब धर्मों को त्यागकर मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द को निरन्तर भजते रहते हैं या जो मेरी शरण में आते हैं, वे सब जीवों को मोहित करनेवाली इस माया को जीतकर पार हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरण स्वरूप संसार-समुद्र से तर जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

न, माम्, दुष्-कृतिनः, मूढाः, प्रपद्यन्ते, नर-अधमाः।
मायया, अपहृत-ज्ञानाः, आसुरम्, भावम्, आश्रिताः॥

दुष्-कृतिनः	=बुरे कर्म करनेवाले यानी पापी		शक्ति नष्ट हो गई है
मूढाः	=मूढ़ (विचारहीन)		+और जो
नर-अधमाः	=मनुष्यों में नीच	आसुरम्	=राक्षसों की सी
मायया	=माया से	भावम्	=प्रकृति यानी स्वभाव को
अपहृत-ज्ञानाः	=जिनकी विचार-	आश्रिताः	=धारण किये हुए

	हैं ऐसे पुरुष	न	=नहीं
माम्	=मुझको	प्रपद्यन्ते	=पाते

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पापी हैं यानी खोटे कर्म करनेवाले हैं, जो मूढ़ अर्थात् विचारहीन हैं, जो मनुष्यों में नीच अर्थात् कमीने हैं, जिनके ज्ञान को माया ने हर लिया है यानी जिनकी विचार-शक्ति नष्ट हो गई है और जिनका स्वभाव राक्षसों का-सा हो गया है, ऐसे मनुष्य मुझको नहीं भजते ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

चतुर्-विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन ।
आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थ-अर्थी, ज्ञानी, च, भरत-ऋषभ ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !		जानने की इच्छा रखनेवाला
चतुर्-विधाः	=चार प्रकार के	अर्थ-अर्थी	=सांसारिक पदार्थों की इच्छा करनेवाला
सुकृतिनः	=पुण्यात्मा		
जनाः	=मनुष्य		
माम्	=मुझको		
भजन्ते	=भजते हैं	च	= और
भरत-ऋषभ	=हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! + वे ये हैं	ज्ञानी	=ज्ञानी-(बिना किसी इच्छा के परम स्वरूप की आराधना करनेवाला)
आर्तः	=दुखी (विपद्ग्रस्त)		
जिज्ञासुः	=ब्रह्म-तत्त्व को		

अर्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मुझको भजते हैं—(१) दुखी—जिन पर किसी प्रकार का सङ्कट पड़ता है। (२) जिज्ञासु— मुमुक्षु अर्थात् जिनको आत्मज्ञान की चाह होती है। (३) अर्थार्थी—जिनको स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, राज्य या लोक-परलोक के सुखों की इच्छा होती है। (४) ज्ञानी—जो विना किसी प्रकार की इच्छा के मुझ शुद्ध, सच्चिदानन्द, निर्विकार का ध्यान करते हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

तेषाम्, ज्ञानी, नित्य-युक्तः, एक-भक्तिः, विशिष्यते।
प्रियः, हि, ज्ञानिनः, अत्यर्थम्, अहम्, सः, च, मम, प्रियः॥

तेषाम्	=उनमें से	विशिष्यते	=श्रेष्ठ है
नित्य-युक्तः	=समाहित चित्त-वाला (सदा-युक्त) +और मुझमें	हि	=क्योंकि
		अहम्	=मैं
		ज्ञानिनः	=ज्ञानी को
		अत्यर्थम्	=अत्यन्त
एक-भक्तिः	=अनन्य भक्ति रखनेवाला (एक भक्ति-वाला)	प्रियः	=प्यारा हूँ
		च	=और
		सः	=वह ज्ञानी
		मम	=मुझको
ज्ञानी	=ज्ञानी	प्रियः	=प्यारा है

अर्थ—इन चारों में से ज्ञानी जिसका चित्त नित्य मुझ परमात्मा में ही लगा रहता है और जो मेरा अनन्य भक्त है,

सबसे उत्तम है; क्योंकि मैं ज्ञानी के लिए बहुत प्यारा हूँ और ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप होने से मुझे अत्यन्त प्यारा है, अर्थात् मुझमें और उसमें कुछ भेद नहीं है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

उदाराः, सर्वे, एव, एते, ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतम्।
आस्थितः, सः, हि, युक्त-आत्मा, माम्, एव, अनुत्तमाम्, गतिम्॥

एते	=ये	**हि**	=क्योंकि
सर्वे	=सब	**सः**	=वह
एव	=ही	**युक्त-आत्मा**	=एकाग्र और समाहित चित्त-वाला (ज्ञानी)
	+भक्त		
उदाराः	=श्रेष्ठ या प्रिय हैं		
तु	=किन्तु	**माम्**	=मेरा
ज्ञानी	=ज्ञानी (तो)	**एव**	=ही
मे	=मेरा	**आस्थितः**	=आश्रय लिये हुए
आत्मा	=आत्मा	**अनुत्तमाम्**	=सर्वोत्तम (अत्यन्त श्रेष्ठ)
एव	=ही (है)		
	+ऐसा मेरा	**गतिम्**	=गति को
मतम्	=निश्चय है		+प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन! ये सभी उपासक या भक्त मुझे प्रिय हैं, किन्तु ज्ञानी को मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ; क्योंकि

उसका चित्त सदा मुझमें ही लगा रहता है। वह ज्ञानी अन्त में मेरी सर्वोत्तम गति को प्राप्त होता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १६ ॥

बहूनाम्, जन्मनाम्, अन्ते, ज्ञानवान्, माम्, प्रपद्यते।
वासुदेवः, सर्वम्, इति, सः, महात्मा, सु-दुर्लभः ॥

बहूनाम्	=अनेक (बहुत से)	वासुदेवः	='वासुदेव' रूप ही है
जन्मनाम्	=जन्मों के	इति	=ऐसा अनुभव करनेवाला
अन्ते	=अन्त में	सः	=वह
ज्ञानवान्	=ज्ञानी पुरुष	महात्मा	=महात्मा
माम्	=मुझे	सु-दुर्लभः	=अत्यन्त दुर्लभ है
प्रपद्यते	=प्राप्त होता है +यह		
सर्वम्	=सब जगत्		

अर्थ—बहुत से जन्मों के अन्त में ज्ञान प्राप्त करता हुआ जो ज्ञानी प्राणिमात्र को 'वासुदेव' * समझता है, वह मुझमें मिल जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसे महान् आत्मा विरले ही होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

---

* वासुदेव—प्राणिमात्र में जो वास करता है उसी को 'वासुदेव' कहते हैं।

कामैः, तैः, तैः, हृत-ज्ञानाः, प्रपद्यन्ते, अन्य-देवताः ।
तम्, तम्, नियमम्, आस्थाय, प्रकृत्या, नियताः, स्वया ॥

स्वया	=अपनी	तैः,तैः	=उन-उन
प्रकृत्या	=प्रकृति (स्वभाव) से	कामैः	=कामनाओं से
नियताः	=विवश हुए (प्रेरे हुए)	हृत-ज्ञानाः	=आत्म-ज्ञान से भ्रष्ट हुए पुरुष
तम्, तम्	=उस-उस	अन्य-देवताः	=अन्य देवताओं की
नियमम्	=नियम का	प्रपद्यन्ते	=उपासना करते हैं
आस्थाय	=आश्रय करके		

अर्थ—हे अर्जुन ! जिनकी बुद्धि धन, पुत्र, स्त्री इत्यादि भिन्न-भिन्न कामनाओं—इच्छाओं—के कारण बहक जाती है, वे (अपने पूर्व जन्मों के संस्कार के अनुसार) प्रकृति के वशीभूत होकर, दूसरे देवताओं की उपासना करने लगते हैं। अर्थात् जिस-जिस देवता की आराधना से जो-जो कामना पूर्ण होती है, उस-उस देवता का पूजन नियम या विधि से वे करने लगते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

यः, यः, याम्, याम्, तनुम्, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुम, इच्छति ।
तस्य, तस्य, अचलाम्, श्रद्धाम्, ताम्, एव, विदधामि, अहम् ॥

यः	=जो	तस्य	=उस
यः	=जो	तस्य	=उस देव-भक्त की
भक्तः	=देव-भक्त	ताम्	=उस
याम्	=जिस	श्रद्धाम्	=श्रद्धा को
याम्	=जिस	अहम्	=मैं
तनुम् *	=देवता के स्वरूप की	एव	=ही
			+उस देवता में
श्रद्धया	=श्रद्धा-पूर्वक	अचलाम्	=अचल (दृढ़ या स्थिर)
अर्चितुम्	=आराधना करना		
इच्छति	=चाहता है	विदधामि	=कर देता हूँ

अर्थ—जो भक्त जिस देवता के स्वरूप की श्रद्धा-पूर्वक या विश्वाससहित उपासना करता है, उस भक्त के विश्वास को मैं (अन्तर्यामीरूप से उसके भीतर बैठा हुआ) उसी देवता में दृढ़—पक्का—कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥२२॥

सः, तया, श्रद्धया, युक्तः, तस्य, आराधनम्, ईहते।
लभते, च, ततः, कामान्, मया, एव, विहितान्, हि, तान्॥

---

* तनुम्=यहाँ तनु से अग्नि, सूर्य आदि उन देवताओं से मतलब है जो परमात्मा से वैसे ही जीवित हैं जैसे अन्तर्यामी आत्मा से यह शरीर।

	+ तब	ततः	=उसी देवता द्वारा
सः	=वह भक्त	मया	=मुझसे
तया	=उस	एव	=ही
श्रद्धया	=श्रद्धा से	विहितान्	=निर्दिष्ट किये हुए
युक्तः	=युक्त हुआ	तान्	=उन
तस्य	=उस देवता के	कामान्	=अभीष्ट (मन चाहे) फलों को
आराधनम्	=पूजने की (सेवा करने की)	हि	=निस्सन्देह
ईहते	=इच्छा करता है	लभते	=पाता है
च	=और		

अर्थ—वह देव-भक्त उसी देवता में दृढ़ विश्वास रखकर उसी की आराधना करता है और उसी से अपने अभीष्ट—मन-चाहे—फल पा लेता है, जिनको वास्तव में मैं ही देता हूँ।

व्याख्या—सबको कर्मानुसार फलों का देनेवाला भगवान् के सिवा और कोई नहीं है, क्योंकि ईश्वर के सिवा सर्वज्ञ (सब बात को जाननेवाला), सर्वदर्शी (सबको देखनेवाला) और सर्वव्यापक (सब जगह फैला हुआ) और कोई नहीं है। लेकिन अज्ञानी लोग समझते हैं कि यह फल हमें अमुक देवता से मिला। वास्तव में बात यह है कि फल देते हैं भगवान् और नाम होता है देवताओं का ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्तवत्, तु, फलम्, तेषाम, तत्, भवति, अल्प-मेधसाम् ।
देवान्, देव-यजः, यान्ति, मद्-भक्ताः, यान्ति, माम, अपि ॥

तु	=किन्तु		पूजनेवाले
तेषाम्	=उन	देवान्	=देवताओं को
अल्प-मेधसाम्	=मन्दबुद्धि पुरुषों का	यान्ति	=प्राप्त होते हैं +और
तत्	=वह	मद्-भक्ताः	=मुझ सच्चिदानन्द निराकार स्वरूप के भक्त
फलम्	=फल		
अन्तवत्	=नाशवान् या अनित्य	माम्	=मुझको
भवति	=होता है	अपि	=ही
देव-यजः	=देवताओं के	यान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—किन्तु इन मन्द-बुद्धि पुरुषों—थोड़ी अक्लवालों—को जो फल (स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, राज्य आदि) इस प्रकार की उपासना से मिलता है, वह नाशवान् है, यानी सदा स्थिर नहीं रहता, समय पाकर उनका नाश हो जाता है। जो लोग देवताओं के उपासक हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं; किन्तु जो मुझ सच्चिदानन्द की उपासना करते हैं वे मुझमें आ मिलते हैं (यानी उन्हें अनन्त और चिरस्थायी पद मिलता है।)

ऐसा होने पर भी सब मनुष्य भगवान् की उपासना क्यों नहीं करते, इसका कारण भगवान् आगे बतलाते हैं:—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अव्यक्तम्, व्यक्तिम्, आपन्नम्, मन्यन्ते, माम्, अ-बुद्धयः ।
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, अव्ययम्, अनुत्तमम् ॥

अबुद्धयः	=मूर्ख लोग	माम्	=मुझ सच्चिदानन्द
मम	=मेरे	अव्यक्तम्	=निराकार (अमूर्तिमान्) को +साधारण मनुष्य की नाईं
परम्	=परम (श्रेष्ठ)		
अव्ययम्	=अविनाशी		
अनुत्तमम्	=सर्वोत्तम		
भावम्	=भाव (स्वरूप) को	व्यक्तिम्	=व्यक्तभाव को
		आपन्नम्	=प्राप्त हुआ
अजानन्तः	=न जानते हुए	मन्यन्ते	=समझते हैं

अर्थ—किन्तु बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी, निर्विकार और सबसे उत्तम भाव या स्वरूप को ठीक-ठीक न समझने के कारण, मुझ निराकार को मूर्तिमान् (साधारण मनुष्य अथवा वसुदेव का पुत्र) समझते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

न, अहम्, प्रकाशः, सर्वस्य, योगमाया-समावृतः ।
मूढः, अयम्, न, अभिजानाति, लोकः, माम्, अजम्, अव्ययम् ॥

योगमाया-समावृतः	योगमाया से =ढका हुआ (अपनी इच्छा-शक्ति से अनेक बनावों से आच्छादित हुआ)		
		अहम्	=मैं

सर्वस्य	=सबको		अनन्त) को
प्रकाशः	=प्रकट	अजम्	=जन्म-रहित
न	=नहीं हूँ		और
अयम्	=यह	अव्ययम्	=नाशरहित
मूढः	=मूढ़	न	=नहीं
लोकः	=जगत्	अभिजानाति	=जानता
माम्	=मुझ (अनादि		

अर्थ—मैं अपनी योगमाया से ढके रहने के कारण सबको दिखाई नहीं देता; किन्तु मेरे भक्त ही मुझको जान सकते हैं। मूर्ख लोग मुझ (अनादि-अनन्त) को जन्म-रहित—अजन्मा—और नाश-रहित नहीं जानते ; बल्कि वे समझते हैं कि साधारण मनुष्यों की तरह मैं भी जन्म-मरण के अधीन हूँ।

व्याख्या—योग-माया—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीन गुणों के मिलने से बनी है। इसी ने संसारी जीवों की बुद्धि पर पर्दा डाल रखा है। भगवान् कहते हैं कि वह माया, जिसके कारण लोग मेरे वास्तविक रूप को नहीं पहचानते, मेरी है और मेरे ही अधीन है। संसारी मनुष्य इस ज्ञान के न होने के कारण सदैव इस माया के फेर में पड़े रहते हैं और इसीलिए मुझको अविनाशी और अजन्मा नहीं समझते।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद, अहम, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन।
भविष्याणि, च, भूतानि, माम्, तु, वेद, न, कश्चन ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन		प्राणियों को
समतीतानि	=पहले हो चुके	अहम्	=मैं
च	=और	वेद	=जानता हूं
वर्तमानानि	=वर्तमान में (जो स्थित हैं उनको)	तु	=किन्तु
		माम्	=मुझको
च	=तथा	कश्चन	=कोई भी
भविष्याणि	=आगे होनेवाले	न	=नहीं
भूतानि	=पदार्थों व	वेद	=जानता

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके हैं उन्हें, जो वर्तमान में मौजूद हैं उनको, और आगे होनेवाले सब पदार्थों या प्राणियों को मैं जानता हूँ; लेकिन (मेरा असल स्वरूप न जानने के कारण) मुझे कोई भी यथार्थ-रूप से नहीं जानता (अर्थात् कोई बिरला ही मुझे वास्तव में जानता है या मेरा अनन्य भक्त ही मेरी कृपा से मुझे जान सकता है।)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन, द्वन्द्व-मोहेन, भारत ।
सर्व-भूतानि, सम्मोहम्, सर्गे, यान्ति, परन्तप ॥

भारत	=हे भरत-पुत्र !	इच्छा-द्वेष-समुत्थेन	=राग-द्वेष से उत्पन्न हुए
परन्तप	=हे शत्रुओं को तपानेवाले !	द्वन्द्व-मोहेन	=द्वन्द्वों के मोह

से (सुख-दुःख और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के फेर में पड़कर)	सर्व-भूतानि =सभी प्राणी
	सर्गे =इस संसार में
	सम्मोहम् =अज्ञान को
	यान्ति =प्राप्त हो रहे हैं

अर्थ—हे भरतपुत्र तथा शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! इस संसार में जन्म लेते ही सारे प्राणी अनुकूल पदार्थों की इच्छा और प्रतिकूल से द्वेष करते हैं और इस इच्छा तथा द्वेष के कारण सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के फेर में पड़कर, सब जीव अज्ञान या मोह को प्राप्त हो रहे हैं (अर्थात् अपने असल स्वरूप को भूल जाते हैं और मुझ परमेश्वर को अपनी आत्मा नहीं समझते ।)

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

येषाम्, तु, अन्त-गतम्, पापम्, जनानाम्, पुण्य-कर्मणाम् ।
ते, द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः, भजन्ते, माम्, दृढ-व्रताः ॥

तु =किन्तु	द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः =सुख-दुःख आदि द्वन्द्व रूप मोह से छूटे हुए
येषाम् =जिन	
पुण्य-कर्मणाम्=पुण्य-कर्म करनेवाले	दृढ-व्रताः =दृढ व्रतवाले या पक्के निश्चय-वाले पुरुष
जनानाम् =लोगों के	
पापम् =पाप	
अन्त-गतम् =नष्ट हो गए हैं	माम् =मुझ को (ही)
ते =वे	भजन्ते =भजते हैं

अर्थ—किन्तु (शुभ-कर्म करते-करते या पिछले जन्मों के पुण्य-कर्मों के प्रभाव से) जिन पुण्य-कर्म करनेवाले पुरुषों के पाप दूर हो गए हैं, वे राग-द्वेष, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के मोह से छूटे हुए दृढव्रती मेरा ही भजन करते हैं। (अर्थात् मेरी उपासना करते-करते मेरे वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं।)

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२६॥

जरा-मरण-मोक्षाय, माम्, आश्रित्य, यतन्ति, ये।
ते, ब्रह्म, तत्, विदुः, कृत्स्नम्, अध्यात्मम्, कर्म, च, अखिलम्॥

ये	=जो	ते	= वे
माम्	=मुझ परमेश्वर का	तत्	=उस
आश्रित्य	=आश्रय लेकर	ब्रह्म	=ब्रह्म को
जरा-मरण-मोक्षाय	=बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए	कृत्स्नम्	=सम्पूर्ण
		अध्यात्मम्	=आत्मतत्त्व को
		च	=और
		अखिलम्	=सम्पूर्ण
		कर्म	=कर्म को
यतन्ति	=यत्न करते हैं	विदुः	=जान लेते हैं

अर्थ—जो मेरी भक्ति में एकाग्र-चित्त होकर बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को भली-भाँति जान जाते हैं। अध्यात्म यानी अन्दर रहने-

वाले आत्मा की असलियत को समझ जाते हैं और संपूर्ण कर्मों के विषय में भी पूरी तौर से जान लेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

स-अधिभूत-अधिदैवम्, माम्, स-अधियज्ञम्, च, ये विदुः।
प्रयाणकाले, अपि, च, माम्, ते, विदुः, युक्त-चेतसः॥

ये	=जो पुरुष
माम्	=मुझको
स-अधि-भूत-अधि-दैवम्	=अधिभूत और अधिदैव के सहित
च	=और
स-अधियज्ञम्	=अधियज्ञ के सहित
विदुः	=जानते हैं
ते	=वे
युक्त-चेतसः	=एकाग्र चित्त-वाले पुरुष
प्रयाण-काले	=मरण-समय में
अपि	=भी
माम्	=मुझको
च	=ही
विदुः	=जानते हैं प्राप्त होते हैं

अर्थ—जो मुझे अधिभूत, अधिदैव, और अधियज्ञ * सहित जानते हैं, ऐसे दृढ़ चित्तवाले पुरुष मरण समय में भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् मुझ सच्चिदानन्द का ध्यान करते-करते ही अपने प्राण त्यागते हैं और मुझे ही प्राप्त होते हैं।

सातवाँ अध्याय समाप्त

---

* अधिभूत, अधिदैव, और अधियज्ञ शब्दों का अर्थ भगवान् स्वयम् ही आठवें अध्याय में बतावेंगे। इसलिए इनके अर्थों को समझाने की यहाँ ज़रूरत नहीं है।

गीता के सातवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—हे देवि, अब सातवें अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। पाटलिपुत्र नगर में शङ्कुकर्ण नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने कभी देवताओं का पूजन और पितरों का तर्पण नहीं किया। वह दयावान् था और हमेशा वैश्यों की वृत्ति से धनसञ्चय करने में लगा रहता था। एक दिन वह किसी व्यवसाय के लिये बाहर गया था, मार्ग में रात हो जाने पर किसी पेड़ के नीचे सो गया। साँप के डस लेने से उसकी वहीं मृत्यु हो गई। जीवन भर धन के लोभ में लगे रहने से मरने पर उसकी धन-लिप्सा न छूटी, और इसीलिए वह साँप होकर एक पेड़ के नीचे—जहाँ उसने बहुत-सा धन गाड़ दिया था—रहने लगा। कुछ दिनों बाद साँप के जन्म से पीड़ित होकर उसने अपने पुत्रों को स्वप्न दिखाया—'मुझे साँप की योनि में जन्म मिला है और अमुक स्थान पर, जहाँ मेरा धन गड़ा है, रहता हूँ। मैं इस जन्म से बहुत दुःखित हूँ। तुम लोग मेरे उद्धार का कोई उपाय करो।' उस ब्राह्मण के तीन पुत्र थे। बड़ा पुत्र तो पिता के उद्धार का उपाय सोचने लगा और छोटा पिता के दुःख का स्मरण करके सोच से व्याकुल होकर रोने लगा; किंतु मँझले पुत्र को पिता की दुर्दशा का कुछ भी सोच न हुआ, बल्कि उसे यह फ़िक्र हुई कि वहाँ चलकर, साँप को मारकर, अकेला ही सब धन हथिया ले।

उसने अपनी स्त्री को भी साथ लिया और उस पेड़ के नीचे जाकर साँप की बाँबी को खोदने लगा। वह कुदाल से खोदता था और उसकी स्त्री मिट्टी निकालती थी। थोड़ी ही देर बाद उस बाँबी से एक विषधर साँप निकला। वही उसका पिता था। वह फुफकारकर बोला—रे मूर्ख, तू कौन है? और क्यों यह बाँबी खोदता है?' पुत्र ने उत्तर दिया—'मैं आपका मँझला पुत्र हूँ। मैंने आज रात में स्वप्न देखा है कि यहाँ बहुत-सा धन गड़ा है, उसी के लिये यह बिल खोद रहा हूँ।' पुत्र का यह निद्य स्वभाव देखकर पिता ने हँसकर कहा—'यदि तू मेरा पुत्र है, तो मुझे इस साँप-रूप से उद्धार कर।' पुत्र ने पूछा—'किस उपाय से आपकी मुक्ति हो सकती है, वह मुझे बताइए।' पिता ने कहा—'दान, यज्ञ अथवा तीर्थ-यात्रा आदि करने से मेरी मुक्ति न होगी। मेरे श्राद्ध के दिन गीता के सातवें अध्याय का पाठ कराओ और श्रद्धा से ब्राह्मणों को भोजन कराओ। बस, इसी से मेरा उद्धार हो सकेगा। जब मैं इस साँप की देह से छूटकर मुक्त हो जाऊँ, तब यह धन तुम तीनों भाई आपस में बाँट लो।'

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—"पिता की यह बात सुनकर पुत्र अपनी स्त्री-समेत घर को लौट आया और अपने पिता के श्राद्ध के दिन गीता के सातवें अध्याय का पाठ करने लगा। उसी के प्रभाव से उसका पिता साँप की देह छोड़कर वैकुण्ठधाम को गया।"

आठवाँ अध्याय
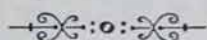
अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

किम्, तत्, ब्रह्म, किम्, अध्यात्मम्, किम्, कर्म, पुरुष-उत्तम ।
अधिभूतम्, च, किम्, प्रोक्तम्, अधिदैवम्, किम्, उच्यते ॥

अर्जुन ने प्रश्न किया:—

पुरुष-उत्तम	=हे पुरुषों में उत्तम, श्रीकृष्ण !	च	=और
तत्	=वह	अधिभूतम्	=अधिभूत
ब्रह्म	=ब्रह्म	किम्	=क्या
किम्	=क्या है ?	प्रोक्तम्	=कहा गया है ? +और
अध्यात्मम्	=अध्यात्म	अधिदैवम्	=अधिदैव
किम्	=क्या है ?	किम्	=क्या
कर्म	=कर्म	उच्यते	=कहा जाता है ?
किम्	=क्या है ?		

अर्थ—हे पुरुषों में उत्तम, श्रीकृष्ण ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? और अधिदैव किसे कहते हैं ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अधियज्ञः, कथम्, कः, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधुसूदन ।
प्रयाण-काले, च, कथम, ज्ञेयः, असि, नियत-आत्मभिः ॥

मधुसदन	=हे कृष्ण !
अत्र	=यहाँ
अस्मिन्	=इस
देहे	=देह में
अधियज्ञः	=अधियज्ञ
कः	=कौन है ? +और
कथम्	=किस प्रकार है?
च	=और
प्रयाण-काले	=मरने के समय (अन्त समय में)
नियत-आत्मभिः	=समाहित चित्त-वाले पुरुषों द्वारा
कथम्	=किस प्रकार
ज्ञेयः असि	=आप जाने जाते हैं

अर्थ—हे मधुसूदन ! यहाँ, इस शरीर में, अधियज्ञ कैसे और कौन है ? और मरने के समय समाहित चित्तवाले सज्जन आपको किस प्रकार जान सकते हैं ?

अर्जुन के उक्त सात प्रश्नों का यथाक्रम उत्तर भगवान् अब आगे देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरम्, ब्रह्म, परमम्, स्वभावः, अध्यात्मम्, उच्यते ।
भूत-भाव-उद्भवकरः, विसर्गः, कर्म-संज्ञितः ॥

श्रीभगवान् ने कहाः—

परमम्	=परम
अक्षरम्	=अक्षर (यानी जिसका किसी तरह भी नाश न हो ऐसा नित्य, निराकार, सच्चिदानन्द परमात्मा) तो
ब्रह्म	=ब्रह्म है
स्वभावः	=अपना स्वरूप यानी जीव
अध्यात्मम्	=अध्यात्म
उच्यते	=कहलाता है +और
भूत-भाव-उद्भवकरः	=प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला
विसर्गः	=यज्ञ निमित्त होम द्रव्य का छोड़ा जाना
कर्म-संज्ञितः	=कर्म नाम से कहा गया है

अर्थ—परम अक्षर * ब्रह्म है । स्वभाव—अपना स्वरूप यानी जीवात्मा—अध्यात्म कहलाता है । सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले उस होम-द्रव्य के त्यागरूप यज्ञ को कर्म कहते हैं ।

व्याख्या—संक्षेप में मतलब यह है कि नित्य, अविनाशी,

* अक्षर—जिसका किसी प्रकार भी नाश न हो ।

निराकार सब जगह व्यापक परमात्मा को "ब्रह्म" कहते हैं। शरीर में रहनेवाले जीवात्मा को "अध्यात्म" कहते हैं और यज्ञ को "कर्म" कहते हैं। यही अविनाशी ब्रह्म आत्मा के रूप से प्रत्येक प्राणी के शरीर में वास करता है। शरीर में रहनेवाले आत्मा या जीव को "अध्यात्म" कहते हैं। हवन करने के समय जो आहुतियाँ दी जाती हैं, वे सूर्यमण्डल की ओर जाती हैं। उनसे वर्षा होती है, वर्षा से अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं, जिनसे संसार भर के प्राणी पैदा होते और पुष्ट होते हैं। प्राणियों को पैदा करनेवाले और बढ़ानेवाले उस त्यागरूप यज्ञ को "कर्म" कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अधिभूतम्, क्षरः, भावः, पुरुषः, च, अधिदैवतम्।
अधियज्ञः, अहम्, एव, अत्र, देहे, देह-भृताम्, वर॥

क्षरः	=घटने, बढ़ने, उपजने और मिटनेवाले	अधिदैवतम्	=अधिदैव है
भावः	=पदार्थ	देहभृताम् वर	=हे देहधारियों में श्रेष्ठ!
अधिभूतम्	=अधिभूत हैं	अत्र	=इस
च	=और	देहे	=शरीर में
पुरुषः	=देह-रूपी पुर में रहनेवाला पुरुष	अहम्	=मैं (विष्णु)
		एव	=ही
		अधियज्ञः	=अधियज्ञ हूँ

अर्थ—हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! घटने-बढ़ने, नष्ट व उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को 'अधिभूत' कहते हैं। प्रत्येक

शरीर में रहनेवाले पुरुष (जीवात्मा) को 'अधिदैव' कहते हैं और इस शरीर में मैं (विष्णु) ही 'अधियज्ञ' (उपास्य) हूँ।

व्याख्या—घटने-बढ़ने, पैदा होने तथा नष्ट होनेवाले पदार्थों से जो बना है, उसे "अधिभूत" कहते हैं; जैसे मनुष्य-शरीर और सूर्य आदि पदार्थ। पुरुष वह है, जो शरीर या सूर्य आदि पदार्थों में रहता है। जो सूर्य में रहकर सब प्राणियों की इन्द्रियों में चेतनता उत्पन्न करता और उनका पोषण करता है, जिसे स्वभावतः जीव-नाम से पुकारते हैं, उसी को "अधिदैव" भी कहते हैं। सब यज्ञों पर जिसकी प्रधानता है, जिसे देवता भी पूजते हैं वह वासुदेव मैं ही हूँ, अतः मैं ही "अधियज्ञ" हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

अन्तकाले, च, माम्, एव, स्मरन्, मुक्त्वा, कलेवरम्।
यः, प्रयाति, सः, मद्-भावम्, याति, न, अस्ति, अत्र, संशयः॥

च	=और		मरता है
अन्तकाले	=अन्त समय में	सः	=वह
यः	=जो	मद्भावम्	=मेरे भाव (स्वरूप) को
माम्	=मुझको	याति	=प्राप्त होता है
एव	=ही	अत्र	=इसमें
स्मरन्	=याद करता हुआ		+ज़रा भी
कलेवरम्	=शरीर	संशयः	=संदेह
मुक्त्वा	=छोड़कर	न अस्ति	=नहीं है
प्रयाति	=जाता है अर्थात्		

अर्थ—मरने के समय, जो पुरुष मुझको स्मरण करता हुआ यह शरीर छोड़ता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं (यानी वह मेरे पास पहुँच जाता है और मुझे पा लेता है)।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

यम्, यम्, वा, अपि, स्मरन्, भावम्, त्यजति, अन्ते, कलेवरम्।
तम्, तम्, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्-भाव-भावितः॥

वा	=अथवा		+वह
यम्, यम्	=जिस-जिस	सदा	=निरन्तर
अपि	=भी	तद्-भाव-भावितः	=उस भाव से भावित हुआ अथवा उस पदार्थ या देवता का ध्यान रखने से
भावम्	=भाव यानी पदार्थ या देवता को		
स्मरन्	=स्मरण करता हुआ +प्राणी	तम्, तम्	=उस-उसको यानी उस पदार्थ या देवता को
अन्ते	=अन्त समय में		
कलेवरम्	=शरीर को	एव	=ही
त्यजति	=त्यागता है	एति	=प्राप्त होता है
कौन्तेय	=हे अर्जुन !		

अर्थ—हे अर्जुन ! अन्त-समय में प्राणी जिस पदार्थ या

देवता को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है उसी भाव (पदार्थ वस्तु या देवता) का सदैव ध्यान रहने से, वह उसी को पाता है।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं कि जो मरने के समय मुझे याद करते हैं, मेरे ही स्वरूप का सच्चे मन से ध्यान करते हैं, वे निस्सन्देह मुझे पाते हैं। लेकिन जो मनुष्य मुझे छोड़कर किसी अन्य देवता का स्मरण करता है, वह उसी देवता को पाता है। जो दिन-रात माया में फँसे रहने के कारण, अन्त समय धन, स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ता करते हुए, प्राण त्यागते हैं वे उन्हीं नाशवान् पदार्थों को पाते हैं जिनके पाने से कुछ फ़ायदा नहीं, अतएव मनुष्यों को जन्म भर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से अन्त समय में उन्हें वही परमेश्वर याद आवेगा जिसका उन्होंने निरन्तर ध्यान किया है। यह प्रसिद्ध है कि मरने के समय "जाकी जैसी भावना वाकी वैसी गति"। अन्त में जो परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करता हुआ यह चोला छोड़ेगा, वह ब्रह्म में लीन हो जायगा।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, माम्, अनुस्मर, युध्य, च।
मयि, अर्पित-मनः-बुद्धिः, माम्, एव, एष्यसि, अ-संशयम् ॥

तस्मात्	=इसलिए + हे अर्जुन !	अनुस्मर	=(तू) स्मरण कर
सर्वेषु	=सब	च	=और
कालेषु	=समयों में	युध्य	=युद्ध (भी) कर
माम्	=मुझको	मयि	=मुझमें

अर्पित-मनः-बुद्धिः	= मन और बुद्धि को अर्पण कर देने से (तू)	माम्	=मुझको
		एव	=ही
		एष्यसि	=प्राप्त होगा
अ-संशयम्	=निःसन्देह		

अर्थ—इसलिए, तू हर घड़ी मुझ सच्चिदानंदस्वरूप का ध्यान करते हुए, युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि लगाने से (शरीर छोड़ने पर) तू मुझे अवश्य प्राप्त होगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अभ्यास-योग-युक्तेन, चेतसा, न, अन्य-गामिना।
परमम्, पुरुषम्, दिव्यम्, याति, पार्थ, अनुचिन्तयन् ॥

पार्थ	=हे अर्जुन!	अनुचिन्तयन्	=चिन्तन या स्मरण करता हुआ मनुष्य
अभ्यास-योग-युक्तेन	=अभ्यास-योग से युक्त (परमात्मा को सदा स्मरण रखने) +तथा	परमम्	=परम (प्रकाश-स्वरूप)
		दिव्यम्	=अलौकिक
न अन्य-गामिना	=अन्य ओर न जानेवाले	पुरुषम्	=पुरुष को
		याति	=प्राप्त होता है
चेतसा	=चित्त से		

अर्थ—हे अर्जुन! इस प्रकार जो मनुष्य अभ्यास-योग से युक्त है, अर्थात् हर समय भगवान् का ध्यान करता

रहता है, हरएक कार्य में उसी का स्मरण करता है, जिसका चित्त अन्य किसी ओर नहीं जाता, ऐसा मनुष्य ध्यान करने से, परम प्रकाशस्वरूप पुरुष अर्थात् मुझ परमेश्वर को ही पा जाता है।

वह परम दिव्य पुरुष कैसा है ? सुनोः—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अणोः, अणीयांसम्, अनुस्मरेत्, यः । सर्वस्य, धातारम्, अचिन्त्य-रूपम्, आदित्य-वर्णम्, तमसः, परस्तात् ॥

कविम्	=त्रिकालदर्शी (सर्वज्ञ)
पुराणम्	=अनादि
अनुशासितारम्	=सब पर शासन करनेवाले
अणोः	=सूक्ष्म से भी (अणुमात्र से भी)
अणीयांसम्	=अत्यन्त सूक्ष्म
सर्वस्य	=सबके
धातारम्	=पालन-पोषण करनेवाले
अचिन्त्यरूपम्	=अचिन्त्य-स्वरूप यानी निराकार
आदित्यवर्णम्	=सूर्य के समान प्रकाशमान
तमसः	=अन्धकार यानी अज्ञान से
परस्तात्	=परे

	+ ऐसी उपमा-वाले प्रभु को	यः	=जो मनुष्य
		अनुस्मरेत्	=स्मरण करता है

अर्थ—हे अर्जुन ! वह त्रिकालदर्शी यानी सर्वज्ञ है, पुराना अर्थात् अनादि है, सब पर शासन करनेवाला है, अणुमात्र से भी अत्यन्त सूक्ष्म है यानी छोटे अर्रे से भी छोटा है, सबका पालन-पोषण करनेवाला है, अचिन्त्य-स्वरूप यानी निराकार है, सूर्य के समान प्रकाशमान है और वह अन्धकार से परे यानी ज्ञानी है, ऐसे उपमावाले दिव्य पुरुष का जो स्मरण करता है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

प्रयाण-काले, मनसा, अचलेन, भक्त्या, युक्तः, योग-बलेन, च, एव। भ्रुवोः, मध्ये, प्राणम्, आवेश्य, सम्यक्, सः, तम्, परम्, पुरुषम्, उपैति, दिव्यम् ॥

सः	=वह		के बल से
प्रयाण-काले	=मरने के समय	भ्रुवोः	=दोनों भौंहों के
भक्त्या	=भक्ति से	मध्ये	=बीच में
युक्तः	=युक्त होकर	प्राणम्	=प्राण को यानी दृष्टि को
च	=और		
योग-बलेन	=अभ्यास योग	सम्यक्	=अच्छी तरह

आवेश्य	=ठहराकर	दिव्यम्	=दिव्य
अचलेन	=निश्चल	परम्	=श्रेष्ठ
मनसा	=मन से +सच्चिदानंद का स्मरण करता हुआ	पुरुषम्	=पुरुष यानी परमात्मा को
तम्	=उस	एव	=ही
		उपैति	=प्राप्त होता है

अर्थ—वह अन्तकाल में अनन्य भक्ति और अभ्यास योग से युक्त होकर, चित्त को एक जगह स्थिर करके, दोनों भौंहों के बीच में प्राणों को भली भाँति ठहराकर, सच्चिदानंद को स्मरण करता हुआ, उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है यानी उसी परम दिव्य-स्वरूप परमात्मा में जा मिलता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

यत्, अक्षरम्, वेद-विदः, वदन्ति, विशन्ति, यत्, यतयः, वीत-रागाः। यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति, तत्, ते, पदम्, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये ॥

वेद-विदः	= वेद के जानने-वाले	अक्षरम्	=अक्षर (अविनाशी)
यत्	=जिसे (जिस पद को)		

वदन्ति	= कहते हैं	इच्छन्तः	=इच्छा करते हुए
वीतरागाः	=राग-रहित (आसक्ति-रहित)		+ ब्रह्मचारी
		ब्रह्मचर्यम्	=ब्रह्मचर्यव्रत
यतयः	=संन्यासी	चरन्ति	=धारण करते हैं
यत्	=जिसमें (जिस पद में)	तत्	=वह
		पदम्	=पद
विशन्ति	=प्रवेश करते हैं	ते	=तुझसे
	+ और	संग्रहेण	=संक्षेप में
	= जिस परम पद की	प्रवक्ष्ये	=कहता हूँ

अर्थ—और हे अर्जुन! वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर—अविनाशी—कहते हैं, रागद्वेष-रहित संन्यासी जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसे जानने के लिए लोग (गुरुजी के घर रहकर) ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उस परम 'पद' को मैं संक्षेप में तुझसे कहता हूँ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

सर्वद्वाराणि, संयम्य, मनः, हृदि, निरुध्य, च।
मूर्ध्नि, आधाय, आत्मनः, प्राणम्, आस्थितः, योग-धारणाम्॥

ओम्, इति, एक-अक्षरम, ब्रह्म, व्याहरन्, माम्, अनुस्मरन्।
यः, प्रयाति, त्यजन्, देहम्, सः, याति, परमाम्, गतिम्॥

सर्व-द्वाराणि	=इन्द्रियों के सब द्वारों को
संयम्य	=रोंककर
च	=और
मनः	=मन को
हृदि	=हृदय में
निरुध्य	=स्थिर करके
	+तथा
मूर्ध्नि	=मस्तक में
आत्मनः	=अपने
प्राणम्	=प्राण को
आधाय	=ठहराकर
योग-धारणाम्	=योगधारणा में
आस्थितः	=स्थित हुआ
ओम्	=ॐ
इति	=इस
एक-अक्षरम्	=एक अक्षर
ब्रह्म	=ब्रह्म का
व्याहरन्	=उच्चारण करता हुआ
	+ और
माम्	=मुझ परमात्मा का
अनुस्मरन्	=स्मरण करता हुआ
देहम्	=शरीर
त्यजन्	=त्यागकर
यः	=जो
प्रयाति	=जाता है
सः	=वह
परमाम्	=श्रेष्ठ
गतिम्	=गति को
याति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! इन्द्रियों के सारे द्वारों को बन्द कर अर्थात् कान आदि इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटाकर, फिर मन को (सब ओर से रोक) अपने हृदय-कमल में स्थिर करके, मस्तक में अपने प्राण को ले जाकर और वहाँ

उसे ठहराकर, योगधारणा में स्थिर हो, अर्थात् मुझ आत्म-स्वरूप के ध्यान में युक्त होता हुआ "ॐ" इस एक अक्षर ब्रह्म का जप करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो इस देह को त्यागता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—पहिले कान, आँख आदि बाहरी इन्द्रियों के द्वारों को उनके शब्दादि विषयों से रोकना चाहिए। इसके बाद अपने मन को सब ओर से हटावे। इन्द्रियों और मन के रुक जाने पर अपने प्राण को दोनों भौंहों के बीच में स्थिर करना चाहिए। इसके उपरान्त अपने प्राण को ब्रह्म-रन्ध्र यानी मस्तक में ले जाकर ठहराना चाहिए। इस प्रकार प्राण के स्थिर होने पर योग-अभ्यास द्वारा मुझ परमात्मा का ध्यान करते हुए और "ॐ" इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए जो शरीर त्यागता है वह परम गति को प्राप्त होता है, अर्थात् वह मेरा भक्त फिर जन्म नहीं लेता, बल्कि ब्रह्म-लोक को प्राप्त हो ब्रह्मरूप हो जाता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्य-चेताः, सततम्, यः, माम्, स्मरति, नित्यशः।
तस्य, अहम्, सुलभः, पार्थ, नित्य-युक्तस्य, योगिनः ॥

अनन्य-चेताः	=नहीं है दूसरे में चित्त जिसका ऐसा (ब्रह्म का जिज्ञासु)	नित्यशः	=प्रतिदिन
यः	=जो	माम्	=मेरा
सततम्	=निरन्तर	स्मरति	=स्मरण करता है
		तस्य	=उस
		नित्य-युक्तस्य	=नित्ययुक्त अर्थात् एकाग्र

	चित्तवाले
योगिनः	=योगी को
पार्थ	=हे अर्जुन !
अहम्	=मैं
सुलभः	=सुलभ हूँ (अर्थात मैं उसे सहज ही में प्राप्त हो जाता हूँ)

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसका चित्त सिवा मुझ परमेश्वर के और किसी ओर नहीं जमता अर्थात् जो मेरा अनन्य भक्त है, जो लगातार नित्य मेरी ही याद करता रहता है, ऐसा एकाग्र-चित्तवाला योगी मुझे सहज ही में पा लेता है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

माम्, उपेत्य, पुनर्जन्म, दुःख-आलयम्, अ-शाश्वतम् ।
न, आप्नुवन्ति, महात्मानः, संसिद्धिम्, परमाम्, गताः ॥

परमाम्	=परम (उत्तम)
संसिद्धिम्	=सिद्धि को
गताः	=पाये हुए (प्राप्त हुए)
महात्मानः	=महात्मा पुरुष
माम्	=मुझे
उपेत्य	=प्राप्त होकर
दुःख-आलयम्	=दुःख के स्थान
अ-शाश्वतम्	=अनित्य (क्षण-भंगुर)
पुनर्जन्म	=पुनर्जन्म (दूसरे शरीर) को
न आप्नुवन्ति	=प्राप्त नहीं होते हैं

अर्थ—मुझे प्राप्त होकर अर्थात् मेरे परमस्वरूप में मिल जाने पर जो महात्मा लोग परम गति को प्राप्त हो गए हैं, वे उस पुनर्जन्म (वारंवार जन्म) को नहीं पाते, जो दुःखों

का घर (जन्मने, मरने और बुढ़ापे आदि के दुःखों का स्थान) और क्षणभंगुर है ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्, लोकाः, पुनर्-आवर्तिनः, अर्जुन ।
माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय, पुनः, जन्म, न, विद्यते ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !	माम्	=मुझ परमात्मा को
आ-ब्रह्म भुवनात्	=ब्रह्मलोक से लेकर	उपेत्य	=प्राप्त होकर
लोकाः	=सारे लोक	पुनः	=फिर
पुनर्-आवर्तिनः	=पुनर्जन्मवाले हैं		+ उसका
		जन्म	= जन्म
तु	=किन्तु	न	=नहीं
कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र !	विद्यते	=होता

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्म-लोक तक जितने भी लोक हैं, उन सब लोकों में जाकर प्राणियों को पृथ्वी पर फिर आना पड़ता है अर्थात् उन लोकों में चले जाने पर भी जीवों को, पुण्य समाप्त होने पर, कभी-न-कभी फिर लौटना पड़ता है और लौटकर इस कर्म-भूमि में फिर जन्म लेना पड़ता है । लेकिन हे कुन्तीपुत्र ! मेरे पास पहुँचकर फिर उन्हें जन्म नहीं लेना पड़ता ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम्, अहः, यत्, ब्रह्मणः, विदुः ।
रात्रिम्, युग-सहस्र-अन्ताम्, ते, अहः-रात्र-विदः, जनाः ॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम्	= हज़ार चौकड़ी युगवाला	रात्रिम्	=(ब्रह्मा की) एक रात्रि को + जानते हैं
अहः	=एक दिन	ते	=वे (ही)
यत्	=जो	जनाः	=पुरुष
ब्रह्मणः	=ब्रह्मा का	अहःरात्र-विदः	= दिन और रात के (रहस्य) को जाननेवाले हैं
विदुः	=जानते हैं +और		
युग-सहस्र-अन्ताम्	हज़ार चौकड़ी =युग तक अवधि-वाला		

हे अर्जुन ! केवल वे ही लोग दिन और रात के रहस्य को जाननेवाले हैं, जो यह जानते हैं कि ब्रह्मा का दिन एक हज़ार युगों का होता है और रात भी एक हज़ार युगों * की होती है ।

---

* युग चार होते हैं—(१) सत्ययुग (२) त्रेतायुग (३) द्वापरयुग (४) कलियुग । हरएक का समय इस प्रकार होता है—सत्ययुग १७,२८००००, त्रेता १२,९६०००, द्वापर ८,६४००० और कलियुग ४,३२,००० वर्षों का होता है । कुल ४३,२०,०००

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अव्यक्तात्, व्यक्तयः, सर्वाः, प्रभवन्ति, अहः-आगमे।
रात्रि-आगमे, प्रलीयन्ते, तत्र, एव, अव्यक्त-संज्ञके ॥

अहः-आगमे	=ब्रह्मा के दिन के उदय होने पर		+ और
सर्वाः	=संपूर्ण	रात्रि-आगमे	=ब्रह्मा की रात्रि के आने पर
व्यक्तयः	=भूत (अर्थात् स्थावर-जङ्गम मूर्तिमान् पदार्थ)	तत्र	=उसी
अव्यक्तात्	=कारण ब्रह्म से यानी ब्रह्मा की निद्रा-अवस्था से	एव	=ही
प्रभवन्ति	=प्रकट होते हैं	अव्यक्त-संज्ञके	=कारण ब्रह्म में यानी ब्रह्मा की स्वप्न अवस्था में
		प्रलीयन्ते	=लीन हो जाते हैं

अर्थ—हे अर्जुन! वे यह भी जानते हैं कि ब्रह्मा का दिन आरम्भ होते ही अर्थात् ब्रह्मा के जागने पर सब भूत यानी स्थावर-जङ्गम जगत् अव्यक्त (कारण-प्रकृति) से प्रकट होता है और ब्रह्माजी की रात्रि आने पर यानी ब्रह्माजी के

(तेंतालीस लाख बीस हज़ार वर्षों के ख़तम हो जाने पर चारों युग एक बार होते हैं। ये चारों युग जब एक हज़ार बार व्यतीत होते हैं, तब ब्रह्मा का एक दिन होता है और इसी प्रकार जब ये युग फिर एक हज़ार बार व्यतीत होते हैं, तब ब्रह्मा की एक रात्रि होती है।

सोने पर वह सब जगत् उसी अव्यक्त (कारण-प्रकृति) में अथवा ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में लय हो जाता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे। १९।

भूत-ग्रामः, सः, एव, अयम्, भूत्वा, भूत्वा, प्रलीयते।
रात्रि-आगमे, अवशः, पार्थ, प्रभवति, अहः-आगमे ॥

सः	=वह	प्रलीयते	=लय हो जाता है + और
एव	=ही	पार्थ	=हे अर्जुन !
अयम्	=यह	अहः-आगमे	=दिन के आने पर
भूत-ग्रामः	=प्राणियों का समूह	अवशः	=विवश हुआ +फिर
भूत्वा-भूत्वा	=उत्पन्न हो-होकर	प्रभवति	= उत्पन्न होता है
रात्रि-आगमे	=रात्रि के आने पर		

अर्थ—वही प्राणियों का समूह ब्रह्माजी के दिन होने पर बार-बार जन्म लेता है और रात्रि होने पर लय हो जाता है। मतलब यह कि (अविद्या के कारण) अपनी इच्छा न होते हुए भी कर्मों के वश होकर, ब्रह्मा के दिन होने पर यह सब स्थावर-जङ्गम भूतों का समुदाय फिर पैदा होता है और ब्रह्माजी की रात्रि के समय लीन हो जाता है। इस प्रकार यह सिलसिला महाप्रलय तक बराबर जारी रहता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति। २०।

परः, तस्मात्, तु, भावः, अन्यः, अव्यक्तः, अव्यक्तात्,सनातनः। यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु, न, विनश्यति ॥

तु	=किन्तु		या ब्रह्म) है
तस्मात्	=इस	सः	=वह
अव्यक्तात्	=अव्यक्त से (भी)	सर्वेषु	=सब
परः	=परे	भूतेषु	=प्राणियों के
अन्यः	=और (दूसरा)	नश्यत्सु	=नष्ट होने पर (भी)
यः	=जो	न	=नहीं
सनातनः	=सनातन	विनश्यति	=नष्ट होता
अव्यक्तः	=अव्यक्त		
भावः	=भाव(परमात्मा		

अर्थ—परन्तु इस अव्यक्त से भी परे एक और सनातन (अनादि और अनन्त) अव्यक्त भाव (परमात्मा) है। वह सब प्राणियों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या—सब प्राणियों का कारणस्वरूप जो अव्यक्त ब्रह्म है, उससे भी जुदा एक और अव्यक्त है। यह अव्यक्त प्राणियों के कारणस्वरूप अव्यक्त से श्रेष्ठ है। प्राणियों की उत्पत्ति का कारण जो अव्यक्त है, उसका समय आने पर नाश हो जाता है; किन्तु अन्य अव्यक्त का कभी नाश नहीं होता ; इसी को शुद्ध सच्चिदानन्द, निराकार और शुद्ध अव्यक्त कहते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः, तम्, आहुः, परमाम्, गतिम् ।
यम्, प्राप्य, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥

अव्यक्तः	=(जो) अव्यक्त	यम्	=जिस परम गति-रूप अक्षर ब्रह्म को
अक्षरः	=अक्षर अर्थात् अविनाशी	प्राप्य	=प्राप्त होकर +मनुष्य
इति	=ऐसा	न निवर्तन्ते	=फिर इस संसार में नहीं आते
उक्तः	=कहा गया है	तत्	=वह
तम्	=उस (अक्षर-ब्रह्म) को	मम	मेरा
परमाम्	=परम	परमम्	=परम
गतिम्	=गति +भी	धाम	=धाम है
आहुः	=कहते हैं		

अर्थ—जो अव्यक्त अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसी को परम गति भी कहते हैं। उसको पा लेने पर फिर किसी को संसार में लौटकर आना नहीं पड़ता। वही 'मेरा' (विष्णु का) परम धाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

पुरुषः, सः, परः, पार्थ, भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया ।
यस्य, अन्तः-स्थानि, भूतानि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम् ॥

यस्य	=जिस सच्चिदानन्द परमात्मा के	सर्वम्	= सब (विश्व)
अन्तः-स्थानि	=भीतर स्थित	ततम्	=ओत-प्रोत या परिपूर्ण है
भूतानि	=सम्पूर्ण प्राणी हैं	पार्थ	=हे अर्जुन !
तु	=और	सः	=वह
येन	=जिससे	परः	=परम (उत्तम)
इदम्	=यह	पुरुषः	=पुरुष
		अनन्या	=अनन्य
		भक्त्या	=भक्ति से
		लभ्यः	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! वह परम पुरुष, जिसके अन्दर सब प्राणी वास करते हैं और जिस परमात्मा से यह सब जगत् व्याप्त है, केवल अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र, काले, तु, अनावृत्तिम्, आवृत्तिम्, च, एव, योगिनः ।
प्रयाताः, यान्ति, तम्, कालम्, वक्ष्यामि, भरत-ऋषभ ॥

तु	=और		जाते हुए
यत्र	=जिस	योगिनः	=योगी
काले	=काल (मार्ग) में	अनावृत्तिम्	=अनावृत्ति अर्थात् इस संसार में वापिस न
प्रयाताः	=शरीर छोड़कर		

	आनेवाली गति	यान्ति	=प्राप्त होते हैं
च	=और	तम्	=उस
आवृत्तिम्	=आवृत्ति अर्थात् संसार में फिर लौट आनेवाली गति को	कालम्	=काल या मार्ग को
		भरत-ऋषभ	=हे अर्जुन !
		वक्ष्यामि	=मैं (तुझसे) कहता हूँ
एव	=निश्चय करके		

अर्थ—हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तुझसे उस काल या मार्ग के बारे में कहता हूँ, जिस काल में योगी लोग शरीर त्यागकर फिर इस दुःखरूप संसार में नहीं आते और जिस काल में (शरीर त्यागकर गये हुए योगी लोग) पुनः लौटते हैं, अर्थात् फिर जन्म-मरण के बन्धन में फँसते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षण्मासाः, उत्तरायणम् ।
तत्र, प्रयाताः, गच्छन्ति, ब्रह्म, ब्रह्म-विदः, जनाः ॥

अग्निः	=अग्नि का स्वामी पहिला मार्ग है	अहः	=दिन का अभिमानी देवता तीसरा मार्ग है
ज्योतिः	=ज्योति का स्वामी दूसरा मार्ग है	शुक्लः	=शुक्लपक्ष का स्वामी चौथा मार्ग है

	+और		वाले या ब्रह्म
षरामासाः उत्तरा-यणम्	उत्तरायण के छः =महीनों का स्वामी पाँचवाँ मार्ग है		के उपासक
		जनाः	=योगी पुरुष
			+क्रम से इन देवताओं के राज्य में पहुँचते हुए
तत्र	=उनमें		
प्रयाताः	=शरीर छोड़कर गए हुए	ब्रह्म	=ब्रह्म को
		गच्छन्ति	=प्राप्त होते हैं
ब्रह्म-विदः	=ब्रह्म को जानने-		

अर्थ—सगुण ब्रह्म के उपासक या ब्रह्म को जाननेवाले योगी पुरुष, शरीर त्यागने पर अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल-पक्ष और उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं के पास क्रम से या उत्तरोत्तर पहुँचते हुए ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—मतलब यह कि जो परमात्मा के अनन्य भक्त हैं, वे शरीर छोड़ते ही ब्रह्म में लीन हो कैवल्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे शरीर त्यागने पर पहले अग्नि देवता के पास पहुँचते हैं, वहाँ से ज्योति के पास, वहाँ से दिन के पास, दिन से शुक्लपक्ष के देवता के पास और फिर उत्तरायण को जाते हैं। वहाँ से होते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं, जहाँ ब्रह्मज्ञान का उपदेश पा, ब्रह्म में लीन हो, ब्रह्ममय हो जाते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षरामासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

धूमः, रात्रिः, तथा, कृष्णः, षण्मासाः, दक्षिणायनम् ।
तत्र, चान्द्रमसम्, ज्योतिः, योगी, प्राप्य, निवर्तते ॥

तथा	=वैसे ही
धूमः	=धुएँ के अभिमानी देवता का जो लोक है
रात्रिः	=रात्रि के अभिमानी देवता का जो लोक है
कृष्णः	=कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता का जो लोक है +और
षण्मासाः दक्षिणायनम्	=दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवता का जो लोक है
तत्र	=उनमें +शरीर छोड़कर गया हुआ
योगी	=कर्म-योगी (कर्मकाण्डी) +क्रम से उपर्युक्त देवताओं के राज्य में पहुँचते हुए
चान्द्रमसम्	=चन्द्रमा-सम्बन्धी
ज्योतिः	=ज्योति अर्थात् चन्द्रलोक को
प्राप्य	=प्राप्त होकर
निवर्तन्ते	=फिर लौट आता है

अर्थ—अग्निहोत्र आदि कर्मों के करनेवाले योगी पुरुष जब शरीर त्यागते हैं, तो वे धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवताओं के राज्य में क्रम से होते हुए चन्द्रलोक में पहुँचते हैं और (वहाँ अपने पुण्य-कर्म को भोग) फिर मनुष्य-लोक को लौट आते हैं ।

व्याख्या—जो सगुण ब्रह्म के उपासक नहीं हैं, किन्तु यज्ञ, दान इत्यादि कर्म करते रहते हैं, वे शरीर त्यागने पर पहले धुएँ को प्राप्त होते हैं। धुएँ से रात्रि, रात्रि से कृष्णपक्ष और कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः महीने, इन मार्गों से गुज़र कर चन्द्रलोक में पहुँचते हैं। अपने किए हुए शुभ कर्मों को भोगकर फिर इस मृत्यु-लोक में वापिस आते हैं और इस तरह जन्म-मरण के चक्कर में उस समय तक फँसे रहते हैं, जब तक कि उन्हें ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

शुक्ल-कृष्णे, गती, हि, एते, जगतः, शाश्वते, मते।
एकया, याति, अनावृत्तिम्, अन्यया, आवर्तते, पुनः॥

हि =क्योंकि
शुक्ल-कृष्णे =शुक्ल और कृष्ण (देवयान और पितृयान)
एते =ये दोनों
जगतः =संसार के
गती =मार्ग
शाश्वते =अनादि (सनातन)
मते =माने गये हैं
एकया =एक से अर्थात् शुक्ल मार्ग से गया हुआ मनुष्य
अनावृत्तिम् =अनावृत्ति यानी मोक्ष को
याति =प्राप्त होता है
+और
अन्यया अन्य से अर्थात् कृष्ण-मार्ग से गया हुआ पुरुष
पुनः =फिर
आवर्तते =लौटकर आता है

अर्थ—क्योंकि ये शुक्ल-मार्ग और कृष्ण-मार्ग दोनों सनातन हैं, अर्थात् अनादि काल से चले आते हैं। जो शुक्ल-मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौटकर नहीं आते; किन्तु जो कृष्ण-मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौटकर आते हैं अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

न, एते, सृती, पार्थ, जानन्, योगी, मुह्यति, कश्चन।
तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, योग-युक्तः भव, अर्जुन॥

पार्थ	=हे पृथापुत्र!
एते	=इन दोनों
सृती	=मार्गों को
जानन्	=(तत्त्व से)जानता हुआ
कश्चन	=कोई भी
योगी	=योगी
मुह्यति, न	=मोहित नहीं होता अर्थात् वह कभी धोखा नहीं खाता
तस्मात्	=इसलिए
सर्वेषु	=सब
कालेषु	=कालों में
अर्जुन	=हे अर्जुन! (तू)
योग-युक्तः	=योग-युक्त (यानी अनन्यभक्ति-रूप योग से युक्त)
भव	=हो

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन! जो योगी इन दोनों मार्गों के रहस्य को भलीभाँति जान लेता है, वह कभी धोखा नहीं

खाता ; इसलिए हे अर्जुन ! तू सदा योग से युक्त हो, अर्थात् तू भी मेरा निरन्तर अनन्य भक्त बन।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु, च, एव, दानेषु, यत्, पुण्य-फलम्, प्रदिष्टम्। अत्येति, तत्, सर्वम्, इदम्, विदित्वा, योगी, परम्, स्थानम्, उपैति, च, आद्यम् ॥

वेदेषु	=वेदों के अध्ययन में	योगी	=योगी
यज्ञेषु	=यज्ञों में	इदम्	=इस रहस्य को
तपःसु	=तपों	विदित्वा	=जानकर
च	=और	तत्	=उस
एव	=ऐसे ही	सर्वम्	=सबको
दानेषु	=दान आदि कर्म करने में	अत्येति	=उलाँघ जाता है
यत्	=जो	च	=और
पुण्य-फलम्	=पुण्य-फल + शास्त्रों में	आद्यम्	=अनादि
प्रदिष्टम्	=कहा है	परम्	=उत्तम
		स्थानम्	=स्थान को
		उपैति	=प्राप्त होता है

अर्थ—वेदों के पढ़ने से, यज्ञ करने से, तप करने और दान देने से जो फल मिलते हैं, योगी इस ज्ञान के जान लेने पर, उन सारे फलों को उलाँघ आगे चला जाता है और उस पद को प्राप्त होता है, जो सबसे ऊँचा, श्रेष्ठ और अनादि है।

आठवाँ अध्याय समाप्त।

गीता के आठवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी ने पार्वती से कहा—हे कल्याणी, गीता के सात अध्यायों का माहात्म्य सुनकर लक्ष्मीजी ने फिर उत्सुक होकर पूछा—'भगवन्, अब आप गीता के आठवें अध्याय का माहात्म्य भी कहिए।' तब भगवान् विष्णु कहने लगे—'दक्षिण देश में आमर्दकपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। वहाँ भावशर्मा नाम का एक अधम ब्राह्मण रहता था। वह मांस खाता, मदिरा पीता, चोरी करता और सदा बुरे कर्म करता था। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ ताड़ी पीते-पीते उसके नशे में बेहोश होकर मर गया। मरने पर वह उसी स्थान में ताड़ी का पेड़ हुआ। जब पेड़ बड़ा हुआ तब एक ब्रह्मराक्षस अपनी स्त्री-समेत आकर उस पेड़ पर रहने लगा। एक दिन ब्रह्मराक्षस की स्त्री ने अपने पति से पूछा—भला, इस दुःख से हम लोगों के छुटकारा पाने का कोई उपाय हो सकता है? ब्रह्मराक्षस ने कहा—ब्रह्मविद्या का उपदेश, अध्यात्म-विचार और कर्मविधि का ज्ञान हुए बिना हम इस संकट से नहीं छूट सकते। स्त्री ने पूछा—ब्रह्मविद्या, अध्यात्म और कर्मविधि क्या वस्तु हैं और वह कैसे प्राप्त हो सकती हैं? ब्रह्मराक्षस ने उत्तर दिया—हमने पूर्वजन्म में सुना था कि गीता का पाठ करने अथवा सुनने से सब प्राणी मुक्त हो जाते हैं; किन्तु मैंने सदा मदिरा आदि पीने में आसक्त रहने के कारण उसकी कभी परवाह नहीं की थी।

एक दिन गीता का आधा श्लोक एक ब्रह्मवादी के मुँह से सुना भी था, पर मदिरा के नशे में मैंने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वह आधा श्लोक मुझे अब भी याद है; ब्रह्म-राक्षस ने यह कहकर वह आधा श्लोक पढ़ा। उसे सुनते ही वह पेड़, जो पूर्वजन्म में भावशर्मा था, सूखकर गिर पड़ा और एक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ। ब्रह्मराक्षस भी अपनी स्त्री-समेत उसी आधे श्लोक के पाठ के प्रभाव से उस अधम शरीर से मुक्त होकर वैकुण्ठलोक को गया। भावशर्मा ब्राह्मण के घर में जन्म पाकर उसी आधे श्लोक का पाठ करने लगा और अन्त में शरीर त्यागकर अक्षयलोक को गया। भगवान् विष्णु ने कहा—हे लक्ष्मी! वह आधा श्लोक गीता के आठवें अध्याय का है, जिसके प्रभाव से ब्रह्मराक्षस, उसकी स्त्री और भावशर्मा मुक्त हुए।

नवाँ अध्याय
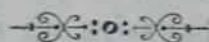
श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

इदम्, तु, ते, गुह्यतमम्, प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे ।
ज्ञानम्, विज्ञान-सहितम्, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ॥

भगवान् बोले हे अर्जुन !

ते	=तुझ	इदम्	=इस
अनसूयवे	=दोष-दृष्टि से रहित या गुणों में दोष न ढूँढ़ने-वाले भक्त के लिए	गुह्यतमम्	=अत्यन्त गोपनीय
		ज्ञानम्	=तत्त्वज्ञान को
		विज्ञान-सहितम्	=अनुभवसहित

प्रवक्ष्यामि	=मैं कहूँगा	अशुभात्	=बुरे कर्मों या अशुभ संसार-बन्धन से
यत्	=जिसे		
ज्ञात्वा	=जानकर	मोक्ष्यसे	=छुटकारा पा जायगा
	+ तू		
तु	=अब		

अर्थ—हे अर्जुन ! तुझ दोषदृष्टि से रहित अथवा गुणों में दोष न ढूँढ़नेवाले के लिए मैं परम गोपनीय तत्त्वज्ञान विज्ञान (अनुभव) सहित बतलाता हूँ, जिसके जानने से तू अब अशुभ कर्मों —बुरे कामों या पापों—से अथवा दुःख-स्वरूप संसार-बन्धन से छुटकारा पा जायगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राजविद्या, राजगुह्यम्, पवित्रम्, इदम्, उत्तमम् ।
प्रत्यक्ष-अवगमम्, धर्म्यम्, सु-सुखम्, कर्तुम्, अव्ययम् ॥

इदम्	=यह (ब्रह्मज्ञान)	उत्तमम्	=सबसे श्रेष्ठ
राजविद्या	=सब विद्याओं का राजा है	प्रत्यक्ष-अवगमम्	=प्रत्यक्ष फल देनेवाला अथवा प्रत्यक्ष अनुभव किया जानेवाला
	+ और		
राजगुह्यम्	=सब गुप्त पदार्थों का भी राजा है (तथा)	धर्म्यम्	=धर्मस्वरूप
			+ एवं
पवित्रम्	=पवित्र	सु-सुखम्	=सुखपूर्वक

अर्थ—हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! जो लोग इस धर्म (ब्रह्म-ज्ञान) में श्रद्धा या विश्वास नहीं रखते, वे मुझ सच्चिदानन्द को प्राप्त नहीं होते, बल्कि (ऐसे अश्रद्धालु पुरुष मरकर भी) जन्म-मरण-रूप संसार-मार्ग में ही भटकते रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मया, ततम्, इदम्, सर्वम्, जगत्, अव्यक्त-मूर्तिना।
मत्, स्थानि, सर्व-भूतानि, न, च, अहम्, तेषु, अवस्थितः॥

मया	=मुझ	**सर्व-भूतानि**	=सब प्राणी
अव्यक्त-मूर्तिना	=अव्यक्तस्वरूप से अर्थात् निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा से	**मत्स्थानि**	=मुझ सच्चिदानन्द में स्थित हैं अर्थात् मेरे आश्रय में हैं, + तथापि
इदम्	=यह	**अहम्**	=मैं
सर्वम्	=सम्पूर्ण (समस्त)	**तेषु**	=उनमें
जगत्	=चराचर जगत्	**न अवस्थितः**	=स्थित नहीं हूँ (अर्थात् मैं असंग हूँ)
ततम्	=व्याप्त हो रहा है		
च	=और		

अर्थ—यह सब जगत् मेरी अव्यक्त मूर्ति अर्थात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में व्याप्त है। सब जीव मुझमें स्थित

कर्तुम्	=साधन करने के योग्य		+ और
		अव्ययम्	=अविनाशी है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो ज्ञान मैं तुझे बतलाता हूँ, वह सब विद्याओं में श्रेष्ठ है, वह अत्यन्त गुप्त और परम पवित्र है, वह सहज ही में समझ में आ जाता है, धर्म के विरुद्ध नहीं है अर्थात् अपने धर्म के अनुसार है। उसका साधन कठिन नहीं ; किन्तु बहुत सहज है (अर्थात् बिना किसी कष्ट के सहज ही में इससे सिद्धि—परम गति—प्राप्त होती है) और वह अविनाशी यानी नाशरहित है ; अर्थात् सिद्धि प्राप्त कर लेने पर यह ज्ञान घटता-बढ़ता नहीं है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अ-श्रद्दधानाः, पुरुषाः, धर्मस्य, अस्य, परंतप।
अ-प्राप्य, माम्, निवर्तन्ते, मृत्यु-संसार-वर्त्मनि ॥

परंतप	=हे अर्जुन !	माम्	=मुझे
अस्य	=इस	अ-प्राप्य	=प्राप्त न होकर
धर्मस्य	=धर्म में	मृत्यु संसार-वर्त्मनि	मरण-शील =संसार-चक्र में ही
अ-श्रद्दधानाः	=श्रद्धा न रखने-वाले	निवर्तन्ते	=भ्रमण करते रहते हैं
पुरुषाः	=पुरुष		

यानी ठहरे हुए हैं, पर मैं उनमें नहीं बसता यानी मैं असंग हूँ, वास्तव में मेरा किसी के साथ संबंध नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न, च, मत्-स्थानि, भूतानि, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम्।
भूत-भृत्, न, च, भूत-स्थः, मम, आत्मा, भूत-भावनः ॥

न	=न
भूतानि	=सब प्राणी
मत्-स्थानि	=मुझमें स्थित हैं
च	=और
न	=न
अहम्	=मैं
भूत-स्थः	=प्राणियों में स्थित हूँ
मे	=मेरी
योगम्	=योगमाया
च	=और
ऐश्वरम्	=ईश्वरता अथवा अद्भुत प्रताप को
पश्य	=तू देख
मम, आत्मा	=मेरा आत्मा अर्थात् मैं ही
भूत-भृत्	=प्राणियों का धारण पोषण करनेवाला +और
भूतभावनः	=प्राणियों का उत्पन्न करनेवाला हूँ

अर्थ—हे अर्जुन, केवल कहने भर के लिए ही यह सब प्राणी मुझमें हैं, किन्तु वास्तव में वे सब प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं। तू मेरी इस ईश्वरीय माया शक्ति का अद्भुत प्रताप देख कि मेरा आत्मा यद्यपि सब जीवों का पालन करनेवाला व

जीवनदाता है तथापि मैं उनमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् प्राणियों के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथा, आकाश-स्थितः, नित्यम्, वायुः, सर्वत्र-गः, महान्। तथा, सर्वाणि, भूतानि, मत्स्थानि, इति, उपधारय ॥

यथा	=जैसे (जिस प्रकार)	**तथा**	=वैसे ही
सर्वत्र-गः	=सर्वत्र वहनेवाला	**सर्वाणि**	=सम्पूर्ण
महान्	=महान् (बलवान्)	**भूतानि**	=प्राणी
वायुः	=वायु	**मत्स्थानि**	=मुझमें स्थित हैं
नित्यम्	=सदा	**इति**	=ऐसा
आकाश-स्थितः	= आकाश में स्थित है	**उपधारय**	=तू समझ

अर्थ—जिस प्रकार हर जगह विचरनेवाला महान् वायु (आकाश से सम्बन्ध न रखते हुए भी) आकाश में सदैव रहता है, उसी प्रकार सब प्राणी मुझ सर्वव्यापक शुद्धस्वरूप में रहते हैं, (अपने चित्त में) तू ऐसा समझ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिम्, यान्ति, मामिकाम् ।
कल्प-क्षये, पुनः, तानि, कल्प-आदौ, विसृजामि, अहम् ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !		+ और
कल्प-क्षये	=कल्प का क्षय होने पर (यानी प्रलय-काल में)	कल्प-आदौ	=कल्प के आदि में (जगत् के सृष्टि समय में)
सर्व-भूतानिं	=सब प्राणी	पुनः	=फिर
मामिकाम्	=मेरी	तानि	=उनको
प्रकृतिम्	=प्रकृति यानी माया को	अहम्	=मैं
यान्ति	=प्राप्त होते हैं	विसृजामि	=उत्पन्न कर देता या रच देता हूँ

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रलय के समय, या कल्प के अन्त में सब प्राणी मेरी प्रकृति या माया में विलीन हो जाते हैं और कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टि-काल में मैं उनको (अलग-अलग सूरतों में) फिर उत्पन्न करता हूँ ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिम्, स्वाम्, अवष्टभ्य, विसृजामि, पुनः, पुनः ।
भूत-ग्रामम्, इमम्, कृत्स्नम्, अवशम्, प्रकृतेः, वशात् ॥

स्वाम्	=अपनी	अवष्टभ्य	=वश करके
प्रकृतिम्	=प्रकृति या माया को	प्रकृतेः	=प्रकृति या स्वभाव के

वशात्	=वश से	भूत-ग्रामम्	=भूतों के समूह को
अवशम्	=परवश हुए	पुनःपुनः	=बार-बार
इमम्	=इस	विसृजामि	=मैं उत्पन्न करता हूँ
कृत्स्नम्	=सम्पूर्ण		

अर्थ—अपने कर्मों से बँधे हुए अथवा प्रकृति के वशीभूत सम्पूर्ण प्राणि-समूह को अपनी माया द्वारा मैं वारंवार पैदा करता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न, च, माम्, तानि, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय।
उदासीनवत्, आसीनम्, असक्तम्, तेषु, कर्मसु ॥

च	=और		फल की इच्छा से रहित
धनंजय	=हे अर्जुन	माम्	=मुझ परमात्मा को
उदासीनवत्	=उदासीन की तरह	तानि	=वे
आसीनम्	=बैठे हुए	कर्माणि	=कर्म
तेषु	=उन	न	=नहीं
कर्मसु	=कर्मों में	निबध्नन्ति	=बाँधते
असक्तम्	=निरासक्त यानी		

अर्थ—हे अर्जुन! वे कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि मैं उन कर्मों से उदासीन और निरासक्त (बेलाग) रहता हूँ।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! यदि तू यह समझता है कि मैं जो सृष्टि रचता हूँ, उसमें किसी को सुख-भागी और किसी को दुःख-भागी पैदा करता हूँ, और इसके पुण्य-पाप का भागी मैं ही हूँगा, किन्तु तू यह जान कि इस अ-समान सृष्टि-रचना का दोष मुझे नहीं लगता। सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। मैं अच्छे कर्म करनेवालों और बुरे कर्म करनेवालों के साथ किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं रखता, बल्कि उन्हें अच्छे और बुरे कर्म के अनुसार ही जन्म मिलता है। जैसे मेघ (बादल) किसी भी बीज में राग-द्वेष न रखता हुआ उदासीनवत् बरसता है, उनके पत्तों और फलों में फ़र्क़ बीज के भेद से होता है, इसी तरह भिन्न-भिन्न बीजरूप कर्मों के कारण से ही लोग भिन्न-भिन्न फलों को पाते हैं। मैं परमेश्वर अपनी माया-शक्ति से सृष्टि और लय करता हूँ, पर मैं इन कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, स-चर-अचरम्।
हेतुना, अनेन, कौन्तेय, जगत्, विपरिवर्तते ॥

मया	=मेरी	स-चर-अचरम्	=स्थावर-जंगम सहित सृष्टि का
अध्यक्षेण	=अध्यक्षता से अर्थात् निमित्त-मात्र कारण से	सूयते	=निर्माण करती है
प्रकृतिः	=प्रकृति	कौन्तेय	=हे अर्जुन !

अनेन	=इसी	जगत्	=(यह) संसार
हेतुना	=कारण से अर्थात् मेरी इस माया के कारण से ही	विपरिवर्तते	=आवागमन के चक्कर में घूमता रहता है।

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं अध्यक्ष हूँ। यह प्रकृति अर्थात् मेरी माया सारे चराचर जगत् (स्थावर-जङ्गम सृष्टि) को रचती है और इसी माया के कारण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्कर चलता रहता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

अवजानन्ति, माम्, मूढाः, मानुषीम्, तनुम्, आश्रितम्।
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, भूत-महा-ईश्वरम्॥

भूत-महा-ईश्वरम्	=सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वर-स्वरूप	मूढाः	=मूर्ख लोग
		मानुषीम्	=मनुष्य का
		तनुम्	=शरीर
मम	=मेरे	आश्रितम्	=धारण करनेवाला
परम्	=श्रेष्ठ	माम्	=मुझ परमात्मा का
भावम्	=प्रभाव को		
अजानन्तः	=न जानते हुए	अवजानन्ति	=अनादर करते हैं

अर्थ—मैं वास्तव में सब भूतों (प्राणियों) का महान् ईश्वर हूँ। मेरे इस परम स्वरूप को न जानने के कारण और

मुझे मानव-देह-धारी समझकर ही, मूर्ख लोग मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२ ॥

मोघ-आशाः, मोघ-कर्माणः, मोघ-ज्ञानाः, वि-चेतसः।
राक्षसीम्, आसुरीम्, च, एव, प्रकृतिम्, मोहिनीम्, श्रिताः॥

मोघ-आशाः	=झूठी आशाएँ रखनेवाले	राक्षसीम्	=राक्षसों की-सी
मोघ-कर्माणः	=वृथा कर्म करने-वाले	च	=और
	+ तथा	आसुरीम्	=असुरों के जैसी
मोघ-ज्ञानाः	=मिथ्या ज्ञानवाले	मोहिनीम्	=मोहित करने-वाली (तामसी)
वि-चेतसः	=विचार-हीन लोग	प्रकृतिम्	=प्रकृति का
		एव	=ही
		श्रिताः	=आश्रय किये रहते हैं

हे अर्जुन ! ये मूर्ख लोग मेरा तिरस्कार क्यों करते हैं ? इसका कारण यह है कि वे झूठी आशाएँ रखनेवाले होते हैं (अर्थात् वे ईश्वर को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना कर तुच्छ व अनित्य वस्तुएँ पाने की झूठी आशाएँ रखते हैं), व्यर्थ कर्मोंवाले और मिथ्या ज्ञानवाले होते हैं (अर्थात् उनके कर्म इसलिए निष्फल हैं कि वे लोग मुझ परमात्मा को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं अथवा

स्वर्ग-सुख भोगने के लिए अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं और उनका ज्ञान इसलिए मिथ्या है कि वे मूढ़ मुझको छोड़कर अन्य पदार्थों को सच्चा समझते हैं और अनित्य संसारी कुकर्मों में उनका चित्त डूबा रहता है) वे लोग (मेरे स्वरूप के अज्ञान के कारण) मेरी मोहित करनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन हो जाते हैं (अर्थात् पर-द्रव्य और पर-स्त्री हरने में तथा मारने और लूट-खसोट करने में वे सदैव लगे रहते हैं ।)

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

महा-आत्मानः, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः ।
भजन्ति, अनन्य-मनसः, ज्ञात्वा, भूत-आदिम्, अव्ययम् ॥

तु	=किन्तु
पार्थ	=हे अर्जुन !
दैवीम्	=दैवी
प्रकृतिम्	=प्रकृति का
आश्रिताः	=आश्रय किए हुए
महा-आत्मानः	=महात्मा लोग
भूत-आदिम्	=समस्त प्राणियों या पदार्थों का आदिकारण
	+और
अव्ययम्	=अविनाशी
ज्ञात्वा	=जानकर
अनन्य-मनसः	=अनन्य-भाव से (किसी अन्य ओर मन न लगाकर)
माम्	=मुझ परमात्मा की
भजन्ति	=उपासना करते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति का आश्रय रखनेवाले अर्थात् देवताओं के स्वभाववाले महात्मा पुरुष मुझे सब प्राणियों या पदार्थों का आदिकारण और अविनाशी स्वरूप समझकर, सब ओर से चित्त हटा एकमात्र मुझ अन्तरात्मा में मन लगाकर, मेरी ही उपासना करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सततम्, कीर्तयन्तः, माम्, यतन्तः, च, दृढ-व्रताः ।
नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्य-युक्ताः, उपासते ॥

नित्य-युक्ताः=सदैव मेरे परम स्वरूप के ध्यान में युक्त हुए
दृढ-व्रताः =दृढ़-व्रत अर्थात् दृढ़ निश्चयवाले
सततम् =निरन्तर
कीर्तयन्तः =मेरे गुणों का कीर्तन करते हुए
च =और
यतन्तः =(मुझ सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए) प्रयत्न करते हुए
च =तथा
माम् =मुझे
नमस्यन्तः=(विनीत भाव से) नमस्कार करते हुए
भक्त्या =भक्ति-पूर्वक
माम् =मुझे
उपासते =भजते हैं यानी मेरी उपासना करते हैं

अर्थ—वे दृढ़ निश्चयवाले महात्मा सदैव (स्तोत्रादि द्वारा)

मेरी महिमा और गुणों के विषय में चर्चा किया करते हैं, (शम, दम आदि साधनों द्वारा) मुझे पाने का उद्योग करते रहते हैं। (बड़े प्रेम और विनीत भाव से) मुझे नमस्कार करते हैं और भक्तिपूर्वक, सदैव मुझमें ही ध्यान लगाकर निरन्तर मेरी ही उपासना करते रहते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

ज्ञान-यज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते।
एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतः-मुखम्॥

च =और
अन्ये =कई एक महात्मा
ज्ञान-यज्ञेन =ज्ञान-यज्ञ द्वारा
यजन्तः =पूजन करते हुए
माम् =मुझ
विश्वतः-मुखम्=विराट्-रूप की
उपासते =उपासना करते हैं
+कोई-कोई
एकत्वेन =अभेद या अद्वैत भाव से अथवा जीव और ईश्वर को एक समझकर
+भजते हैं
+अन्य पुरुष
पृथक्त्वेन=पृथक् भाव से अथवा स्वामी-सेवक भाव से
+और कितने ही भक्त
बहुधा =नाना रूपों व भावों से
अपि =भी
+मेरी उपासना करते हैं

अर्थ—कितने ही महात्मा ज्ञान-यज्ञ द्वारा * मेरी उपासना करते हैं, कितने ही एकत्व रूप से, कितने ही पृथक्त्व रूप से और कितने ही नाना रूपों से मुझ विराट्-स्वरूप परमेश्वर की पूजा करते हैं।

व्याख्या—"मैं ही परमात्मा हूँ, मुझमें और उसमें कुछ भी भेद नहीं है" अथवा "हे ईश्वर! जो तू है, वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ वही तू है।" इस प्रकार एकता के भाव से कितने ही ज्ञानी मेरी उपासना करते हैं, कितने ही ज्ञानी भक्त मुझ परमेश्वर को अपना स्वामी और अपने को मुझ ईश्वर का दास समझकर मेरी पूजा करते हैं; कितने ही भक्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम और कृष्ण इत्यादि नाना रूपों, नाना भावों और अनेक प्रकार की रीतियों से मुझ विश्वरूप परमात्मा की उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम्।
मन्त्रः, अहम्, अहम्, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः, अहम्, हुतम्

क्रतुः =क्रतु अर्थात् श्रौत-यज्ञ
अहम् =मैं हूँ
यज्ञः =स्मार्त यज्ञ या अतिथि अभ्यागत की पूजा इत्यादि पंच-महायज्ञ
अहम् =मैं हूँ
स्वधा =स्वधा अर्थात् मन्त्रों द्वारा पितरों को जो अन्न

* भगवत्विषयक ज्ञानरूप जो यज्ञ है, उसे ही ज्ञान-यज्ञ कहते हैं।

	दिया जाता है वह	आज्यम्	=होमे जानेवाले घृतादि पदार्थ
अहम्	=मैं हूँ	अहम्	= मैं हूँ
औषधम्	=औषध अर्थात् वनस्पतियाँ	अग्निः	=अग्नि
अहम्	=मैं हूँ	अहम्	= मैं हूँ
मन्त्रः	=यज्ञ में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वे मन्त्र		+ और
		हुतम्	=हवन (भी)
		अहम्	=मैं
अहम्	=मैं हूँ	एव	=ही (हूँ)

अर्थ—मैं ही क्रतु † अर्थात् श्रौत कर्म हूँ। यज्ञ अर्थात् बलि स्मार्त-कर्म जो पंचमहायज्ञ भी कहलाते हैं, वह मैं हूँ। स्वधा अर्थात् मंत्रों द्वारा पितरों के निमित्त जो अन्न दिया जाता है, वह मैं हूँ। मैं ही औषध हूँ यानी जौ, चावल आदि व सोमवल्ली आदि बूटियाँ जो यज्ञ-अग्नि में डाली जाती हैं, वह मैं हूँ। 'स्वाहा' 'स्वधा'—ये वैदिक मंत्र मैं हूँ। होमे जानेवाले घृतादि पदार्थ मैं ही हूँ। मैं ही यज्ञ-अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ अर्थात् अग्नि में छोड़ी हुई आहुति भी मैं ही हूँ।

---

† क्रतु—अर्थात् जिस वैदिक कर्म में बहुत से खम्भे गाड़े जाते हैं और बीच में चौकोर कुण्ड बनाकर हवन किया जाता है, उसे क्रतु कहते हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः ।
वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च ॥

अस्य	=इस		त्तम भगवान्)
जगतः	=जगत् का	च	=तथा
अहम्	=मैं	वेद्यम्	=जानने योग्य (परमार्थ वस्तु)
पिता	=पिता	पवित्रम्	=पवित्र या शुद्ध
माता	=माता	ओंकारः	=प्रणव अक्षर 'ओंकार'
धाता	=विधाता (अर्थात् पालन-पोषण करनेवाला और पुण्य-पापरूप, कर्मों के फल का देनेवाला)		+ और
	+और	ऋक्	=ऋग्वेद
पितामहः	=पितामह (पुरुषो-	साम	=सामवेद
			+ एवं
		यजुः	=यजुर्वेद (भी)
		एव	=(मैं) ही हूँ

अर्थ—इस संसार का माता-पिता यानी उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ। इस जगत् का विधाता अर्थात् पालन-पोषण करनेवाला और पुण्य-पापरूप कर्मों के फल का देनेवाला मैं ही हूँ। इस सारे संसार का पितामह अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् मैं ही हूँ। जानने योग्य तथा पवित्र करनेवाला जो प्रणव अक्षर 'ओंकार'

है ; वह मैं हूँ। इसी प्रकार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि वेदों को लेकर सब शास्त्र मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्।
प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम्॥

गतिः	=सबकी (अन्तिम) गति	सुहृत्	=बिना प्रयोजन हित करनेवाला
भर्ता	=(सब जगत् का) भरण-पोषण करनेवाला	प्रभवः	=जगत् की उत्पत्ति
		प्रलयः	=प्रलय
प्रभुः	=सबका स्वामी	स्थानम्	=सबका आधार
साक्षी	=शुभाशुभ देखने-वाला	निधानम्	=निधान अर्थात् सबका लय-स्थान
निवासः	=सबका निवास-स्थान		+ और
शरणम्	=शरण में आये हुए की रक्षा करनेवाला	अव्ययम्	=अविनाशी
		बीजम्	=बीज या कारण + मैं ही हूँ

अर्थ—और हे अर्जुन! इस संसार की गति (यानी अन्तिम गति या कर्मों का फल) मैं हूँ; सबका भरण-पोषण करनेवाला मैं हूँ; सबका स्वामी मैं हूँ; सबके भले-बुरे काम

का देखनेवाला मैं हूँ ; सबका निवास-स्थान (सब प्राणियों के रहने की जगह) मैं हूँ ; शरण में आये हुए पुरुषों के दुःखों को दूर करनेवाला मैं हूँ; सुहृद् (सबका प्यारा) मैं हूँ; सबकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है, प्रलय मैं हूँ यानी सबका लय मुझमें होता है और स्थान मैं हूँ यानी सबकी स्थिति मुझसे होती है ; सारे जगत् का निधान मैं हूँ यानी सबका समावेश मुझमें होता है और अविनाशी बीज यानी कदापि नष्ट न होनेवाला सबकी उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १६ ॥

तपामि, अहम्, अहम्, वर्षम्, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च ।
अमृतम्, च, एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहम्, अर्जुन ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !
अहम्	=मैं
तपामि	=(ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य में स्थित हो-कर जगत् को) तपाता हूँ
अहम्	=मैं (ही)
वर्षम्	=वर्षा को
उत्सृजामि	=बरसाता हूँ
च	=और
	+ उसे
निगृह्णामि	=खींच लेता या थाम लेता हूँ
च	=और
अमृतम्	=सब प्राणियों का जीवन
च	=तथा
मृत्युः	=विनाश
	+ और ऐसे ही

सत्	=अविनाशी (सत्य आत्मतत्त्व)	असत्	=विनाशी (दृश्य प्रपंच)
च	=और	अहम् एव	=मैं ही हूँ

अर्थ—हे अर्जुन ! (ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य में स्थित होकर) मैं ही सबको तपाता हूँ, मैं ही वर्षा को बरसाता हूँ और (जब कभी प्रजा पुण्य करना छोड़ देती है, तब) उसे रोक देता हूँ ; मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ अर्थात् सब प्राणियों का जीवन व उनका विनाश मैं ही हूँ और ऐसे ही सत् अर्थात् अविनाशी सत्य आत्मतत्त्व और असत् अर्थात् विनाशी दृश्य प्रपंच, ये सब कुछ मैं ही हूँ ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रै-विद्याः, माम्, सोम-पाः, पूत-पापाः, यज्ञैः, इष्ट्वा, स्वर्-गतिम्, प्रार्थयन्ते । ते, पुण्यम्, आसाद्य, सुर-इन्द्र-लोकम्, अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देव-भोगान् ॥

त्रैविद्याः	=ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदों में विधान किए हुए सकाम कर्मों को करनेवाले	सोम-पाः	=सोम-रस पीने-वाले
		पूत-पापाः	=पापों से शुद्ध हुए लोग

यज्ञैः	=यज्ञों द्वारा	पुण्यम्	=अपने पुण्यों के फल-स्वरूप
माम्	=मेरा	सुर-इन्द्र-लोकम्	=इन्द्र-लोक को
इष्ट्वा	=पूजन करके	आसाद्य	=पाकर
स्वर्-गतिम्	=स्वर्ग में जाने की	दिवि	=स्वर्ग में
प्रार्थयन्ते	=प्रार्थना या अभिलाषा करते हैं	दिव्यान्	=अलौकिक
	+ और	देव-भोगान्	=देवताओं के भोगों को
ते	=वे लोग	अश्नन्ति	=भोगते हैं

अर्थ—ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदों से विधान किए हुए सकाम कर्मकांड के करनेवाले, (यज्ञ से बचे हुए) सोम-रस पीनेवाले, पापों से शुद्ध हुए लोग, यज्ञों द्वारा मेरी उपासना (पूजा) करते हुए, स्वर्ग में जाने की अभिलाषा करते हैं, वे इस प्रार्थना से अपने पुण्यों के फल-स्वरूप इन्द्र-लोक को पा स्वर्ग-लोक में देवताओं के भोगने-योग्य स्वर्गीय भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

ते, तम्, भुक्त्वा, स्वर्ग-लोकम्, विशालम्, क्षीणे, पुण्ये, मर्त्यलोकम्, विशन्ति। एवम्, त्रयी-धर्मम्, अनुप्रपन्नाः, गतागतम्, काम-कामाः, लभन्ते ॥

ते	=वे सकाम (पुरुष)	एवम्	=इस प्रकार
तम्	=उस	त्रयी-धर्मम्	=तीनों वेदों में विहित धार्मिक सकाम कर्मों को
विशालम्	=विशाल (बड़े)	अनुप्रपन्नाः	=करते हुए
स्वर्ग-लोकम्	=स्वर्ग-लोक को	काम-कामाः	=(स्वर्गीय) भोगों की इच्छा करनेवाले पुरुष
भुक्त्वा	=भोगकर	गतागतम्	=आवागमन को
पुण्ये	=पुण्य के	लभन्ते	=प्राप्त होते हैं
क्षीणे	=क्षीण या नष्ट होते ही		
मर्त्य-लोकम्	=मनुष्य-लोक को		
विशन्ति	=प्राप्त होते हैं		

अर्थ—वे सकाम पुरुष उस विशाल विस्तारवाले स्वर्ग-लोक का उपभोग करके पुण्यकर्मों के क्षीण अर्थात् खतम हो जाने पर फिर इस मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों के अनुसार यज्ञ आदि कर्मों के करनेवाले, और स्वर्गीय भोगों को भोगने की इच्छा रखनेवाले (अपने पुण्यकर्मों के फलों को भोग लेने के बाद) कभी स्वर्ग में जाते हैं और कभी मृत्यु-लोक में आते हैं, यानी इस आवागमन—आने-जाने—के चक्र से छूटने नहीं पाते।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः, चिन्तयन्तः, माम्, ये, जनाः परि-उपासते ।
तेषाम्, नित्य-अभियुक्तानाम्, योगक्षेमम्, वहामि, अहम् ॥

	+ परन्तु
ये	=जो
जनाः	=लोग
अनन्याः	=अनन्य भाव से अथवा किसी दूसरी ओर चित्त न देकर
माम्	=(एकमात्र) मुझ परमात्मा का
चिन्तयन्तः	=चिन्तन करते हुए
परि-उपासते	=निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं
तेषाम्	=उन
नित्य-अभियुक्तानाम्	=मेरी अनन्य भाव की उपासना में सदा लगे रहनेवाले भक्तों का
योग-क्षेमम्	=योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा
अहम्	=मैं
वहामि	=किया करता हूँ

अर्थ—परन्तु जो लोग किसी दूसरी ओर चित्त न देकर केवल एकमात्र मेरा ही ध्यान करते हुए निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं, उन अनन्य भाव से उपासना करनेवाले योगियों को मैं इस लोक के सब अप्राप्त पदार्थों को देकर

उनकी रक्षा किया करता हूँ। (अथवा सारे विश्व को परमात्मा का ही स्वरूप समझकर जो सबके साथ एकता (Sameness) का व्यवहार करता है उस समाहित चित्तवाले पुरुष की इच्छाओं और आवश्यकताओं को 'मैं' परमात्मा ही पूर्ण किया करता हूँ।)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

ये, अपि, अन्य-देवताः, भक्ताः, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः ।
ते, अपि, माम्, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधि-पूर्वकम् ॥

ये	=जो	**अपि**	=भी
भक्ताः	=भक्त लोग	**कौन्तेय**	=हे अर्जुन !
श्रद्धया	=श्रद्धा से	**माम्,एव**	=मेरा ही
अन्विताः	=युक्त हुए	**यजन्ति**	=पूजन करते हैं +किन्तु उनका वह पूजन
अन्य-देवताः	=दूसरे देवताओं को		
अपि	=ही		
यजन्ते	=पूजते हैं	**अविधि-पूर्वकम्**	=विधिपूर्वक नहीं है
ते	=वे		

अर्थ—जो भक्त इन्द्रादि देवताओं की श्रद्धा या भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, वे भी हे अर्जुन ! अविधिपूर्वक (घूम-फिरकर) मुझे ही पूजते हैं। इसका कारण यह है कि ये सब देवता वास्तव में मेरे भिन्न-भिन्न रूप हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अहम्, हि, सर्व-यज्ञानाम्, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च ।
न, तु, माम्, अभिजानन्ति, तत्त्वेन, अतः, च्यवन्ति, ते ॥

हि =यद्यपि
अहम् =मैं
एव =ही
सर्व-यज्ञानाम्=सब यज्ञों का
भोक्ता =भोगनेवाला
च =और (उनका)
प्रभुः =स्वामी हूँ
तु =परन्तु
ते =वे (अज्ञानी)
माम् =मुझको
तत्त्वेन =तत्त्व से अथवा यथार्थ रूप से
न =नहीं
अभिजानन्ति=जानते हैं
अतः =इसीलिए
च्यवन्ति =(वे) गिर पड़ते हैं अर्थात् वे बारंबार इस मृत्युलोक में जन्म लेते और मरते हैं

अर्थ—यद्यपि मैं ही सब यज्ञों का भोगनेवाला तथा उनका स्वामी हूँ ; परन्तु वे (अज्ञानी) मेरे इस तत्त्व को अर्थात् मेरे इस यथार्थ रूप को नहीं जानते, इसीलिए उनका पतन हो जाया करता है अर्थात् परम-गति को प्राप्त न होकर वे बार-बार इस अनित्य संसार में जन्म लेते और मरते रहते हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्पि न्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्२५॥

यान्ति, देव-व्रताः, देवान्, पितॄन्, यान्ति, पितृ-व्रताः ।
भूतानि, यान्ति, भूत-इज्याः, यान्ति, मद्-याजिनः, अपि, माम् ॥

शब्द	अर्थ
देव-व्रताः	=देवताओं के उपासक
देवान्	=देवताओं को
यान्ति	=प्राप्त होते हैं
पितृ-व्रताः	=पितरों के उपासक
पितॄन्	=पितरों को
यान्ति	=प्राप्त होते हैं
भूत-इज्याः	=भूतों के पूजनेवाले
भूतानि	=भूतों को
यान्ति	=प्राप्त होते हैं +तथा
मद्-याजिनः	=मेरे पुजारी
माम्	=मुझको
अपि	=ही
यान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ— (इन्द्र आदि) देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, (श्राद्ध आदि कर्मों द्वारा) पितरों का पूजन करनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूत-प्रेत आदि को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा की उपासना करनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं (अर्थात् प्रत्येक पुरुष को उसकी भावना के अनुसार ही फल मिलता है ।)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६ ॥

पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्, यः, मे, भक्त्या, प्रयच्छति
तत्, अहम्, भक्ति-उपहृतम्, अश्नामि, प्रयत-आत्मनः ॥

पत्रम्	=पत्र
पुष्पम्	=पुष्प
फलम्	=फल
	+और
तोयम्	=जल को
यः	=जो कोई
मे	=मेरे लिए
भक्त्या	=भक्ति-पूर्वक
प्रयच्छति	=अर्पण करता है
	+उस
प्रयत-आत्मनः	=शुद्ध अन्तः-करणवाले की
भक्ति-उपहृतम्	=भक्ति से अर्पण की हुई
तत्	=उस भेंट को
अहम्	=मैं
अश्नामि	=खाता हूँ यानी प्रेमपूर्वक स्वीकार करता हूँ

अर्थ—जो भक्त मुझ परमात्मा को पत्र, पुष्प, फल और जल भक्ति-पूर्वक अर्पण करता है, उस शुद्ध चित्तवाले पुरुष की भक्ति से भेंट की हुई वस्तुओं को मैं (आनन्दपूर्वक) स्वीकार करता हूँ।

व्याख्या—भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, बड़े-बड़े यज्ञ, तप और व्रत इत्यादि करने की ज़रूरत नहीं है; केवल हृदय निष्कपट भक्ति और श्रद्धा से भरा होना चाहिए; क्योंकि भगवान् एकमात्र भक्ति से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

यत्, करोषि, यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि, ददासि, यत्।
यत्, तपस्यसि, कौन्तेय, तत्, कुरुष्व, मत्-अर्पणम् ॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र !	**यत्**	=जो कुछ
यत्	=(तू) जो कुछ (कर्म)	**ददासि**	=दान देता है + और
करोषि	=करता है	**यत्**	=जो
यत्	=जो कुछ	**तपस्यसि**	=तप करता है
अश्नासि	=खाता या भोगता है	**तत्**	=वह सब
यत्	=जो कुछ	**मत्-अर्पणम्**	=मेरे अर्पण
जुहोषि	=हवन करता है	**कुरुष्व**	=कर

अर्थ—हे अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता या भोगता है, जो कुछ होम करता है, जो कुछ दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

शुभ-अशुभ-फलैः, एवम्, मोक्ष्यसे, कर्म-बन्धनैः।
संन्यास-योग-युक्त-आत्मा, विमुक्तः, माम्, उपैष्यसि ॥

एवम्	=इस प्रकार
शुभ-अशुभ-फलैः	= शुभ अशुभ फल-रूप
कर्म-बन्धनैः	=कर्म-बन्धनों से
मोक्ष्यसे	=तू मुक्त होजायगा या छूट जायगा
	+ और
संन्यास-योग-युक्त-आत्मा	संन्यास-योग =(भगवान् में सब भले बुरे कर्मों तथा उनके फलों का अर्पण) से जुड़ा हुआ है अन्तःकरण जिसका ऐसा तू
विमुक्तः	=कर्मबन्धनों से मुक्त होता हुआ
माम्	=(शरीर छोड़ने पर) मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप को ही
उपैष्यसि	=प्राप्त होगा

अर्थ—ऐसा करने से तू शुभ-अशुभ—भले-बुरे—फल देनेवाले कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जायगा। इस प्रकार संन्यास योग (भगवान् में सब कर्मों तथा उनके फलों का अर्पण)) से जुड़े हुए चित्तवाला तू कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाकर (शरीर छोड़ने पर) सीधा मुझ सच्चिदानन्द को ही प्राप्त होगा यानी मुझमें ही मिल जायगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२६॥

समः, अहम्, सर्व-भूतेषु; न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः।
ये, भजन्ति, तु, माम्, भक्त्या, मयि, ते, तेषु, च, अपि, अहम्॥

अहम्	=मैं	तु	=किन्तु
सर्वभूतेषु	=सब प्राणियों में	ये	=जो
समः	=समान भाव से व्याप्त हूँ	माम्	=मुझे
		भक्त्या	=भक्तिपूर्वक
न	=न	भजन्ति	=भजते हैं
मे	=मेरा (कोई)	ते	=वे
द्वेष्यः	=शत्रु (है) + और	मयि	=मुझमें (हैं)
		च	=और
न	=न (कोई)	अहम्	=मैं
प्रियः	=मित्र	अपि	=भी
अस्ति	=है	तेषु	=उनमें (हूँ)

अर्थ—मैं सब प्राणियों में समान भाव से व्याप्त हूँ। न मेरा कोई शत्रु (अप्रिय) है और न मित्र। किन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं अथवा मेरी उपासना करते हैं, मैं उनमें बसता हूँ और वे मुझमें बसते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अपि, चेत्, सु-दुर्-आचारः, भजते, माम्, अनन्य-भाक्।
साधुः, एव, सः, मन्तव्यः, सम्यक्, व्यवसितः, हि, सः ॥

चेत्	=अगर (कोई)	अपि	=भी
सुदुर्-आचारः	=अत्यन्त दुराचारी	अनन्य-भाक्	=अनन्य भाव से
		माम्	=मुझको

भजते	=भजता है	मन्तव्यः	=मानने योग्य है
	+ तो	हि	=क्योंकि
सः	=वह	सः	=वह
साधुः	=साधु (सदाचारी)	सम्यक्	=ठीक या सच्चा
एव	=ही	व्यवसितः	=निश्चयवाला है

अर्थ—हे अर्जुन ! (और तो क्या) यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर सच्चे मन से मेरा भजन करने लगे तो उसे (सच्चा) साधु समझना चाहिए; क्योंकि उसका निश्चय दृढ़ और सच्चा है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्षिप्रम्, भवति, धर्मात्मा, शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति ।
कौन्तेय, प्रतिजानीहि, न, मे, भक्तः, प्रणश्यति ॥

+ सः	=वह दुराचारी भी	कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र ! (अर्जुन !)
क्षिप्रम्	=शीघ्र (तत्काल) ही	प्रतिजानीहि	=अच्छी तरह निश्चय कर या विश्वास रख कि
धर्मात्मा	=धर्मात्मा		
भवति	=हो जाता है + और वह	मे	=मेरा
शश्वत्	=स्थायी (सदा रहनेवाली)	भक्तः	=भक्त + कभी
शान्तिम्	=शान्ति को	न प्रणश्यति	=नाश को नहीं प्राप्त होता
निगच्छति	=प्राप्त होता है		

अर्थ—वह (दुराचारी भी मेरी भक्ति से) शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू विश्वास रख कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता, बल्कि सीधा मोक्ष को ही प्राप्त होता है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्युः, पाप-योनयः।
स्त्रियः, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, पराम्, गतिम्॥

पार्थ	=हे अर्जुन!	**अपि**	=भी
स्त्रियः	=स्त्रियाँ	**स्युः**	=हों
वैश्याः	=वैश्य	**ते**	=वे
शूद्राः	=शूद्र	**अपि**	=भी
तथा	=और	**माम्**	=मेरी
ये	=जो	**हि**	=ही
पाप-योनयः	=जन्म के पापी (तामस स्वभाव-वाली जातियों में जन्म लेनेवाले)	**व्यपाश्रित्य**	=शरण में आकर
		पराम्	=परम
		गतिम्	=गति को
		यान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—हे अर्जुन! मेरी शरण में आने से (मेरी भक्ति के प्रभाव से), जन्म के पापी (जैसे चाण्डाल, राक्षस, वर्णसङ्कर आदि), (जंजाल में फँसी हुई रजोगुणी स्वभाववाली) स्त्रियाँ, (झूठ-सच बोलकर व्यापार करनेवाले) वैश्य तथा

(विद्याहीन तमोगुणी) शूद्र सभी अनन्यभाव से मेरी उपासना करने से परम गति—मोक्ष—को प्राप्त होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

किम्, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राज-ऋषयः, तथा।
अनित्यम्, असुखम्, लोकम्, इमम्, प्राप्य, भजस्व, माम् ॥

पुनः	=फिर		+ इसलिए
पुण्याः	=पवित्र (सदाचारी)	इमम्	=इस
ब्राह्मणाः	=ब्राह्मणों	अनित्यम्	=नाशवान् (क्षण-भंगुर)
तथा	=और	असुखम्	=सुख-रहित
भक्ताः	=भक्त	लोकम्	=मनुष्य-देह को
राज-ऋषयः	=राज-ऋषियों का	प्राप्य	=पाकर (तू)
किम्	=(कहना ही) क्या है ?	माम्	=मेरा (ही)
		भजस्व	=भजन कर

अर्थ—फिर (सदाचारी) पुण्यात्मा, ब्राह्मणों, भक्त राज-ऋषियों का तो कहना ही क्या है ? हे अर्जुन ! इस अनित्य सुख-रहित लोक यानी मनुष्य-देह को पाकर तू मेरा ही भजन कर।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मत्, मनाः, भव, मत्-भक्तः, मत्-याजी, माम्, नमस्कुरु ।
माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्-परायणः ॥

मत्	=मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा में ही	नमस्कुरु	=(भक्तिसहित) प्रणाम कर
मनाः	=मन लगानेवाला	एवम्	=इस प्रकार
भव	=हो	आत्मानम्	=अपने को या अपने मन अथवा अन्तः-करण को
मत्-भक्तः	=मुझको सर्व-व्यापक समझ-कर निष्काम-भाव से मेरी उपासना कर	युक्त्वा	=मुझमें पूर्णरूप से लगाकर
मत्-याजी	=मेरा पूजन करने-वाला हो	मत्परायणः	=मेरे शरणागत होकर
	+ और	माम्, एव	=मुझको ही
माम्	=मुझ वासुदेव को	एष्यसि	=प्राप्त होगा

अर्थ—हे अर्जुन ! तू मुझ परमात्मा में अपना मन लगा अर्थात् अपने चित्त को मेरे ध्यान में लवलीन कर, (मुझे सर्व-व्यापक समझकर) पूर्ण रूप से मेरा अनन्य भक्त बन, (मन, वाणी और शरीर से सर्वस्व अर्पण करके) सदा मेरी ही पूजा कर, (विनयपूर्वक और भक्तिसहित) मुझे नमस्कार कर । इस प्रकार अपने मन को जब तू पूर्ण रूप से मुझमें लगा देगा तब मेरे शरणागत होकर तू अवश्य ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा ।

नवाँ अध्याय समाप्त ।

गीता के नवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—"हे देवि ! विष्णु भगवान् ने गीता के नवें अध्याय का जो माहात्म्य कहा है, उसे सुनो:—नर्मदा नदी के किनारे माहिष्मती नाम की एक नगरी है, वहाँ माधव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा विद्वान्, अतिथियों का सत्कार करनेवाला और वेद-वेदाङ्ग का मर्मज्ञ था। उसने शास्त्रविहित कर्मों से कुछ धन संचित करके एक यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया। बलिदान के लिए एक बकरा ले आया। वह बकरे की यथोचित पूजा करके बलिदान करना ही चाहता था, उसी समय बकरा हँसकर बोला—'इन यज्ञों के करने से क्या लाभ है ? ये केवल नश्वर फल देनेवाले तथा जन्म-मरण और बुढ़ापे के दुःख का कारण हैं। हे ब्राह्मण ! हमारी इस दशा को देखो, हम यज्ञ करने से ही अनेक अधम योनियों में भ्रमते हुए अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं।' बकरे की यह बात सुनकर ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला—'तुम कौन हो, और तुमको बकरे का जन्म क्यों मिला ? अपना सब वृत्तान्त कहो।' बकरे ने कहा—'हम पहले एक कुलीन ब्राह्मण थे। वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन और सब प्रकार के यज्ञ करने में निपुण थे। एक बार हमारी स्त्री ने अपने पुत्र की बीमारी में देवी की भेंट करने के लिए एक बकरा मँगाया। जब देवी के मन्दिर में बकरे का बलिदान होने लगा, तब उसकी मा ने क्रुद्ध होकर हमको शाप

दिया—'रे पापी, अधम ब्राह्मण, तू शास्त्र की बातें नहीं समझता। तू निर्दयता से हमारे पुत्र का गला काट रहा है, इसलिए तू भी बकरा होगा'। हे ब्राह्मण! उसी शाप के कारण हम अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए अब बकरा हुए हैं। जिस कर्म के फल से हम यह दुःख भोग रहे हैं, वही कर्म आज तुमको करते देखकर हमको हँसी आई। तुम ब्राह्मण के वंश में उत्पन्न हुए हो; ऐसा कर्म करो, जिससे इस असार संसार से मुक्त होकर श्रेष्ठ लोक को जाओ। ब्राह्मण ने बड़े आश्चर्य से पूछा, संसार से मुक्ति देनेवाला और कोई कर्म मुझे नहीं मालूम। यदि तुम जानते हो तो बताओ। बकरे ने कहा—'हम एक उपाय बतलाते हैं, सुनो। हमको इस जन्म के पहले बन्दर का जन्म मिला था। एक बार सूर्यग्रहण के दिन हम नर्मदा नदी के किनारे एक पेड़ पर बैठे थे। एक राजा सूर्यग्रहण के समय नर्मदा में स्नान करके एक ब्राह्मण को दान दे रहा था। अन्य ब्राह्मणों ने उस दान लेनेवाले ब्राह्मण से कहा—'तुम सूर्यग्रहण में दान लेकर अपने लिए नरक का द्वार क्यों खोल रहे हो।' उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'हम इस प्रकार के कितने ही दान ले चुके हैं और हमेशा लेते रहेंगे। हम ऐसा उपाय जानते हैं कि इन कुदानों का पाप हमको नहीं लगता।' ब्राह्मणों ने बड़े आदर से पूछा—'भाई, वह उपाय हमको भी बताओ।' ब्राह्मण ने कहा—'हम प्रतिदिन गीता के नवें अध्याय का पाठ करते हैं। गीता के नवें अध्याय का पाठ करके अनेक अधम महापापी इस संसार से मुक्त हो गये हैं। इसी से हमको यह दान लेने का भय नहीं

है।' बकरे ने कहा —'हे ब्राह्मण ! यदि तुम गीता के नवें अध्याय का पाठ हमको भी सुनाओ, तो हम और तुम दोनों इस संसार के बंधन से छूट जायँ।' ब्राह्मण उसी दिन से गीता के नवें अध्याय का पाठ करने लगा। बकरा भी सुनता था। उसी के प्रभाव से वे दोनों शरीर छोड़कर वैकुंठधाम को गये।"

दसवाँ अध्याय
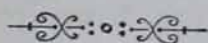
-:०:-

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भूयः, एव, महाबाहो, शृणु, मे, परमम्, वचः।
यत्, ते, अहम्, प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि, हित-काम्यया ॥

श्रीभगवान् बोलेः—

महाबाहो	= हे अर्जुन!	वचः	=वचन को
भूयः	=फिर	शृणु	=(तू) सुन
एव	=भी	यत्	=जिसको
मे	= मेरे	अहम्	=मैं
परमम्	=परम (श्रेष्ठ)	ते	=तुझसे

प्रीयमाणाय	= (मेरे वचनों में) पूर्ण प्रीति या श्रद्धा रखनेवाले के लिए	हित-काम्यया	=भलाई की इच्छा से
		वक्ष्यामि	=कहूँगा

अर्थ—(सातवें और नवें अध्याय में मैंने संक्षेप से अपनी विभुतियों का वर्णन किया है। अब इस अध्याय में उन्हें विस्तारपूर्वक कहता हूँ:—) हे अर्जुन ! मेरे परम उपदेश को तू फिर भी सुन। मेरे वचनों में पूर्ण श्रद्धा या प्रीति रखने के कारण तेरी भलाई के लिए मैं यह गूढ़ रहस्य तुझसे कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

न, मे, विदुः, सुरगणाः, प्रभवम्, न, महर्षयः।
अहम्, आदिः, हि, देवानाम्, महर्षीणाम्, च, सर्वशः॥

मे	=मेरी	विदुः	=जानते हैं
प्रभवम्	=उत्पत्ति या प्रभाव को	हि	=क्योंकि
न	=न	अहम्	=मैं
सुरगणाः	देवतागण	सर्वशः	=सब प्रकार से
च	=और	देवानाम्	=देवताओं का +और
न	=न	महर्षीणाम्	=महर्षियों का
महर्षयः	=महर्षि लोग (ही)	आदिः	=आदि(कारण)हूँ

अर्थ—मेरी उत्पत्ति या प्रभाव को न तो देवता ही जानते

हैं और न महर्षि लोग, क्योंकि मैं सब प्रकार से इन्द्रादिक देवताओं और भृगु आदि महर्षियों का आदिकारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यः, माम्, अजम्, अनादिम्, च, वेत्ति, लोक-महा-ईश्वरम्।
अ-सम्मूढः, सः, मर्त्येषु, सर्व-पापैः, प्रमुच्यते ॥

यः	=जो		(परमात्मा)
माम्	=मुझे	वेत्ति	=जानता है
अजम्	=जन्म से रहित (अजन्मा)	सः	=वह
अनादिम्	=अनादि (आदि-रहित)	मर्त्येषु	=मनुष्यों में
च	=और	अ-सम्मूढः	=अज्ञान से रहित हो
लोक-महेश्वरम्	=लोकों का महान् ईश्वर	सर्व-पापैः	=सम्पूर्ण पापों से
		प्रमुच्यते	=छुटकारा पा जाता है

अर्थ—जो मुझे अजन्मा—जन्मरहित—अनादि और सब लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में मोह से रहित हो, सब प्रकार के पापों से छुटकारा पा जाता है।

किन कारणों से सब लोकों का मैं महान् ईश्वर हूँ, उसे भगवान् आगे बतलाते हैं:—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४ ॥

बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः।
सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः, भयम्, च, अभयम्, एव, च॥

बुद्धिः	=बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति
ज्ञानम्	=ज्ञान
असंमोहः	=अव्याकुलता
क्षमा	सहनशीलता
सत्यम्	=सत्य या सचाई
दमः	=दम अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकना
च	=और
शमः	=शम यानी मन को वश करना
सुखम्	=सुख (आनन्द)
दुःखम्	=दुःख (सन्ताप)
भवः	=उत्पत्ति यानी जन्म
अभावः	=नाश यानी मरण
	+ (तथा)
भयम्	=भय अर्थात् डर
च	=और
एव	=ऐसे ही
अभयम्	=निडरपन

अर्थ—हे अर्जुन ! बुद्धि (विचारने की शक्ति), ज्ञान, अव्याकुलता (करने योग्य कामों को विचारपूर्वक करना), क्षमा (अपने को दुःख देनेवाले या मारनेवाले को दण्ड देने की शक्ति रखते हुए भी दण्ड न देना), सत्य (जैसा देखा हो वैसा ही कहना), दम (कान आदि इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से रोकना), शम (मन आदि भीतरी इन्द्रियों को

वश में करना), सुख, दुःख, उत्पत्ति यानी जन्म, नाश अर्थात् मरण, और ऐसे ही भय (डर), अभय (निडर),

इसका सम्बन्ध दूसरे श्लोक से है

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्, यशः, अयशः ।
भवन्ति, भावाः, भूतानाम्, मत्तः, एव, पृथक्-विधाः ॥

अहिंसा	=अहिंसा यानी किसी को किस प्रकार की पीड़ा न देना	यशः	=कीर्ति +और
		अयशः	=अपयश(निन्दा) +ये सब
समता	=चित्त का एक समान स्थिर रहना	भूतानाम्	=प्राणियों के
		पृथक-विधाः	=नाना प्रकार के
		भावाः	=भाव (अवस्था या कार्य)
तुष्टिः	=सन्तोष		
तपः	=तपस्या यानी व्रत वगैरह करना	मत्तः	=मुझ परमात्मा से
		एव	=ही
दानम्	=दान	भवन्ति	=उत्पन्न होते हैं

अर्थ—अहिंसा (मन, वाणी और कर्म से किसी को किसी प्रकार का दुःख न देना), समता (सुख-दुःख, हानि-लाभ, आदि के प्राप्त होने पर भी चित्त का एक समान रहना),

सन्तोष (अपने आप जो मिल जाय उसी में राजी रहना), तप (तपस्या यानी व्रत वग़ैरह करना, शारीरिक यन्त्रणा सहना और इन्द्रियों को रोकना), दान (न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक सुपात्रों को देना), यश (कीर्ति अथवा प्रशंसा) और अपयश (निन्दा अथवा बदनामी)——ये सब प्राणियों के नाना प्रकार के भाव (कार्य) उनके कर्मानुसार मुझ परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६॥

महा-ऋषयः, सप्त, पूर्वे, चत्वारः, मनवः, तथा।
मद्भावाः, मानसाः, जाताः, येषाम्, लोके, इमाः, प्रजाः ॥

सप्त	=सात		हैं
महा-ऋषयः	=महर्षि		+ये सब के सब
तथा	=और	मानसाः	मेरे मन से या मेरे सङ्कल्प से
पूर्वे	=इनसे भी पहले के जो	जाताः	=उत्पन्न हुए हैं
चत्वारः	=चार	येषाम्	जिनकी
मनवः	=(स्वायम्भुव आदि) मनु हैं	लोके	=संसार में
		इमाः	=ये
मद्-भावाः	=सब मेरे ही भाव	प्रजाः	=प्रजाएँ हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! सात महर्षि (भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ) और इनसे भी पहले जो

चार स्वायम्भुव आदि मनु हो गये हैं वे सब मेरे मन या संकल्प से उत्पन्न हुए हैं और इन्हीं से इस जगत् की सारा प्रजा पैदा हुई है (अर्थात् यह सारा विश्व मेरे ही संकल्पमात्र से पैदा हुआ है ; इसीलिए मैं ही इन सबका परमेश्वर हूँ) ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

एताम्, विभूतिम्, योगम्, च, मम, यः, वेत्ति, तत्त्वतः ।
सः, अविकम्पेन, योगेन, युज्यते, न, अत्र, संशयः ॥

यः	=जो पुरुष	वेत्ति	=जान जाता है
मम	=मेरी	सः	=वह
एताम्	=इस	अविकम्पेन	=अचल अर्थात् न डगमगानेवाले
विभूतिम्	=विभूति या परम ऐश्वर्य	योगेन	=समत्व योग से
च	=और	युज्यते	=युक्त हो जाता है
योगम्	=योगशक्ति को	अत्र	=इसमें (कोई)
तत्त्वतः	=यथार्थ रूप से	संशयः	=संशय
		न	=नहीं है

अर्थ—जो मेरी इस विभूति—परम ऐश्वर्य—और योग-शक्ति के रहस्य को यथार्थ रूप से जानता है, वह अचल—न डिगने-वाले—समत्व योग से युक्त हो जाता है (अर्थात् 'एक में अनेक और अनेक में एक' के रहस्य को जो तत्त्वयोगी विचारपूर्वक अच्छी तरह समझ लेता है, वही पक्का समत्व-योगी है) इसमें कोई सन्देह नहीं ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहम्, सर्वस्य, प्रभवः, मत्तः, सर्वम्, प्रवर्तते।
इति, मत्वा, भजन्ते, माम्, बुधाः, भाव-समन्विताः ॥

अहम्	=मैं परब्रह्म ही	**मत्वा**	=जानकर (समझकर)
सर्वस्य	=सबकी	**भाव-समन्विताः**	=श्रद्धा और प्रेम से युक्त हुए
प्रभवः	=उत्पत्ति का कारण हूँ	**बुधाः**	=बुद्धिमान् लोग
मत्तः	=मेरे द्वारा ही	**माम्**	=मुझ परमेश्वर की ही
सर्वं	=यह सब जगत्		
प्रवर्तते	=चेष्टा करता है	**भजन्ते**	=(सदा) उपासना करते हैं
इति	=ऐसा		

अर्थ—हे अर्जुन! मैं परब्रह्म ही इस समस्त जगत् को पैदा करनेवाला हूँ और मुझसे ही सारे व्यवहार प्रवृत्त होते हैं (अर्थात् प्राणियों का उत्पन्न होना, चलना फिरना और नाश होना इत्यादि सर्वप्रकार की चेष्टाएँ मुझ वासुदेव की प्रेरणा से ही होती हैं), बुद्धिमान् लोग, इस प्रकार समझकर, प्रेम और श्रद्धा से मुझ परमेश्वर को (निरन्तर) भजते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मत्-चित्ताः, मत्-गत-प्राणाः, बोधयन्तः, परस्परम् ।
कथयन्तः, च, माम्, नित्यम्, तुष्यन्ति, च, रमन्ति, च ॥

मत्-चित्ताः	=मुझ सच्चिदानन्द में है चित्त जिनका		समझाते या जतलाते हुए
च	=और	च	=तथा
मत्-गत-प्राणाः	= मुझ वासुदेव को अर्पण कर दिया है अपना जीवन जिन्होंने ऐसे भक्त	नित्यम्	=नित्य
		माम्	=मेरे स्वरूप, गुण नाम और ऐश्वर्य की
		कथयन्तः	=चर्चा करते हुए
		तुष्यन्ति	=सन्तुष्ट होते हैं
परस्परम्	=आपस में या एक दूसरे को	च	=और
बोधयन्तः	=(मेरे स्वरूप का ज्ञान)	रमन्ति	=(सदा) उसी आनन्द में मग्न रहते हैं

अर्थ—जिनका चित्त पूर्ण रूप से मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप के ध्यान में लगा हुआ है, और जिन्होंने अपने प्राणों को भी मुझे अर्पण कर दिया है, ऐसे भक्त एक दूसरे को मेरे स्वरूप के ज्ञान का उपदेश करते हुए और नित्य मेरे गुण और ऐश्वर्य की चर्चा करते हुए एवं सन्तुष्ट होते हुए उसी आनन्द में मग्न रहते हैं ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषाम्, सतत-युक्तानाम्, भजताम्, प्रीति-पूर्वकम् ।
ददामि, बुद्धि-योगम्, तम्, येन, माम्, उपयान्ति, ते ॥

तेषाम्	=उन		वालों को
सतत-युक्तानाम्	= (मुझ सच्चिदानन्द के ध्यान में) निरन्तर लगे हुए		+ मैं
	+ और	तम्	=उस
प्रीति-पूर्वकम्	= प्रीतिपूर्वक	बुद्धियोगम्	=तत्त्वज्ञान रूपी योग को
भजताम्	=मेरी भक्ति या उपासना करने-	ददामि	=देता हूँ
		येन	=जिससे
		ते	=वे
		माम्	=मुझको
		उपयान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—जो सदैव इस प्रकार किया करते हैं अर्थात् जो मुझ सच्चिदानन्द के ध्यान या भजन में निरन्तर लगे रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी उपासना किया करते हैं, उन्हें मैं वह बुद्धि-योग * (तत्त्वज्ञानरूप योग) देता हूँ जिसके कारण वे मेरे पास पहुँच जाते हैं यानी मेरे ही स्वरूप में आ मिलते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

---

* परमात्मा के तत्त्व को ठीक-ठीक जानने का नाम बुद्धि और उस ज्ञान से युक्त होने का नाम बुद्धि-योग है ।

तेषाम्, एव, अनुकम्पार्थम्, अहम्, अज्ञान-जम्, तमः ।
नाशयामि, आत्म-भाव-स्थः, ज्ञान-दीपेन, भास्वता ॥

तेषाम्	=उन पर	अज्ञान-जम्	=अज्ञान से उत्पन्न हुए
अनुकम्पार्थम्	=कृपा करने के लिए	तमः	=अन्धकार को
एव	=ही	भास्वता	=प्रकाशमय
अहम्	=मैं (स्वयम्)	ज्ञान-दीपेन	=ज्ञानरूपी दीपक से
आत्म-भाव-स्थः	=उनके अन्तःकरण में स्थित (बैठा) हुआ	नाशयामि	=नष्ट कर देता हूँ

अर्थ—और हे अर्जुन ! ऊपर कहे हुए भक्तों के ऊपर दया करके, मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में बैठा हुआ ज्ञानरूपी दीपक के प्रकाश से, उस अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर देता हूँ, जो अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से न जानने के कारण पैदा हुआ है।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

परम्, ब्रह्म, परम्, धाम, पवित्रम्, परमम्, भवान् ।
पुरुषम्, शाश्वतम्, दिव्यम्, आदिदेवम्, अजम्, विभुम् ॥

भगवान् के वचनों को सुनकर अर्जुन बोलाः—

	+ हे भगवन् !	परम्	=परम
भवान्	=आप	ब्रह्म	=ब्रह्म हैं

परम्	=उत्तम		सदा रहनेवाले हैं
धाम	=पद हैं	पुरुषम्	=परमपुरुष अर्थात् परमात्मा हैं
परमम्	=परम	आदिदेवम्	=सब देवों का आदिकारण हैं
पवित्रम्	=पवित्र या शुद्ध-स्वरूप हैं	अजम्	=जन्मरहित हैं +और
दिव्यम्	दिव्य स्वरूप (स्वतः प्रकाशमान) हैं	विभुम्	=सर्वव्यापक हैं
शाश्वतम्	=शाश्वत अर्थात्		

अर्थ—हे कृष्ण! आप परम-ब्रह्म हैं, परम-धाम हैं, परम पवित्र या शुद्ध स्वरूप हैं। आप दिव्य-स्वरूप, शाश्वत (सदा रहनेवाले) परमपुरुष यानी परमात्मा, सब देवों का आदि-कारण, जन्म से रहित और सर्वव्यापक हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

आहुः, त्वाम्, ऋषयः सर्वे, देव-ऋषिः, नारदः, तथा।
असितः, देवलः, व्यासः, स्वयम्, च, एव, ब्रवीषि, मे ॥

	+ ऐसे ही	नारदः	=नारद
त्वाम्	=आपको	तथा	=और
सर्वे	=सब	असितः	=असित मुनि
ऋषयः	=ऋषि लोग	देवलः	=देवल मुनि + तथा
देव-ऋषिः	=देवऋषि		

व्यासः	=महर्षि व्यासजी	एव	=भी
आहुः	=कहते हैं	मे	=मुझसे
च	=और		+ ऐसा ही
स्वयम्	=आप	ब्रवीषि	=कहते हैं

अर्थ——हे भगवन् ! असित, देवल, महर्षि व्यास, देव-ऋषि नारद तथा सब ऋषि लोग आपको ऐसा ही कहते हैं। फिर आप स्वयं भी अपने श्रीमुख से मुझसे ऐसा ही कहते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

सर्वम, एतत्, ऋतम्, मन्ये, यत्, माम्, वदसि, केशव।
न, हि, ते, भगवन्, व्यक्तिम्, विदुः देवाः, न, दानवाः ॥

केशव	=हे केशव !	ते	=आपके
यत्	=जो कुछ (भी)	व्यक्तिम्	=स्वरूप को
माम्	=मुझसे	न	=न
वदसि	=आप कहते हैं	देवाः	=देवता
एतत्	=इस		+और
सर्वम्	=सबको	न	=न
	+ मैं	दानवाः	=दानव
ऋतम्	=सत्य	हि	=ही
मन्ये	=मानता हूँ	विदुः	=जानते हैं
भगवन्	=हे भगवन् !		

अर्थ——हे केशव ! जो कुछ भी आप कहते हैं, उस सब

को मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूप को न (इन्द्रादि) देवता ही जानते हैं और न (मधु आदि) दानव। (तो औरों का भला कहना ही क्या है?)

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

स्वयम्, एव, आत्मना, आत्मानम्, वेत्थ, त्वम्, पुरुष-उत्तम।
भूत-भावन, भूत-ईश, देव-देव, जगत्-पते॥

भूत-भावन	=हे प्राणियों के उत्पन्न करनेवाले!
भूत-ईश	=हे भूतों (प्राणियों) के ईश्वर!
देव-देव	=हे देवताओं के देवता!
जगत्-पते	=हे जगत् के स्वामी!
पुरुष-उत्तम	=हे परम श्रेष्ठ-पुरुष!
त्वम्	=आप
स्वयम्	=स्वयम् (खुद)
एव	=ही
आत्मना	=अपने आप से या अपने आत्मिक बल द्वारा
आत्मानम्	=अपने आपको
वेत्थ	=जानते हैं

अर्थ——हे पुरुषोत्तम! हे सब भूतों को उत्पन्न करनेवाले! हे भूतेश (सब प्राणियों के ईश्वर)! हे देवों के देव! हे जगन्नाथ! आप ही अपने आपको यथार्थरूप से जानते हैं और दूसरा कोई आपको नहीं जानता।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

वक्तुम्, अर्हसि, अशेषेण, दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः ।
याभिः, विभूतिभिः, लोकान्, इमान्, त्वम्, व्याप्य, तिष्ठसि ॥

हि	=क्योंकि	दिव्याः आत्म-विभूतयः	=अपनी दिव्य विभूतियों या अपने अलौकिक ऐश्वर्य को
याभिः	=जिन-जिन		
विभूतिभिः	=विभूतियों से		
इमान्	=इन		
लोकान्	=लोकों को	अशेषेण	=सम्पूर्ण रूप से + आप ही
त्वम्	=आप		
व्याप्य	=व्याप्त करके		
तिष्ठसि	=स्थित हैं + उन-उन	वक्तुम्	=कहने के लिए
		अर्हसि	=योग्य हैं

अर्थ—हे भगवन्! जिन विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप्त हुए विराजमान हैं, उन अपनी सारी अलौकिक विभूतियों को सम्पूर्ण रूप से आप ही (दया करके) कह सकते हैं; और कोई नहीं कह सकता।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

कथम्, विद्याम्, अहम्, योगिन्, त्वाम्, सदा, परिचिन्तयन् ।
केषु, केषु, च, भावेषु, चिन्त्यः, असि, भगवन्, मया ॥

योगिन्	=हे योगीश्वर !	केषु, केषु	=किन-किन
त्वाम्	=आपका	भावेषु	=भावों (विभूतियों या पदार्थों) में
सदा	=सदा	भगवन्	=हे भगवन् (आप)
परिचिन्तयन्	=ध्यान या चिन्तन करते हुए	मया	=मेरे द्वारा
अहम्	=मैं + आपको	चिन्त्यः	=ध्यान करने योग्य
कथम्	=किस प्रकार	असि	=हैं
विद्याम्	=जानूँ		
च	=और		

अर्थ—हे योगिराज ! सदैव आप ही का ध्यान करते हुए मैं आपको किस तरह जान सकता हूँ ? किन-किन भावों (विभूतियों या पदार्थों) में, हे स्वामी ! मुझे आपका ध्यान करना चाहिए !

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

विस्तरेण, आत्मनः, योगम्, विभूतिम्, च, जनार्दन।
भूयः, कथय, तृप्तिः, हि, शृण्वतः, न, अस्ति, मे, अमृतम्।

जनार्दन	=हे कृष्ण !	विभूतिम्	=ऐश्वर्य (महिमा) को
आत्मनः	=अपने	विस्तरेण	=विस्तारपूर्वक
योगम्	=योग के महत्त्व	भूयः	=फिर
च	=और		

कथय	=कहिए	शृण्वतः	=सुनते हुए
हि	=क्योंकि	मे	=मुझे
	+ आपकी इस	तृप्तिः	=तृप्ति
अमृतम्	=अमृतरूपी	न	=नहीं
	वाणी को	अस्ति	=होती

अर्थ—हे जनार्दन ! आपकी अमृतरूपी वाणी सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् मेरा मन नहीं भरता। इसलिए आप अपनी योगशक्ति की महिमा और विभूतियों का वर्णन फिर से विस्तारपूर्वक करिये।

भगवान् अब अपने योग के महत्त्व और प्रधान-प्रधान विभूतियों का वर्णन आगे कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हन्त, ते, कथयिष्यामि, दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः।
प्राधान्यतः, कुरु-श्रेष्ठ, न, अस्ति, अन्तः, विस्तरस्य, मे॥

हन्त	=बहुत अच्छा (अब मैं)	दिव्याः, आत्म-विभूतयः	=अपनी अलौकिक विभूतियों को
ते	=तुमसे		
प्राधान्यतः	=प्रधान-प्रधान	कथयिष्यामि	=कहूँगा

हि	=क्योंकि	विस्तरस्य	=विस्तार का
कुरु-श्रेष्ठ	=हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ !	अन्तः	=अन्त
		न	=नहीं
मे	=मेरी विभूतियों के	अस्ति	=है

अर्थ—श्रीभगवान् बोले—हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ ! अच्छा, अब मैं तुमसे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य (श्रेष्ठ) विभूतियों का वर्णन करता हूँ ; क्योंकि मेरी विभूतियों का कोई पार नहीं है ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अहम्, आत्मा, गुडाकेश, सर्व-भूत-आशय-स्थितः ।
अहम्, आदिः, च, मध्यम्, च, भूतानाम्, अन्तः,एव, च ।

गुडाकेश	=हे अर्जुन !	अहम्	=मैं
अहम्	=मैं	एव	=ही
सर्व-भूत-आशय-स्थितः	=सब प्राणियों के हृदय में विराजमान	भूतानाम्	=(सब) प्राणियों का
		आदिः	=आदि
आत्मा	=शुद्ध सच्चिदानन्दरूप परमात्मा हूँ	च	=और
		मध्यम्	=मध्य
		च	=एवं
च	=तथा	अन्तः	=अन्त हूँ

आदित्यों में विष्णु मैं हूँ

पृष्ठ ८३६

अर्थ—हे गुडाकेश ! * सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाला शुद्ध सच्चिदानन्दरूप परमात्मा मैं हूँ। मैं ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ अर्थात् मैं ही सबका पैदा करनेवाला, पालन करनेवाला और नाश करनेवाला हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यानाम्, अहम्, विष्णुः, ज्योतिषाम्, रविः, अंशुमान्।
मरीचिः, मरुताम्, अस्मि, नक्षत्राणाम्, अहम्, शशी ॥

आदित्यानाम्=(बारह) आदित्यों में
विष्णुः =विष्णु
ज्योतिषाम् =ज्योतियों में
अंशुमान् =(प्रकाशमान) किरणोंवाला
रविः =सूर्य
अहम् =मैं हूँ
मरुताम् =मरुद्गण (वायु के देवताओं) में
मरीचिः =मरीचि नाम देवता
+ और
नक्षत्राणाम् =नक्षत्रों में
शशी =चन्द्रमा
अहम् =मैं
अस्मि =हूँ

अर्थ—हे अर्जुन ! (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ; अग्नि आदि प्रकाशमान ज्योतियों में किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ; (उनचास) मरुद्गण—वायु के देवताओं—में मरीचि नाम का वायु मैं हूँ और (सत्ताईस) नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।

* गुडाकेश=घने बालोंवाला या निद्रा को जीतनेवाला।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानाम्, सामवेदः, अस्मि, देवानाम्, अस्मि, वासवः ।
इन्द्रियाणाम्, मनः, च, अस्मि,भूतानाम्, अस्मि, चेतना ॥

वेदानाम्	=वेदों में	मनः	=मन
सामवेदः	=सामवेद	अस्मि	=हूँ
अस्मि	=हूँ	च	=और
देवानाम्	=देवताओं में	भूतानाम्	=प्राणियों में
वासवः	=इन्द्र	चेतना	=चेतना या ज्ञानशक्ति
अस्मि	=हूँ		
इन्द्रियाणाम्	=इन्द्रियों में	अस्मि	=हूँ

अर्थ—ऋक्, यजु, साम और अथर्वण इन चार वेदों में सामवेद मैं हूँ; देवताओं में इन्द्र मैं हूँः आँख, कान आदि ग्यारह इन्द्रियों में मन मैं हूँ और सब प्राणियों में चेतना यानी ज्ञान-शक्ति मैं हूँ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणाम्, शंकरः, च, अस्मि, वित्त-ईशः, यक्ष-रक्षसाम् ।
वसनाम्, पावकः, च, अस्मि, मेरुः, शिखरिणाम्, अहम् ॥

रुद्राणाम्	=रुद्रों में	वसूनाम्	=वसुओं में
शंकरः	=शंकर	पावकः	=अग्नि हूँ
अस्मि	=मैं हूँ	च	=तथा
यक्ष-रक्षसाम्	=यक्ष-राक्षसों में	शिखरिणाम्	=पर्वतों में
वित्त-ईशः	=धन का मालिक यानी कुबेर हूँ	अहम्	=मैं
		मेरुः	=सुमेरु पर्वत
च	=और	अस्मि	=हूँ

अर्थ—ग्यारह रुद्रों * में शंकर मैं हूँ, यक्ष-राक्षसगण में कुबेर—धन का मालिक—मैं हूँ, आठ वसुओं में अग्नि मैं हूँ और पर्वतों में मेरु पर्वत मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोधसाम्, च, मुख्यम्, माम्, विद्धि, पार्थ, बृहस्पतिम्।
सेनानीनाम्, अहम्, स्कन्दः, सरसाम्, अस्मि, सागरः ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !	माम्	=मुझे
पुरोधसाम्	=पुरोहितों में	विद्धि	=जान
मुख्यम्	=मुख्य	सेनानीनाम्	=सेनापतियों में
बृहस्पतिम्	=पुरोहित बृहस्पति	अहम्	=मैं
		स्कन्दः	=स्कन्द यानी

* अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हरण, ईश्वर।

	कार्तिकेय हूँ	सागरः	=सागर यानी समुद्र
च	=और	अस्मि	=मैं हूँ
सरसाम्	=जलाशयों में		

अर्थ—हे पृथापुत्र ! पुरोहितों में मुख्य पुरोहित बृहस्पति* तू मुझे जान। सेनापतियों में स्कन्द † मैं हूँ। जलाशयों अर्थात् झीलों या तालाबों में सागर—समुद्र—मैं हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

महर्षीणाम्, भृगुः, अहम्, गिराम्, अस्मि, एकम्, अक्षरम्। यज्ञानाम्, जप-यज्ञः, अस्मि, स्थावराणाम्, हिमालयः॥

महर्षीणाम्	=महर्षियों में	अस्मि	=(मैं) हूँ
भृगुः	=भृगु	यज्ञानाम्	=(समस्त) यज्ञों में
अहम्	=मैं (हूँ) + और	जप-यज्ञः	=जप-यज्ञ + तथा
गिराम्	=वाणियों अर्थात् शब्दों में	स्थावराणाम्	=स्थिर रहनेवाले या अचल पदार्थों में
एकम्	=एक	हिमालयः	=हिमालय पर्वत
अक्षरम्	=अक्षर अर्थात् प्रणव ओम्	अस्मि	=(मैं) हूँ

* बृहस्पति–देवराज इन्द्र के पुरोहित हैं।

† स्कन्द–देवताओं के सेनापति का नाम स्कन्द है।

अर्थ—महर्षियों में भृगु मैं हूँ; वाणी यानी शब्दों में एक अक्षर 'ओंकार' मैं हूँ; समस्त प्रकार के यज्ञों में जप-यज्ञ (जो मुक्ति का द्वार है) मैं हूँ; स्थिर रहनेवालों या अचल पदार्थों में हिमालय पर्वत मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

अश्वत्थः, सर्व-वृक्षाणाम्, देव-ऋषीणाम्, च, नारदः।
गन्धर्वाणाम्, चित्ररथः, सिद्धानाम्, कपिलः, मुनिः॥

सर्व-वृक्षाणाम्	=सब वृक्षों में	**चित्ररथः**	= चित्ररथ
अश्वत्थः	=पीपल		+तथा
च	=और	**सिद्धानाम्**	=सिद्धों में
देव-ऋषीणाम्	=देव-ऋषियों में	**कपिलः**	=कपिल
नारदः	=नारद	**मुनिः**	=मुनि
गन्धर्वाणाम्	=गन्धर्वों में		+मैं हूँ

अर्थ—सब वृक्षों में पीपल-वृक्ष, देव-ऋषियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

उच्चैःश्रवसम्, अश्वानाम्, विद्धि, माम्, अमृत-उद्भवम्।
ऐरावतम्, गजेन्द्राणाम्, नराणाम्, च, नर-अधिपम्॥

अश्वानाम्	=घोड़ों में	ऐरावतम्	=ऐरावत हाथी
अमृत-उद्भवम्	=अमृत-मन्थन से उत्पन्न हुआ	च	=और
		नराणाम्	=मनुष्यों में
उच्चैःश्रवसम्	=उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा	नर-अधिपम्	=राजा
		माम्	=मुझको
गजेन्द्राणाम्	=हाथियों में	विद्धि	=(तू) जान

अर्थ—घोड़ों में अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा घोड़ा तू मुझे जान। हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा तू मुझे ही समझ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधानाम्, अहम्, वज्रम्, धेनूनाम्, अस्मि, कामधुक्।
प्रजनः, च, अस्मि, कन्दर्पः, सर्पाणाम्, अस्मि, वासुकिः॥

आयुधानाम्	=शस्त्रों में		करनेवाला
वज्रम्	=वज्र	कन्दर्पः	=कामदेव
अहम्	=मैं (हूँ)	अस्मि	=मैं हूँ
धेनूनाम्	=गायों में		+तथा
कामधुक्	=कामधेनु गऊ	सर्पाणाम्	=सर्पों में
अस्मि	=(मैं) हूँ	वासुकिः	=वासुकि (सर्पों का राजा)
च	=और		
प्रजनः	=सन्तान उत्पन्न	अस्मि	=(मैं) हूँ

अर्थ—हे अर्जुन ! सब प्रकार के शस्त्रों में वज्र मैं हूँ। गायों में सर्वश्रेष्ठ कामधेनु मैं हूँ। सन्तान को उत्पन्न करनेवाला कामदेव मैं हूँ और साँपों में सब सर्पों का राजा वासुकि मैं हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२६॥

अनन्तः, च, अस्मि, नागानाम्, वरुणः, यादसाम्, अहम्।
पितॄणाम्, अर्यमा, च, अस्मि, यमः, संयमताम्, अहम्॥

नागानाम्	=नागों में		पितरों का राजा मैं हूँ
अनन्तः	=शेष नाग	**च**	=तथा
अस्मि	=(मैं) हूँ	**संयमताम्**	=दंड देनेवालों में या संयम करने-वालों में
च	=और	**अहम्**	=मैं
यादसाम्	=जलचरों में	**यमः**	=यमराज या यम
वरुणः	=वरुण देवता	**अस्मि**	=हूँ
अहम्	= मैं (हूँ)		
पितॄणाम्	=पितरों में		
अर्यमा	=अर्यमा नामक		

अर्थ—हे अर्जुन ! नागों * में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में जल का देवता वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा (पितृगण

---

* नाग और सर्प-जाति में इतना भेद है कि नाग के अनेक फण होते हैं और सर्प के एक। नाग में प्रायः विष नहीं होता और स र्प में प्रायः विष होता है।

का राजा) मैं हूँ और संयम करनेवालों में अर्थात् अपने आपको वश में करनेवालों में निग्रहरूप मैं हूँ । अथवा शासन करनेवाले या दंड देनेवाले लोगों में यमराज मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

प्रह्लादः, च, अस्मि, दैत्यानाम्, कालः, कलयताम्, अहम्।
मृगाणाम्, च, मृग-इन्द्रः, अहम्, वैनतेयः, च, पक्षिणाम् ॥

दैत्यानाम्	=दैत्यों में	च	=तथा
प्रह्लादः	=प्रह्लाद	मृगाणाम्	=मृगों में (या पशुओं में)
च	=और	मृग-इन्द्रः	=सिंह
कलयताम्	=गिनती करनेवालों में	च	=और
कालः	=काल यानी समय	पक्षिणाम्	=पक्षियों में
अहम्	=मैं	वैनतेयः	=गरुड़
अस्मि	=हूँ	अहम्	=मैं (हूँ)

अर्थ—हे अर्जुन ! दैत्यों में प्रह्लाद और गिनती करनेवालों में काल यानी समय मैं हूँ। पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवनः, पवताम्, अस्मि, रामः, शस्त्र-भृताम, अहम् ।
झषाणाम्, मकरः, च, अस्मि, स्रोतसाम्, अस्मि, जाह्नवी ॥

पवताम्	=पवित्र करनेवालों या वेगवालों में	अहम्	=(मैं) हूँ
पवनः	=पवन यानी वायु	झषाणाम्	=मछलियों में या जल-जन्तुओं में
अस्मि	=(मैं) हूँ	मकरः	=मगर
शस्त्रभृताम्	=शस्त्र धारण करनेवालों में	अस्मि	=(मैं) हूँ
रामः	=राम अथवा परशुराम	च	=और
		स्रोतसाम्	=नदी-नालों में
		जाह्नवी	=श्रीगंगाजी
		अस्मि	=(मैं) हूँ

अर्थ—पवित्र करनेवाले या वेगवाले पदार्थों में पवन (वायु) मैं हूँ ; शस्त्रधारियों में राम अथवा परशुराम मैं हूँ ; मछलियों में मगर मैं हूँ, और नदी-नालों में (प्रसिद्ध और श्रेष्ठ) श्रीगंगाजी मैं हूँ ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणाम्, आदिः, अन्तः, च, मध्यम्, च, एव, अहम्, अर्जुन ।
अध्यात्म-विद्या, विद्यानाम्, वादः, प्रवदताम्, अहम् ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !	अन्तः	=अन्त
सर्गाणाम्	=जगत् का	च	=और
आदिः	=आदि	मध्यम्	=मध्य

अहम्	=मैं	च	=तथा
एव	=ही (हूँ)	प्रवदताम्	=वाद-विवाद करनेवालों या शास्त्रार्थ करने-वालों का
विद्यानाम्	=(सब) विद्याओं में	वादः	=वाद
अध्यात्म-विद्या	=अध्यात्म-विद्या या ब्रह्म-विद्या	अहम्	=मैं (हूँ)

अर्थ—हे अर्जुन ! सृष्टियों का अर्थात् प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त (यानी उत्पत्ति, स्थिति और लय) मैं ही हूँ, सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या—ब्रह्मविद्या—मैं हूँ और शास्त्रार्थ करनेवालों में तत्त्व-निर्णय के लिए किया जानेवाला वाद यानी सिद्धान्त मैं ही हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम्, अकारः, अस्मि, द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च।
अहम्, एव, अक्षयः, कालः, धाता, अहम्, विश्वतः-मुखः ॥

अक्षराणाम्	=अक्षरों में		+ और
अकारः	=अ	अहम्	=मैं
अस्मि	=(मैं) हूँ	एव	=ही
सामासिकस्य	=समासों में	अक्षयः	=अविनाशी
द्वन्द्वः	=द्वन्द्व-समास (हूँ)	कालः	=कालरूप (हूँ)
		च	=तथा

अहम्	=मैं		+ और
विश्वतः-मुखः	=सब ओर मुख-वाला (विराट् स्वरूप)	धाता	=कर्म-फल-विधाता यानी सबके कर्मों का फल देनेवाला हूँ

अर्थ—अक्षरों में अकार (अ) मैं हूँ ; समासों में प्रधान द्वन्द्व-समास मैं हूँ ; अक्षय काल मैं ही हूँ अर्थात् मैं ही औरों को नष्ट करनेवाला और स्वयं न नाश होनेवाला काल हूँ। सब ओर मुखवाला और सबके कर्मों का फल देनेवाला अथवा सबको धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मृत्युः, सर्व-हरः, च, अहम्, उद्भवः, च, भविष्यताम् ।
कीर्तिः, श्रीः, वाक्, च, नारीणाम्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा॥

सर्व-हरः	=सब प्राणियों के प्राण हरनेवाली	उद्भवः	=उत्पत्ति-स्थान हूँ
मृत्युः	=मृत्यु	च	=और
अहम्	=मैं (हूँ)	नारीणाम्	=स्त्रियों में
च	=तथा	कीर्तिः	=यश
भविष्यताम्	=भविष्य में होने-वालों का	श्रीः	=शोभा या लक्ष्मी
		वाक्	=वाणी
		स्मृतिः	=स्मरण-शक्ति
		मेधा	=बुद्धि

धृतिः	=धैर्य्य	क्षमा	=सहनशीलता (मैं ही हूँ)
च	=एवं		

अर्थ—सब प्राणियों के प्राण हरनेवाली मृत्यु मैं हूँ, और आगे होनेवालों के उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ। स्त्रियों में कीर्ति (यश), लक्ष्मी, वाणीरूप सरस्वती, स्मृति (स्मरण-शक्ति), मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा (सहन-शीलता) मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

बृहत्साम, तथा, साम्नाम्, गायत्री, छन्दसाम्, अहम्।
मासानाम्, मार्गशीर्षः, अहम्, ऋतूनाम्, कुसुम-आकरः ॥

अहम्	=मैं	मासानाम्	=महीनों में
साम्नाम्	=सामवेद के मन्त्रों में	मार्गशीर्षः	=मगसिर का महीना
बृहत्साम	=बृहत्साम नाम की ऋचा हूँ	तथा	=तथा
छन्दसाम्	=छन्दों में	ऋतूनाम्	=सब ऋतुओं में
गायत्री	=गायत्री छन्द + और	अहम्	=मैं
		कुसुम-आकरः	=फूलों की खान यानी वसन्त ऋतु हूँ

अर्थ—सामवेद के मन्त्रों में बृहत्साम (इन्द्र की स्तुति-रूप गीत) ऋचा मैं हूँ; छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ।

पृष्ठ ४०० छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ

महीनों में मार्गशीर्ष * (मगसिर) मास मैं हूँ और छः ऋतुओं में श्रेष्ठ वसन्त ऋतु मैं हूँ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ३६॥

द्यूतम्, छलयताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम् ।
जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि, सत्त्वम्, सत्त्ववताम्, अहम् ॥

छलयताम् =छल करनेवालों में
द्यूतम् =जुआ
अस्मि =(मैं हूँ)
तेजस्विनाम् =तेजस्वियों का
तेजः =तेज
अहम् =मैं (हूँ)
+ जेतॄणाम् =जीतनेवाले पुरुषों में
जयः =जय
अस्मि =(मैं) हूँ
व्यवसायिनाम्=व्यवसाय करनेवाले पुरुषों में
व्यवसायः =उद्यम हूँ
+ और
सत्त्ववताम् =सत्त्वगुणी पुरुषों में
सत्त्वम् =सत्त्वगुण
अहम् मैं (ही)
अस्मि =हूँ

अर्थ—छलनेवालों में जुआ † मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं

---

* जिस प्रकार आजकल चैत्रमास से बारह महीने गिने जाते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में मार्गशीर्ष से ही बारह महीने गिने जाते थे; यही कारण है कि इस मास को प्रथम स्थान दिया गया ।

† जुआ—जुआ खेलना कोई अच्छा काम नहीं है ; किन्तु एक

हूँ, जीतनेवालों में जय मैं हूँ, उद्योग करनेवालों में व्यवसाय मैं हूँ, अथवा निश्चय करनेवालों में निश्चय मैं हूँ और सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व मैं हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्, वासुदेवः, अस्मि, पाण्डवानाम्, धनंजयः।
मुनीनाम्, अपि, अहम्, व्यासः, कवीनाम्, उशना, कविः॥

वृष्णीनाम्	=वृष्णिवंशी यादवों में	व्यासः	=श्रीवेदव्यास + तथा
वासुदेवः	=वासुदेव (कृष्ण)	कवीनाम्	=कवियों में
अस्मि	=(मैं) हूँ	उशना	=शुक्राचार्य
पाण्डवानाम्	=पाण्डवों में	कविः	=कवि
धनंजयः	=अर्जुन + और	अपि	=भी
मुनीनाम्	=मुनियों में	अहम्	=मैं ही (हूँ)

प्रकार का व्यसन है। जब धनी मनुष्य जुए में सब कुछ खोकर निर्धन हो जाता है, तभी उसकी आँखें खुलती हैं। कुकर्मों द्वारा दुःख पाने पर विपत्ति के समय भगवान् याद आते हैं। उस सच्चिदानन्द की उपासना करने से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और भगवान् की कृपा से वह धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ परम गति को प्राप्त होता है; क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि "जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन छीन लेता हूँ" इसी लिए भगवान् ने जुए को भी अपनी एक विभूति बतलाया है।

अर्थ—यदुओं में वसुदेव का पुत्र वासुदेव (कृष्ण) मैं ही हूँ ; पाण्डवों में (प्रसिद्ध धनुर्धारी और श्रेष्ठ होने के कारण) अर्जुन मैं ही हूँ ; मुनियों में श्रीवेदव्यास और कवियों में प्रसिद्ध कवि श्रीशुक्राचार्य मैं ही हूँ ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्डः, दमयताम्, अस्मि, नीतिः, अस्मि, जिगीषताम् ।
मौनम्, च, एव, अस्मि, गुह्यानाम्, ज्ञानम्, ज्ञानवताम्, अहम् ॥

दमयताम्	=दण्ड देनेवालों अथवा दमन करनेवालों का	**गुह्यानाम्**	=छिपाने योग्य पदार्थों में
दण्डः	=दण्ड यानी दमन-शक्ति	**मौनम्**	=मौन
अस्मि	=(मैं) हूँ	**अस्मि**	=(मैं) हूँ
जिगीषताम्	=जय की इच्छा करनेवालों में	**च**	=और
नीतिः	=नीति यानी धर्म	**ज्ञानवताम्**	=ज्ञानियों का
अस्मि	=(मैं) हूँ	**ज्ञानम्**	=ब्रह्म-ज्ञान
		अहम्	=मैं
		एव	=ही
		+ अस्मि	=हूँ

अर्थ—दंड देनेवालों में दंड मैं हूँ ; अथवा दमन करनेवालों की दमन-शक्ति मैं हूँ ; जय की इच्छा करनेवालों में विजय—उपायरूप राजनीति—मैं हूँ ; गुप्त पदार्थों को गुप्त रखने में मौन मैं हूँ और ज्ञानी पुरुषों का जो सारभूत ब्रह्मज्ञान है, वह मैं हूँ ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यत्, च, अपि, सर्व-भूतानाम्, बीजम्, तत्, अहम्, अर्जुन।
न, तत्, अस्ति, विना, यत्, स्यात्, मया, भूतम्, चर-अचरम्॥

च	=और	चर-अचरम्	=चर-अचर (चलनेवाला और न चलनेवाला)
अर्जुन	=हे अर्जुन	भूतम्	=प्राणी या पदार्थ
यत्	=जो	न	=नहीं
अपि	=भी	अस्ति	=है
सर्व-भूतानाम्	=सब प्राणियों की	यत्	=जो
बीजम्	=उत्पत्ति का कारण है	विना	=विना
तत्	=वह	मया	=मेरे
अहम्	=मैं (हूँ) + क्योंकि	स्यात्	=हो
तत्	=ऐसा (कोई भी)		

अर्थ—और हे अर्जुन! सब जीवों की उत्पत्ति का कारण—बीज—मैं हूँ। चराचर (चलनेवाले और न चलनेवाले) प्राणियों या पदार्थों में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसमें मैं न हूँ, अर्थात् सबका सारभूत तू मुझे ही जान।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

न, अन्तः, अस्ति, मम, दिव्यानाम्, विभूतीनाम्, परंतप ।
एषः, तु, उद्देशतः, प्रोक्तः, विभूतेः, विस्तरः, मया ॥

परन्तप	=हे शत्रुओं को तपानेवाले (अर्जुन) !
मम	=मेरी
दिव्यानाम्	=दिव्य (अलौकिक)
विभूतीनाम्	=विभूतियों का
अन्तः	अन्त
न	=नहीं
अस्ति	=है
एषः	=यह
तु	=तो
मया	=मैंने
विभूतेः	=विभूतियों का
विस्तरः	=विस्तार
उद्देशतः	=संक्षेप से
प्रोक्तः	=कहा है

अर्थ—हे अर्जुन! सच तो यह है कि मेरी दिव्य-अलौकिक विभूतियों का अन्त नहीं है, अर्थात् इन सारी विभूतियों का वर्णन पूर्णरूप से कोई कर नहीं सकता। यह जो मैंने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, वह बहुत ही संक्षिप्त यानी नाममात्र है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वम्, श्रीमत्, ऊर्जितम्, एव, वा ।
तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वम्, मम, तेजः-अंश-संभवम् ॥

यत्	=जो	तत्, तत्	=उस उसको
यत्	=जो	एव	=ही
एव	=भी	त्वम्	=तू
विभूतिमत्	=ऐश्वर्ययुक्त	मम	=मेरे
श्रीमत्	=कान्तिमान्	तेजः-अंश-सम्भवम्	=तेज के अंश से उत्पन्न हुआ
वा	=या	अवगच्छ	=समझ
ऊर्जितम्	=शक्तिशाली		
सत्त्वम्	वस्तु है		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो तू मेरे ऐश्वर्य का विस्तार जानना चाहता है, तो इस प्रकार जान कि जो-जो वस्तुएँ ऐश्वर्यशाली, कान्तिमान् और शक्तिशाली हैं, उन सबको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा, बहुना, एतेन, किम्, ज्ञातेन, तव, अर्जुन।
विष्टभ्य, अहम्, इदम्, कृत्स्नम्, एक-अंशेन, स्थितः, जगत् ॥

अथवा	=और	ज्ञातेन	=जानने से
अर्जुन	=हे अर्जुन !	किम्	=क्या लाभ होगा +(बस, यही तू समझ कि)
तव	=तुझे		
एतेन	=इस		
बहुना	=बहुत-से (विस्तार को)	अहम्	=मैं
		इदम्	=इस

कृत्स्नम्	=सम्पूर्ण		अंश से
जगत्	=जगत् को	विष्टभ्य	=धारण करके
एक-अंशेन	=(अपने) एक	स्थितः	=स्थित हूँ

अर्थ—और हे अर्जुन ! इन सब विभूतियों को विस्तार-पूर्वक जानने से तुझे क्या लाभ होगा ? मैं तुझे संक्षेप में कह देता हूँ कि इस समस्त जगत् को मैंने एक अंश * से धारण कर रक्खा है ।

दसवाँ अध्याय समाप्त ।

---

* श्रुति है कि यह सारा विश्व परमात्मा का एक चरण है। बाकी तीन चरण अपने निर्गुण स्वयं ज्योतिःस्वरूप में स्थित हैं ।

गीता के दसवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी ने पार्वती से कहा—'हे प्रिये! उसके बाद भगवान् विष्णु गीता के दसवें अध्याय का माहात्म्य कहने लगे। विष्णु ने कहा—काशीपुरी में एक धर्मात्मा, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, वेद-वेदाङ्ग का पारंगत, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहता था। एक दिन वह विश्वेश्वरनाथ के मन्दिर में जाकर आचमन करके एकाग्र-चित्त होकर भगवान् शंकर का ध्यान करने लगा। भृङ्गिरिटि नाम का महादेव का एक गण उसे देख रहा था। उसने बड़े आश्चर्य से महादेवजी से पूछा—'भगवन्, यह महात्मा ब्राह्मण अपने हृदय में आपका दर्शन कर रहा है। इसने कौन तपस्या की है, जिसके प्रभाव से इस प्रकार ध्यान में मग्न होकर आपका दर्शन कर रहा है, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।' महादेवजी ने उस गण से कहा—'इस विषय में हम एक पुरानी कथा कहते हैं, सुनो। एक बार हम पार्वती समेत कैलास पर्वत पर बैठे थे। एक हंस कमल का फूल लेकर हमारे पास आया और प्रणाम करके बैठ गया। वह कौवे के समान काला था। हमने पूछा—'तुम कौन हो और कौवे की तरह काले कैसे हो गये हो?' हंस हाथ जोड़कर बोला —'भगवन्, मैं ब्रह्मा का वाहन हूँ। आपका दर्शन करने के लिए ब्रह्मलोक से आया हूँ। मैं आकाश में उड़ता हुआ जब मानसरोवर के ऊपर आया तब अकस्मात् मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद होश आने पर मैंने देखा कि मेरा

शरीर, जो कपूर के समान सफ़ेद था, काला हो गया है। मुझे बड़ी चिन्ता हुई। मैं गिरने का कारण सोचने लगा। उसी समय मानसरोवर से आवाज़ आई—हे हंस, उठो और यहाँ आकर अपने गिरने का कारण सुनो। मैंने वहाँ जाकर बहुत-से कमलों के बीच में एक कमलिनी देखी। कमलिनी ने मुझसे कहा—'तुम हमारे ऊपर से उड़ गये हो, इसी से तुम आकाश से गिर पड़े और काले हो गये।' मैंने कमलिनी से पूछा—'तुम कौन हो, और कमलिनी कैसे हो गई हो?' तब वह अपना हाल कहने लगी—'मैं पहले एक ब्राह्मणी थी। एक दिन मैना को पढ़ा रही थी, उसी समय मेरे पतिदेव आये। मैंने उठकर उनका यथोचित सत्कार नहीं किया। उन्होंने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे दिया कि तू भी मैना हो जा। उसी शाप से मैं दूसरे जन्म में मैना हुई। मैं एक मुनि के आश्रम पर रहती थी। वह मुनि प्रतिदिन गीता के दसवें अध्याय का पाठ किया करते थे। मैं वह पाठ सुना करती थी। जब मैना का शरीर छूटा तब मैं उसी के प्रभाव से पद्मावती नाम की अप्सरा हुई। एक दिन मैं इस सरोवर में जलक्रीड़ा करती थी उसी समय दुर्वासा मुनि आ पहुँचे। मैं उनको देखकर डर के मारे कमलिनी का रूप धारण करके कमलों के बीच में छिप गई, किन्तु उन्होंने मुझे नंगी देख लिया। महाक्रोधी दुर्वासा ने कुपित होकर शाप दिया—'रे दुष्टे, तू सौ वर्ष तक अब इसी रूप में रहेगी।' कमलिनी ने फिर मुझसे कहा कि 'हे हंस! यह गीता के दसवें अध्याय को सुनने का प्रभाव है, जो मैं कमलिनी के रूप

में रहकर भी बोल रही हूँ । आज सौ वर्ष पूरे हो गये, इसलिए मैं शाप से मुक्त होकर स्वर्ग को जाती हूँ।' हंस ने महादेवजी से कहा कि इतना कहकर वह कमलिनी दिव्य अप्सरा का रूप धारण करके देवलोक को चली गई। चलते समय वह मुझसे कह गई कि तुम जब किसी ब्रह्मवादी ब्राह्मण के मुँह से गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुनोगे, तब तुम्हारा शरीर पहले का-सा हो जायगा और अन्त को अक्षयलोक प्राप्त करोगे। मैं आपका दर्शन करने के लिए आया था। वह मेरा मनोरथ पूरा हो गया। अब मैं किसी ब्राह्मण के मुँह से गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुनने के लिए जाऊँगा। भगवान् शंकर ने गण से कहा कि यह कह कर वह हंस चला गया और एक तपोवन में, जहाँ एक तपस्वी गीता के दसवें अध्याय का पाठ करता था, बैठकर उसे सुनने लगा। अन्त को वह हंस का शरीर त्यागकर श्रेष्ठ ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुआ। यह वही ब्राह्मण है। इसने पूर्व-जन्म में गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुना है। उसी के प्रभाव से इस जन्म में ब्रह्मज्ञानी हुआ और ध्यान लगाकर अपने हृदय में मेरा दर्शन कर रहा है।'

ग्यारहवाँ अध्याय

—:o:—
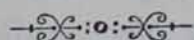
दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन करके अन्त में संक्षेप से यह कहा कि मैंने इस सारे जगत् को अपने एक अंश से धारण कर रक्खा है। इसको सुनकर अर्जुन को भगवान् का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई, इसलिए

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मत्-अनुग्रहाय, परमम्, गुह्यम्, अध्यात्म-संज्ञितम् ।
यत्, त्वया, उक्तम्, वचः, तेन, मोहः, अयम्, विगतः, मम॥

अर्जुन बोला हे भगवन्:—

मत्-अनुग्रहाय	=मुझ पर अनुग्रह करने के लिए	परमम्	=अत्यन्त
		गुह्यम्	=गुप्त

अध्यात्म-संज्ञितम्	=अध्यात्मविषयक	तेन	=उस वचन से
यत्	=जो	मम	=मेरा
वचः	=वचन	अयम्	=यह
त्वया	=आपसे	मोहः	=अज्ञान
उक्तम्	=कहा गया है	विगतः	=दूर हो गया

अर्थ—अर्जुन ने कहा—आपने कृपा करके मेरी भलाई के लिए यह जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य अध्यात्म-ज्ञान कहा है, उससे मेरा सारा मोह—भ्रान्ति व अज्ञान—दूर हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

भव-अप्ययौ, हि, भूतानाम्, श्रुतौ, विस्तरशः मया।
त्वत्तः, कमल-पत्र-अक्ष, माहात्म्यम्, अपि, च, अव्ययम्॥

हि	=क्योंकि		वर्णन अथवा उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य
कमल-पत्र-अक्ष	=हे कमलनयन!	विस्तरशः	=विस्तारपूर्वक
त्वत्तः	=आपसे	श्रुतौ	=सुना
मया	=मैंने	च	=तथा
भूतानाम्	=प्राणियों के	अव्ययम्	=अक्षय (अविनाशी)
भव-अप्ययौ	=पैदा होने और नाश होने का		

माहात्म्यम्	=माहात्म्य		+ सुना
अपि	=भी		

अर्थ—मैंने प्राणियों के पैदा होने और नष्ट होने के रहस्य को आपसे विस्तारपूर्वक सुना, अर्थात् सब प्राणियों की उत्पत्ति आप ही से है और सब प्राणी आप ही के स्वरूप में लीन हो जाते हैं, यह मैंने सुना और समझा। हे कमल के पत्ते के सदृश विशाल नेत्रवाले, भगवान् कृष्णचन्द्र, आपका अक्षय माहात्म्य भी मैंने सुना।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

एवम्, एतत्, यथा, आत्थ, त्वम्, आत्मानम्, परमेश्वर।
द्रष्टुम्, इच्छामि, ते, रूपम्, ऐश्वरम्, पुरुष-उत्तम॥

परमेश्वर	=हे भगवन्!	पुरुषोत्तम	=हे पुरुषों में उत्तम (हे प्रभो!)
त्वम्	=आप	ते	=आपके
यथा	=जैसा	ऐश्वरम्	=ईश्वरीय
आत्मानम्	=अपने को	रूपम्	=रूप के
आत्थ	=कहते हैं	द्रष्टुम्	=देखने की
एतत्	=यह	इच्छामि	=मैं इच्छा करता हूँ
एवम्	=इसी प्रकार है +(तो भी)		

अर्थ—हे परमेश्वर! जैसा आपने अपने को कहा है, आप वैसे ही हैं तो भी मैं आपके उस ईश्वरीय रूप को (जिसे

आपने दसवें अध्याय में ज्ञान, ऐश्वर्य, बल और तेज इत्यादि नाना विभूतियों से वर्णन किया है) अपने नेत्रों से देखना चाहता हूँ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

मन्यसे, यदि, तत्, शक्यम्, मया, द्रष्टुम्, इति, प्रभो ।
योग-ईश्वर, ततः, मे, त्वम्, दर्शय, आत्मानम्, अव्ययम् ॥

प्रभो	=हे प्रभो !	ततः	=तो
यदि	=अगर	योग-ईश्वर	=हे योगेश्वर !
मया	=मेरे द्वारा	मे	=मुझे
तत्	=वह (आपका विश्वरूप)	त्वम्	=आप + अपना
द्रष्टुम्	=देखा जाना	अव्ययम्	=अविनाशी
शक्यम्	=सम्भव है	आत्मानम्	=स्वरूप
इति	=ऐसा	दर्शय	=दिखाइए
मन्यसे	=आप समझते हैं		

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह विश्वरूप मेरे लिए देखना सम्भव है, तो हे योगेश्वर ! आप मुझे उस अविनाशी स्वरूप के दर्शन कराइये ।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

पश्य, मे, पार्थ, रूपाणि, शतशः, अथ, सहस्रशः ।
नाना-विधानि, दिव्यानि, नाना-वर्ण-आकृतीनि, च ॥

अर्जुन के प्रार्थना करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

पार्थ	=हे अर्जुन !
मे	=मेरे
शतशः	=सैकड़ों
अथ	=तथा
सहस्रशः	=हज़ारों
नाना-विधानि	=अनेक प्रकार के
च	=और
नाना-वर्ण-आकृतीनि	=नाना वर्ण एवं नाना प्रकार की आकृतियोंवाले
दिव्यानि	=अलौकिक
रूपाणि	=रूपों को
पश्य	=तू देख

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! तू मेरे अनेक प्रकार के दिव्य—अलौकिक या अद्भुत—अनेक वर्ण और विलक्षण आकृतियोंवाले सैकड़ों तथा हज़ारों रूपों को देख ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्य, आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः, तथा ।
बहूनि, अदृष्ट-पूर्वाणि, पश्य, आश्चर्याणि, भारत ॥

भारत	=हे अर्जुन !	पश्य	=तू देख
आदित्यान्	=बारह सूर्यों को	तथा	=तथा
वसून्	=आठ वसुओं को	अदृष्ट-पूर्वाणि	=पहले न देखे हुए
रुद्रान्	=ग्यारह रुद्रों को	बहूनि	=बहुतेरे
अश्विनौ	=दोनों अश्विनी-कुमारों को	आश्चर्याणि	=आश्चर्य (अद्-भुत) रूपों को
	+और		(भी)
मरुतः	=उंचास मरुद्-गण को	पश्य	=तू देख
	+ मुझमें		

अर्थ—हे भरतवंशी अर्जुन ! १२ आदित्यों (सूर्यों), ८ वसुओं, ११ रुद्रों, २ अश्विनीकुमारों और ४९ मरुतों को देख और मेरे इस विश्वरूप में बहुत-से अद्‌भुत रूपों को भी तू देख, जो पहले तूने कभी न देखे थे ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इह, एक-स्थम्, जगत्, कृत्स्नम्, पश्य, अद्य, सचराचरम् ।
मम, देहे, गुडाकेश, यत्, च, अन्यत्, द्रष्टुम्, इच्छसि ॥

गुडाकेश	=हे निद्रा को वश करनेवाले अथवा घने बालोंवाले (अर्जुन) !	अद्य	=आज
		मम	=मेरे
		देहे	=शरीर में
		इह	=यहाँ

विश्वरूप

एक-स्थम्	=एक जगह इकट्ठे हुए	अन्यत्	=इसके अतिरिक्त (अलावा) जय-पराजय आदि
सचराचरम्	=स्थावर-जंगम-रूप	यत्	=जो (कुछ)
कृत्स्नम्	=सम्पूर्ण	द्रष्टुम्	=देखना
जगत्	=जगत् को	इच्छसि	=चाहता है
पश्य	=देख		+ उसे भी तू देख
च	=तथा		

अर्थ—हे गुडाकेश–घने बालोंवाले–अर्जुन ! तू आज इस मेरे शरीर में चराचर (स्थावर-जंगम) सहित सारे जगत को एक ही जगह ठहरा हुआ देख। इसके अलावा और जो कुछ भी तू देखना चाहता है, उसे भी देख ले (यानी तुझे अपनी हार-जीत के विषय में जो भ्रम हो गया है उसे भी मेरे शरीर में देखकर अपना सन्देह मिटा ले।)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

न, तु, माम्, शक्यसे, द्रष्टुम्, अनेन, एव, स्व-चक्षुषा।
दिव्यम्, ददामि, ते, चक्षुः, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम् ॥

तु	=परन्तु	माम्	=मेरे इस विश्व-रूप को
अनेन	=इन		+ तू
स्व-चक्षुषा	=अपने प्राकृत नेत्रों से	द्रष्टुम्	=देखने को

एव	=निश्चय ही		+ उस दिव्यदृष्टि से
न, शक्यसे	=समर्थ नहीं है + इसलिए मैं	मे	=मेरे
ते	=तुझे	योगम्	=योग + और
दिव्यम्	=दिव्य (अलौकिक)	ऐश्वरम्	=ऐश्वर्य को
चक्षुः	=नेत्र	पश्य	=तू देख
ददामि	=देता हूँ		

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! तू मेरे विश्वरूप को अपनी इन आँखों से देख न सकेगा, इसलिए मैं तुझे दिव्य नेत्र यानी दिव्य दर्शन-शक्ति देता हूँ, इनसे मेरे प्रभाव और योग-शक्ति को तू देख।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

एवम्, उक्त्वा, ततः, राजन्, महा-योग-ईश्वरः, हरिः ।
दर्शयामास, पार्थाय, परमम्, रूपम्, ऐश्वरम् ॥

संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा—

राजन्	=हे राजा धृतराष्ट्र !	हरिः	=हरिरूप भगवान् कृष्णचन्द्र ने
महा-योग-ईश्वरः	=महायोगेश्वर	एवम्	=इस प्रकार
		उक्त्वा	=कहकर

ततः	=फिर	ऐश्वरम्	=ईश्वरीय
पार्थाय	=अर्जुन को	रूपम्	=स्वरूप
परमम्	परम (सर्वोत्तम)	दर्शयामास	=दिखलाया

अर्थ—संजय बोला, हे राजा धृतराष्ट्र ! यह कहकर, महा-योगेश्वर हरिरूप भगवान् कृष्णचन्द्र ने अपना सर्वोत्तम विश्व-रूप अर्जुन को दिखलाया ।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अनेक-वक्त्र-नयनम्, अनेक-अद्भुत-दर्शनम् ।
अनेक-दिव्य-आभरणम्, दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम् ॥

अनेक-वक्त्र-नयनम्	अनेक मुख-=नेत्रोंवाले		+तथा
अनेक-अद्भुत दर्शनम्	अनेक अद्भुत =दर्शनोंवाले	दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम्	अनेक दिव्य =शस्त्र उठाये हुए
अनेक-दिव्य-आभरणम्	अनेक दिव्य =(अलौकिक) आभूषणोंवाले		+ ऐसा रूप श्रीकृष्ण महा-राज का था

अर्थ—संजय कहता है कि हे राजन् ! उसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र थे, अनेक अद्भुत दृश्य दिखाई देते थे । वह रूप अनेक प्रकार के आभूषणों से शोभायमान था और दुष्ट-

जनों का संहार करने के लिए अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को वह रूप उठाये हुए यानी धारण किए हुए था।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम्, दिव्य-गन्ध-अनुलेपनम्।
सर्व-आश्चर्य-मयम्, देवम्, अनन्तम्, विश्वतः-मुखम्॥

दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम्	= दिव्य माला और वस्त्र धारण किए हुए	सर्व-आश्चर्य-मयम्	= सब प्रकार के आश्चर्यों से परिपूर्ण
		देवम्	= प्रकाशरूप
		अनन्तम्	= अन्तरहित
			+ और
दिव्य-गन्ध-अनुलेपनम्	= (कपूर, चन्दन आदि) दिव्य-गन्धों का अनुलेपन किए हुए	विश्वतः मुखम्	= सब ओर मुख-वाला + (वह रूप था)

अर्थ—वह रूप (पुष्प तथा रत्न आदि की) अलौकिक मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण किए हुए था। (कपूर, चन्दन आदि) दिव्य सुगन्धित चीजों का उस पर लेपन हो रहा था। वह रूप सब प्रकार से विस्मय पैदा करनेवाला, देवता-स्वरूप और अन्तरहित था और उसके सब ओर मुँह ही मुँह थे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि, सूर्य-सहस्रस्य, भवेत्, युगपत्, उत्थिता ।
यदि, भाः, सदृशी, सा, स्यात्, भासः, तस्य, महात्मनः ॥

दिवि	=आकाश में	महात्मनः	=महात्मा यानी भगवान् के विश्व-रूप के
सूर्य-सहस्रस्य	=हज़ार सूर्यों का		
भाः	=प्रकाश		
युगपत्	=एक साथ ही	भासः	=तेज के
उत्थिता	=उदित	सदृशी	=समान
भवेत्	=हो	यदि	=शायद ही (कदाचित् ही)
	+तो		
सा	=वह	स्यात्	=हो
तस्य	=उस		

अर्थ—आकाश में यदि हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ ही हो, तो वह सब मिला हुआ प्रकाश परमात्मा के उस विश्वरूप के तेज के समान कदाचित् ही हो ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र, एक-स्थम्, जगत्, कृत्स्नम्, प्रविभक्तम्, अनेक-धा ।
अपश्यत्, देव-देवस्य, शरीरे, पाण्डवः, तदा ॥

तदा	=उस समय	कृत्स्नम्	=समस्त
पाण्डवः	=अर्जुन ने	जगत्	=जगत् को
अनेक-धा	=अनेक प्रकार से	देव-देवस्य	=देवों के देव भगवान् श्रीकृष्ण के
प्रविभक्तम्	=विभक्त हुए		
तत्र	=उस	शरीरे	=शरीर में
एक-स्थम्	=एक जगह में स्थित हुए	अपश्यत्	=देखा

अर्थ—उस समय अर्जुन ने इन्द्रादि देवताओं में पूज्य अर्थात् देवाधिदेव भगवान् कृष्ण के शरीर में अनेक प्रकार से बँटे हुए सारे जगत् को एक ही जगह देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततः, सः, विस्मय-आविष्टः, हृष्ट-रोमा, धनञ्जयः।
प्रणम्य, शिरसा, देवम्, कृत-अञ्जलिः, अभाषत ॥

ततः	=तब	देवम्	=विश्वरूप भगवान् कृष्ण को (भक्तिपूर्वक)
सः	=वह	शिरसा	=सिर से
विस्मय-आविष्टः	=आश्चर्ययुक्त हुआ	प्रणम्य	=प्रणाम करके
हृष्ट-रोमा	=पुलकित रोमोंवाला	अभाषत	=बोला
धनंजयः	=अर्जुन		
कृत-अञ्जलिः	=दोनों हाथ जोड़े हुए		

अर्थ—हे राजन् ! उस विश्वरूप को देखकर अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसके रोंगटे खड़े हो गए। उसने सिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना की।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे, सर्वान्, तथा, भूत-विशेष-संघान्। ब्रह्माणम्, ईशम्, कमल-आसन-स्थम्, ऋषीन्, च, सर्वान्, उरगान, च, दिव्यान् ॥

अर्जुन ने कहा—

देव	=हे देव !
तव	=आपके
देहे	=शरीर में
सर्वान्	=सब
देवान्	=देवताओं को
तथा	=तथा
भूत-विशेष-संघान्	=अनेक प्रकार के प्राणियों के समूह को
कमल-आसन-स्थम्	=आपकी नाभि में जो कमल है उस कमल के आसन पर बैठे हुए
ईशम्	=सबके स्वामी
ब्रह्माणम्	=ब्रह्मा को
च	=और
सर्वान्	=सारे

ऋषीन्	=ऋषियों को	उरगान्	=तक्षक आदि नागों को
च	=तथा		
दिव्यान्	=दिव्य	पश्यामि	=मैं देखता हूँ

अर्थ—हे देव ! आपके इस शरीर में (आदित्य, वसु आदि) सब देवताओं को, अनेक प्रकार के प्राणियों के संमूह को, कमल-आसन पर बैठे हुए सबके स्वामी ब्रह्मा को, (वशिष्ठ, नारद आदि) सब ऋषियों को और (वासुकि आदि) दिव्य साँपों को भी मैं देखता हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम्, पश्यामि, त्वाम्, सर्वतः, अनन्त-रूपम्। न, अन्तम्, न, मध्यम्, न, पुनः, तव, आदिम्, पश्यामि, विश्व-ईश्वर, विश्व-रूप।

विश्व-ईश्वर	=हे विश्व के ईश्वर !	न	=न
विश्व-रूप	=हे विश्व-रूप !	मध्यम्	=मध्य को + तथा
तव	=आपके	न	=न
न	=न	अन्तम्	=अन्त को
आदिम्	=आदि को	पश्यामि	= देखता हूँ
पुनः	=और	सर्वतः	=सब ओर से

अनन्त-रूपम्	=अनन्त-रूपवाला + तथा		से युक्त
अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम्	=अनेक भुजा, उदर (पेट), मुख और नेत्रों	त्वाम्	=आपको
		पश्यामि	=मैं देखता हूँ

अर्थ—मैं आपका रूप ऐसा देखता हूँ कि उसमें अनेक भुजाएँ हैं, अनेक पेट, अनेक मुख तथा अनेक नेत्र हैं और वह सब ओर से अनन्तरूप है। हे विश्व के ईश्वर ! हे विश्वरूप ! न आपके आदि का पता है, न मध्य का और न अन्त का, अर्थात् मैं आपके विश्वरूप को सब प्रकार से अनादि और अनन्त देख रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रिणम्, च, तेजः-राशिम्, सर्वतः, दीप्तिमन्तम्। पश्यामि, त्वाम्, दुर्निरीक्ष्यम्, समन्तात्, दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्, अप्रमेयम् ॥

किरीटिनम्	=मुकुटवाला	च	=और
गदिनम्	=गदावाला	तेजः-राशिम्	=तेज का पुंज-वाला
चक्रिणम्	=चक्रवाला		

सर्वतः	=सब ओर से	दुर्निरीक्ष्यम्	=कठिनता से देखा जानेवाला + और
दीप्तिमन्तम्	=प्रकाशमान + तथा	अप्रमेयम्	=उपमा-रहित
समन्तात्	=सब तरफ़ से	त्वाम्	=आपको
दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्	=प्रज्वलित अग्नि और तेजोमय सूर्य की तरह	पश्यामि	=मैं देखता हूँ

अर्थ—हे भगवन्! मुझे ऐसा दिखाई देता है कि आपने (सिर पर) मुकुट और (हाथ में) गदा और चक्र धारण कर रक्खे हैं, तेज का पुञ्ज—समूह—सब ओर से अपनी प्रभा फैलाये हुए है, प्रज्वलित यानी दमकती हुई अग्नि और सूर्य के समान आपका रूप चमक रहा है, इसीलिए बड़ी कठिनता से उस पर दृष्टि ठहरती है; और आप अप्रमेय हैं अर्थात् यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि आपका रूप किसके समान है; क्योंकि आपके रूप का कोई सादृश्य नजर नहीं आता।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वम्, अक्षरम्, परमम्, वेदितव्यम्, त्वम्, अस्य, विश्वस्य,

परम्, निधानम् । त्वम्, अव्ययः, शाश्वत-धर्म-गोप्ता, सनातनः, त्वम्, पुरुषः, मतः, मे ॥

त्वम्	=आप
परमम्	=परम
अक्षरम्	=अविनाशी यानी परब्रह्म परमात्मा हैं
वेदितव्यम्	=(मुमुक्षुजनों के) जानने योग्य हैं
त्वम्	=आप
अस्य	=इस
विश्वस्य	=विश्व के (जगत् के)
परम्	=परम (श्रेष्ठ)
निधानम्	=निधान या स्थान हैं
त्वम्	=आप
अव्ययः	=अव्यय अर्थात् निर्विकार हैं
शाश्वत-धर्म-गोप्ता	=सनातनधर्म के रक्षक हैं
सनातनः	=सनातन
पुरुषः	=पुरुष (भी)
त्वम्	=आप ही हैं
	+ ऐसा
मे	=मेरा
मतः	=मत है

अर्थ—हे कृष्ण ! आप अक्षर यानी अविनाशी हैं, मुमुक्षु-जनों के जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा आप ही हैं। इस (असार) संसार के परम आधार आप ही हैं। आप अव्यय अर्थात् निर्विकार हैं। सनातन धर्म के रक्षक भी आप ही हैं और वास्तव में सनातन पुरुष भी आप ही हैं, ऐसा मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अनादि-मध्य-अन्तम्, अनन्त-वीर्यम्, अनन्त-बाहुम्, शशि-सूर्य-नेत्रम्। पश्यामि, त्वाम्, दीप्त-हुताश-वक्त्रम्, स्व-तेजसा, विश्वम्, इदम्, तपन्तम् ॥

त्वाम्	=आप
अनादि-मध्य-अन्तम्	=आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं
अनन्त-वीर्यम्	=अनन्त पराक्रम-वाले
	+ तथा
अनन्त-बाहुम्	=अनन्त भुजाओं-वाले हैं
	+ और
शशि-सूर्य-नेत्रम्	=चन्द्र सूर्य आपके नेत्र हैं
	+ एवं
दीप्त-हुताश-वक्त्रम्	=जलती हुई अग्नि (आपका) मुख है
	+ तथा
स्व-तेजसा	=अपने तेज से
इदम्	=इस
विश्वम्	=संसार को
तपन्तम्	=तपाते हुए
	(आपको)
पश्यामि	=मैं देखता हूँ

अर्थ—आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों से परे हैं। आपकी शक्ति का अन्त नहीं है। आपके अनगिनती भुजाएँ हैं। चन्द्र और सूर्य ये दोनों आपके नेत्र हैं। प्रज्वलित अग्नि आपका मुख है और आप इस सारे संसार को अपने तेज से तपा रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

द्यावा-पृथिव्योः, इदम्, अन्तरम्, हि, व्याप्तम्, त्वया, एकेन, दिशः, च, सर्वाः । दृष्ट्वा, अद्भुतम्, रूपम्, उग्रम्, तव, इदम्, लोकत्रयम्, प्रव्यथितम्, महात्मन् ॥

महात्मन्	=हे भगवन् !	**व्याप्तम्**	=व्याप्त हैं (परिपूर्ण हैं)
द्यावा-पृथिव्योः	=आकाश और पृथ्वी का	**तव**	=आपके
इदम्	=यह	**इदम्**	=इस
अन्तरम्	=अन्तर (मध्य-भाग)	**उग्रम्**	=भयंकर
च	=और	**अद्भुतम्**	=अद्भुत
सर्वाः	=सम्पूर्ण	**रूपम्**	=रूप को
दिशः	=दिशाएँ	**दृष्ट्वा**	=देखकर
एकेन	=अकेले	**लोक-त्रयम्**	=तीनों लोक
त्वया	=आपसे	**प्रव्यथितम्**	=भयभीत हो गए हैं
हि	=ही		

अर्थ—हे महात्मन् ! आकाश और पृथिवी के बीच का मध्य भाग (अथवा स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक जो फ़ासला है वह) और सारी दिशाएँ केवल आपसे ही परिपूर्ण हैं

हे भगवन् ! आपके इस अद्भुत तथा भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भय से काँप रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमी, हि, त्वाम्, सुरसंघाः, विशन्ति, केचित्, भीताः, प्राञ्जलयः, गृणन्ति। स्वस्ति, इति, उक्त्वा, महर्षि-सिद्ध-संघाः, स्तुवन्ति, त्वाम्, स्तुतिभिः, पुष्कलाभिः।

अमी =ये
सुर-संघाः =देवताओं के समूह
त्वाम् =आप
हि =ही (में)
विशन्ति =प्रवेश कर रहे हैं
+ तथा
केचित् =कोई
भीताः =डर के मारे (भयभीत हुए)
प्राञ्जलयः =दोनों हाथ जोड़े हुए
गृणन्ति =प्रार्थना कर रहे हैं यानी गुण-गान कर रहे हैं
+ और
महर्षि-सिद्ध-संघाः =महर्षि और सिद्धों के समूह
स्वस्ति =कल्याण हो
इति =ऐसा
उक्त्वा =कहकर
पुष्कलाभिः =बड़े-बड़े
स्तुतिभिः =स्तोत्रों से
त्वाम् =आपकी
स्तुवन्ति =स्तुति कर रहे हैं

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं यह भी देख रहा हूँ कि देवताओं के झुण्ड-के-झुण्ड आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। कितने ही डर के मारे अपने दोनों हाथ जोड़े हुए आपके गुणों का बखान कर रहे हैं। नारद आदि महर्षि तथा कपिल आदि सिद्धों के झुण्ड, 'स्वस्ति' यानी कल्याण हो, ऐसा कहकर बड़ी-बड़ी स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र-आदित्याः, वसवः, ये, च, साध्याः, विश्वे, अश्विनौ, मरुतः, च, ऊष्मपाः, च । गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघाः, वीक्षन्ते, त्वाम्, विस्मिताः, च, एव, सर्वे ॥

रुद्र-आदित्याः	=(ग्यारह) रुद्र और (बारह) सूर्य	विश्वे	=विश्वदेव
वसवः	=(आठ) वसु	अश्विनौ	=(दो) अश्विनी-कुमार
च	=तथा	मरुतः	=(४९) मरुद्गण
ये	=जो	च	=तथा
साध्याः	=साध्य देवता हैं	ऊष्मपाः	=पितर लोग
च	=और	च	=और

गन्धर्व- यक्ष- असुर- सिद्ध- संघाः	=गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा सिद्धों के समूह	एव	=ही
		विस्मिताः	=आश्चर्य से चकित हुए
		त्वाम्	=आपको
सर्वे	=सब	वीक्षन्ते	=देख रहे हैं

अर्थ—और हे गोविन्द ! (ग्यारह) रुद्र, (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, साध्य नामक देवता, (दस) विश्वदेव, (दो) अश्विनीकुमार, (उनचास) मरुद्गण (वायुदेवता), ऊष्मपा आदि पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और (कपिल देव आदि) सिद्धों के समूह, ये सबके सब आश्चर्य से चकित हुए आपको देख रहे हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

रूपम्, महत्, ते, बहु-वक्त्र-नेत्रम्, महा-बाहो, बहु-बाहु-ऊरु-पादम् । बहु-उदरम्, बहु-दंष्ट्रा-करालम्, दृष्ट्वा, लोकाः, प्रव्यथिताः, तथा, अहम् ॥

महा-बाहो	=हे बड़ी भुजाओं-वाले भगवान्		कृष्ण !
		ते	=आपके

बहु-वक्त्र-नेत्रम्	=बहुत से मुख और आँखोंवाले	महत्	=महान्
बहु-बाहु-ऊरु-पादम्	=अनेक भुजा, जघा और पैरों-वाले	रूपम्	=विश्वरूप को
बहु-उदरम्	=अनेक उदरों-वाले	दृष्ट्वा	देखकर
	+तथा	लोकाः	=सारे लोक
बहु-दंष्ट्रा-करालम्	=बहुत भयानक दाढ़ोंवाले	प्रव्यथिताः	=भयभीत हो रहे हैं
		तथा	=तथा
		अहम्	=मैं
			+भी काँप रहा हूँ

अर्थ—हे बड़ी भुजाओंवाले भगवान् कृष्ण ! आपके अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं। बहुत सी भुजाएँ, जाँघें और पैर हैं तथा अनेक पेट हैं। आप बहुत ही भयानक दाढ़ोंवाले हैं। आपके इस भयानक विराट् विश्वरूप को देखकर सारे लोक काँप रहे हैं और स्वयम् मेरा भी यही हाल है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

नभः-स्पृशम्, दीप्तम. अनेक-वर्णम्, व्यात्त-आननम्, दीप्त-विशाल-नेत्रम्। दृष्ट्वा, हि, त्वाम्, प्रव्यथित-अन्तरात्मा, धृतिम्, न, विन्दामि, शमम्, च, विष्णो ॥

हि	=क्योंकि	दीप्त-विशाल-नेत्रम्	=और चमकते हुए विशाल नेत्रोंवाला
विष्णो	=हे विष्णु !	दृष्ट्वा	=देखकर
त्वाम्	=आपको	प्रव्यथित-अन्तरात्मा	=भयभीत अन्तःकरणवाला
नभः-स्पृशम्	=गगनस्पर्शी		+मैं
दीप्तम्	=प्रकाशमान	धृतिम्	=धीरज
अनेक	=नाना प्रकार के	च	=और
वर्णम्	=वर्णों से युक्त	शमम्	=शान्ति को
व्यात्त-आननम्	=खुले हुए मुखोंवाला	न	=नहीं
		विन्दामि	=प्राप्त होता हूँ

अर्थ—हे भगवान् विष्णु ! आपका शरीर आकाश को छू रहा है; आपका रूप अनेक रंगों में चमक रहा है; आपके मुख खुले हुए हैं और बड़े-बड़े नेत्र चमक रहे हैं। आपका यह विश्व-रूप देखकर निस्सन्देह मेरा चित्त घबरा रहा है, वह किसी तरह धीरज और शान्ति को नहीं प्राप्त होता।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दंष्ट्रा-करालानि, च, ते, मुखानि, दृष्ट्वा, एव, काल-अनल-सन्निभानि। दिशः, न, जाने, न, लभे, च, शर्म, प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास।

च	=और	न जाने	=मैं नहीं जानता हूँ
ते	=आपके	च	=तथा
दंष्ट्रा-करालानि	=भयानक दाढ़ों-वाले	शर्म	=शान्ति को
काल-अनल-सन्निभानि	=प्रलय काल की अग्नि के समान	न	=नहीं
मुखानि	=मुखों को	लभे	=प्राप्त होता हूँ
दृष्ट्वा	=देखकर	देव-ईश	=हे देवताओं के प्रभु !
एव	=ही	जगत्-निवास	=हे जगत् के निवास-स्थान + आप
दिशः	=दिशाओं को	प्रसीद	=प्रसन्न होइए

अर्थ—और हे भगवन् ! प्रलय काल की अग्नि के समान विकराल अथवा भयानक दाढ़ोंवाले मुखों को देखकर भय के मारे मैं दिशाओं को भूल गया हूँ, अर्थात् अब मुझे यह नहीं सूझता कि पूर्व आदि दिशाएँ किधर हैं और न मुझे कोई आश्रय-स्थान ही नज़र आता है। हे देवताओं के स्वामी ! हे जगत् के निवासस्थान ! आप मुझ पर प्रसन्न होइए।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

अमी, च, त्वाम्, धृतराष्ट्रस्य, पुत्राः सर्वे, सह, एव, अवनि-पाल-संघैः। भीष्मः, द्रोणः, सूत्र-पुत्रः, तथा, असौ, सह, अस्मदीयैः, अपि, योध-मुख्यैः ॥

अमी	=ये	तथा	=और
सर्वे	=सब	असौ	=वह
च	=तथा	सूत-पुत्रः	=सूतपुत्र कर्ण
धृतराष्ट्रस्य	=धृतराष्ट्र के	अस्मदीयैः	=हमारे
पुत्राः	=पुत्र	अपि	=भी
अवनि-पाल-संघैः	=राजाओं के समूह	योध-मुख्यैः	=मुख्य योद्धाओं के
सह	=सहित	सह	=साथ
भीष्मः	=भीष्म-पितामह	त्वाम्	=आपमें
द्रोणः	=द्रोणाचार्य	एव	=ही (प्रवेश कर रहे हैं)

अर्थ—हे कृष्ण ! और मैं देखता हूँ कि सब राजाओं सहित, दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और वह सूत-पुत्र कर्ण और हमारी ओर के धृष्टद्युम्न आदि मुख्य-मुख्य योद्धा भी आपमें प्रवेश कर रहे हैं।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

वक्त्राणि, ते, त्वरमाणाः, विशन्ति, दंष्ट्रा-करालानि, भयानकानि । केचित्, विलग्नाः, दशन-अन्तरेषु, संदृश्यन्ते, चूर्णितैः, उत्तमाङ्गैः ॥

	+ ये सब योद्धा
त्वरमाणाः	=जल्दी-जल्दी दौड़ते हुए
ते	=आपके
दंष्ट्रा-करालानि	=विकराल दाढ़ों-वाले
भयानकानि	=भयानक
वक्त्राणि	=मुखों में
विशन्ति	=घुसे जाते हैं
केचित्	=कोई
चूर्णितैः	=चकनाचूर हुए
उत्तमाङ्गैः	=शिरों सहित
दशन-अन्तरेषु	=दाँतों के बीच में
विलग्नाः	=लगे हुए
संदृश्यते	=नज़र आते हैं

अर्थ—कुछ योद्धा तो आपके विकराल भयानक दाढ़ोंवाले मुखों में जल्दी-जल्दी घुसे जा रहे हैं। कोई दाँतों के बीच के छेदों में चकनाचूर हुए सिरों के साथ फँसे हुए दिखाई देते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा, नदीनाम्, बहवः, अम्बु-वेगाः, समुद्रम्, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति । तथा, तव, अमी, नर-लोक-वीराः, विशन्ति, वक्त्राणि, अभि-विज्वलन्ति ॥

यथा	=जिस प्रकार	अमी	=ये
नदीनाम्	=नदियों के	नर-लोक-वीराः	=मनुष्य-समाज के शूरवीर लोग
बहवः	=बहुत से	तव	=आपके
अम्बुवेगाः	=जल के प्रवाह	अभि	=सब तरफ़ से
समुद्रम्	=समुद्र की	विज्वलन्ति	=प्रज्वलित (धधकते हुए)
एव	=ही	वक्त्राणि	=मुखों में
अभिमुखाः	=ओर मुख किए	विशन्ति	=प्रवेश कर रहे हैं
द्रवन्ति	=दौड़े चले जाते हैं		
तथा	=वैसे ही		

अर्थ—जैसे नदियों की अनेक धाराएँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं, वैसे ही मनुष्य लोक के ये सब (भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण आदि) शूरवीर आपके सब ओर से प्रज्वलित—जलते हुए—मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २६ ॥

यथा, प्रदीप्तम्, ज्वलनम्, पतङ्गाः, विशन्ति, नाशाय, समृद्ध-वेगाः । तथा, एव, नाशाय, विशन्ति, लोकाः, तव, अपि, वक्त्राणि, समृद्ध-वेगाः ॥

यथा	=जिस प्रकार	एव	=ही
समृद्ध-वेगाः	=झपटते हुए या शीघ्रता से उड़ते हुए	लोकाः	=ये सब शूर-वीर
पतङ्गाः	=पतंगे	अपि	=भी
नाशाय	=नष्ट होने के लिए	नाशाय	=अपने नाश के लिए
प्रदीप्तम्	=जलती हुई	तव	=आपके
ज्वलनम्	=अग्नि या दीपक में	वक्त्राणि	=मुखों में
विशन्ति	=गिरते हैं	समृद्ध-वेगाः	=बड़ी तेज़ी के साथ
तथा	=वैसे	विशन्ति	=घुसे जा रहे हैं

अर्थ—जिस तरह पतंगे अपने नाश के लिए जलती हुई अग्नि या दीपक में झपटकर जाते हैं, उसी तरह ये (दुर्योधन आदि) शूर-वीर भी अपने नाश के लिए आपके विकराल मुखों में बड़ी तेज़ी के साथ घुसे जा रहे हैं ।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ।

लेलिह्यसे, ग्रसमानः, समन्तात्, लोकान्, समग्रान्, वदनैः, ज्वलद्भिः । तेजाभिः, आपूर्य, जगत्, समग्रम्, भासः, तव, उग्राः,प्रतपन्ति, विष्णो ।

	+ और आप
ज्वलद्भिः	=प्रज्वलित
वदनैः	=मुखों द्वारा
समग्रान्	=सब
लोकान्	=लोगों को अर्थात् दुर्योधन आदि बड़े-बड़े शूर-वीरों को
समन्तात्	=सब ओर से
ग्रसमानः	=ग्रसते हुए
लेलिह्यसे	=चाट रहे हैं अर्थात् स्वाद ले रहे हैं
विष्णो	=हे पूर्ण ब्रह्म व्यापक !
तव	=आपका
उग्राः	=तीव्र
भासः	=प्रकाश (प्रभा)
तेजोभिः	=अपने तेज से
समग्रम्	=समस्त
जगत्	=जगत् को
आपूर्य	=परिपूर्ण यानी व्याप्त करके
प्रतपन्ति	=(अग्नि के समान) तपा रहा है

अर्थ—आप चारों ओर से अपने प्रज्वलित मुखों से दुर्योधन आदि इन बड़े-बड़े शूरवीरों को ग्रसते हुए चाट-चाटकर स्वाद ले रहे हैं । हे विष्णु ! आपका तीव्र

प्रकाश अपने तेज से सब जगत् को परिपूर्ण (व्याप्त) करके (अग्नि के समान) तपा रहा है ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

आख्याहि, मे, कः, भवान्, उग्र-रूपः, नमः, अस्तु, ते, देववर, प्रसीद । विज्ञातुम्, इच्छामि, भवन्तम्, आद्यम्, न, हि, प्रजानामि, तव, प्रवृत्तिम् ॥

+ हे भगवन् !
भवान् =आप
उग्र-रूपः =भयंकर रूपवाले
कः =कौन हैं ?
+ यह
मे =मुझसे
आख्याहि =कहिए
ते =आपको
नमः =नमस्कार
अस्तु =हो (है)
देववर =हे देवताओं में श्रेष्ठ
प्रसीद =(आप) प्रसन्न होइए
भवन्तम् =आप
आद्यम् =सबके आदि पुरुष को
विज्ञातुम् =(मैं) भले प्रकार जानने की
इच्छामि =इच्छा करता हूँ
हि =क्योंकि
तव =आपकी
प्रवृत्तिम् =चेष्टाओं यानी

माया को	न =नहीं
+ मैं	प्रजानामि =समझता

अर्थ—हे भगवन् ! आप ऐसे भयंकर रूपवाले कौन हैं? यह मुझे बतलाइए। हे देवताओं में श्रेष्ठ ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप प्रसन्न हूजिए। मैं आपकी माया के विषय में कुछ भी नहीं जानता, इसलिए मैं आदिपुरुष आपको जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

कालः, अस्मि, लोक-क्षय-कृत्, प्रवृद्धः, लोकान्, समाहर्तुम्, इह, प्रवृत्तः। ऋते, अपि, त्वाम्, न, भविष्यन्ति, सर्वे, ये, अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः।

अर्जुन के पूछने पर भगवान् कृष्ण बोले—

+ हे अर्जुन !	कालः =काल
लोक-क्षय-कृत्= (मैं) लोकों का नाश करनेवाला	अस्मि =हूँ
	लोकान् =लोकों का
प्रवृद्धः =बढ़ा हुआ अथवा अति उग्ररूप	समाहर्तुम् =नाश करने के लिए

इह	=इस संसार में	सर्वे	=सब
प्रवृत्तः	= (मैं) प्रवृत्त हुआ हूँ	योधाः	=शूरवीर
त्वाम्	=तेरे	प्रत्यनीकेषु	=जो दोनों ओर की सेना में
ऋते	=बिना	अवस्थिताः	=खड़े हुए हैं
अपि	=भी	न	=नहीं
ये	=ये	भविष्यन्ति	= रहेंगे यानी जीते न बचेंगे

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस कारण मैंने यह रूप धारण किया है, वह मैं तुझसे कहता हूँः—मैं लोकों का नाश करनेवाला भयंकररूप महाकाल हूँ, इस समय संसार में, लोगों का नाश करने के लिए आया हूँ । इसलिए (भीष्म-द्रोण आदि) ये योद्धा, जो दोनों ओर की सेना में सजे खड़े हैं, तू इनको (यदि किसी कारणवश) न भी मारेगा, तब भी ये बच्च न सकेंगे । (तू मेरा भक्त है, इसलिए यह यश मैं तुझे देता हूँ।)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात्, त्वम्, उत्तिष्ठ, यशः, लभस्व, जित्वा, शत्रून्, भुङ्क्ष्व, राज्यम्, समृद्धम् । मया, एव, एते, निहताः, पूर्वम्, एव, निमित्त-मात्रम्, भव, सव्य-साचिन् ॥

तस्मात्	=इसलिए	एते	=ये (सब)
त्वम्	=तू	एव	=तो
उत्तिष्ठ	= (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो	पूर्वम्	=पहिले
		एव	=ही
यशः	=यश को	मया	=मेरे द्वारा
लभस्व	=प्राप्त कर +और	निहताः	=मार डाले गये हैं
शत्रून्	=वैरियों को	सव्य-साचिन्	=हे बाएँ हाथ से भी तीर चलाने-वाले अर्जुन !
जित्वा	=जीतकर		
समृद्धम्	=ऐश्वर्य-सम्पन्न (निष्कण्टक)	निमित्त-मात्रम्	=(तू) निमित्त-मात्र (अथवा नाममात्र)
राज्यम्	=राज्य को		
भुङ्क्ष्व	=भोग	भव	=हो जा

अर्थ—इसलिए हे अर्जुन ! तू उठ और यश कमा अर्थात् मुफ़्त में इस यश को प्राप्त कर। इन शत्रुओं को जीतकर, ऐश्वर्यसम्पन्न निष्कण्टक राज्य को भोग। ये सब योद्धा तो मेरे द्वारा पहिले ही मार डाले गए हैं। हे बाएँ हाथ से भी तीर चलानेवाले अर्जुन ! तू तो अब केवल निमित्तमात्र (नाम-मात्र) मारनेवाला होजा। (अर्थात् इन सबका तो काल आ पहुँचा, यह तू प्रत्यक्ष देख रहा है और वे काल के मुख में अपने आप समा रहे हैं। तू तो केवल नाम-मात्र मारनेवाला है)

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्॥ ३४ ॥

द्रोणम्, च, भीष्मम्, च, जयद्रथम्, च, कर्णम्, तथा, अन्यान्, अपि, योधवीरान्। मया, हतान्, त्वम्, जहि, मा, व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, जेता, असि, रणे, सपत्नान्॥

द्रोणम्	=द्रोणाचार्य	मया	=(जो) मेरे द्वारा
च	=और	हतान्	=मारे जा चुके हैं +उनको
भीष्मम्	=भीष्म	त्वम्	=तू
च	=तथा	जहि	=मार
जयद्रथम्	=जयद्रथ	मा व्यथिष्ठाः	=डर मत +और इनसे
च	=और	युध्यस्व	=युद्ध कर
कर्णम्	=कर्ण	रणे	=रण में
तथा	=वैसे ही	सपत्नान्	=वैरियों को
अन्यान्	=दूसरे	जेताऽसि	=तू (अवश्य) जीतेगा
योधवीरान्	=शूरवीर योद्धाओं को		
अपि	=भी		

अर्थ—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और इनके सिवा अन्यान्य (और दूसरे) शूरवीर योद्धा जो मेरे द्वारा पहिले ही मार डाले गए हैं, इन मरे हुओं को तू मार। तू जरा भी न डर, उठ और युद्ध कर। तू शत्रुओं को लड़ाई में अवश्य जीतेगा।

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतत्, श्रुत्वा, वचनम्, केशवस्य, कृत-अञ्जलिः, वेपमानः, किरीटी । नमस्कृत्वा, भूयः, एव, आह, कृष्णम्, सगद्गदम्, भीतभीतः, प्रणम्य ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—

+हे राजन् !	
केशवस्य	=कृष्ण भगवान् के
एतत्	=ये
वचनम्	=वचन
श्रुत्वा	=सुनकर
कृत-अञ्जलिः	=दोनों हाथ जोड़े हुए
+और	
वेपमानः	=काँपते हुए
किरीटी	=मुकुटधारी अर्जुन
नमस्कृत्य	=नमस्कार करके
भूयः	=फिर
एव	=भी
भीतभीतः	=डरते-डरते
प्रणम्य	=प्रणाम करके
सगद्गदम्	=गद्गद वाणी से
कृष्णम्	=भगवान् कृष्ण से
आह	=बोले

अर्थ—हे राजन् ! केशव अर्थात् कृष्ण के ये वचन सुन-

कर मुकुटधारी अर्जुन ने काँपते हुए, हाथ जोड़कर भगवान् को नमस्कार किया। फिर डरते-डरते कृष्ण को प्रणाम करके गद्गद वाणी से अर्जुन इस प्रकार कहने लगे।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

स्थाने, हृषीकेश, तव, प्रकीर्त्या, जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते, च। रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति, सर्वे, नमस्यन्ति, च, सिद्ध-संघाः ॥

अर्जुन ने कहा कि—

हृषीकेश	=हे इन्द्रियों के स्वामी ! हे भगवान् कृष्ण !	जगत्	=संसार
स्थाने	=यह ठीक है कि	प्रहृष्यति	=प्रसन्न होता है
तव	=आपके	च	=और
प्रकीर्त्या	=नाम, गुण या माहात्म्य के कीर्तन से (कहने-सुनने से)	अनुरज्यते	=अनुराग को प्राप्त होता है अर्थात् आपसे प्रीति करता है
			+ तथा
		भीतानि	=डरे हुए

रक्षांसि	=राक्षस लोग	सर्वे	=सम्पूर्ण
दिशः	=पूर्व आदि दिशाओं को	सिद्ध-संघाः	=सिद्धों के समूह + आपको
द्रवन्ति	=भागते हैं	नमस्यन्ति	=नमस्कार करते हैं
च	=और		

अर्थ—हे भगवान् कृष्ण ! यह ठीक है कि आपके नाम, गुण और महिमा का कीर्तन करके ही यह सारा जगत् प्रसन्न होता है और आपमें भक्ति रखता है। राक्षस लोग (आपका नाम लेते ही) भय के मारे (दशों) दिशाओं में भागे फिरते हैं, और सिद्धों के समूह आपको (भक्तिपूर्वक) नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

कस्मात्, च, ते, न, नमेरन, महात्मन्, गरीयसे, ब्रह्मणः, अपि, आदि-कर्त्रे। अनन्त, देव-ईश, जगत्-निवास, त्वम्, अक्षरम्, सत्, असत्, तत्, परम्, यत्।

महात्मन्	=हे महात्मा !	देव-ईश	=हे देवताओं के ईश्वर !
अनन्त	=हे अनन्त ! (हे सनातन !)	जगत्-निवास	=हे जगत् के

	निवास स्थान !
	+ आप
ब्रह्मणः	=ब्रह्मा के
अपि	=भी
आदिकर्त्रे	=आदिकर्ता (पैदा करनेवाले)
च	=और
गरीयसे	=ब्रह्मा से भी बड़े या श्रेष्ठ हैं
	+ इसलिए वे
ते	=आपको
कस्मात्	=क्यों
न	=न
नमेरन्	=नमस्कार करें

यत्	=जो
सत्	=सत् अर्थात् व्यक्त या मूर्तिमान्
असत्	=असत् अर्थात् अव्यक्त या अमूर्तिमान्
	+ इन दोनों से
परम्	=परे
अक्षरम्	=अक्षर—पूर्णब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द—हैं
तत्	=वही
त्वम्	=आप हैं

अर्थ—हे महात्मा ! हे अनन्त ! हे देवताओं के स्वामी ! हे जगत् के निवास-स्थान ! आप ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ हैं और उसके आदिकर्ता यानी पैदा करनेवाले हैं। तब ऐसी हालत में यह सब जगत् आपको नमस्कार क्यों न करे ? सत्, असत् से भी परे या सबसे परे जो परम सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व है, वही आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वम्, आदि-देवः, पुरुषः, पुराणः, त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम् । वेत्ता, असि, वेद्यम्, च, परम्, च, धाम, त्वया, ततम्, विश्वम्, अनन्त-रूप ।

त्वम्	=आप	च	=और
आदि-देवः	=आदिदेव	वेद्यम्	=जानने योग्य
पुराणः	=पुरातन या सनातन	च	=तथा
पुरुषः	=पुरुष हैं	परम्	=परम
त्वम्	=आप	धाम	=धाम
अस्य	=इस	असि	=(आप ही) हैं
विश्वस्य	=जगत् के	अनन्त-रूप	=हे अनन्तरूपों-वाले भगवन् !
परम्	=श्रेष्ठ	त्वया	=आपसे (ही)
निधानम्	=स्थान हैं	विश्वम्	=(यह समस्त) जगत्
वेत्ता	=जाननेवाले	ततम्	=व्याप्त है

अर्थ—हे भगवान् कृष्ण ! आप (इस विश्व की उत्पत्ति के कारण) आदि-देव हैं, (सबसे पुराने और अनादि होने के कारण) आप सनातन पुरुष हैं; प्रलय के समय यह समस्त जगत् आप ही के स्वरूप में लीन हो जाता है, अतएव आप इस विश्व के परम-निधान हैं, (सर्वज्ञ होने के कारण)

आप सबके जाननेवाले हैं; जानने योग्य (तत्त्ववस्तु) भी आप ही हैं । (सच्चिदानन्द स्वरूप होने के कारण) परम-धाम भी आप ही हैं ; हे अनन्तरूपोंवाले भगवन् ! आप ही से यह सब संसार परिपूर्ण या व्याप्त हो रहा है ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशाङ्कः, प्रजा-पतिः, त्वम्, प्रपितामहः, च । नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्र-कृत्वः, पुनः, च, भूयः, अपि, नमः, नमः, ते ।

त्वम्	=आप	नमः	=नमस्कार
वायुः	=वायु (पवन) हैं	नमः	=नमस्कार
यमः	=यमराज हैं	अस्तु	=हो
अग्निः	=अग्नि हैं	भूयः	=फिर
वरुणः	=वरुण देवता हैं	अपि	=भी
शशाङ्कः	=चन्द्रमा हैं	पुनः च	=वारंवार
प्रजापतिः	=ब्रह्मा हैं	ते	=आपको
च	=और	नमः	=नमस्कार करता हूँ
प्रपितामहः	=ब्रह्मा के भी पितामह हैं	नमः	=नमस्कार करता हूँ
ते	=आपके लिए		
सहस्र-कृत्वः	=हज़ारों बार		

अर्थ—हे प्रभो! आप वायु हैं, यमराज हैं, अग्नि-देवता, वरुण और चन्द्रमा भी आप ही हैं, प्रजापति यानी सारे जगत् के पितामह अर्थात् ब्रह्मा भी आप ही हैं, ब्रह्मा के प्रपितामह भी आप ही हैं, इसलिए (सब देवताओं का स्वरूप होने के कारण) आपको हजार-हजार बार नमस्कार है और फिर भी आपको वारंवार नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

नमः, पुरस्तात्, अथ, पृष्ठतः, ते, नमः, अस्तु, ते, सर्वतः, एव, सर्व। अनन्त-वीर्य, अमित-विक्रमः, त्वम्, सर्वम्, सम्, आप्नोषि, ततः, असि, सर्वः।

	+ हे भगवन्!
पुरस्तात्	=आगे से (सामने से)
अथ	=और
पृष्ठतः	=पीछे से
ते	=आपको
नमः	=नमस्कार
अस्तु	=हो
सर्व	=हे सर्व-रूप सब के आत्मा!
ते	=आपके लिए
सर्वतः	=सब ओर से
एव	=ही
नमः	=नमस्कार हो
त्वम्	=आप

अनन्त-वीर्य	=अनन्त पराक्रम-वाले	सम्-आप्नोषि	=व्याप्त किए हुए हैं
	+ और	ततः	=इसीलिए
अमित-विक्रमः	=अतुल सामर्थ्य-वाले हैं		+ आप
		सर्वः	=सर्व-रूप
सर्वम्	=सब जगत् को	असि	=हैं

अर्थ—हे भगवन् ! आपको सामने से, पीछे से तथा सब ओर से नमस्कार है। आप अनन्त शक्ति और अतुल पराक्रम-वाले हैं। आप सबमें व्याप्त हैं, इसीलिए सर्वरूप हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

सखा, इति, मत्वा, प्रसभम्, यत्, उक्तम्, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इति। अजानता, महिमानम्, तव, इदम्, मया, प्रमादात्, प्रणयेन, वा, अपि ॥

सखा	=सखा हो	इदम्	=इस
इति	=ऐसा	महिमानम्	=महिमा को
मत्वा	=समझकर	अ-जानता	=न जानते हुए
	+ और	प्रमादात्	=प्रमादवश (ग़फ़लत से)
तव	=आपकी		

वा	=अथवा	इति	=इस प्रकार
प्रणयेन	=प्रेम से	यत्	=जो
अपि	=भी	प्रसभम्	=हठपूर्वक या अविनयपूर्वक
हे कृष्ण	=हे कृष्ण !	मया	=मैंने
हे यादव !	=हे यादव !	उक्तम्	=कहा है
हे सखे !	=हे सखा !		

अर्थ—आपको मैंने अपना मित्र समझकर और आपकी इस महिमा को न जानकर, ओ कृष्ण ! ओ यादव ! ओ सखा ! ऐसे रूखे-कठोर शब्दों में प्रमादवश (भूल से) अथवा प्रेमवश कई बार सम्बोधन किया है ।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

यत्, च, अवहास-अर्थम्, असत्कृतः, असि, विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु । एकः, अथवा, अपि, अच्युत, तत्, समक्षम्, तत्, क्षामये, त्वाम्, अहम्, अप्रमेयम् ॥

च	=और	विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु	=खेलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय
अच्युत	=हे कृष्ण ! (हे निर्विकार-रूप !)		

एकः	=अकेले में		+ मैंने आपका
अथवा	=अथवा	असत्कृतः } असि }	= अनादर किया है
तत्-समक्षम्	=उन मित्रों के सामने	तत्	=वह
अपि	=भी	अप्रमेयम्	=हे अप्रमेय अर्थात् अपार प्रभाववाले !
अवहास- } अर्थम् }	= आपके और अपने हँसाने के लिए (हँसी-दिल्लगी में)	त्वाम्	=आपसे
		अहम्	=मैं
यत्	=जो	क्षामये	=क्षमा कराता हूँ

अर्थ—और ऐसे ही खेलने के समय, सोते, बैठते और भोजन करते समय, अकेले में या अन्य मित्रों के सामने हँसी-दिल्लगी में (आपके और अपने हँसाने के लिए) जो मैंने आपका अनादर किया है, उसके लिए हे कृष्ण ! हे अप्रमेय प्रभाववाले ! आप मुझे क्षमा करें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पिता, असि, लोकस्य, चर-अचरस्य, त्वम्, अस्य, पूज्यः, च, गुरुः, गरीयान् । न, त्वत्, समः, अस्ति, अभ्यधिकः, कुतः, अन्यः, लोक-त्रये, अपि, अप्रतिम-प्रभाव ॥

अस्य	=इस	त्वत्	=आपके
चर-अचरस्य	=चराचर	समः	=समान
लोकस्य	=जगत् के	न	=(कोई) नहीं
त्वम्	=आप	अस्ति	=है
पिता	=पिता	अप्रतिम-प्रभाव	=हे अनुपम प्रभाववाले !
असि	=हैं	लोक-त्रये	=तीनों लोकों में
च	=और	अपि	=भी
पूज्यः	=पूजनीय	अन्यः	=और कोई
गुरुः	=गुरु		+ आपसे
	+ तथा	अभ्यधिकः	=बढ़कर
गरीयान्	=गुरु के भी गुरु हैं अर्थात् सब से श्रेष्ठ हैं	कुतः	=कैसे (हो सकता है) ?

अर्थ—आप इस स्थावर-जङ्गमरूप जगत् के पिता हैं; आप इस जगत् के (रचने और पालनेवाले होने के कारण) पूज्य हैं ; आप ही जगत् के गुरु और सबसे श्रेष्ठ हैं; क्योंकि आपकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। हे अतुल प्रभाववाले कृष्ण ! तीनों लोकों में आपसे बढ़कर भला और कौन हो सकता है। अर्थात् इस सारे ब्रह्माण्ड में आपसे बढ़कर कोई नहीं हो सकता।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तस्मात, प्रणम्य, प्रणिधाय, कायम्, प्रसादये, त्वाम्, अहम्, ईशम्, ईड्यम् । पिता, इव, पुत्रस्य, सखा, इव, सख्युः, प्रियः, प्रियायाः, अर्हसि, देव, सोढुम् ॥

तस्मात्	=इसलिए	पिता	=पिता
कायम्	=शरीर को	इव	=जैसे
प्रणिधाय	=नीचे झुकाकर	पुत्रस्य	=पुत्र के
प्रणम्य	=दण्डवत् करके अथवा साष्टाङ्ग प्रणाम करके	सखा	=मित्र + जैसे
		सख्युः	=मित्र के
अहम्	=मैं	प्रियः	=स्वामी या पति
त्वाम्	=आप	इव	=जैसे
ईड्यम्	=(सबके पूज्य) स्तुति-योग्य	प्रियायाः	=प्यारी पत्नी के +अपराधों को क्षमा करता या सह लेता है वैसे ही आप भी मेरे अपराध को
ईशम्	=स्वामी को		
प्रसादये	=प्रसन्न करता हूँ (आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों, यही प्रार्थना है)		
देव	=हे देव ! (हे स्वामी !)	सोढुम्	=सहन करने के
		अर्हसि	=योग्य हैं

अर्थ—इसलिए सबके स्वामी और पूज्य ईश्वर! मैं आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ पर प्रसन्न हूजिए। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, मित्र जैसे मित्र के तथा पति जैसे पत्नी के अपराधों को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप भी मेरे अपराधों को क्षमा करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्ट-पूर्वम्, हृषितः, अस्मि, दृष्ट्वा, भयेन, च, प्रव्यथितम्, मनः, मे। तत्, एव, मे, दर्शय, देव, रूपम्, प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास ॥

अदृष्ट-पूर्वम्	=पहिले न देखे हुए आपके इस विश्वरूप को	मे	=मेरा
दृष्ट्वा	=देखकर	मनः	=मन
हृषितः, अस्मि	=मैं आनन्दित तो हो रहा हूँ + परन्तु इस रूप को देखकर	प्रव्यथितम्, च	=व्यथित भी हो रहा है + इसलिए
भयेन	=भय से	देव	=हे देव!
		तत्	=उस
		एव	=ही
		रूपम्	=(सुन्दर मनुष्य)

	रूप को		स्वामी !
मे	=मुझे	जगत्-निवास	=हे जगत् के निवासस्थान !
दर्शय	=दिखाइए	प्रसीद	=प्रसन्न हूजिए
देव-ईश	=हे देवताओं के		

अर्थ—हे भगवन् । आपके इस विश्वरूप को मैंने पहिले कभी नहीं देखा था । इसे देखकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ; पर मेरा मन इस विकराल स्वरूप को देखकर भय के मारे घबरा रहा है । इसलिए हे देव ! हे देवेश (देवताओं के स्वामी) ! और जगत् के निवासस्थान ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिए और वही अपना पहिला सौम्य रूप मुझे दिखाइए ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

किरीटिनम्, गदिनम्, चक्रहस्तम्, इच्छामि, त्वाम्, द्रष्टुम्, अहम्, तथा, एव । तेन, एव, रूपेण, चतुर्भुजेन, सहस्र-बाहो, भव, विश्व-मूर्त्ते ॥

सहस्र-बाहो	=हे हज़ारों भुजा-वाले !	एव	=ही
		त्वाम्	=आपको
अहम्	=मैं	किरीटिनम्	=मुकुट पहने
तथा	=वैसा	गदिनम्	=गदा धारण किये

चक्रहस्तम्	=हाथ में चक्र लिये हुए	विश्व-मूर्ते	=हे विश्वरूप !
द्रष्टुम्	=देखना	तेन	=उस
इच्छामि	=चाहता हूँ + इसलिए	एव	=ही
		चतुर्भुजेन	=चतुर्भुज
		रूपेण	रूप से
		भव	=(प्रकट) हूजिए

अर्थ—हे हजारों भुजावाले ! हे विश्वरूप भगवन् ! मैं आपको पहिले की तरह, सिर पर मुकुट धारण किए, हाथ में गदा और चक्र लिये हुए, चतुर्भुज रूप में देखना चाहता हूँ (जिससे मेरे मन की घबराहट दूर हो)।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

मया, प्रसन्नेन, तव, अर्जुन, इदम्, रूपम्, परम्, दर्शितम्, आत्म-योगात्। तेजोमयम्, विश्वम्, अनन्तम्, आद्यम्, यत्, मे, त्वत्-अन्येन, न, दृष्ट-पूर्वम् ॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन	=हे अर्जुन !	आत्म-योगात्	=अपने योगबल से
मया	=मैंने	तव	=तुझे
प्रसन्नेन	=प्रसन्न होकर		

इदम्	=यह
मे	=अपना, मेरा
आद्यम्	=आदि (सबसे पहिला)
अनन्तम्	=अनन्त (अन्त-रहित)
तेजोमयम्	=तेजस्वी (प्रकाश-मय)
परम्	=परम (श्रेष्ठ)
विश्वम्	=विश्वमय (विराट्)
रूपम्	=रूप
दर्शितम्	=दिखाया है
यत्	=जिसको
त्वत्-अन्येन	=तेरे सिवा किसी ने
न-दृष्ट-पूर्वम्	=पहिले नहीं देखा था

अर्थ—भगवान् ने कहा:—हे अर्जुन ! तेरी प्रार्थना से प्रसन्न होकर मैंने अपने योगबल से तुझे अपना यह तेजोमय—प्रकाशयुक्त—अनन्त, आदि और परम उत्कृष्ट विराट्रूप दिखलाया है, जिसको तेरे सिवा पहिले किसी ने नहीं देखा था ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

न, वेद-यज्ञ-अध्ययनैः, न, दानैः, न, च, क्रियाभिः, न, तपोभिः, उग्रैः । एवम्रूपः, शक्यः, अहम्, नृ-लोके, द्रष्टुम्, त्वत्-अन्येन, कुरु-प्रवीर ॥

कुरु-प्रवीर	=हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन !	न	=न
न	=न तो	उग्रैः	=घोर
वेद-यज्ञ-अध्ययनैः	=चारों वेदों के अध्ययन से तथा यज्ञों के विधि-पूर्वक ज्ञान से	तपोभिः	=तपस्याओं से
न	=न	एवम् रूपः	=इस प्रकार के रूपवाला
दानैः	=दान करने से	अहम्	=मैं
न	=न	नृ-लोके	=इस मनुष्य-लोक में
क्रियाभिः	=कर्मकाण्डों से	त्वत्-अन्येन	=तेरे सिवा और किसी के द्वारा
च	=और	द्रष्टुम्	=देखा
		शक्यः	=जा सकता हूँ

अर्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! न वेदों के पठन-पाठन से, न यज्ञों के विधिपूर्वक ज्ञान से, न दान करने से, न अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्डों से और न घोर तपस्या करके भी, कोई मनुष्य, इस मृत्युलोक में, सिवा तेरे, इस मेरे विश्व-रूप को देख सकता है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मा, ते, व्यथा, मा, च, विमूढभावः, दृष्ट्वा, रूपम्, घोरम्,

ईदृक्, मम, इदम् । व्यपेत-भीः, प्रीत-मनाः, पुनः, त्वम्, तत्, एव, मे, रूपम्, इदम्, प्रपश्य ॥

ईदृक्	=इस प्रकार के	मा	=न होवे +इसलिए
मम	=मेरे	व्यपेत-भीः	=निर्भय होता हुआ
इदम्	=इस	प्रीत-मनाः	=प्रसन्नचित्त होकर
घोरम्	=भयानक	पुनः	= फिर
रूपम्	=रूप को	त्वम्	=तू
दृष्ट्वा	=देखकर	तत्, एव	=उसी (पहिले-वाले)
ते	=तुझे	मे	=मेरे
व्यथा	=व्यथा	इदम्	=इस
मा	=न हो	रूपम्	=चतुर्भुज रूप को
च	=और	प्रपश्य	=देख
विमूढ-भावः	=विमूढ़-भाव अर्थात् व्याकुलता भी		

अर्थ—हे अर्जुन ! तू मेरे इस विकराल रूप को देखकर भय मत कर और न घबरा । भय को त्यागकर और प्रसन्नचित्त होकर तू फिर मेरे उसी पहिलेवाले चतुर्भुजरूप को देख ।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

इति, अर्जुनम्, वासुदेवः, तथा, उक्त्वा, स्वकम्, रूपम्, दर्शयामास, भूयः । आश्वासयामास, च, भीतम्, एनम्, भूत्वा, पुनः, सौम्यवपुः, महात्मा ॥

संजय बोला हे राजन्—

वासुदेवः	=वासुदेव भगवान् ने	च	=और
इति	=इस प्रकार	पुनः	=फिर
अर्जुनम्	=अर्जुन से	महात्मा	=महात्मा भगवान् कृष्ण ने
उक्त्वा	=कहकर	सौम्य-वपुः	=शान्त प्रसन्नमूर्ति
भूयः	=फिर	भूत्वा	=होकर
तथा	=वैसा ही (पहिले जैसा)	एनम्	=इस
स्वकम्	=अपना	भीतम्	=डरे हुए अर्जुन को
रूपम्	=चतुर्भुजरूप	आश्वासयामास	=धीरज दिया
दर्शयामास	=दिखाया		

अर्थ—संजय ने कहा:—हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार अर्जुन से कहकर वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना वही पहिलेवाला रूप दिखलाया । उस महात्मा कृष्ण ने वही सौम्य-रूप अर्थात् सुन्दर, शान्त और मनोहर रूप धारण करके डरे हुए अर्जुन को धीरज दिया ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वा, इदम्, मानुषम्, रूपम्, तव, सौम्यम्, जनार्दन ।
इदानीम्, अस्मि, संवृत्तः, सचेताः, प्रकृतिम्, गतः ॥

जनार्दन	=दुष्ट लोगों को दण्ड देनेवाले हे कृष्ण !	दृष्ट्वा	=देखकर
तव	=आपके	इदानीम्	=अब (मैं)
इदम्	=इस	सचेताः	=सुस्थ या प्रसन्न-चित्त
सौम्यम्	=सौम्य अर्थात् शान्त और प्रसन्न	संवृत्तः	=हुआ
मानुषम्	=मनुष्य	अस्मि	=हूँ + और अपने पहिलेवाले
रूपम्	=स्वरूप को	प्रकृतिम्	=भाव को
		गतः	=प्राप्त हुआ हूँ

अर्थ—हे जनार्दन ! आपका यह शान्त और सुन्दर मनुष्य-रूप देखकर मेरा भय जाता रहा और मैं पहिले की तरह सुस्थ सावधान हो गया हूँ, अर्थात् मेरे जी में जी आ गया है।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

सु-दुर्-दर्शम्, इदम्, रूपम्, दृष्टवान्, असि, यत्, मम।
देवाः, अपि, अस्य, रूपस्य, नित्यम्, दर्शन-काङ्क्षिणः॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

यत्	=जिस	असि	=है
मम	=मेरे	देवाः	=देवता
इदम्	=इस	अपि	=भी
सु-दुर्-दर्शम्	=अत्यन्त कठिनता से देखे जा सकनेवाले	अस्य	=इस
		रूपस्य	=रूप का
रूपम्	=विश्वरूप को	नित्यम्	=नित्य
	+ तूने	दर्शन-काङ्क्षिणः	=दर्शन चाहते हैं
दृष्टवान्	=देखा		

अर्थ—(हे अर्जुन !) यह जो मेरा विश्वरूप तूने देखा है, इसका देखना औरों के लिए अत्यन्त कठिन है। देवता भी मेरे इस रूप के देखने की सदा इच्छा करते रहते हैं (किन्तु वे अभी तक इस रूप को तेरे समान न देख सके और न कभी देख सकेंगे)।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

न, अहम्, वेदैः, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया।
शक्यः, एवंविधः, द्रष्टुम्, दृष्टवान, असि, माम्, यथा॥

अहम्	=मैं	इज्यया	=यज्ञ करके
न	=न	एवंविधः	=इस प्रकार के रूप में
वेदैः	=वेदों के अध्ययन से	द्रष्टुम्	=देखा
न	=न	शक्यः	=जा सकता हूँ
तपसा	=तप करके	यथा	=जैसे
न	=न	माम्	=मुझको + तूने
दानेन	=दान करके	दृष्टवान्	=देखा
च	=और	असि	=है
न	=न		

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरा ऐसा रूप, जो तूने (अपनी भक्ति के प्रभाव से) देखा है, उसे कोई पुरुष वेद पढ़कर, घोर तपस्या करके, दान करके और अग्निहोत्र आदि कर्म करके भी नहीं देख सकता ।

जिस प्रकार यह रूप देखा जा सकता है, उसे भगवान् आगे कहते हैं:—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

भक्त्या, तु, अनन्यया, शक्यः, अहम्, एवंविधः, अर्जुन । ज्ञातुम्, द्रष्टुम्, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुम्, च, परंतप ॥

तु	=किन्तु	परंतप	=हे शत्रुओं को तपानेवाले !
अर्जुन	=हे अर्जुन !		

अनन्यया	=अनन्य (एकाग्र)	ज्ञातुम्	=जानने
भक्त्या	=भक्ति से (ही)	च	=और
अहम्	=मैं	द्रष्टुम्	=देखने
एवंविधः	=ऐसा विश्व-रूपवाला	च	=तथा
तत्त्वेन	=तत्त्व से या यथार्थ रूप से	प्रवेष्टुम्	=प्रवेश करने के
		शक्यः	=योग्य हूँ

अर्थ—किन्तु हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! मेरे इस विश्वरूप को मनुष्य केवल अनन्य भक्ति द्वारा देख सकते और यथार्थ भाव से जान सकते तथा पूर्णरूप से मुझमें प्रवेश कर सकते हैं ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

मत्, कर्म-कृत्, मत्-परमः, मत्-भक्तः, संग-वर्जितः ।
निर्-वैरः, सर्व-भूतेषु, यः, सः, माम्, एति, पाण्डव ॥

पाण्डव	=हे अर्जुन !		पुरुषार्थ जिसका अर्थात् जो मुझे ही प्राप्त करना अपना मुख्य कर्तव्य समझता है
यः	=जो		
मत्-भक्तः	=मेरा भक्त है		
मत्-कर्म-कृत्	=मेरे लिए ही कर्म करता है		
मत्-परमः	=मैं ही हूँ परम		

संग-वर्जितः	=आसक्तिरहित है यानी पुत्र आदि सांसारिक पदार्थों में जो प्रेम नहीं रखता	सर्व-भूतेषु	=सब प्राणियों से
		निर्वैरः	=वैर नहीं रखता
		सः	=वही (अनन्य-भक्त)
		माम्	=मुझको
	+ और जो	एति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे पाण्डुपुत्र ! जो मेरे ही लिए कर्म करता है, मुझे ही प्राप्त करना अपना मुख्य कर्तव्य समझता है, मुझमें ही अनन्य भक्ति रखता हैं, आसक्ति-रहित है अर्थात् धन, स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक पदार्थों से प्रेम नहीं करता और किसी प्राणी से वैर-भाव नहीं रखता, वही मुझे पाता है।

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त

गीता के ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य

विष्णु भगवान् ने लक्ष्मीजी से कहा—देवि, अब गीता के ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। दक्षिण दिशा में त्रिवाहमण्डम नाम का एक नगर है। वहाँ हालिका नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह खेती करके अपनी जीविका चलाता था। एक दिन वह धान का खेत रखा रहा था, उसी समय एक राह में जाते हुए मनुष्य को किसी हिंसक जीव ने मार-कर खा लिया। यह हाल एक योगी देख रहा था। उसने हालिका पर क्रुद्ध होकर उससे कहा—'हे अधम ब्राह्मण, तू इतना निर्दय है कि तेरे सामने इस मनुष्य को हिंसक जीव खा रहा है, और तू बोलता भी नहीं। यदि तू दया करके इसकी रक्षा करता तो इसके प्राण बच जाते। तू राक्षस के समान निर्दय और कठोर है, इसलिए राक्षस ही हो जा।' महर्षि का यह शाप सुनकर हालिका हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—"भगवन्! मैंने इस राही को नहीं देखा। यदि जान-बूझकर इसकी उपेक्षा करता, तो मेरा अपराध था। हे महर्षि, मुझ निरपराध को आप क्षमा कीजिए। आपका वचन अवश्य ही सत्य होगा और मुझे राक्षस होना पड़ेगा, किन्तु कृपा करके मेरे उद्धार का कोई उपाय बताइए।" महर्षि ने कहा—'यदि गीता के ग्यारहवें अध्याय का नित्य पाठ करने-वाला कोई ब्राह्मण गीता के मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल तुम्हारे ऊपर छिड़केगा, तो तुम राक्षस-देह से छूटकर परमपद को

जाओगे।' यह कहकर महर्षि तो चले गये और वह ब्राह्मण उसी समय राक्षस हो गया। जब वह गाँववालों को मार-मारकर खाने लगा तब उन लोगों ने उससे प्रार्थना की कि तुम इस गाँव में ठहरनेवाले मुसाफ़िरों को खा लिया करो और हम लोगों पर दया करो। हम लोग मुसाफ़िरों के ठहरने के लिए यहाँ एक धर्मशाला बनवा देंगे। जो मुसाफ़िर आकर उसमें ठहरे, तुम उसी का मांस खाया करो। राक्षस ने गाँववालों की बात मान ली। उस दिन से वह वहाँ ठहरनेवालों का ही मांस खाता था; गाँव के किसी आदमी को नहीं सताता था। एक दिन एक ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण तीर्थ-यात्रा करता हुआ उस गाँव में आया। उसके साथ और भी बहुत से ब्राह्मण थे। साँझ हो गई थी, इसलिए वह उसी धर्मशाला में ठहर गया। यद्यपि गाँववाले जहाँ तक हो सकता था, मुसाफ़िरों के प्राणों की रक्षा के लिए उनको टरका दिया करते थे, और बहुत कम मुसाफ़िर वहाँ ठहरने पाते थे, किन्तु सीधे-सादे ब्राह्मण उनके गुप्त भाव को न भाँप सके और उसी धर्मशाला में ठहर गये। रात को वह राक्षस आया और ब्राह्मण के अन्य सब साथियों को तो खा गया, किन्तु उस ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को न खा सका। सवेरा होने पर जब वह ब्राह्मण चलने लगा तब धर्मशाला के द्वारपाल ने हाथ जोड़कर उससे प्रार्थना की कि महाराज, आज के दिन आप और ठहर जाइए, कल चले जाइएगा। द्वारपाल के अनुरोध से वह कई दिन तक वहाँ ठहरा रहा। यह देखकर गाँववालों को बड़ा अचम्भा हुआ। क्या कारण है, जो ब्राह्मण को राक्षस नहीं

खाता ? एक दिन और कई मुसाफ़िर आये और उसी धर्म-शाला में ठहर गये । उन मुसाफ़िरों में द्वारपाल के पुत्र का एक मित्र भी था । जब उसे मालूम हुआ तब वह अपने मित्र को वहाँ से भगा देने के लिए धर्मशाला में गया । इतने में राक्षस आया और मुसाफ़िरों के साथ उसे भी खा गया । जब द्वारपाल को यह मालूम हुआ तब वह राक्षस के पास गया और रो-धोकर कहने लगा कि किसी उपाय से हमारे पुत्र को जिला दो । राक्षस ने कहा—'धर्मशाला में कई दिन से एक ब्राह्मण ठहरा है । वह नित्य गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ करता है । यदि वह गीता के मन्त्र पढ़कर हमारे ऊपर जल छिड़के, तो तुम्हारा पुत्र हमारे पेट से निकलकर जी उठे । और भी जितने मनुष्यों को हमने खाया है, वे सब जी जायँ ।' यह सुनकर द्वारपाल ने उस ब्राह्मण के पास जाकर सब हाल कहा । ब्राह्मण ने ज्यों ही गीता के मन्त्र पढ़कर राक्षस के ऊपर जल छिड़का त्यों ही उसने राक्षस-देह छोड़-कर दिव्य रूप धारण कर लिया । आकाश से विमान आया, और वह उस पर बैठकर वैकुण्ठलोक को चला । द्वारपाल का पुत्र और जितने मुसाफ़िर राक्षस के पेट में गये थे, सब दिव्य-रूप धारण करके विमान पर बैठकर वैकुण्ठ को चले । द्वारपाल ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा, तुम हमको छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?' पुत्र ने उत्तर दिया—'पिताजी, आप हमारा मोह न कीजिए । इस संसार में न कोई किसी का पिता है और न कोई किसी का पुत्र । कितनी ही बार आप भी हमारे पुत्र हो चुके हैं । संसार के सब जीव अपने कर्मों के फल से बा

बार जन्म लेते और मरते रहते हैं। जिसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है वह अपने ज्ञान के बल से ब्रह्मस्वरूप होकर संसार से मुक्त हो जाता है। हम भी आज इस ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की कृपा से संसार से मुक्त होकर अक्षय लोक को जा रहे हैं। यह ब्राह्मण नित्य गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ करता है। उसी के प्रभाव से इसने हम सबको और इस राक्षस को मुक्त कर दिया है। आप भी इस ब्राह्मण से गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ पढ़कर उसी की आराधना कीजिए। उसी के प्रभाव से आप भी हमारी तरह परमपद प्राप्त करेंगे।' यह कहकर वह वैकुण्ठधाम को चला गया और द्वारपाल उस ब्राह्मण से गीता का ग्यारहवाँ अध्याय पढ़कर प्रतिदिन पाठ करने लगा। कुछ दिनों बाद उस ब्राह्मण के साथ द्वारपाल भी शरीर त्यागकर विष्णुलोक को गया।

बारहवाँ अध्याय
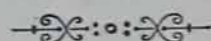
अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

एवम्, सतत-युक्ताः, ये, भक्ताः, त्वाम्, परि-उपासते ।
ये, च, अपि, अक्षरम्, अव्यक्तम्, तेषाम्, के, योग-वित्तमाः ॥

अर्जुन ने कहा—

एवम्	=इस प्रकार	त्वाम्	=आपकी (सगुण रूप से)
सतत-युक्ताः	=निरन्तर (आप के) ध्यान में लगे हुए	परि-उपासते	=उपासना करते हैं
ये	=जो	च	=और
भक्ताः	=भक्त	ये	=जो
		अक्षरम्	=अविनाशी

	सच्चिदानन्द		हैं
अव्यक्तम्	=निराकार की (निर्गुणरूप से)	तेषाम्	=उन दोनों में से
अपि	=ही	योग-वित्तमाः	=योग के श्रेष्ठ ज्ञाता
	+उपासना करते	के	=कौन हैं ?

अर्थ—अर्जुन बोला—हे नारायण! जो भक्त निरन्तर आपके ध्यान में लगे हुए सगुण विश्वरूप की उपासना करते हैं, वे अच्छे हैं, या जो आपको अक्षर अविनाशी और निराकार समझकर उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं? अर्थात् उन दोनों में कौन बढ़कर योग के जाननेवाले हैं?

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

मयि, आवेश्य, मनः, ये, माम्, नित्य-युक्ताः, उपासते।
श्रद्धया, परया, उपेताः, ते, मे, युक्ततमाः, मताः ॥

श्रीभगवान् बोले—

मयि	=मुझमें		परमेश्वर के)
मनः	=मन		भजन-ध्यान में
आवेश्य	=लगाकर		लगे हुए
ये	=जो भक्त	परया	=परम
नित्य-युक्ताः	=निरन्तर (मुझ	श्रद्धया	=श्रद्धा से

उपेताः	=युक्त हुए	मे	=मैं
माम्	=मुझ सगुण ब्रह्म की	युक्ततमाः	=समत्व योग के उत्तम साधक
उपासते	=उपासना करते हैं	मताः	=मानता हूँ
ते	=उन्हें		

अर्थ—अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! जो मुझमें अर्थात् मेरे सगुण रूप के ध्यान में मन लगाकर, अनन्य भक्ति द्वारा, परम श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं योगियों में श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये, तु, अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, पर्युपासते।
सर्वत्र-गम्, अचिन्त्यम्, च, कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्।
संनियम्य, इन्द्रिय-ग्रामम्, सर्वत्र, समबुद्धयः।
ते, प्राप्नुवन्ति, माम्, एव, सर्व-भूत-हिते, रताः ॥

तु	=परन्तु	सम-बुद्धयः	=समबुद्धि रखते हुए अर्थात् सबको समान समझते हुए
ये	=जो महात्मा निर्गुण के उपासक	सर्व-भूत-हिते	=सब प्राणियों की
सर्वत्र	=सर्वत्र (सबमें)		

	भलाई में
रताः	=लगे हुए
इन्द्रिय-ग्रामम्	=इन्द्रियों के समूह को
संनियम्य	=अच्छी तरह रोककर या वश में करके
अनिर्देश्यम्	=अकथनीय (वर्णनातीत)
अव्यक्तम्	=अव्यक्त यानी निराकार
अक्षरम्	=अविनाशी
सर्वत्र-गम्	=सर्वव्यापी
अचिन्त्यम्	=अचिन्तनीय (मन की पहुँच से परे)
कूटस्थम्	=कूटस्थ यानी सबके आधार अथवा एकरस रहनेवाले
अचलम्	=अचल (अर्थात् सदा एक-सा रहनेवाले)
च	=और
ध्रुवम्	=अटल ब्रह्म की
पर्युपासते	=उपासना करते हैं
ते	=वे निर्गुण भाव की उपासना करनेवाले
माम्	=मुझको
एव	=ही
प्राप्नुवन्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! जो महात्मा सबको एक समान समझते हुए, सब प्राणियों की भलाई में लगे हुए, अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करके (सगुण रूप की उपासना छोड़कर) केवल उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, जो अक्षर यानी अविनाशी है ; अकथनीय है अर्थात् जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता ; अव्यक्त है यानी जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; सर्वव्यापी

है; अचिन्त्य है अर्थात् जिसका ध्यान मन और बुद्धि द्वारा नहीं किया जा सकता; कूटस्थ यानी जो माया का स्वामी है; अचल अर्थात् सदा एक-सा रहनेवाला और ध्रुव यानी अटल है; ऐसे निरन्तर ध्यान में लगे हुए निर्गुण भाव के उपासक निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

क्लेशः, अधिकतरः, तेषाम्, अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम्।
अव्यक्ता, हि, गतिः, दुःखम्, देहवद्भिः, अवाप्यते ॥

अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम्	=अव्यक्त में अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में आसक्त है चित्त जिनका (किन्तु उस उपासना के योग्य वे अभी हुए नहीं)	अव्यक्ता	=अव्यक्त यानी अक्षर ब्रह्म अथवा निर्गुण स्वरूप की
तेषाम्	=उनको	गतिः	=गति
अधिकतरः	=अधिकतर	देहवद्भिः	=देहाभिमानी यानी देहधारी लोग
क्लेशः	=क्लेश होता है	दुःखम्	=दुःख से (कठिनता से)
हि	=क्योंकि	अवाप्यते	=पाते हैं

अर्थ—हे अर्जुन! मेरे निर्गुण स्वरूप की उपासना में,

जिनका चित्त लगा हुआ है, उन्हें (मेरे सगुण रूप की अपेक्षा), बहुत ही अधिक कष्ट उठाना पड़ता है ; क्योंकि शरीरधारियों के लिए अव्यक्त यानी अक्षर ब्रह्म अथवा निर्गुण स्वरूप की उपासना करना बड़ा कष्टदायक है (कारण यह है कि ऐसा करने में उन्हें अपने शरीर की ममता भी त्यागनी पड़ती है, जिससे उन्हें बड़ा कष्ट होता है) ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

ये, तु, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य, मत्-पराः ।
अनन्येन, एव, योगेन, माम्, ध्यायन्तः, उपासते ॥

तु	=किन्तु	अनन्येन	=अनन्य
ये	=जो भक्त	योगेन	=योग द्वारा
सर्वाणि	=सब	माम्	=मुझ परमेश्वर का
कर्माणि	=कर्मों को	एव	=ही
मयि	=मुझमें	ध्यायन्तः	=ध्यान करते हुए
संन्यस्य	=अर्पण करके	उपासते	=उपासना करते हैं
मत्-पराः	=मेरे आश्रित होकर		

अर्थ—किन्तु जो भक्त सारे कर्मों को मुझे अर्पण करके मुझे ही परमगति मानते हैं, और सबको छोड़कर, भक्ति-पूर्वक, केवल मेरा ही ध्यान करते हुए, मेरी ही उपासना करते हैं ।

इसका सम्बन्ध अगले श्लोक से है

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

तेषाम्, अहम्, समुद्धर्ता, मृत्यु-संसार-सागरात् ।
भवामि, न-चिरात्, पार्थ, मयि, आवेशित-चेतसाम् ॥

+च	+और	न-चिरात्	=शीघ्र ही
पार्थ	=हे अर्जुन !	मृत्यु-संसार-सागरात्	=मृत्युरूपा-संसारसागर से
मयि	=मुझमें	समुद्धर्ता	=उद्धार करनेवाला
आवेशित-चेतसाम्	=जिन्होंने चित्त लगा दिया है	भवामि	=होता हूँ
तेषाम्	=उनका		
अहम्	=मैं		

अर्थ—और हे अर्जुन ! जिनका चित्त मुझमें ही लगा हुआ है, उनका मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मयि, एव, मनः, आधत्स्व, मयि, बुद्धिम्, निवेशय ।
निवसिष्यसि, मयि, एव, अतः ऊर्ध्वम्, न, संशयः ॥

	+ इसलिए	एव	=ही
मयि	=मुझ (सगुण ब्रह्म) में	मनः	=मन को
		आधत्स्व	=तू लगा

मयि	=मुझमें (ही) अर्थात् मेरे ही चिन्तन में		के बाद)
बुद्धिम्	=बुद्धि को	मयि	=मुझमें
निवेशय	=तू स्थिर कर	एव	=ही
अतः	=इसके	निवसिष्यसि	=तू निवास करेगा
ऊर्ध्वम्	=पीछे (अथवा ऐसा करने से शरीर त्यागने		+ इसमें कुछ भी
		न	=नहीं
		संशयः	=सन्देह है

अर्थ—इसलिए हे अर्जुन ! तू अपने मन को मुझमें ही लगा दे, अपनी बुद्धि को मेरे ही चिन्तन में लगा दे। ऐसा करने पर मृत्यु के बाद मुझमें निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अथ, चित्तम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, मयि, स्थिरम्।
अभ्यास-योगेन, ततः, माम्, इच्छ, आप्तुम्, धनंजय ॥

धनंजय	=हे अर्जुन !	समाधातुम्	=लगाने में
अथ	=और जो	न, शक्नोषि	=तू समर्थ नहीं है
चित्तम्	=चित्त को	ततः	=तो
मयि	=मुझमें	अभ्यास-योगेन	=अभ्यास-योग से (अर्थात् जब-
स्थिरम्	=निश्चय रूप से		

जब मन इधर-उधर भटके तब-तब उसे रोककर मुझमें बारंबार लगाने के	अभ्यास से)
माम्	=मुझे
आप्तुम्	=पाने की या प्राप्त करने की
इच्छ	=इच्छा कर

अर्थ—हे अर्जुन ! अगर तू अपने चित्त को अचल रूप से मुझमें नहीं लगा सकता, तो ऐसी दशा में अपने चञ्चल चित्त को विषयों से हटाकर वारंवार मुझमें लगा। इस प्रकार अभ्यास योग द्वारा तू मुझे प्राप्त करने की चेष्टा कर, अर्थात् लगातार यत्न करने पर एक दिन तेरा चित्त अवश्य ठहर जायगा और फिर तू मुझमें आ मिलेगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्-कर्म-परमः, भव।
मत्-अर्थम्, अपि, कर्माणि, कुर्वन्, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि ॥

+ यदि	=अगर
अभ्यासे	=अभ्यास में
अपि	=भी (तू)
असमर्थः	=असमर्थ
असि	=है
	+ तो
मत्-कर्म-परमः	=मेरे लिए कर्मों में परायण या लवलीन
भव	=हो
	+ (अर्थात् मेरे

	निमित्त पूजन-पाठ, ज्ञान-ध्यान कीर्तन आदिकर)	अपि	=भी
			+(अन्तः करण की शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त कर)
मत्-अर्थम्	=मेरे निमित्त	सिद्धिम्	=मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को
कर्माणि	=कर्मों को (भजन-पूजा-पाठ आदि)	अवाप्स्यसि	=तू प्राप्त होगा
कुर्वन्	=करता हुआ		

अर्थ—हे अर्जुन ! यदि तू अभ्यास-योग भी नहीं कर सकता, अर्थात् इधर-उधर भटकते हुए अपने चञ्चल चित्त को वारंवार सब ओर से हटाकर मुझमें नहीं स्थिर कर सकता तो केवल मेरे लिए कर्म कर यानी मुझे प्राप्त करने के लिए ज्ञान, ध्यान, कीर्तन और पूजा-पाठ आदि कर्मों में लगा रह। इस प्रकार मेरे लिए कर्म करते हुए तुझे (अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा) सिद्धि प्राप्त हो जायगी अर्थात् तू मुझे अवश्य प्राप्त होगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथ, एतत्, अपि, अशक्तः, असि, कर्तुम्, मत्-योगम्, आश्रितः ।
सर्व-कर्म-फल-त्यागम्, ततः, कुरु, यत-आत्मवान् ॥

अथ	=अगर (तू)	अशक्तः	=असमर्थ
एतत्	=यह	असि	=है
अपि	=भी	ततः	=तो
कर्तुम्	=करने को	मत्-योगम्	=मेरे भक्ति-योग का

आश्रितः	=आश्रय लिये हुए		को अपने वश में करते हुए
+च	=और		
यत-आत्मवान्	=समाहित चित्त-वाला होता हुआ यानी अपने मन	सर्व-कर्म-फल-त्यागम्	=सब कर्मों के फलों का त्याग
		कुरु	=कर

अर्थ—हे अर्जुन ! अगर तू यह भी न कर सके तो अपने आत्मा को वश में करके और सब कुछ मुझे ही मानकर मेरी शरण में आ और सारे कर्मों के फलों की इच्छा को त्याग दे; यानी जो भी कर्म तू करे उसे मुझे अर्पण कर दे और उन कर्मों के फलों की वासना त्याग दे।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

श्रेयः, हि, ज्ञानम, अभ्यासात्, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते।
ध्यानात्, कर्म-फल-त्यागः, त्यागात्, शान्तिः, अनन्तरम्॥

हि	=क्योंकि	ध्यानम्	=ध्यान (परमेश्वर के स्वरूप का चिन्तन व मनन)
अभ्यासात्	= (विवेकशून्य) अभ्यास से		
ज्ञानम्	=परोक्षज्ञान*		
श्रेयः	=श्रेष्ठ है	विशिष्यते	=अधिक श्रेष्ठ है
ज्ञानात्	=शास्त्रीय ज्ञान से	ध्यानात्	=ध्यान से (भी)

* परोक्षज्ञान—शास्त्रों के पढ़ने और सुनने से परमेश्वर के स्वरूप का जो ज्ञान होता है उसे 'परोक्षज्ञान' कहते हैं।

कर्म-फल-त्यागः	=कर्मों के फलों का त्याग +श्रेष्ठतर यानी बहुत अच्छा है क्योंकि	त्यागात्	=कर्म-फल-त्याग से
		अनन्तरम्	=फिर
		शान्तिः	=शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है

अर्थ—क्योंकि कोरे अभ्यास से परोक्षज्ञान (परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान) अच्छा है ; उस ज्ञान से ध्यान अच्छा है। 'परमात्मा सर्वव्यापी है' यह जान लेने पर भी यदि उस पर ध्यान न रक्खा जाय तो वह ज्ञान वृथा है। ध्यान से कर्म-फलों का त्याग श्रेष्ठ है ; क्योंकि अशान्ति का मूल-कारण कर्म-फल की कामना ही है। अतएव कर्म-फलों के छोड़ देने पर ही परम शान्ति और सुख प्राप्त होता है।

इस सबका मतलब यह निकला कि कर्मफलों का त्यागरूप मार्ग ही सबसे सहज और सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है और इसी से अन्त में शान्ति अवश्य मिलती है।

सहज से सहज उपाय बतलाकर अब अगले सात श्लोकों में भगवान् कृष्ण भगवद्भक्तों के गुण व धर्म बतलाते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अद्वेष्टा, सर्व-भूतानाम्, मैत्रः, करुणः, एव, च ।
निर्-ममः, निर्-अहङ्कारः, सम-दुःख-सुखः, क्षमी ॥
सन्तुष्टः, सततम्, योगी, यत-आत्मा, दृढ-निश्चयः ॥
मयि, अर्पित-मनो-बुद्धिः, यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥

सर्व-भूतानाम् = सब प्राणियों के साथ
अद्वेष्टा = द्वेष न करनेवाला
मैत्रः = (बराबरवालों के साथ) मित्रता रखनेवाला
च, एव = और ऐसे ही
करुणः = (सब पर) दया रखनेवाला
निर्-ममः = ममता-रहित
निर्-अहङ्कारः = अहंकार-हीन
सम-दुःख-सुखः = सुख और दुःख में समान रहने वाला
क्षमी = क्षमाशील अर्थात् अपराध करनेवाले को भी क्षमा करने-वाला
सततम् = सदा
सन्तुष्टः = सन्तुष्ट
योगी = योगी अर्थात् समाहित चित्त-वाला है
यत-आत्मा = जो अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में किए हुए है
दृढ-निश्चयः = जो पक्के निश्चय वाला है
+और
मयि = मुझमें
अर्पित-मनो-बुद्धिः = जिसने मन और बुद्धि को लगा दिया है (ऐसा)
यः = जो
मत्-भक्तः = मेरा भक्त है
सः = वह
मे मुझे
प्रियः = प्यारा है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो किसी भी प्राणी के साथ वैर नहीं रखता, जो सबका मित्र या हितैषी है, जो सब पर दया करता है, जो धन, पुत्र, स्त्री आदि किसी भी पदार्थ में मोह और अहङ्कार नहीं रखता, जो सुख-दुःख में समान रहता है, जो क्षमावान् है अर्थात् तिरस्कार होने पर भी या किसी के अपराध करने पर भी जिसे क्रोध नहीं आता, जो सदा सन्तोषी है, जो योगी है अर्थात् जो यम-नियम आदि में परायण हो अपने इष्टदेव के ध्यान में सदा लगा रहता है, जिसने मन और इन्द्रियों को अपने वश में कर रक्खा है, जो पक्के निश्चयवाला है, जिसने मन और बुद्धि को मुझमें लगा दिया है, अर्थात् जिसका मन मुझको छोड़कर किसी दूसरी ओर नहीं जाता, बल्कि सदा मुझमें ही लगा रहता है— ऐसा जो मेरा भक्त है, वही मुझे प्यारा है ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात्, न, उद्विजते, लोकः, लोकात्, न, उद्विजते, च, यः।
हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगैः, मुक्तः, यः, सः, च, मे, प्रियः ॥

यस्मात्	=जिससे	**च**	=तथा
लोकः	=लोग	**यः**	=जो
न	=नहीं	**लोकात्**	=जगत् से यानी किसी जीव से
उद्विजते	=घबराते यानी डरते	**न उद्विजते**	=उद्वेग को प्राप्त

	नहीं होता यानी नहीं घबराता		इन चारों से
च	=और	मुक्तः	=रहित है
यः	=जो	सः	=वह भक्त
हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगैः	=हर्ष, क्रोध, भय और व्याकुलता	मे	=मुझको
		प्रियः	=प्यारा है

अर्थ—जिस मनुष्य से कोई प्राणी नहीं घबराता (शंकित होता) और जो किसी प्राणी से नहीं शंकित होता और जो हर्ष (किसी खुशी से फूल जाना), अमर्ष (क्रोध), भय और व्याकुलता से रहित है, वह मुझे प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गत-व्यथः।
सर्व-आरम्भ-परित्यागी, यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः॥

	+ और	शुचिः	=(भीतर-बाहर) जो पवित्र रहता है
अनपेक्षः	=जो इच्छारहित है यानी जो अपने आप प्राप्त हुए भोगों के भोगने की भी इच्छा नहीं करता	दक्षः	=(समयानुसार काम करने में) जो चतुर है
		उदासीनः	=उदासीन यानी

	पक्षपात से रहित है
गत-व्यथः	=मन में किसी प्रकार का खेद या व्यथा नहीं रखता
	+ तथा
सर्व-आरम्भ-परित्यागी	=इस लोक और परलोक के निमित्त जितने भी सकाम कर्म किये जाते हैं उन सबका त्याग करनेवाला है, ऐसा
यः	=जो
मत्-भक्तः	=मेरा भक्त है
सः	=वह
मे	=मुझको
प्रियः	प्यारा है

अर्थ—जो अपने आप प्राप्त हुए भोगों के भोगने की भी परवाह नहीं करता, जो (भीतर और बाहर दोनों तरह से) पवित्र है, जो (व्यवहार और परमार्थ की बातों में) चतुर और उदासीन है अर्थात् जो मित्र या शत्रु किसी की ओर नहीं होता अथवा जो पक्षपात से रहित है, जिसके मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं है और जिसने लोक तथा पर-लोक के फल-भोगों की प्राप्ति करानेवाले कामों को त्याग दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति।
शुभ-अशुभ-परित्यागी, भक्तिमान्, यः, सः, मे, प्रियः ॥

यः	=जो		+ तथा
न	=न (तो)	यः	=जो
हृष्यति	=हर्षित होता है	शुभ-अशुभ-परित्यागी	=शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) कर्मों के फल का परित्याग कर देता है
न	=न		
द्वेष्टि	=द्वेष करता है		
न	=न		
शोचति	=शोक (रंज) करता है	सः	=वह
	+ और	भक्तिमान्	=भक्त
न	=न	मे	=मेरा
काङ्क्षति	=(किसी चीज़ की) इच्छा करता है	प्रियः	=प्यारा है

अर्थ—जो (मन चाही चीज़ मिलने पर) न तो प्रसन्न होता है, और (अप्रिय वस्तु मिलने पर) न द्वेष यानी घृणा करता है, जो (प्यारी वस्तु के वियोग से) न शोक करता है और न (अप्राप्त वस्तु की) इच्छा करता है, तथा जिसने (कर्मों के) शुभ-अशुभ (भले-बुरे) फलों को छोड़ दिया है, (किन्तु अपना कर्तव्य समझ कर्म करता है) वही भक्त मुझे प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥

समः, शत्रौ, च, मित्रे, च, तथा, मान-अपमानयोः ।
शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु, समः, सङ्ग-विवर्जितः ॥

शत्रौ =शत्रु
च =और
मित्रे =मित्र में
तथा =वैसे ही
मान-अपमानयोः =मान और अपमान में
+जो
समः =समान भाव रहता है
च =और
शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु =सर्दी-गरमी तथा सुख-दुःख में
समः =सम या तुल्य है
+ एवं
सङ्ग-विवर्जितः=आसक्ति से रहित है अर्थात् विषयों में लिप्त नहीं होता

अर्थ—जो पुरुष शत्रु, मित्र, मान-अपमान को एक समान समझता है, जो सर्दी-गरमी, सुख-दुःख में एक समान रहता है, जो किसी में आसक्त नहीं होता अर्थात् जो शरीर, इन्द्रिय आदि के विषयों में लिप्त नहीं होता।

इसका सम्बन्ध अगले श्लोक से है

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ २० ॥

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः, मौनी, संतुष्टः, येन, केनचित्।
अनिकेतः, स्थिर-मतिः, भक्तिमान्, मे, प्रियः, नरः ॥

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः =जिसको निन्दा और स्तुति तुल्य है अर्थात् जिसके लिए निन्दा-स्तुति समान हैं

मौनी	=जो मौनधारी है अथवा जो वेदांत-शास्त्र का मनन करता है	अनिकेतः	=जिसके रहने का कोई स्थान नियत नहीं है
			+ और
येन-केनचित्	=दैवयोग से विना यत्न थोड़ा बहुत जो कुछ प्राप्त हो उसी में	स्थिरमतिः	=जो स्थिर-बुद्धि-वाला है (ऐसा)
		भक्तिमान्	=भक्तिमान्
		नरः	=पुरुष
सन्तुष्टः	=जो (सदा) सन्तुष्ट है	मे	मुझे
		प्रियः	=प्यारा है

अर्थ—जिसके लिए निन्दा-स्तुति एक समान हैं, जो मौनी है अर्थात् व्यर्थ बहुत नहीं बोलता अथवा जो वेदान्त-शास्त्र का मनन करनेवाला है, प्रारब्धवश विना यत्न किए जो कुछ मिल जाय उसी में जो सदा संतुष्ट रहता है, जो एक स्थान पर घर बनाकर सदैव नहीं रहता और जो स्थिर बुद्धिवाला है यानी जिसका मन चंचल नहीं है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

ये, तु, धर्म्यामृतम्, इदम्, यथा, उक्तम्, पर्युपासते।
श्रद्दधानाः, मत्-परमाः, भक्ताः, ते, अतीव, मे, प्रियाः॥

तु	=और	इदम्	=इस
ये	=जो लोग	यथा-उक्तम्	=ऊपर कहे हुए
मत्-परमाः	=मेरे आश्रित हुए (अर्थात् मुझ अविनाशी को अपना परम आश्रय और परम पूज्य मानते हुए)	धर्म्यामृतम्	=धर्मरूपी अमृत का
		पर्युपासते	=सेवन करते हैं
		ते	=वे
		भक्ताः	=भक्त
		मे	=मुझे
		अतीव	=अत्यन्त
श्रद्दधानाः	=श्रद्धावान् होकर	प्रियाः	=प्यारे हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! जो भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे इस धर्मयुक्त अमृतरूपी वाक्यों को सुनकर मेरे उपदेश के अनुसार इन नियमों पर चलते हैं और मुझ अविनाशी को ही अपना परम आश्रय समझते हुए मेरी ही उपासना करते हैं, वे भक्त मुझे बहुत ही प्यारे हैं ।

खुलासा—जो भक्त ऊपर कहे हुए अमृतरूपी मृत्यु-भय को मिटानेवाले नियमों पर चलते हैं वे भगवान् के प्यारे हो जाते हैं; अतएव हर एक मोक्ष चाहनेवाले को, जो विष्णु भगवान् के परमधाम को प्राप्त करना चाहते हैं, भगवान् के बताए हुए इन नियमों के अनुसार अवश्य चलना चाहिए ।

बारहवाँ अध्याय समाप्त ।

गीता के बारहवें अध्याय का माहात्म्य

विष्णु भगवान् ने लक्ष्मीजी से कहा—"हे प्रिये, गीता के बारहवें अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। कोल्हापुर नाम के प्रसिद्ध नगर में बृहद्रथ नाम का एक राजा रहता था। उसने वेद-विधि के अनुसार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसी समय राजा बीमार हुआ और मर गया। तब यज्ञ करानेवालों ने यह तय किया कि राजा का शव (लाश) तेल में रखकर सुरक्षित रक्खा जाय और यज्ञ का घोड़ा लौटने पर उसका पुत्र यज्ञ करे। इस निर्णय के अनुसार राजा का शव तेल में रख दिया गया। जब यज्ञ का घोड़ा देश भर में घूमकर यज्ञभूमि में आया; तब दैवयोग से उसे कोई चुरा ले गया। बहुत खोज करने पर भी जब घोड़े का कहीं पता न लगा, तब राजकुमार दुखित होकर देवी के मन्दिर में जाकर प्रार्थना करने लगा—'हे देवि, हे जगदम्बे, मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। मुझे इस धर्मसंकट से बचाइए। यज्ञ में दीक्षित मेरे पिता की मृत्यु हो गई और यज्ञ का घोड़ा भी कोई चुरा ले गया। आप सब जगह व्यापक हैं, तीनों लोकों में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों; अतएव आपकी कृपा से मुझे यज्ञ का घोड़ा मिल जाय।' इस प्रकार स्तुति करने पर देवी प्रसन्न होकर बोली—'राजकुमार, मन्दिर के द्वार पर एक सिद्ध ब्राह्मण रहता है, उसके पास जाओ, वह तुम्हारा घोड़ा मँगा देगा।' देवी की यह आज्ञा पाकर

वह उस ब्राह्मण के पास गया और हाथ जोड़कर उससे सब हाल कहा । ब्राह्मण ने आँखें मूँदकर देवताओं का ध्यान किया। उसी दम इन्द्र आदि देवता वहाँ आये और ब्राह्मण ने उनसे कहा—'इस राजकुमार के यज्ञ का घोड़ा, जहाँ कहीं हो, आप ला दें ।' ब्राह्मण के कहने पर देवताओं ने घोड़ा लाकर राजकुमार को दे दिया । घोड़ा पाकर राजपुत्र बड़ा प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़कर फिर ब्राह्मण से बोला—'भगवन्' आपका यह अद्भुत प्रभाव देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है । आप सब कुछ कर सकते हैं, आपकी महिमा अपार है । मेरे पिता की मृत्यु हो गई है और उनका शव (लाश) तेल में रक्खा है । यदि आप उनको जिला दें तो बड़ी कृपा हो ।' राजकुमार की प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण को दया आई । राजा का शव जहाँ रक्खा था, वहाँ वह गया और कुछ मन्त्र पढ़कर उस शव पर जल छिड़क दिया । उस जल के छींटे पड़ते ही राजा जीवित होकर उठ बैठा और ब्राह्मण से पूछने लगा—'हे ब्रह्मन्, आपको यह शक्ति कैसे प्राप्त हुई है, जिसके प्रभाव से आपने यह अद्भुत काम किया है ।' ब्राह्मण ने कहा—'मैं सदा गीता के बारहवें अध्याय का पाठ किया करता हूँ, यह उसी का प्रभाव है ।' राजा बृहद्रथ यज्ञ समाप्त करके गीता के बारहवें अध्याय का पाठ करने लगा । अन्त को वह शरीर त्यागकर वैकुण्ठलोक को गया ।"

तेरहवाँ अध्याय
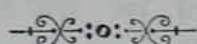
श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इदम्, शरीरम, कौन्तेय, क्षेत्रम्, इति, अभिधीयते।
एतत्, यः, वेत्ति, तम्, प्राहुः. क्षेत्रज्ञः, इति, तत्-विदः ॥

श्रीभगवान् फिर बोले—

कौन्तेय	=हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !	इति	=ऐसा
इदम्	=यह	अभिधीयते	=कहा जाता है
शरीरम्	=शरीर	यः	=जो
क्षेत्रम्	=क्षेत्र है	एतत्	=इसको
		वेत्ति	=जानता है

तम्	=उसको		वाले
तत्-विदः	=यथार्थदर्शी पुरुष अथवा उसको जानने-	क्षेत्रज्ञः	=क्षेत्रज्ञ
		इति	=करके
		प्राहुः	=कहते हैं

अर्थ—भगवान् ने कहाः—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! इस शरीर को 'क्षेत्र' कहते हैं, और जो पुरुष इसे जानता है, उसे इस विषय के जानकार यानी तत्त्ववेत्ता लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

व्याख्या--सभी जानते हैं कि 'क्षेत्र' का अर्थ खेत है। भगवान् ने शरीर को क्षेत्र इसलिए कहा है कि यह कर्मरूपी बीजों के फल की उत्पत्ति का स्थान है, अर्थात् जिस तरह खेत में बीज डालने से अन्न या फल पैदा होता है, इसी तरह इस शरीररूपी खेत में कर्मानुसार 'पाप' और 'पुण्य' ये दो फल पैदा होते हैं, जो इस क्षेत्ररूपी शरीर को जाननेवाला है और जो इसके अन्दर चेतन आत्मा है वही 'क्षेत्रज्ञ' है। मतलब यह कि यह शरीर क्षेत्र या खेत है। पाप-पुण्य इसी खेत में पैदा होते हैं, किन्तु क्षेत्रज्ञ या जीव-आत्मा का खेत के पाप-पुण्यों से कोई सरोकार नहीं। आगे चलकर भगवान् जीव और ब्रह्म की एकता दिखलाते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञम्, च, अपि, माम्, विद्धि, सर्व-क्षेत्रेषु, भारत।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, ज्ञानम्, यत्, तत्, ज्ञानम्, मतम्, मम ॥

च	=और	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः	=क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का
भारत	=हे अर्जुन	यत्	=जो
सर्व-क्षेत्रेषु	=सब क्षेत्रों में यानी सब शरीरों में	ज्ञानम्	=ज्ञान है
क्षेत्रज्ञम्	=क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा	तत्	=वही
माम्	=मुझको	ज्ञानम्	=(सच्चा) ज्ञान है
अपि	=ही		+ऐसा
विद्धि	=जान	मम	=मेरा
		मतम्	=मत है

अर्थ—हे राजा भरत की संतान—अर्जुन ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान, यानी सब-शरीरों में जीव तू मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और जीवात्मा के विषय का जो ज्ञान है वही मेरी समझ में यथार्थ यानी सच्चा ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तत्, क्षेत्रम्, यत्, च, यादृक्, च, यत्-विकारि, यतः, च, यत्। सः, च, यः, यत्-प्रभावः, च, तत्, समासेन, मे, शृणु ॥

तत्	=वह	च	=और
क्षेत्रम्	=शरीररूपी क्षेत्र	यादृक्	=जैसा है
यत्	=जो कुछ है	च	=तथा

यत्-विकारि	=जिन (इन्द्रियादि) विकारों-वाला है	यः	=जो या जिस स्वरूप का है
च	=और	च	=एवं
यतः	=जिस कारण से	यत्-प्रभावः	=उसका जैसा प्रभाव है
यत्	=जो वह हुआ है +तथा	तत्	=सो (इन सबको)
सः	वह क्षेत्रज्ञ	समासेन	=संक्षेप से
च	=भी	मे	=मुझसे
		शृणु	=सुन

अर्थ—वह क्षेत्र यानी शरीर क्या है ? किसके सदृश है, उसमें क्या-क्या विकार पैदा होते हैं, किन-किन कारणों से क्या-क्या कार्य उत्पन्न होते हैं अथवा यह जड़ स्थूल शरीर किसके संयोग से हुआ है, और वह क्षेत्रज्ञ यानी जीव वास्तव में क्या है तथा अचिन्त्य, ऐश्वर्य, योग-शक्ति आदि प्रभावों से किस प्रकार युक्त है, यह सब मैं तुझे, संक्षेप में बताता हूँ ; इन्हें तू सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिः, बहुधा, गीतम्, छन्दोभिः, विविधैः, पृथक् ।
ब्रह्मसूत्र-पदैः, च, एव, हेतुमद्भिः, विनिश्चितैः ॥

ऋषिभिः =ऋषियों द्वारा
वहुधा =बहुत प्रकार से
+यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान
गीतम् =कथन किया गया है अर्थात् (भली प्रकार) समझाया गया है
+तथा
विविधैः =विविध प्रकार से
छन्दोभिः ऋग्वेद आदि में मन्त्रों द्वारा
पृथक् =अलग-अलग या भिन्न-भिन्न प्रकार से
+इस ज्ञान के विषय में वर्णन किया गया है
च =और
विनिश्चितैः =भली प्रकार निश्चय किए हुए या निर्णय किए हुए
हेतुमद्भिः =युक्ति-युक्त
ब्रह्मसूत्र-पदैः =ब्रह्मसूत्र (वेदान्त-सूत्र) के पदों द्वारा
एव =भी
+यह विषय ख़ूब खोलकर कहा गया है

अर्थ—इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विषय को वशिष्ठ आदि ऋषियों ने ऋक्, साम आदि वेदों और उपनिषदों में विविध प्रकार के वेद-मन्त्रों द्वारा भिन्न-भिन्न विधि से वर्णन किया है और निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्र के पदों में भी युक्तियों सहित यह विषय ख़ूब खोलकर समझाया गया है।

आगे भगवान् दो श्लोकों में क्षेत्र का लक्षण कहते हैं:—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूतानि, अहङ्कारः, बुद्धिः, अव्यक्तम्, एव, च ।
इन्द्रियाणि, दश, एकम्, च, पञ्च, च, इन्द्रिय-गोचराः ॥
इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखम्, संघातः, चेतना, धृतिः ।
एतत्, क्षेत्रम्, समासेन, स-विकारम्, उदाहृतम् ॥

महाभूतानि =पृथ्वी, जल और आकाश आदि पाँच महाभूत
अहङ्कारः =अहङ्कार अर्थात् "मैं करता हूँ" इस प्रकार का भाव यानी अभिमान
बुद्धिः =बुद्धि यानी विचार-शक्ति
च =और
एव =ऐसे ही
अव्यक्तम् =अव्यक्त रूप अर्थात् कारण प्रकृति या त्रिगुणमयी माया
दश =दस
इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, कान, आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ, पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ
च =और
एकम् =एक मन
च =तथा
पञ्च =पाँच

इन्द्रिय-गोचराः =ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय अर्थात् शब्द-स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (इन २४ तत्त्वों का समूह)
+एवं
इच्छा =इच्छा यानी चाह
द्वेषः =द्वेष, ईर्षा अथवा क्रोध
सुखम् =सुख
दुःखम् =दुःख
संघात =पाँच तत्त्वों से बना यह शरीर
चेतना =चेतना यानी विचार-शक्ति
धृतिः =धीरज
+इस तरह
एतत् =यह
क्षेत्रम् =क्षेत्र (शरीर)
सविकारम्=विकारों सहित
समासेन =संक्षेप से
उदाहृतम् =बतलाया गया है

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति अथवा त्रिगुणमयी माया) पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ, एक मन और शब्द आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों के विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात यानी पाँच तत्त्वों से बना यह शरीर, चेतना और धीरज, इन सब विकारों से यह शरीर (क्षेत्र) बना हुआ बतलाया गया है।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! पहिले क्षेत्र—शरीर—के स्वरूप को तू सुन—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पाँच महाभूत हैं। इन सबका कारण अहङ्कार यानी अभिमान है।

अहङ्कार का कारण बुद्धि और बुद्धि का कारण सत्त्व, रज, तम गुणात्मक अव्यक्त यानी प्रकृति या माया है। इस प्रकार पाँच महाभूत अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त ये आठ प्रकार की प्रकृतियाँ सांख्य-मतानुसार कहलाती हैं। हाथ, पाँव, मुँह, गुदा और लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं; आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं ; एक मन ; शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियों के विषय--इस तरह ये चौबीस हुए । इन चौबीसों को सांख्य शास्त्रवाले २४ तत्त्व कहते हैं। इनके सिवा 'इच्छा' यानी इस लोक और परलोक के पदार्थों की अभिलाषा अथवा सुखकारी वस्तु देखने व मिलने की चाह ; 'द्वेष' यानी दुःखदायी पदार्थों से घृणा या उन्हें न देखने की इच्छा ; 'सुख-दुःख'; 'संघात' यानी पाँच तत्त्वों से बना यह शरीर; 'चेतना' यानी विचार करने की शक्ति और धीरज ये सब ३१ तत्व क्षेत्र या शरीर के विकार हैं। ऐसा तू जान।

अब कृष्ण भगवान् क्षेत्रज्ञ के जानने योग्य साधनों को विस्तार-पूर्वक कहते हैं--

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्।
आचार्य-उपासनम्, शौचम्, स्थैर्यम्, आत्म-विनिग्रहः ॥

अमानित्वम् =मान-रहित अर्थात् शरीर के बड़प्पन, कुलीनता, विद्या, बुद्धि, धन, और प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना

अदम्भित्वम्	=दम्भ रहित यानी दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अपनी बड़ाई न करना	आर्जवम्	=सरलता (सब से सिधाई का बर्ताव करना)
अहिंसा	=हिंसा-रहित यानी तन, मन, वचन से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना	आचार्य-उपासनम्	=गुरु-सेवा
क्षान्तिः	=क्षमा, यानी किसी के अपराध करने पर भी क्रोध न करना	शौचम्	=(बाहर भीतर) पवित्र रहना
		स्थैर्यम्	=स्थिरता या दृढ़-निश्चय
		आत्म-विनिग्रहः	=मन का संयम अर्थात् अपने मन को अपने वश में रखना

अर्थ—(१) मानरहित अर्थात् मान की इच्छा न होना; (२) अपना प्रभाव जमाने के लिए दूसरों के सामने अपनी बड़ाई न करना; (३) अहिंसा—शरीर, मन, वाणी से किसी भी प्राणी को न सताना; (४) क्षमा यानी दूसरों के कष्ट देने पर भी क्रोध न करना; (५) सरलता अर्थात् कोमल स्वभाव होना या भीतर बाहर एक समान होना; (६) गुरु-सेवा—ब्रह्मविद्या का उपदेश देनेवाले गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा करना; (७) शुद्ध या पवित्र रहना; (८) स्थिरता—सब

ओर से मन हटाकर, अनेक प्रकार के विघ्न होने पर भी एकमात्र मोक्ष प्राप्त करने के लिए कोशिश करते रहना; (९) आत्मा का निग्रह अर्थात् अपने मन को सब ओर से हटाकर और ठीक रास्ते पर लगाकर अपने वश में रखना ;

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रिय-अर्थेषु, वैराग्यम्, अनहङ्कारः, एव, च ।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम् ॥

इन्द्रिय-अर्थेषु	=इन्द्रियों के विषयों में		+ तथा
वैराग्यम्	=वैराग्य (प्रीति न करना)	**जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम्**	=जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि व्याधियों के दुःखों और दोषों को सदा देखते रहना या उनका ध्यान रखना
च, एव	=और ऐसे ही		
अनहङ्कारः	=अहङ्काररहित होना यानी मन में किसी प्रकार का घमण्ड न करना		

अर्थ—(१०) इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य होना अर्थात् कान आदि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में रुचि न रखना ; (११) अहङ्कार-रहित होना यानी "मैं ऐसा हूँ वैसा हूँ" इस प्रकार का घमण्ड न करना; (१२) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा,

और ज्वर आदि की व्याधियों के दुःखों और दोषों को सदा ध्यान में रखना ;

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिः, अनभिष्वङ्गः, पुत्र-दार-गृह-आदिषु ।
नित्यम्, च, सम-चित्तत्वम्, इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु ॥

पुत्र-दार-गृह-आदिषु = पुत्र-स्त्री, घर आदि में
असक्तिः = आसक्ति न रखना यानी उनमें उलझे न रहना
च = और
अनभिष्वङ्गः = उनके सुख-दुःख में अपने को सुखी और दुखी न मानना
+ तथा
इष्ट-अनिष्ट उपपत्तिषु = अनुकूल और प्रतिकूल या प्रिय और अप्रिय अथवा भले-बुरे पदार्थों की प्राप्ति में
नित्यम् = सदा
सम-चित्तत्वम् = चित्त की समता बनाये रखना या समचित्त रहना

अर्थ—(१३-१४) स्त्री, पुत्र और घर गृहस्थी आदि में उलझे न रहना और उनके सुख-दुःख में अपने को सुखी तथा दुखी न मानना; (१५) भले-बुरे पदार्थों के प्राप्त होने पर चित्त को सदा एक समान रखना अर्थात् प्रिय वस्तु के

मिलने पर प्रसन्न न होना, और अप्रिय वस्तु के मिलने पर दुखी न होना; बल्कि दोनों दशाओं में चित्त की समता बनाये रखना;

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १०॥

मयि, च, अनन्य-योगेन, भक्तिः, अव्यभिचारिणी।
विविक्त-देश-सेवित्वम्, अरतिः, जन-संसदि॥

च	=और	विविक्त-देश-सेवित्वम्	=एकान्त और शुद्ध स्थान में रहना
मयि	=मुझ ईश्वर में		+ तथा
अनन्य-योगेन	=अनन्य भावना से	जन-संसदि	=साधारण लोगों अथवा अज्ञानी लोगों के समाज में (जाने या बैठने में)
अव्यभि-चारिणी	=दूसरी ओर न जानेवाली अर्थात् अटल या अखण्ड		
भक्तिः	=भक्ति रखना	अरतिः	=अरुचि रखना

अर्थ—हे अर्जुन! (१६) मुझ वासुदेव में ही अनन्य भावना से अटल भक्ति या प्रीति रखना; (१७) किसी नदी के किनारे या शुद्ध स्थान में अकेले रहना; (१८) और साधारण लोगों यानी अज्ञानी पुरुषों के समाज में जाने या बैठने में अरुचि होना अथवा प्रीति न रखना;

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्, तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम् ।
एतत्, ज्ञानम्, इति, प्रोक्तम्, अज्ञानम्, यत्, अतः, अन्यथा ॥

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्	=वेदान्त-शास्त्र को पढ़ना अथवा आत्मा के ज्ञान में नित्य लगे रहना	एतत्	=यह सब
		ज्ञानम्	=ज्ञान है
		इति	=ऐसा
		प्रोक्तम्	=कहा गया है
		यत्	=जो
+ तथा		अतः	=इससे
तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम्	=तत्त्वज्ञान के अर्थ को निरन्तर विचारते रहना	अन्यथा	=उल्टा यानी विपरीत है
		+ तत्	=वह
		अज्ञानम्	=अज्ञान है

अर्थ—हे अर्जुन ! (१९) वेदान्त-शास्त्र को नित्य पढ़ना, सुनना और मनन करना अथवा आत्मा के ज्ञान में नित्य लगे रहना ; (२०) तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' (मैं ब्रह्म हूँ, वही तू भी है) इस प्रकार के तत्त्वज्ञान के विषय में निरन्तर विचार करते रहना ; ये सब क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के साधन कहे हैं। इनके विपरीत (उल्टा) जो कुछ भी है वह अज्ञान है। यानी इनके विरुद्ध चलनेवाले अज्ञानी कहलाते हैं, उन्हें कदापि सच्चा ज्ञान नहीं होता।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयम्, यत्, तत्, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, अमृतम्, अश्नुते ।
अनादिमत्, परम्, ब्रह्म, न, सत्, तत्, न, असत्, उच्यते ॥

	+अब	अनादिमत्	=अनादि अर्थात् आदि रहित या सदा रहनेवाला
यत्	=जो	परम्	=परम
ज्ञेयम्	=जानने के योग्य है	ब्रह्म	=ब्रह्म है
तत्	=उसे		+ अतएव वह
प्रवक्ष्यामि	=मैं कहूँगा	न	=न
यत्	=जिसको	सत्	=सत् यानी व्यक्त और
ज्ञात्वा	=जानकर	न	=न
	+ मनुष्य	असत्	=असत् यानी अव्यक्त
अमृतम्	=अमर भाव अर्थात् मोक्ष को	उच्यते	=कहा जाता है
अश्नुते	=भोगता है		
तत्	=वह		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो जानने योग्य है, उसे मैं कहूँगा ; उसके जान लेने से मनुष्य को अमृत की प्राप्ति होती है अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मनुष्य अक्षय आनन्द यानी मोक्ष प्राप्त करता है । वह अनादि परम ब्रह्म

है ; अतएव वह सत् असत् यानी व्यक्त या अव्यक्त नहीं कहलाता ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतः, पाणि-पादम्, तत्, सर्वतः, अक्षि-शिरः-मुखम् ।
सर्वतः, श्रुतिमत्, लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति ॥

तत्	=वह (ब्रह्म या क्षेत्रज्ञ)	श्रुतिमत्	=कानोंवाला है +और
सर्वतः	=सब ओर से	लोके	=जगत् में
पाणि-पादम्	=हाथ-पैर-वाला	सर्वम्	=सब प्राणियों को
सर्वतः	=सब ओर से		
अक्षि-शिरः-मुखम्	=आँख, सिर और मुखवाला + तथा	आवृत्य	=व्याप्त या ढक करके
सर्वतः	= सब ओर से	तिष्ठति	=स्थित है

अर्थ—हे अर्जुन ! उस क्षेत्रज्ञ यानी ब्रह्म के सब ओर हाथ-पाँव हैं ; उसके सब तरफ़ नेत्र, सिर और मुख हैं ; उसके हर ओर कान हैं । वह जगत् में सब प्राणियों को व्याप्त करके स्थित है ।

व्याख्या—कोई भी जगह ऐसी नहीं जहाँ ब्रह्म न हो। सारा जगत् उसी के आश्रित है। वह सबके कामों को देखता और सबकी बातें सुनता है। जितने भी प्राणी इस संसार में हैं,

वे उसी की सत्ता से चलते-फिरते और काम करते हैं। संक्षेप में मतलब यह है कि 'ब्रह्म' ही चेतना का कारण है, उसी के कारण हम चलते, फिरते, देखते, सुनते और बोलते हैं। विना चेतन की सहायता के हम कुछ भी नहीं कर सकते।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासम्, सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्।
असक्तम्, सर्व-भृत्, च, एव, निर्गुणम्, गुण-भोक्तृ, च ॥

+ वह ब्रह्म
सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासम् = सब इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध से विषयाकार प्रतीत होता है
+ परन्तु वास्तव में
सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम् = सब इन्द्रियों से रहित (यानी पृथक्) है
+ और
असक्तम् = असक्त यानी सम्बन्ध से रहित है
च = परन्तु
सर्व-भृत् = सबका भरण-पोषण करने-वाला है
च = और
निर्गुणम् एव = निर्गुण होने पर भी
गुण-भोक्तृ = सत्त्व, रज और तम इन तीनगुणों को भोगनेवाला भी है

अर्थ—वह ब्रह्म यद्यपि सब इन्द्रियों के गुणोंवाला प्रतीत

होता है, पर वास्तव में वह कान, नाक आदि इन्द्रियों से रहित है। वह असक्त यानी सम्बन्ध से रहित है तथापि सब का भरण-पोषण अर्थात् पालन करनेवाला वही है। इसी प्रकार निर्गुण होने पर भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का भोगनेवाला भी वही है अर्थात् सब कुछ होने के कारण वही निर्गुण और वही सगुण है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

बहिः, अन्तः, च, भूतानाम्, अचरम्, चरम्, एव, च।
सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयम्, दूरस्थम्, च, अन्तिके, च, तत् ॥

	+ वह परमात्मा		कारण
भूतानाम्	=प्राणियों के	तत्	=वह
अन्तः	=अन्दर	अविज्ञेयम्	=(मन और इन्द्रियों से) जाना नहीं जा सकता
च	=और	च	=और
बहिः	=बाहर (भी) है	तत्	=वह
चरम्	=चर यानी जंगम	अन्तिके	=समीप भी है
च	=तथा	च	=तथा
अचरम्	=अचर यानी स्थावर	दूरस्थम्	=दूर भी है
एव	=भी (वही) है		
सूक्ष्मत्वात्	=सूक्ष्म होने के		

अर्थ—वह परमात्मा सब प्राणियों के अन्दर और बाहर

मौजूद है। वह चर है और अचर भी है अर्थात् मनुष्य, पशु और पक्षी आदि चलने-फिरनेवालों के साथ चर मालूम होता है, लेकिन वही ब्रह्म वृक्ष आदि में अचर—न हिलने-डोलनेवाला—मालूम होता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, इस लिए किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह (अज्ञानियों के लिए) दूर है और (ज्ञानियों के लिए) पास भी है।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं:—हे अर्जुन! वह ब्रह्म प्राणियों और पदार्थों में सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न हो। अति सूक्ष्म यानी बारीक होने के कारण आँख द्वारा वह नहीं देखा जा सकता, न और किसी तरह जाना जा सकता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ही उसे जान सकते हैं, न कि मोटी बुद्धिवाले अज्ञानी। जो अपने आत्मा को ही परमात्मा समझते हैं, वह उन्हीं के पास है। किन्तु जो अज्ञानी यह समझते हैं कि परमेश्वर जगन्नाथ में हैं, बदरीनारायण में हैं, वे इधर-उधर भटकते रहते हैं और परमात्मा उनसे दूर रहता है। जिस तरह मृग की नाभि में ही कस्तूरी रहती है, किन्तु वह, अज्ञानवश, उसे अपने अन्दर न समझकर, उसकी सुगन्ध के कारण, इधर-उधर मारा-मारा घूमता रहता है और उसे कहीं नहीं पाता, इसी प्रकार जो मूर्ख आत्मा और परमात्मा को एक न समझकर और अपने अन्दर ही उसे न जानकर उसकी तलाश में इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, उन्हें वह सच्चिदानन्द परमात्मा कभी नहीं मिल सकता।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

अविभक्तम्, च, भूतेषु, विभक्तम्, इव, च, स्थितम् ।
भूत-भर्तृ, च, तत्, ज्ञेयम्, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, च ॥

च	=और (वह)
भूतेषु	=सब प्राणियों में
अविभक्तम्	=विभागरहित होता हुआ
च	=भी
विभक्तम्	=विभाजित हुआ यानी बँटा हुआ
इव	=सा
स्थितम्	=स्थित है (अर्थात् दिखाई देता है)
तत्	=वह
ज्ञेयम्	=क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा
भूत-भर्तृ	=विष्णुरूप होकर प्राणियों का पालन करनेवाला है
च	=तथा
ग्रसिष्णु	=(प्रलय-काल में) रुद्ररूप होकर नाश करनेवाला है
च	=और
प्रभविष्णु	=उत्पत्ति-काल में ब्रह्मा-रूप होकर उत्पन्न करने-वाला है

अर्थ—यद्यपि सब प्राणियों में (आकाश के समान) वह एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप से बँटा हुआ दिखाई देता है। वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही (विष्णु-रूप होकर) सब प्राणियों का पालन करनेवाला, (प्रलय-काल में) रुद्र-रूप होकर नाश करनेवाला और उत्पत्ति-काल में ब्रह्मा-रूप होकर उत्पन्न करनेवाला है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसःपरमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

ज्योतिषाम्, अपि, तत्, ज्योतिः, तमसः, परम्, उच्यते ।
ज्ञानम्, ज्ञेयम, ज्ञान-गम्यम्, हृदि, सर्वस्य, धिष्ठितम् ॥

तत्	=वह ब्रह्म	ज्ञानम्	=ज्ञान-स्वरूप है
ज्योतिषाम्	=ज्योतियों का	ज्ञेयम्	=अमानित्व आदि ज्ञानसाधनों से जानने योग्य है
अपि	=भी		
ज्योतिः	=ज्योति (तेज)		
तमसः	=अन्धकार अथवा अज्ञान-रूपी तम से	ज्ञान-गम्यम्	=तत्वज्ञान से ही जाना जाता है +और
परम्	=परे	सर्वस्य	=सबके
उच्यते	=कहा जाता है + वह परमात्मा	हृदि	=हृदय में
		धिष्ठितम्	=विराजमान है

अर्थ—वह ज्योतियों की भी ज्योति है (अर्थात् वह सूर्य-चन्द्र आदि में भी प्रकाश करनेवाला है) अज्ञानरूपी अन्धकार से परे कहा जाता है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, अमानित्व आदि ज्ञान-साधनों से (जिनका वर्णन पहिले किया जा चुका है) जानने योग्य है, तत्वज्ञान से ही जाना जाता है और सबके हृदय में वह विराजमान है अर्थात् वह सब जगह मौजूद है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इति, क्षेत्रम्, तथा, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, च, उक्तम्, समासतः।
मद्-भक्तः, एतत्, विज्ञाय, मद्-भावाय, उपपद्यते ॥

इति	=इस प्रकार	उक्तम्	=कहे गये
क्षेत्रम्	=क्षेत्र (शरीर)	एतत्	=इसको
तथा	=और	विज्ञाय	=जानकर
ज्ञानम्	=ज्ञान	मद्-भक्तः	=मेरा भक्त
च	=तथा	मद्-भावाय	=मेरे भाव को या मेरे स्वरूप सच्चिदानन्द को
ज्ञेयम्	=ज्ञेय (क्षेत्रज्ञ या परमात्मा का स्वरूप)		
समासतः	=संक्षेप से	उपपद्यते	=प्राप्त हो जाता है

अर्थ—हे अर्जुन! इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् शरीर, ज्ञान और ज्ञेय यानी क्षेत्रज्ञ (जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप) ये तीनों संक्षेप से मैंने कहे। जो मेरा भक्त उक्त तीनों विषयों को पूर्ण रीति से जान लेता है, वह मेरा भक्त ही नहीं, बल्कि मेरे सच्चिदानन्द-स्वरूप होने के योग्य हो जाता है यानी वह मेरी भक्ति में लीन होकर और ऊपर कहे हुए तीनों विषयों का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा जाता है।

सातवें अध्याय में भगवान् ने 'परा' और 'अपरा' नाम की दो प्रकृतियों का वर्णन किया है और इस अध्याय के शुरू में भगवान् ने क्षेत्रज्ञ को अपना ही रूप कहा है। अब भगवान् क्षेत्र

और क्षेत्रज्ञ के विषय को और भी स्पष्ट करने के लिए उसे 'प्रकृति' और 'पुरुष' के नाम से आगे के श्लोकों में इस प्रकार वर्णन करते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥१६॥

प्रकृतिम्, पुरुषम्, च, एव, विद्धि, अनादी, उभौ, अपि।
विकारान्, च, गुणान्, च, एव, विद्धि, प्रकृति-सम्भवान्॥

प्रकृतिम्	=प्रकृति अथवा ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति या त्रिगुणमयी माया	विद्धि	=समझ
च	=और	च	=और
पुरुषम्	=पुरुष यानी जीवात्मा अथवा क्षेत्रज्ञ	विकारान्	=देह इन्द्रिय आदि सोलह विकारों को
उभौ	=इन दोनों को	च	=तथा
अपि	=भी	गुणान्	=सुख-दुःख और मोह आदि गुणों को
अनादी	=(तू) अनादि	प्रकृति-सम्भ-वान्एव	=प्रकृति से ही उत्पन्न हुए
एव	=ही	विद्धि	=तू जान

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति (यानी माया) और पुरुष (जीवात्मा) इन दोनों को तू अनादि ही समझ। सोलह विकार (अर्थात् पृथिवी, जल और वायु आदि पाँच महाभूत;

हाथ, पाँव आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ ; आँख, कान, नाक आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन तथा सुख, दुःख और मोह आदि गुण मेरी (अपरा) प्रकृति से ही पैदा हुए जान।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

कार्य-कारण-कर्तृत्वे, हेतुः, प्रकृतिः, उच्यते।
पुरुषः, सुख-दुःखानाम्, भोक्तृत्वे, हेतुः, उच्यते॥

कार्य-कारण-कर्तृत्वे	=कार्य (यह स्थूल शरीर) और कारण (सुख-दुःख आदि गुण) के उत्पन्न करने में	उच्यते	=कही जाती है
			+ और
		सुख-दुःखानाम्	=सुख-दुःखों के
		भोक्तृत्वे	=भोगने में
		पुरुषः	=जीवात्मा
प्रकृतिः	=प्रकृति	हेतुः	=कारण
हेतुः	=कारणरूप	उच्यते	=कहा जाता है

अर्थ—भगवान् कहते हैं:—हे अर्जुन ! कार्य (शरीर आदि) और कारण (सुख-दुःख आदि गुण) अथवा करण (जो दस इन्द्रियाँ आदि हैं) को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति है और पुरुष-जीवात्मा सुख-दुःखों का भोगनेवाला है।

व्याख्या—यहाँ 'कार्य' से मतलब शरीर से है। सुख-दुःख आदि गुण जो प्रकृति से पैदा होते हैं 'कारण' कहलाते हैं। जब प्रकृति ही शरीर और इन्द्रियों को उत्पन्न करती है तब वही संसार का मूलकारण है। प्रकृति जड़ है, मगर चेतन के साथ सम्बन्ध होने

से वह जगत् की उत्पत्ति का कारण-रूप है ; इसी तरह निर्विकार पुरुष भी जड़ प्रकृति के साथ सुख-दुःख भोगनेवाला मालूम होता है। अब यह साफ़ ज़ाहिर है कि प्रकृति और पुरुष ही संसार के कारण हैं ; उनमें से प्रकृति शरीर और इन्द्रियों को पैदा करती है और पुरुष यानी जीवात्मा सुख-दुःख को भोगनेवाला मालूम होता है, पर वास्तव में वह शुद्ध परमानन्दस्वरूप है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुषः, प्रकृति-स्थः, हि, भुङ्क्ते, प्रकृति-जान्, गुणान् ।
कारणम्, गुण-सङ्गः, अस्य, सत्-असत्-योनि, जन्मसु ॥

पुरुषः	=पुरुष अथवा आत्मा	अस्य	=इस पुरुष के यानी इस जीवात्मा के
प्रकृति-स्थः	=प्रकृति में स्थित हुआ	सत्-असत्-योनि	=अच्छी और बुरी योनियों में
हि	=ही	जन्मसु	=जन्म लेने में
प्रकृति-जान्	=प्रकृति से उत्पन्न हुए	गुण-सङ्गः	=गुण संग अर्थात् प्रकृति के गुणों का यह सम्बन्ध ही
गुणान्	=सुख-दुःख आदि गुणों को	कारणम्	=कारण है
भुङ्क्ते	=भोगता है		
	+ और इसलिए		

अर्थ—हे अर्जुन ! पुरुष अपनी प्रकृति में स्थित हुआ ही,

प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख-दुःख आदि गुणों को निस्संदेह भोगता है। इसीलिए प्रकृति के गुणों में फँसे रहने के कारण से ही पुरुष को अच्छी-बुरी या ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अर्थात् सत्त्वगुण के सम्बन्ध से देवता, रजोगुण के सम्बन्ध से मनुष्य और तमोगुण के सम्बन्ध से पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में इस पुरुष को जन्म लेना पड़ता है; किन्तु वास्तव में यह पुरुष सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि के झंझटों से रहित है।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषःपरः ॥२२॥

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च, भर्ता, भोक्ता, महा-ईश्वरः,
परमात्मा, इति, च, अपि, उक्तः, देहे, अस्मिन्, पुरुषः, परः ॥

अस्मिन्	=इस
देहे	=देह में
परःपुरुषः	=त्रिगुणमयी माया से अतीत पुरुष
अपि	=ही
उपद्रष्टा	=साक्षी की तरह समीप बैठकर देखनेवाला है
च	=तथा
अनुमन्ता	=(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि को उनके व्यवहारों में) ठीक सम्मति या सलाह देने-वाला है
भर्ता	=अपनी सत्ता से शरीर का पालन-

	पोषण करने-वाला है
भोक्ता	=स्वयम् निर्विकार होते हुए भी सुख-दुःख आदि गुणों को भोगने-वाला है
महा-ईश्वरः	=(ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने के कारण) वह महान् ईश्वर है
च	=और
परमात्मा	=शुद्ध सच्चिदानन्द-घन होने से पर-मात्मा है
इति	=ऐसा
उक्तः	=कहा गया है

अर्थ—इस शरीर में यह त्रिगुणमयी माया से अतीत पुरुष ही देह, इन्द्रिय आदि के व्यापारों को साक्षी की तरह समीप बैठकर देखनेवाला और प्रत्येक काम में यथार्थ सम्मति देनेवाला है; अपनी सत्ता से देह का पालन-पोषण करनेवाला है; प्राणि-मात्र का आधार अथवा धारण करने के कारण वह भर्ता है। वह स्वयम् निर्विकार होता हुआ जीवरूप से सुख-दुःख आदि गुणों का भोगनेवाला है। (ब्रह्मा आदि का स्वामी होने के कारण) वह महेश्वर है, शुद्ध सच्चिदानन्द अथवा सबमें व्यापक होने के कारण वह परमात्मा है। यह क्षेत्रज्ञ का वास्तविक स्वरूप है। (मतलब यह कि जो आत्मा है वही परमात्मा है, और जिसको परमात्मा परमेश्वर कहते हैं, वह यही आत्मा है। इस श्लोक में जीव और ब्रह्म की एकता को भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है)।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

यः, एवम्, वेत्ति, पुरुषम्, प्रकृतिम्, च, गुणैः, सह ।
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, न, सः, भूयः, अभिजायते ॥

यः	=जो मनुष्य	सर्वथा	=सब प्रकार से
एवम्	=इस प्रकार	वर्तमानः	=बर्तता हुआ अर्थात् जगत् के व्यवहार करता हुआ
पुरुषम्	=पुरुष को	अपि	=भी
च	=और	भूयः	=फिर
गुणैः	=गुणों के	न	=नहीं
सह	=साथ	अभिजायते	=जन्म लेता
प्रकृतिम्	=प्रकृति को		
वेत्ति	=जानता है		
सः	=वह		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो इस तरह पुरुष को और प्रकृति को गुणोंसहित जान लेता है, वह महापुरुष जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता। (मतलब यह कि जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध तथा जीवात्मा-परमात्मा की एकता का यथार्थ ज्ञान रखता हुआ सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता है वह आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति, केचित्, आत्मानम्, आत्मना।
अन्ये, सांख्येन, योगेन, कर्म-योगेन, च, अपरे ॥

केचित् =कितने ही पुरुष
आत्मानम् =सच्चिदानन्दघन-स्वरूप आत्मा को
आत्मना =आत्मिक बल से (अथवा निर्मल अन्तःकरण की वृत्ति से)
आत्मनि =अपने हृदय में (यानी अपने आत्मा में)
ध्यानेन =('अहं ब्रह्म अस्मि') इस प्रकार के ध्यान द्वारा
पश्यन्ति =देखते हैं
अन्ये =दूसरे लोग
सांख्येन =सांख्य (ज्ञान)
योगेन =योग से (यानी प्रकृति-पुरुष के विवेक द्वारा)
च =और
अपरे =कुछ और लोग
कर्म-योगेन =कर्मयोग से (यानी ईश्वर की सेवा करने के लिए निष्काम कर्म द्वारा)
+ अपने भीतर आत्मसाक्षात्कार करते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! कितने ही पुरुष अपने हृदय में ध्यान द्वारा उस सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को अपने आत्मिक बल से देखते हैं ; कितने ही सांख्य-योग से या तत्त्व-चिन्तन द्वारा और कितने ही कर्म-योग (यानी ईश्वर की सेवा करने के लिये निष्काम कर्म) द्वारा अपने हृदय में आत्म-साक्षात्कार करते हैं

व्याख्या—भगवान् ने यहाँ तीन तरह के पुरुषों का वर्णन किया है। उत्तम पुरुष वह है जो कान आदि इन्द्रियों को शब्द आदि विषयों से हटाकर और चित्त को सब ओर से खींचकर एकाग्रतापूर्वक आत्मा में लगा देता है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ध्यान का प्रवाह लगातार जारी रहने से योगी पुरुष अपने अन्तःकरण में अपने आत्मबल से अपने ही आत्मा में उस परमात्मा का अनुभव करने लगता है अर्थात् उसे अपने ही भीतर वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा दिखाई देने लगता है। सांख्ययोगवाले जड़-चेतन प्रकृति या क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ पर निरन्तर विचार करके अथवा तत्त्व चिन्तन द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार विचार करनेवाले पुरुष मध्यम श्रेणी के कहलाते हैं। कितने ही लोग कर्मयोग द्वारा (अर्थात् ईश्वर-अर्पण बुद्धि करके निष्काम कर्म करके चित्त की शुद्धि द्वारा) आत्मा को देखते हैं; यानी ईश्वर के लिए कर्म करने से चित्त शुद्ध हो जाता है और इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस तरह के पुरुष मन्द अधिकारी कहलाते हैं। संक्षेप में मतलब यह कि कोई किसी भी मार्ग से क्यों न जाय, अन्त में उसे परमात्मा का ज्ञान होने पर मोक्ष मिल ही जाता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्ये, तु, एवम्, अजानन्तः, श्रुत्वा, अन्येभ्यः, उपासते।
ते, अपि, च, अतितरन्ति, एव, मृत्युम्, श्रुति-परायणाः ॥

तु	=किन्तु	अजानन्तः	=(ध्यान योग, सांख्य योग और कर्मयोग इन
अन्ये	=अन्य पुरुष		
एवम्	=इस प्रकार		

	तीनों में एक को भी) न जानते हुए	ते	=वे
अन्येभ्यः	=औरों से अर्थात् आत्म-अनुभवी महापुरुषों से	अपि	=भी
श्रुत्वा	=सुनकर	श्रुति-परायणाः	=श्रवण-परायण होते हुए (अथवा श्रद्धापूर्वक उपदेशों को सुनते हुए)
च	=फिर +उस अव्यक्त अक्षर की	मृत्युम्	=मृत्युरूप संसार-सागर को
		एव	=निश्चय ही
उपासते	=उपासना करते हैं	अतितरन्ति	=नाँघ जाते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! कितने ही ऐसे हैं जो (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) इन तीनों में से एक को भी नहीं जानते, केवल औरों से यानी आत्म-अनुभवी पुरुषों से सदुपदेश सुनकर उस अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं। वे भी श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उन उपदेशों को सुनते हुए, इस जन्म-मरण से रहित हो, संसार-सागर से निश्चय ही तर जाते हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

यावत्, संजायते, किंचित्, सत्त्वम्, स्थावर-जङ्गमम् ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्, तत्, विद्धि, भरतर्षभ ॥

यावत्	=जहाँ तक	तत्	=उसे
किञ्चित्	=जो कुछ भी	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्	=क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (प्रकृति-पुरुष) के संयोग से (उत्पन्न हुआ)
स्थावर-जङ्गमम्	=जड़-चेतन या चर-अचर		
सत्त्वम्	=प्राणी या पदार्थ		
संजायते	=उत्पन्न होता है		
भरतर्षभ	=हे अर्जुन !	विद्धि	=तू जान

अर्थ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! समस्त संसार में जितने भी चर-अचर (चलने और न चलनेवाले) प्राणी या पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति-पुरुष (माया-ईश्वर) इन दोनों के संयोग से पैदा होते हैं, ऐसा तू जान।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

सम्म्, सर्वेषु, भूतेषु, तिष्ठन्तम्, परमेश्वरम् ।
विनश्यत्सु, अविनश्यन्तम्, यः, पश्यति, सः, पश्यति ॥

विनश्यत्सु	=नाश होते हुए	यः	=जो
सर्वेषु	=सब	समम्	=सम भाव से (सदा एक समान)
भूतेषु	=प्राणियों में		
अविनश्यन्तम्	=अविनाशी		
परमेश्वरम्	=परमेश्वर यानी आत्मा को	तिष्ठन्तम्	=स्थित (रहने-वाला)

पश्यति	=देखता है	आत्मा को वही
सः	=वह	यथार्थ जानता
पश्यति	=देखता है (यानी	है)

अर्थ—जो सब नाशवान् चराचर भूतों में अविनाशी परमेश्वर यानी आत्मा को समभाव से (सदा एक समान) स्थित (रहनेवाला) देखता है, वही देखता है अर्थात् वही सच्चा ज्ञानी है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

समम्, पश्यन्, हि, सर्वत्र, सम-अवस्थितम्, ईश्वरम्।
न, हिनस्ति, आत्मना, आत्मानम्, ततः, याति, पराम्, गतिम्।

हि	=क्योंकि		(अपने द्वारा)
	+जो पुरुष	आत्मानम्	=आत्मा की
सर्वत्र	=सर्वत्र या सबमें		(अपने आप की)
सम-अव-स्थितम्	=एक समान स्थित	न हिनस्ति	=हत्या नहीं करता
ईश्वरम्	=ईश्वर (आत्मा) को	ततः	=इसी से
			+वह
		पराम्	=परम
समम्	=सम भाव से	गतिम्	=गति यानी मोक्ष को
पश्यन्	=देखता हुआ		
आत्मना	=आत्मा से	याति	=प्राप्त होता है

अर्थ—जो यह देखता है कि परमात्मा सबमें समान भाव से मौजूद है, वह आत्मा से आत्मा का नाश नहीं करता, यानी उसे अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, इसीलिए वह परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जो पुरुष ईश्वर को सब प्राणियों में समान रूप से देखता है, वह किसी का बुरा नहीं चाहता और न वह किसी से शत्रुता करता है। जो ज्ञानी है, वह समझता है कि आत्मा और परमात्मा में कुछ भेद नहीं है, बल्कि सबमें एक ही (One and the same) आत्मा है। उसे सब प्राणी या पदार्थ आत्मा या परमात्मा-स्वरूप ही दिखाई देते हैं और वह सब प्राणियों की आत्मा को अपने ही आत्मा के समान समझता है। इसलिए वह सब को एक समान प्यार करता है। उसके लिए मित्र और शत्रु एक समान हैं। अज्ञानी इसके ख़िलाफ़ किसी को अपना और किसी को पराया समझता है। वह किसी से वैर करता है और किसी से मित्रता। जो ज्ञानी पुरुष आत्मा से आत्मा का नाश नहीं करता अर्थात् जिसे आत्मा के विषय में सच्चा ज्ञान है, वही मोक्ष पाता है, किन्तु अज्ञानी अपने-पराये में भेद समझता है, इसीलिए वह आत्म-हत्यारा है और इसी असारसंसार-सागर में ग़ोते खाता रहता है। मतलब यह कि जो अपने आत्मा और परमात्मा में भेदभाव समझता है वह स्वयं नष्ट हो जाता है। किन्तु जो ईश्वर और आत्मा में ज़रा भी भेद नहीं समझता, बल्कि जो परमात्मा में सब प्राणियों को और परमात्मा को सब प्राणियों में देखता है, वही सच्चा ज्ञानी है और वही परमगति को प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

प्रकृत्या, एव, च, कर्माणि, क्रियमाणानि, सर्वशः ।
यः, पश्यति, तथा, आत्मानम्, अकर्तारम्, सः, पश्यति ॥

च	=और	तथा	=और
यः	=जो ज्ञानी पुरुष	आत्मानम्	=आत्मा को
सर्वशः	=सब प्रकार से	अकर्तारम्	=कुछ न करने-वाला
कर्माणि	=समस्त कर्मों को	पश्यति	=देखता है
प्रकृत्या	=प्रकृति द्वारा	सः	=वही
एव	=ही	पश्यति	=देखता है यानी वही आत्मदर्शी है
क्रियमाणानि	=किये जाते हुए + देखता है		

अर्थ—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो यह समझता है कि सब (भले-बुरे) काम प्रकृति ही करती है, आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही आत्मा के विषय में ठीक-ठीक जानता है अथवा वही आत्मा को भली प्रकार पहिचानता है ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा, भूत-पृथक्-भावम्, एक-स्थम्, अनुपश्यति ।
ततः, एव, च, विस्तारम्, ब्रह्म, संपद्यते, तदा ॥

यदा	=जिस समय	च	=और
	+ज्ञानवान्	ततः, एव	=उससे ही यानी उस एकत्व-भाव से ही
भूत-पृथक् भावम्	(स्थावर-जंगम-=रूप) सब पदार्थों या प्राणियों के अलग-अलग रूपों को		+ उनके
		विस्तारम्	=विस्तार को
			+ देखता है
एक-स्थम्	=एक ही आत्मा (परमात्मा) में स्थित हुआ	तदा	=तब
			+ वह
		ब्रह्म	=ब्रह्म को
अनुपश्यति	=देखता है	सम्पद्यते	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस समय ज्ञानवान् स्थावर-जङ्गम रूप सब पदार्थों व प्राणियों के अलग-अलग रूपों को, एक ही आत्मा (परमात्मा) में स्थित—टिका हुआ—देखता है और उसी ब्रह्म यानी एकत्व-भाव ही से उन समस्त पदार्थों का विस्तार देखता है (यानी "अनेक में एक और एक से अनेक") उस समय वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जिस समय मनुष्य सब प्राणियों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को सब प्राणियों में अभेद-रूप से देखता है, उस समय वह ब्रह्मरूप हो जाता है। मतलब यह कि आत्मा में भेद (फ़र्क़) समझना ही अज्ञान, और अभेद समझना ही सच्चा ज्ञान है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, परमात्मा, अयम्, अव्ययः ।
शरीरस्थः, अपि, कौन्तेय, न, करोति, न, लिप्यते ॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !	शरीर-स्थः	=शरीर में रहते हुए
अनादित्वात्	=अनादि होने से + और	अपि	=भी
निर्गुणत्वात्	=निर्गुण होने के कारण	न	=न
अयम्	=यह	करोति	=(कुछ) करता है + और
अव्ययः	=अविनाशी	न	=न
परमात्मा	=परमात्मा	लिप्यते	=(कर्म के फलों में) लिप्त होता है

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! परमात्मा अनादि, निर्गुण यानी गुणरहित और अविनाशी है। यद्यपि यह शरीर में रहता है, लेकिन न कुछ कर्म करता है और न कर्म के फलों में लिप्त होता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा, सर्वगतम्, सौक्ष्म्यात्, आकाशम्, न, उपलिप्यते ।
सर्वत्र, अवस्थितः, देहे, तथा, आत्मा, न, उपलिप्यते ॥

यथा	=जिस तरह	देहे	=देह में
सर्व-गतम्	=सर्वव्यापी (सब जगह फैला हुआ)	अवस्थितः	=स्थित हुआ
आकाशम्	=आकाश	आत्मा	=आत्मा (निर्विकार होने के कारण कर्मों तथा उनके फल के साथ)
सौक्ष्म्यात्	=सूक्ष्म होने के कारण (किसी पदार्थ में)		
न उपलिप्यते	=लिप्त नहीं होता	न	=नहीं
तथा	=उसी तरह	उपलिप्यते	=लिप्त होता
सर्वत्र	=सब जगह		

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे सर्वव्यापी—सब जगह फैला हुआ—आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी पदार्थ में लिप्त नहीं होता, वैसे ही सारे शरीर में स्थित हुआ आत्मा (अति-सूक्ष्म रूप होने के कारण) इस देह के गुण-कर्मों में लिप्त नहीं होता ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथा, प्रकाशयति, एकः, कृत्स्नम्, लोकम्, इमम्, रविः ।
क्षेत्रम्, क्षेत्री, तथा, कृत्स्नम्, प्रकाशयति, भारत ॥

यथा	=जिस प्रकार	इमम्	=इस
एकः	=एक ही	कृत्स्नम्	=सम्पूर्ण
रविः	=सूर्य	लोकम्	=जगत् को

प्रकाशयति	=प्रकाशित करता है
तथा	=वैसे ही
भारत	=हे अर्जुन !
क्षेत्री	=एक क्षेत्रज्ञ अर्थात् एक आत्मा
कृत्स्नम्	=सारे
क्षेत्रम्	=क्षेत्र (जगत्) को
प्रकाशयति	=प्रकाशित करता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक सूर्य सारे जगत् में प्रकाश करता है, उसी प्रकार एक क्षेत्रज्ञ—आत्मा—सम्पूर्ण शरीरों (जगत्) को चैतन्य करता है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, एवम्, अन्तरम्, ज्ञान-चक्षुषा ।
भूत-प्रकृति-मोक्षम्, च, ये, विदुः, यान्ति, ते, परम् ॥

ये	=जो
एवम्	=इस प्रकार
ज्ञान-चक्षुषा	=ज्ञान-रूपी नेत्रों से
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः	=क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (शरीर और जीवात्मा) के
अन्तरम्	=भेद को
च	=और
भूत-प्रकृति-मोक्षम्	=माया से छूटने के उपाय को
विदुः	=जानते हैं
ते	=वे
परम्	=परम गति को
यान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—जो इस प्रकार ज्ञानरूपी नेत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ यानी शरीर और जीवात्मा अथवा प्रकृति और पुरुष के भेद को और ऐसे ही माया से छूटने के उपाय को यथार्थ रूप से जान लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त

गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—"हे प्रिये, अब गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। दक्षिण देश में तुंग-भद्रा नदी के किनारे हरिहरपुर नाम का एक नगर है। वहाँ हरिदीक्षित नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री बड़ी दुराचारिणी थी। स्त्री के जितने कुलक्षण शास्त्र में बताये गये हैं, वे सब उसमें थे। वह मदिरा (शराब) पीती थी। एक घड़ी भी घर में नहीं बैठती थी। सबसे लड़ाई झगड़ा करना, घर-घर घूमना, घरवालों को डाँटना और उन्मत्त होकर पर-पुरुषों से बातचीत करना ही उसका मुख्य काम था। एक दिन वन में जा, वसन्तऋतु की चाँदनी रात में वह अपने किसी प्रेमी के वियोग में रोने लगी। उस वन में एक सिंह रहता था। वह उसके रोने का शब्द सुनकर जाग पड़ा और दम-भर में उस कुलटा को चीर-फाड़कर चट कर गया। वह

अपने कुकर्मों के फल से यमलोक को गई और बहुत वर्षों तक नरक की घोर यातनाएँ सहकर एक चाण्डाल के घर में उत्पन्न हुई । उस जन्म में भी उसका स्वभाव वैसा ही हुआ और उसी तरह बुरे कर्म करने लगी । जहाँ वह चाण्डालिन रहती थी उसी के थोड़ी दूर पर शिवजी का एक मन्दिर था। उस मन्दिर में एक ब्राह्मण गीता के तेरहवें अध्याय का प्रतिदिन पाठ किया करता था । संयोगवश वह चाण्डालिन एक दिन घूमती हुई वहाँ गई और मन्दिर के पास एक पेड़ की छाया में बैठ गई । ब्राह्मण गीता का पाठ कर रहा था। वे शब्द चाण्डालिन के कान में भी पड़े । गीता का पाठ सुनने से उसके सब पाप छूट गये और जब वह मरी, तब विमान पर बैठकर वैकुण्ठलोक को गई ।"

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परम्, भूयः, प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानाम्, ज्ञानम्, उत्तमम् ।
यत्, ज्ञात्वा, मुनयः, सर्वे, पराम्, सिद्धिम्, इतः, गताः ॥

भूयः =फिर (भी)
ज्ञानानाम्=(समस्त) ज्ञानों में
उत्तमम् =श्रेष्ठ
परम् =परमार्थ-निष्ठ
ज्ञानम् =ज्ञान को
प्रवक्ष्यामि =मैं कहूँगा
यत् =जिसको
ज्ञात्वा =जानकर
सर्वे =सब

मुनयः	=मुनि लोग	पराम्	=परम
इतः	=इस मृत्युलोक से (शरीर छोड़ने पर)	सिद्धिम्	=सिद्धि को (यानी मोक्ष को)
		गताः	=प्राप्त हुए हैं

अर्थ—श्रीभगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के जान लेने से मुनि लोग (शरीर छोड़ने पर) इस मृत्युलोक से मोक्ष पा गए, मैं तुझे उस परम (श्रेष्ठ) और अति उत्तम ज्ञान का उपदेश फिर (भी) करता हूँ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इदम्, ज्ञानम्, उपाश्रित्य, मम, साधर्म्यम्, आगताः।
सर्गे, अपि, न, उपजायन्ते, प्रलये, न, व्यथन्ति, च॥

इदम्	=इस	अपि	=भी
ज्ञानम्	=ज्ञान का	न	=न
उपाश्रित्य	=आश्रय करके (सहारा लेकर)	उपजायन्ते	=उत्पन्न होते हैं
		च	=और
मम	=मेरे	न	=न
साधर्म्यम्	=स्वरूप को	प्रलये	=सृष्टि के प्रलय (नाश) काल में
आगताः	=प्राप्त हुए (मुनि लोग)		
सर्गे	सृष्टि की उत्पत्ति के समय	व्यथन्ति	=व्यथा से पीड़ित होते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! इस ज्ञान का सहारा लेकर जो मुनि लोग मेरे अनुरूप हो गए हैं यानी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गए हैं, वे सृष्टि की उत्पत्ति के समय न तो पैदा होते हैं और न प्रलय के समय दुःख भोगते हैं, अर्थात् उन्हें न कभी जन्म लेना पड़ता है और न मरना ही पड़ता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

मम, योनिः, महत्, ब्रह्म, तस्मिन्, गर्भम्, दधामि, अहम् ।
संभवः, सर्व-भूतानाम्, ततः, भवति, भारत ॥

श्रीभगवान् बोले हे अर्जुन !—

भारत	=हे अर्जुन !
मम	=मेरी
महत्,ब्रह्म	=महत्-ब्रह्म यानी प्रकृति (माया)
योनिः	=योनि (गर्भाधान का स्थान अथवा सब भूतों का उत्पत्ति-स्थान) है
तस्मिन्	=उस में अर्थात् उस त्रिगुणात्मिका माया में
अहम्	=मैं
गर्भम्	=गर्भ को अथवा चेतनरूप बीज को
दधामि	=डालता हूँ
ततः	=उससे यानी जड़-चेतन के संयोग से
सर्व-भूतानाम्	=सब भूतों की
संभवः	=उत्पत्ति
भवति	=होती है

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरी योनि (सब भूतों का उत्पत्ति-स्थान) महत्-ब्रह्म यानी प्रकृति अथवा माया है। उसमें मैं गर्भ को अथवा चेतनरूप बीज को स्थापित करता हूँ। उसी जड़-चेतन के संयोग से सारे प्राणी पैदा होते हैं।

व्याख्या—सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि का जो कारण है उसी का नाम 'महत्-ब्रह्म' है। इसी को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति मेरी स्त्री है। यही प्रकृति गर्भाधान का स्थान है। हिरण्य-गर्भ के पैदा होने के लिए मैं उसमें बीज डालता हूँ। इस प्रकार सब जगत् उससे पैदा होता है। अथवा मेरी दो प्रकृतियाँ हैं:—(१) क्षेत्र, (२) क्षेत्रज्ञ। इन दोनों का मैं मिलान कर देता हूँ। उसी गर्भाधान से ब्रह्मा आदि के शरीरों की भी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४ ॥

सर्व-योनिषु, कौन्तेय, मूर्तयः, सम्भवन्ति, याः।
तासाम्, ब्रह्म, महत्, योनिः, अहम्, बीज-प्रदः, पिता॥

कौन्तेय =हे अर्जुन !
सर्व-योनिषु =सब प्रकार की योनियों में
याः =जो-जो
मूर्तयः =मूर्तियाँ या शरीर
सम्भवन्ति =उत्पन्न होते हैं
तासाम् =उन सबकी
योनिः =उत्पत्ति की आधार-रूप माता

महत्-ब्रह्म	=प्रकृति है		(अथवा गर्भा-
	+ और		धान करनेवाला)
अहम्	=मैं	पिता	=(सबका)
बीज-प्रदः	=बीज देनेवाला		पिता हूँ

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! सब योनियों में जो नाना प्रकार के आकारवाले शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी योनि महत्-ब्रह्म यानी प्रकृति है और उसमें बीज डालनेवाला सबका पिता मैं हूँ।

मतलब यह कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सब योनियों से जो नाना प्रकार के आकारवाले शरीर पैदा होते हैं, उन सबका मूल कारण यह माया या प्रकृति है। इसलिए यह प्रकृति सबकी माता है और बीज डालनेवाला या गर्भाधान करानेवाला परमात्मा पिता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वम्, रजः, तमः, इति, गुणाः, प्रकृति-सम्भवाः।
निबध्नन्ति, महाबाहो, देहे, देहिनम्, अव्ययम् ॥

महाबाहो	=हे लम्बी भुजाओं-वाले अर्जुन!	रजः	=रज
			+ और
प्रकृति-सम्भवाः	=प्रकृति से उत्पन्न हुए	तमः	=तम
		इति	=ये
सत्त्वम्	=सत्त्व	गुणाः	=तीनों गुण

अव्ययम्	=(इस) अविनाशी	देहे	=शरीर में
देहिनम्	=जीवात्मा को	निबध्नन्ति	=बाँधते हैं

अर्थ—हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर इस शरीर में निर्विकार अविनाशी जीवात्मा को बाँधते हैं (अर्थात् ये गुण जीव को अपना स्वरूप भुलवाते हुए उसे नाशवान् और विकारी दिखलाते हैं; हालाँकि यह जीव इन गुणों में आसक्त होने पर भी निर्विकार और अविनाशी ही रहता है)।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र, सत्त्वम्, निर्मलत्वात्, प्रकाशकम्, अनामयम्।
सुख-सङ्गेन, बध्नाति, ज्ञान-सङ्गेन, च, अनघ ॥

अनघ	=हे निष्पाप, अर्जुन!	निर्मलत्वात्	=निर्मल या स्वच्छ स्वभाव होने के कारण
तत्र	उन तीनों गुणों में से	सुख-सङ्गेन	=सुख के संग से + तथा
प्रकाशकम्	=प्रकाश-रूप	ज्ञान-सङ्गेन	=ज्ञान के संग से +जीवात्मा को
च	=और	बध्नाति	=बाँधता (यानी उलझाता) है
अनामयम्	=शान्त-रूप (निर्दोष)		
सत्त्वम्	=सत्त्वगुण		

अर्थ—हे पापरहित अर्जुन ! इन तीन गुणों में से सतोगुण निर्मल यानी स्वच्छ होने के कारण प्रकाशयुक्त, निर्दोष, शान्त-स्वरूप या सुख का देनेवाला है। यह सतोगुण ही, इसी ज्ञान और सुख के लालच में जीवात्मा को बाँधता है (अर्थात् सतोगुण के कारण से 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा ख्याल आत्मा करता है और इसी अहङ्कार से आत्मा का बन्धन होता है। मतलब यह कि यह रजोगुण ही जीवात्मा को ज्ञान और सुख में आसक्ति कराकर उलझाता है)।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजः, राग-आत्मकम्, विद्धि, तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम् ।
तत्, निबध्नाति, कौन्तेय, कर्म-सङ्गेन, देहिनम् ॥

कौन्तेय =हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !
रजः =रजोगुण को
राग-आत्मकम्=राग यानी प्रीति का उत्पन्न करनेवाला
+ और
तृष्णा-संग-समुद्भवम् =तृष्णा तथा आसक्ति का उत्पन्न करनेवाला
विद्धि =(तू) जान
तत् =वह रजोगुण
देहिनम् =देहधारी जीवात्मा को
कर्म-संगेन =कर्मों में आसक्त करके
निबध्नाति =बन्धन में फँसाता है

अर्थ—हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! रजोगुण को राग यानी प्रीति का उत्पन्न करनेवाला जान। यह तृष्णा और आसक्ति का मूल कारण है यानी किसी पदार्थ के पाने की अभिलाषा और उसमें प्रीति इसी से पैदा होती है। यह रजोगुण ही देह-धारी जीव को काम में लगाकर बन्धन में फाँसता है।

व्याख्या—यह रजोगुण तृष्णा और आसक्ति का मूल कारण है। रजोगुण ही मनुष्यों को संसारी कामों में लगाता है और इसी तृष्णा, राग और आसक्ति के कारण यह रजोगुण जीव को कर्म द्वारा देह के बन्धन में फँसाता है, हालाँकि वह वास्तव में कुछ नहीं करता।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८ ॥

तमः, तु, अज्ञान-जम्, विद्धि, मोहनम्, सर्व-देहिनाम्।
प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः, तत्, निबध्नाति, भारत॥

भारत	=हे अर्जुन !	विद्धि	=जान
तमः	=तमोगुण को	तत्	=वह तमोगुण +जीवात्मा को
तु	=तो	प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः	=प्रमाद (विवेक-शून्यता) आलस्य और नींद से
अज्ञान-जम्	=(आवरणरूप) अज्ञान से उत्पन्न हुआ	निबध्नाति	=बाँधता (उलझाये रखता) है
सर्व-देहिनाम्	=सब प्राणियों को		
मोहनम्	=भ्रान्ति में डालनेवाला		

अर्थ—हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है। वह सब प्राणियों को भ्रान्ति यानी भूल में डालता है। वह आलस्य, नींद और प्रमाद (मूढ़ता) से जीव को बाँधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वम्, सुखे, संजयति, रजः, कर्मणि, भारत।
ज्ञानम्, आवृत्य, तु, तमः, प्रमादे, संजयति, उत ॥

भारत	=हे अर्जुन !	तमः	=तमोगुण
सत्त्वम्	=सतोगुण	ज्ञानम्	=ज्ञान को
	+ जीव को	आवृत्य	=(अविद्यारूप आवरण से) ढककर
सुखे	=सुख में		
	+ और		
रजः	=रजोगुण	प्रमादे	=(अविवेकरूपी) प्रमाद में
कर्मणि	=कर्म में		
संजयति	=लगाता है	उत	=ही
तु	=किन्तु	संजयति	=लगाता है

अर्थ—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! सतोगुण जीव को सुख में लगाता है (अर्थात् जिस समय सतोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय वह सुख के सम्मुख करता है) रजोगुण काम में और तमोगुण (बादल के समान) ज्ञान पर पर्दा डालकर जीव को भ्रम में डालता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

रजः, तमः, च, अभिभूय, सत्त्वम्, भवति, भारत ।
रजः, सत्त्वम्, तमः, च, एव, तमः, सत्त्वम्, रजः, तथा ।

भारत	=हे अर्जुन !	सत्त्वम्	=सतोगुण को +दबाकर
रजः	=रजोगुण	तमः	=तमोगुण +प्रकट होता है
च	=और	तथा, एव	=इसी तरह
तमः	=तमोगुण को	तमः	=तमोगुण +और
अभिभूय	=दबाकर	सत्त्वम्	=सतोगुण को +दबाकर
सत्त्वम्	=सतोगुण	रजः	=रजोगुण की प्रधानता होती है
भवति	=वृद्धि को प्राप्त होता है		
च	=तथा		
रजः	=रजोगुण + और		

अर्थ—हे भरत-सन्तान अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण वृद्धि को प्राप्त होता है। (यह सतोगुण उस समय पुरुष को ज्ञान और सुख में उलझाता है); रजोगुण और सतोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है (उस समय वह नींद, आलस्य तथा मोह आदि में पुरुष को उलझाने का कार्य करता है) और तमोगुण एवं सतोगुण को दबाकर रजोगुण की प्रधानता होती है (उस समय वह पुरुष को तृष्णा, स्त्री और नाच-तमाशे आदि की ओर ले जाने का कार्य करता है)।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्व-द्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाशः, उपजायते ।
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत ॥

यदा	=जिस समय	प्रकाशः	=प्रकाश
अस्मिन्	=इस	उपजायते	=उत्पन्न होता है
देहे	=शरीर में	तदा	=उस समय
	+तथा	इति	=ऐसा
सर्व-द्वारेषु	=श्रोत्र आदि इन्द्रियरूप सब द्वारों में	विद्यात्	=समझो
		उत्	=कि
		सत्त्वम्	=सतोगुण
ज्ञानम्	=ज्ञान-रूप	विवृद्धम्	=बढ़ा हुआ है

अर्थ—जिस समय इस देह और इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश हो यानी जिस समय ज्ञान-चर्चा अच्छी लगे, उस समय ऐसा समझो कि सतोगुण की प्रधानता है ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणाम्, अशमः, स्पृहा ।
रजसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, भरत-ऋषभ ॥

भरत-ऋषभ	=हे भरत-वंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)!	अशमः	=अशान्ति या मन में बेचैनी
रजसि	=रजोगुण की		+ और
विवृद्धे	=वृद्धि में	स्पृहा	=धन आदि प्राप्त करने की इच्छा या विषय-भोगों को भोगने की लालसा
लोभः	=लोभ		
प्रवृत्तिः	=प्रवृत्ति (दिन-रात कामों में लगे रहना)		
कर्मणाम्	=(नये-नये) कर्मों का	एतानि	=ये सब (लक्षण)
आरम्भः	=आरम्भ	जायन्ते	=उत्पन्न होते हैं

अर्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! लोभ (अधिक धन पैदा करने की अभिलाषा या पराया माल अपनाने की इच्छा), दिनरात कामों में लगे रहना, नये-नये कामों को आरम्भ करना, अशान्ति यानी बेचैनी (अथवा यह काम करके वह काम करूँगा), और देखी या सुनी चीज़ों के प्राप्त करने की इच्छा—ये सब लक्षण जिस समय किसी प्राणी में प्रकट हों, तो समझ लेना चाहिए कि इस समय उस प्राणी में रजोगुण की प्रधानता है ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, मोहः, एव, च ।
तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन ॥

कुरुनन्दन	=हे कुरु-नन्दन (अर्जुन)!	मोहः	=मोह (निद्रा आदि का आना)
अप्रकाशः	=अज्ञान या अविवेक	च	=और
च	=और	प्रमादः	=प्रमाद (भूल का होना)
अप्रवृत्तिः	=आलस्य (किसी काम के करने में अरुचि)	एतानि	=ये सब
		तमसि	=तमोगुण की
		विवृद्धे	=वृद्धि में
एव	=ऐसे ही	जायन्ते	=उत्पन्न होते हैं

अर्थ—हे कुरुपुत्र ! जिस समय तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय अज्ञान, कामों में अरुचि (आलस्य), प्रमाद और मोह पैदा होता है ।

व्याख्या—जिस समय ज्ञान न रहे, किसी काम में मन न लगे, भूल होने लगे और निद्रा आने लगे उस समय समझ लेना चाहिए कि इस समय तमोगुण की प्रधानता है ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयम्, याति, देहभृत् ।
तदा, उत्तम-विदाम्, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते ॥

तु	=और		
यदा	=जब	सत्त्वे	=सतोगुण की
देहभृत्	=यह देहधारी (जीवात्मा)	प्रवृद्धे	=वृद्धि के समय

प्रलयम्	= मृत्यु को	उत्तम-विदाम्=	उत्तम उपासकों के
याति	=प्राप्त होता है	अमलान्	=निर्मल
तदा	=तब	लोकान्	=लोकों को
	+वह	प्रतिपद्यते	=प्राप्त होता है

अर्थ—और हे अर्जुन ! जब कोई देहधारी मनुष्य सतोगुण की प्रधानता के समय यह शरीर छोड़ता है, तो वह ब्रह्म-लोकादि उत्तम विचारवानों के निर्मल लोकों में जाता है (अर्थात् वह पुण्यात्मा ज्ञानी लोगों के कुल या समाज में दूसरा जन्म लेता है) ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्म-सङ्गिषु, जायते ।
तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढ-योनिषु, जायते ॥

	+और	जायते	=जन्म लेता है
रजसि	=रजोगुण (की प्रबलता) में +शरीर छोड़नेवाला	तथा	=तथा
प्रलयम्	=मृत्यु को	तमसि	=तमोगुण (की प्रबलता) में
गत्वा	=प्राप्त होकर	प्रलीनः	=मृत्यु को प्राप्त हुआ मनुष्य
कर्म-सङ्गिषु	=कर्मों में आसक्त रहनेवाले लोगों में	मूढ-योनिषु	=पशु-पक्षी, कीट आदि ज्ञानशून्य मूढ योनियों में
		जायते	=उत्पन्न होता है

अर्थ—और हे अर्जुन ! जो रजोगुण की प्रधानता के समय मरता है, वह कर्म-सङ्गियों में उत्पन्न होता है, यानी वह उन लोगों के घरों में जन्म लेता है जो कर्म-फलों में आसक्ति या प्रीति रखनेवाले हैं और जो तमोगुण की प्रबलता के समय मरता है, वह पशु-पक्षी आदि ज्ञान-शून्य मूढ योनियों में जन्म लेता है (इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सतोगुण बढ़ाने के लिए यत्न करता रहे) ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः, सात्त्विकम्, निर्मलम्, फलम् ।
रजसः, तु, फलम्, दुःखम्, अज्ञानम्, तमसः, फलम् ॥

सुकृतस्य	=सुकृत अर्थात् सात्त्विक यानी शुभ	तु	=और
कर्मणः	=कर्म का	रजसः	=रजोगुण का
फलम्	=फल	फलम्	=फल
सात्त्विकम्	=सत्त्वगुणी यानी सुखरूप	दुःखम्	=दुःख +तथा
निर्मलम्	=निर्मल	तमसः	=तमोगुण का
आहुः	=कहा है	फलम्	=फल
		अज्ञानम्	=अज्ञान +कहा गया है

अर्थ—अच्छे कामों का फल सात्त्विक और निर्मल है यानी सतोगुण-सम्बन्धी कर्म करनेवाले सदैव सुखी रहते हैं ;

रजोगुण-सम्बन्धी कर्म करनेवाले दुःख भोगते हैं; और जो तमोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, उन्हें उन कर्मों का फल अज्ञान मिलता है, अर्थात् वे सदैव अज्ञान में ही पड़े रहते हैं।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेवच॥ १७॥

सत्त्वात्, संजायते, ज्ञानम्, रजसः, लोभः, एव, च।
प्रमाद-मोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानम्, एव, च॥

सत्त्वात्	=सतोगुण से	तमसः	=तमोगुण से
ज्ञानम्	=ज्ञान	प्रमाद-मोहौ	=प्रमाद (असावधानता) और मोह
संजायते	=उत्पन्न होता है	भवतः	=उत्पन्न होते हैं
च	=और		+और
रजसः	=रजोगुण से	अज्ञानम्	=अज्ञान
लोभः	=लोभ	एव	=भी
एव	=ही		+उत्पन्न होता है
	+उत्पन्न होता है		
च	=तथा		

अर्थ—हे अर्जुन! सतोगुण से ज्ञान और रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण से प्रमाद—असावधानता—मोह और अज्ञान ही पैदा होते हैं। (इसलिए तमोगुण सम्बन्धी कर्मों का फल भी अज्ञान, कर्महीनता और भूल है)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

ऊर्ध्वम्, गच्छन्ति, सत्त्व-स्थाः, मध्ये, तिष्ठन्ति, राजसाः ।
जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः, अधः, गच्छन्ति, तामसाः ॥

सत्त्व-स्थाः =सतोगुण में स्थित हुए पुरुष
ऊर्ध्वम् =ब्रह्मलोक आदि ऊपर के लोकों को
गच्छन्ति =जाते हैं
राजसाः =रजोगुणी पुरुष
मध्ये =मध्य लोक में यानी पितृ या मनुष्यलोक में ही
तिष्ठन्ति =ठहरते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं
+ और
जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः =निकृष्ट गुण की वृत्तिवाले
तामसाः =तमोगुणी पुरुष
अधः =नीचे को (अर्थात् पशु-पक्षी, कीड़े आदि नीच योनियों को)
गच्छन्ति =जाते हैं

अर्थ—सतोगुणी ब्रह्मलोक आदि ऊपर के लोकों में जाते हैं, रजोगुणी मध्यलोक यानी मनुष्यलोक में जाते हैं और निकृष्ट गुणों के स्वभाववाले तमोगुणी पुरुष नीचे के लोक में जाते, अर्थात् पशु-पक्षी आदि नीच योनियों मे जन्म लेते हैं ।

व्याख्या—अच्छे कर्म करनेवाले या सतोगुणी स्वभाववाले लोग मरने के बाद ब्रह्मलोक आदि ऊपर के लोकों को प्राप्त होते हैं यानी अच्छी गति पाते हैं ; जो रजोगुणसम्बन्धी कर्म करते हैं, वे पितृ-लोक में जाते हैं या फिर मनुष्यलोक में ही जन्म लेते हैं और अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं ; जो तमोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं अथवा जिनका स्वभाव तमोगुणी है, वे मरकर पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

न, अन्यम्, गुणेभ्यः, कर्तारम्, यदा, द्रष्टा, अनुपश्यति ।
गुणेभ्यः, च, परम्, वेत्ति, मद्-भावम्, सः, अधिगच्छति ॥

यदा	=जिस समय	**च**	=और
द्रष्टा	=देखनेवाला यानी विचारवान् पुरुष	**गुणेभ्यः**	=गुणों से
गुणेभ्यः	=तीनों गुणों के सिवा	**परम्**	=परे + आत्मा को
अन्यम्	=और किसी को	**वेत्ति**	=जानता है + तब
कर्तारम्	=कर्ता (यानी कर्म करनेवाला)	**सः**	=वह
न	=नहीं	**मद्-भावम्**	=मेरे भाव (अर्थात् मेरे शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप) को
अनुपश्यति	=देखता है (अर्थात् गुण ही कर्ता है आत्मा साक्षी-मात्र है)	**अधिगच्छति**	=प्राप्त होता है

अर्थ—जो विचारवान् पुरुष गुणों के सिवा और किसी को कर्ता नहीं समझता और आत्मा को गुणों से परे अकर्ता केवल साक्षीरूप जानता है, वही पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—जो यह जानता है कि सब कर्म गुण द्वारा ही होते हैं, आत्मा कुछ नहीं करता, आत्मा तो अकर्ता और केवल साक्षी-रूप है, वही मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप को प्राप्त होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणान्, एतान्, अतीत्य, त्रीन्, देही, देह-समुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः, विमुक्तः, अमृतम्, अश्नुते ॥

	+ और यह
देही	=प्राणी अर्थात् पुरुष
देह-समुद्भवान्	=शरीर को उत्पन्न करने-वाले
एतान्	=इन
त्रीन्	=तीनों
गुणान्	=गुणों को
अतीत्य	=(आत्मज्ञान द्वारा) नाँघकर
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः	=जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से
विमुक्तः	=मुक्त होता हुआ
अमृतम्	=अमृत अर्थात् अक्षय आनन्द को
अश्नुते	=प्राप्त होता है

अर्थ—और यह पुरुष शरीर को उत्पन्न करनेवाले सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को (आत्मज्ञान द्वारा) नाँघ-कर तथा जन्म, मरण और बुढ़ापे के दुःखों से छूटकर अमर हो जाता है, अर्थात् मरने के बाद वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—मायारूपी सत्त्व, रज और तम जो तीन गुण हैं, ये शरीर की उत्पत्ति में बीजभूत हैं। इनकी ममता और संग को छोड़

देना ही इनको जीत लेना है। इसलिए त्रिगुणातीत (तीनों गुणों से पृथक्) होना ही माया से छूटकर परब्रह्म को पहचान लेना है। इसी को ब्राह्मी अवस्था भी कहते हैं। जो इस अवस्था को पहुँच जाता है, वह अमर हो जाता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

कैः, लिङ्गैः, त्रीन्, गुणान्, एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो।
किम्, आचारः, कथम्, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते॥

अर्जुन ने पूछा—

प्रभो	=हे प्रभो !	किम्, आचारः	=(उसका) आचरण कैसा (होता है)
कैः	=किन	च	=और
लिङ्गैः	=चिह्नों या लक्षणों से +यह जीव	कथम्	=किस प्रकार +वह
एतान्	=इन	एतान्	=इन
त्रीन्	=तीन	त्रीन्	=तीनों
गुणान्	=गुणों से	गुणान्	=गुणों से
अतीतः	=अतीत यानी परे	अतिवर्तते	=अतीत होता है यानी परे हो जाता है
भवति	=होता है		

अर्थ—अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो! जो इन तीन गुणों से अतीत होता है अथवा जो इन तीन गुणों के पार चला जाता है या इनसे अलग हो जाता है, उसकी क्या पहिचान है। उसका आचार—रहन-सहन—कैसा होता है? और वह इन तीन गुणों से रहित कैसे हो जाता है, अर्थात् गुणों से रहित होने का उपाय क्या है?

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ २२॥

प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, च, पाण्डव।
न, द्वेष्टि, सम्प्रवृत्तानि, न, निवृत्तानि, कांक्षति॥

अर्जुन के प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

पाण्डव	=हे अर्जुन!	**सम्प्रवृत्तानि**	=उत्पन्न होने पर +जो विचारवान् पुरुष
प्रकाशम्	=प्रकाश (ज्ञान)-रूप सत्त्वगुण		
च	=और	**न, द्वेष्टि**	=न द्वेष करता है अथवा न घृणा करता है
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति (काम में लगना)-रूप रजोगुण	**च**	=और
च, एव	=और ऐसे ही	**न**	=न
मोहम्	=मोहरूप तमोगुण के	**निवृत्तानि**	=निवृत्त (मुक्त) होने पर

	+ इनकी	वाला पुरुष गुणा-
कांक्षति	= इच्छा करता है	तीत होता है)
	(ऐसे लक्षणों-	

अर्थ—भगवान् ने कहा—हे पांडुपुत्र अर्जुन! प्रकाश (सत्त्वगुण का कार्य), प्रवृत्ति—काम में लगना—(रजोगुण का कार्य) और ऐसे ही मोह (तमोगुण का कार्य) इन तीनों के बर्तमान होने पर, जो इनसे द्वेष यानी घृणा या नफ़रत नहीं करता और इनके वर्तमान न रहने पर इनकी इच्छा नहीं करता, ऐसे लक्षणवाला पुरुष गुणातीत होता है।

व्याख्या—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह इन तीनों के मौजूद होने पर जो इनसे नफ़रत नहीं करता और न होने पर जो इनकी चाह नहीं करता, बल्कि दोनों अवस्थाओं में समान चित्त रखता है और जिसको किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं है, बल्कि उदासीन रहता है, वही पुरुष गुणातीत होता है।

हे अर्जुन, अब तू उसके आचार (रहन-सहन) के लक्षण सुन—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

उदासीनवत्, आसीनः, गुणैः, यः, न, विचाल्यते।
गुणाः, वर्तन्ते, इति, एव, यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते॥

यः =जो देहधारी
उदासीनवत्=उदासीन की तरह
आसीनः =स्थित हुआ
गुणैः =सत्त्व आदि तीनों गुणों से
न =नहीं
विचाल्यते =विचलित होता
+ तथा
गुणाः एव, वर्तन्ते =केवल 'गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं' अर्थात् तीनों गुण अपने-अपने कार्य में अपने आप लगे रहते हैं
इति =ऐसा समझकर
यः =जो (विचारवान् पुरुष)
अवतिष्ठति =स्थिर रहता है
+ और अपने निश्चय से
न, इंगते =विचलित नहीं होता
+ वह गुणातीत कहलाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो उदासीन * की तरह रहता है और सत्त्व, रज, तम इन गुणों के कार्य से विचलित नहीं होता, जो ऐसा जानता है कि ये तीनों गुण अपने-अपने कार्य में आप ही लगे रहते हैं, जो सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में दृढ़ निश्चय रखता है और अपने निश्चय से विचलित नहीं होता, अर्थात् जिसका चित्त इधर-उधर नहीं डोलता, वही गुणातीत है ।

---

* उदासीन=जो किसी से न मित्रता रखता हो, न शत्रुता अर्थात् निरपेक्ष ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

सम-दुःख-सुखः, स्व-स्थः, सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः ।
तुल्य-प्रिय-अप्रियः, धीरः, तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः ॥

सम-दुःख-सुखः = जो दुःख-सुख को एक समान समझता है
स्वस्थः = जो अपने ही स्वरूप में स्थिर रहता है अर्थात् जो सदैव अपने आपमें मस्त रहता है
\+ और
सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः = जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना तुल्य है
\+ तथा
तुल्य-प्रिय-अप्रियः = जो प्रिय-अप्रिय वस्तुओं में अथवा मित्र और शत्रु में कुछ अन्तर नहीं समझता
धीरः = जो धैर्यवान् है
\+ और
तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः = जो अपनी निंदा-स्तुति या यश-अपयश को समान समझता है
\+ वही गुणातीत है

अर्थ—जो दुःख-सुख को समान समझता है, जो अपने आनन्दस्वरूप आत्मा में स्थिर रहता है, अर्थात् जो अपने आपमें मस्त रहता है (अथवा जो हर समय प्रसन्नचित्त रहता

है); जो ढेले यानी मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझता है, जो प्रिय-अप्रिय चीज़ों में या मित्र-शत्रु में कुछ फ़र्क़ नहीं समझता; बल्कि एक समान ही समझता है, जो धीर अर्थात् धैर्यवान् है, और जो अपनी निन्दा-स्तुति या यश-अपयश को समान समझता है, वही गुणातीत है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मान-अपमानयोः, तुल्यः, तुल्यः, मित्र-अरि-पक्षयोः।
सर्व-आरम्भ-परित्यागी, गुण-अतीतः, सः, उच्यते ॥

मान-अपमानयोः	=मान और अपमान में अर्थात् आदर और अनादर में	**तुल्यः**	=(सदैव) जो तुल्य रहता है
तुल्यः	=जो एक समान रहता है	**सः**	=वह
	+तथा	**सर्व-आरंभ-परित्यागी**	=शुभ-अशुभ कर्मों के आरंभ का त्याग करने-वाला (महात्मा)
मित्र-अरि-पक्षयोः	=मित्र और शत्रु के पक्ष में	**गुण-अतीतः**	=गुणों से अतीत (अलग)
		उच्यते	=कहलाता है

अर्थ—जो मान-अपमान को एक समान समझता है, जो मित्र-शत्रु को बराबर मानता है (अर्थात् किसी की भी तरफ़दारी नहीं करता) और जो सारे धन्धों का त्यागी है यानी कर्तापन

के अभिमान को त्यागकर केवल परोपकार के लिए जो कर्म करता है; वही पुरुष गुणों से अतीत (अलग) कहा जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

माम्, च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, सेवते।
सः, गुणान्, समतीत्य, एतान्, ब्रह्म-भूयाय, कल्पते ॥

च =और
यः =जो पुरुष
अव्यभिचारेण=अखण्ड या अनन्य
भक्तियोगेन =भक्ति से
माम् =मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप को
सेवते =उपासना करता या भजता है
सः =वह
एतान् =इन
गुणान् =तीनों गुणों को
समतीत्य=पार करके
ब्रह्म-भूयाय=ब्रह्मस्वरूप को
कल्पते =प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पवित्र आत्मा अखण्ड भक्ति से मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप की उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों को नाँघ करके—पार करके—ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य हो जाता है अर्थात् शरीर छोड़ने पर वह परमगति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ब्रह्मणः, हि, प्रतिष्ठा, अहम्, अमृतस्य, अव्ययस्य, च ।
शाश्वतस्य, च, धर्मस्य, सुखस्य, ऐकान्तिकस्य, च ॥

हि =क्योंकि
अव्ययस्य =निर्विकार
च =और
अमृतस्य =अविनाशी
ब्रह्मणः =परब्रह्म का
च =तथा
शाश्वतस्य=सनातन
धर्मस्य =धर्म का
च =एवं
ऐकान्तिकस्य=अखण्ड
सुखस्य =सुख का
अहम् =मैं (ही)
प्रतिष्ठा =आश्रय (आधार या अन्तिम स्थान) हूँ

अर्थ—क्योंकि अविनाशी, अमृतरूप ब्रह्म की मूर्ति या ब्रह्मरूप वासुदेव मैं हूँ। ऐसे ही सनातन-धर्म (सदा रहनेवाला धर्म) तथा अखण्ड सुख का भी स्थान मैं ही हूँ।

मतलब यह कि जो अखण्ड भक्तियोग से मुझ अविनाशी ब्रह्म की सेवा करता है, वह सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को पार करके मेरे भाव को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त।

गीता के चौदहवें अध्याय् का माहात्म्य

उसके बाद पार्वती ने पूछा—"भगवन्, गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। अब कृपा करके गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य कहिए।" महादेवजी बोले—"हे देवि, महाराष्ट्र देश में एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री बड़ी कर्कशा और व्यभिचारिणी थी। एक दिन अपनी स्त्री का कुकर्म देखकर ब्राह्मण अपना क्रोध न सँभाल सका और उस कुलटा को तलवार के घाट उतारा। वह तो इस संसार से बिदा होकर यम-लोक को गई और ब्राह्मण को स्त्री-हत्या का पाप लगा। स्त्री को यमपुर की यातना भोग लेने के बाद कुतिया का जन्म मिला। वह एक राजा के घर में पली। राजा उसे लेकर शिकार को जाया करता था। उस ब्राह्मण को भी स्त्री-हत्या के पाप से दूसरे जन्म में खरगोश होना पड़ा। एक दिन राजा शिकार को गया। वन में वही खरगोश देख पड़ा। कुतिया भी राजा के साथ थी। वह पूर्व-जन्म के वैर का स्मरण करके खरगोश पर झपटी। खरगोश जी छोड़कर भागा, किन्तु कुतिया ने दौड़-कर उसे पकड़ लिया। इतने में कुछ आदमियों के हुल्लड़ मचाने से खरगोश उसके मुँह से छूटकर भागा और एक मुनि के आश्रम में गया। भागते-भागते वह थक गया था और गले में कुतिया के दाँत लगने से घायल भी हो गया था। वह आश्रम में पहुँचते ही गिर पड़ा और उसी दम मर गया।

कुतिया भी उसके पीछे दौड़ती हुई आश्रम में पहुँची और खरगोश के पास ही गिरकर वह भी मर गई। ये दोनों उस स्थान पर गिरे, जहाँ मुनि के पैर धोने का पानी पड़ा था। इसी से उनके मरते ही आकाश से एक विमान उतरा। उस पर बैठकर वे दोनों स्वर्गलोक को गये। उस समय मुनि के पास एक राजा बैठा था, उसने यह हाल देखकर मुनि से पूछा—"भगवन्, इन दोनों ने कौन-सा पुण्य किया है, जिसके प्रभाव से इस प्रकार स्वर्गलोक को गये?"

मुनि बोले—"इसका कारण बतलाता हूँ, सुनो। मैं गीता के चौदहवें अध्याय का प्रतिदिन पाठ करता हूँ। ये दोनों जिस स्थान पर गिरकर मरे हैं, वहाँ मेरे पैरों का धोवन (पानी) पड़ा था। उसी कीचड़ में लथपथ होकर इन्होंने प्राण छोड़े हैं, इसी कारण इनको स्वर्गलोक प्राप्त हुआ है।" राजा मुनि की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसी दिन से गीता के चौदहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्त को वह भी प्राण त्यागकर अक्षय लोक को गया।

पन्द्रहवाँ अध्याय
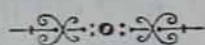
श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

ऊर्ध्व-मूलम्, अधः-शाखम्, अश्वत्थम्, प्राहुः, अव्ययम् ।
छन्दांसि, यस्य, पर्णानि, यः, तम्, वेद, सः, वेदवित् ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि हे अर्जुनः—

ऊर्ध्व-मूलम्*=जिसकी जड़ ऊपर को है	+ और

* ऊर्ध्वमूलम्—आदिपुरुष परमात्मा ही इस संसार का मूल कारण है । वह सब से ऊपर के धाम में निवास करता है ; इसी लिए 'ऊर्ध्व' नाम से कहा जाता है । यह संसार-वृक्ष उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए उसको 'ऊर्ध्व-मूल' यानी 'ऊपर की ओर मूलवाला' कहते हैं ।

अधः-शाखम्†	=जिसकी शाखा नीचे की ओर है +तथा	अव्ययम्‡	=अविनाशी
यस्य	=जिसके	प्राहुः	=कहते हैं
पर्णानि	=पत्ते	यः	=जो पुरुष
छन्दांसि	=वेदों के मंत्र हैं +ऐसे	तम्	=उस संसार-रूप वृक्ष को
अश्वत्थम्	=संसार-रूप वृक्ष को	वेद	=जानता है
		सः	=वह
		वेदवित्	=वेद का जाननेवाला यानी आत्मदर्शी है

अर्थ—आदिपुरुष-परमेश्वररूप इस संसाररूपी वृक्ष की जड़ ऊपर को है और ब्रह्मारूप मुख्य शाखा जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं, वेदों के छन्द जिसके पत्ते हैं, ऐसे संसाररूप

---

† अधःशाखम्—उस सर्वशक्तिमान्, परमात्मा से सबसे पहिले ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा का धाम नीचे ब्रह्मलोक में है, इसलिए ब्रह्मा को परमात्मा की अपेक्षा 'अधः' (नीचा) कहा है। यह ब्रह्मा ही इस संसार का विस्तार करनेवाला होने के कारण मूल वृक्ष की मुख्य शाखा है, इसीलिए इस संसार-वृक्ष को 'अधःशाखोंवाला' कहते हैं।

‡ अव्ययम्—यद्यपि यह संसार परिवर्तनशील, अनित्य, क्षणभंगुर और नाशवान् है, तो भी इसका प्रवाह अनादि काल से चला आता है। इसके प्रवाह का अन्त देखने में नहीं आता, और चूँकि इस संसार-वृक्ष का मूल कारण परमात्मा है, इसीलिए इस वृक्ष को भी अविनाशी कहा है।

वृक्ष को अविनाशी कहते हैं। उस संसाररूप वृक्ष को जो (मूल-सहित) जानता है, वह यथार्थ में वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है।

व्याख्या—यह माया-मय संसार वृक्ष के समान है। महत्तत्त्व, अहङ्कार और शब्दादि तन्मात्राएँ शाखाओं के समान हैं; अथवा सिर, जो मनुष्य का सबसे ऊपर का भाग है वह शरीररूपी वृक्ष की जड़ है, और सिर को छोड़कर हाथ-पाँव आदि जितने भी अङ्ग हैं, वे सब इस मनुष्यरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। इसलिए ऐसा कहा गया है कि इस वृक्ष का जड़ ऊपर को है और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं। वेदों के छन्द या वाणी इस वृक्ष के पत्ते हैं। जैसे पत्ते सब ओर से ढककर उसकी रक्षा करते हैं, वैसे ही ऋक्, साम आदि वेदरूपी पत्तों से यह संसार ढका रहता है और वैदिक मंत्रों से इसकी रक्षा होती है। जिस प्रकार वृक्ष अपनी छाया में चलनेवाले या ठहरनेवालों को ठंढक और शान्ति देता है, वैसे ही वैदिक कर्मानुसार चलने से मनुष्य को विश्राम या शान्ति मिलती है। ऐसे वृक्ष को जो यथार्थरूप से जानता है, वही वास्तव में वेद का तात्पर्य जाननेवाला है, अर्थात् वही सच्चा तत्त्वदर्शी है।

कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय में लिखा है कि "यह एक सनातन वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं"।

स्मृति में लिखा है:—'वह वृक्ष ऐसा है कि उसकी जड़ अव्यक्त यानी ब्रह्म या प्रकृति है। इसी से वह उत्पन्न हुआ है और इसी से बढ़ा है। उसकी धड़ या तना बुद्धि है, इन्द्रियों के छेद उसके सूराख़ हैं। आकाश आदि महाभूत उसकी शाखाएँ हैं। देखना-सुनना आदि इन्द्रियों के विषय, उसकी डाली और पत्ते हैं। धर्म-अधर्म उसके फूल हैं और सुख-दुःख उन फूलों से पैदा हुए फल हैं। वह सनातन ब्रह्म-वृक्ष सब प्राणियों के जीवन का स्थान है, यानी

संसार के सब प्राणी उसी से जीते हैं। शुद्ध ब्रह्म के आवागमन का स्थान भी वही है। जो मनुष्य ज्ञानरूपी तेज़ तलवार से इस वृक्ष को काटकर परमगति को प्राप्त होता है, वह फिर इस संसार में लौटकर नहीं आता, अर्थात् आत्म-ज्ञान-द्वारा मोक्ष को प्राप्त होकर ज्ञानवान् फिर इस संसार में जन्म लेने के कष्ट से छूट जाता है।

दूसरी तरह इसका मतलब यह भी हो सकता है कि उक्त वृक्ष का मूल यानी परमात्मा ऊपर है, और उससे उपजा हुआ जगत्-वृक्ष नीचे मनुष्यलोक में है ऐसे ही उसकी अनेक शाखाएँ यानी जगत् का फैलाव नीचे की ओर है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

अधः, च, ऊर्ध्वम्, प्रसृताः, तस्य, शाखाः, गुण-प्रवृद्धाः। विषय-प्रवालाः। अधः, च, मूलानि, अनुसन्ततानि, कर्म-अनुबन्धीनि, मनुष्यलोके॥

तस्य	=उस संसार-वृक्ष की	शाखाः	=शाखाएँ
		अधः	=नीचे को
गुण-प्रवृद्धाः	=सत्त्व आदि गुणों के जल से बढ़ी हुई	च	=और
		ऊर्ध्वम्	=ऊपर को
		प्रसृताः	=फैली हुई हैं

	+ जिनमें
विषय-प्रवालाः	= शब्द, स्पर्श, आदि विषयरूपी कोमल पत्ते निकल रहे हैं
च	= और
अधः	= नीचे
मनुष्य-लोके	= मनुष्य-लोक में
कर्म-अनुबन्धीनि	= कर्मों के अनुसार जकड़नेवाली
मूलानि	= (राग-द्वेष आदि वासनारूपी) जड़ें
अनुसन्ततानि	= सब ओर फैली हुई हैं

अर्थ—उस संसार-वृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं, जो सत्त्व-रज आदि गुणों के जल से परिपोषित होती हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय—जिसकी कोपलें हैं और नीचे मनुष्यलोक में राग-द्वेष आदि वासनारूपी जड़ें फैली हुई हैं। जिन वासनाओं के कारण मनुष्य कर्मों के बन्धन से बँधे रहते हैं और बारम्बार नीची-ऊँची योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते।
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

न, रूपम्, अस्य, इह, तथा, उपलभ्यते, न, अन्तः, न, च, आदिः, न, च, सम्प्रतिष्ठा। अश्वत्थम्, एनम्, सुविरूढ-मूलम्, असङ्ग-शस्त्रेण, दृढेन, छित्त्वा ॥

+ किन्तु
इह =इस संसार में
अस्य =इस वृक्ष का
रूपम् =स्वरूप यानी आकार (जैसा ऊपर बतलाया गया है)
तथा =वैसा
न =नहीं
उपलभ्यते =पाया जाता है
+क्योंकि
न =न (तो इसका)
अन्तः =अन्त है
च =और
न =न (इसका)
आदिः =आदि है
च =तथा
न =न (इसके)
सम्प्रतिष्ठा =आधार या स्थिति (मध्य) का पता लगता है
+अतएव
सुविरूढ-मूलम्=अत्यन्त मज़बूती से जमी हुई जड़ोंवाले
एनम् =इस
अश्वत्थम् =संसाररूप वृक्ष को
दृढेन =तीव्र
असङ्ग-शस्त्रेण=वैराग्यरूपी शस्त्र से
छित्त्वा =काटकर

अर्थ—इस लोक में उस वृक्ष का स्वरूप वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि ऊपर कहा गया है। न तो उसका आदि है, न अन्त, और न उसके आधार-स्थान या मध्य का पता लगता है (अर्थात् यह भी नहीं जाना जा सकता कि इसका आरम्भ कब, किस प्रकार और किसके द्वारा हुआ ? इसका अन्त कब, किस प्रकार होगा और यह किसके आधार पर कैसे स्थित

है ? यह देखते-देखते स्वप्न के पदार्थों के समान नष्ट हो जाता है) उस मजबूत जड़ोंवाले वृक्ष को वैराग्यरूपी तेज़ तलवार से काटना चाहिए।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

ततः, पदम्, तत्, परिमार्गितव्यम्, यस्मिन्, गताः, न, निवर्तन्ति, भूयः। तम्, एव, च, आद्यम्, पुरुषम्, प्रपद्ये, यतः, प्रवृत्तिः, प्रसृता, पुराणी ॥

ततः	=उसके पीछे
तत्	=उस
पदम्	=विष्णुपद की
परिमार्गितव्यम्	=खोज करनी चाहिए
यस्मिन्	=जिसमें
गताः	=गये हुए लोग
भूयः	=फिर
न	=नहीं
निवर्तन्ति	=लौटकर आते हैं
च	=और (ऐसा समझना चाहिए कि)
तम्	=उस
एव	=ही (एकमात्र)
आद्यम्	=आदि
पुरुषम्	=पुरुष परमात्मा के
प्रपद्ये	=मैं शरणागत हूँ
यतः	=जिससे (यह)
पुराणी	=अनादि या प्राचीन
प्रवृत्तिः	=प्रवृत्ति (संसार का प्रवाह)
प्रसृता	=फैली हुई है

अर्थ—फिर उस विष्णुपद को ढूँढ़ना चाहिए, यानी संसार के मूल कारण उस परमात्मा की खोज करनी चाहिए, जहाँ पहुँचकर वापस नहीं आना पड़ता, और फिर उस आदि पुरुष की शरण में जाना चाहिए, जिससे इस संसार का विकास हुआ है।

व्याख्या—जैसे वृक्ष का वर्णन वेद में किया गया है, वैसा वृक्ष इस मनुष्यलोक में किसी को दिखाई नहीं देता, क्योंकि स्वप्न की चीज़ों के समान या मृगतृष्णामय जल के समान वह देखते-देखते नष्ट हो जाता है। न उसके आदि का, न अन्त का और न उसके अस्तित्व (Existene) का पता लगता है; फिर भी अज्ञान और मोह के कारण उसकी वासनारूपी जड़ें इस मनुष्यलोक में ऐसी मज़बूती से जमी हुई हैं कि उनको उखाड़ना या काटना बड़ा कठिन है। इस मज़बूत जड़वाले वृक्ष की जड़ वही मनुष्य काट सकता है। जो स्त्री, पुत्र तथा धन आदि पदार्थों से मोह न रक्खे और तत्त्वज्ञान-द्वारा एकमात्र जगत् के मूल कारण परमेश्वर में ध्यान लगावे। उस आदि पुरुष परमात्मा की भक्ति करने और उसकी शरण में जाने से फिर मनुष्य को बारंबार इस संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता, यानी उसकी मुक्ति हो जाती है।

अब भगवान् इस पद को प्राप्त होनेवाले पुरुषों के लक्षण बतलाते हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

निर्मान-मोहाः, जित-सङ्ग-दोषाः, अध्यात्म-नित्याः, विनि-वृत्त-कामाः । द्वन्द्वैः, विमुक्ताः, सुख-दुःख-संज्ञैः, गच्छन्ति, अमूढाः, पदम्, अव्ययम्, तत् ॥

निर्मान-मोहाः	=जो मान और मोह से रहित हैं
जित-सङ्ग-दोषाः	=जिन्होंने आसक्तिरूप दोषों को (सदा के लिए) जीत लिया है
अध्यात्म-नित्याः	=जो निरन्तर अध्यात्म-विचार में लगे रहते हैं अथवा जो सर्वदा आत्मज्ञान में तत्पर रहते हैं
विनिवृत्त-कामाः	=जिनकी (लोक-परलोक की) कामनाएँ — इच्छाएँ — जाती रही हैं
सुख-दुःख-सञ्ज्ञैः	=जो सुख-दुःख (यानी गरमी-सर्दी, मान-अपमान) नामवाले
द्वन्द्वैः	=झगड़ों से
विमुक्ताः	=छुटकारा पा गए हैं (ऐसे)
अमूढाः	=ज्ञानी आत्म-तत्त्व के जानने-वाले
तत्	=उस
अव्ययम्	=अविनाशी
पदम्	=पद को
गच्छन्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—जो मान और मोह (अविवेक) से रहित हैं, जिनका मन पुत्र, धन तथा स्त्री आदि से हट गया है, जो हर समय आत्म-स्वरूप के ज्ञान और ध्यान में लगे रहते हैं,

जिनकी लोक-परलोक की कामनाएँ—इच्छाएँ—दूर हो गई हैं और सुख-दुःख, गरमी-सर्दी आदि द्वन्द्वों से जिनका छुटकारा हो गया है, वेही विचारवान् (ज्ञानी) पुरुष उस निर्विकार अविनाशी पद को पाते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

न, तत्, भासयते, सूर्यः, न, शशाङ्कः, न, पावकः।
यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ॥

तत्	=उस (प्रकाश-स्वरूप पद) को	यत्	=जिस विष्णुपद को
न	=न तो	गत्वा	=प्राप्त होकर +मनुष्य
सूर्यः	=सूर्य	न निवर्तन्ते	=फिर इस संसार में लौटकर नहीं आते हैं
भासयते	=प्रकाशित कर सकता है	तत्	=वही
न	=न	मम	=मेरा
शशाङ्कः	=चन्द्रमा +और	परमम्	=परम
न	=न	धाम	=धाम (वास्तव-स्वरूप) है
पावकः	=अग्नि ही +तथा		

अर्थ—उस (प्रकाशस्वरूप पद) को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; (क्योंकि ये

जड़ ज्योतियाँ उस परम ज्योतिःस्वरूप को प्रकाशित करने में नितान्त असमर्थ हैं), जिस विष्णुपद को प्राप्त होकर ज्ञानवान् पुरुष फिर इस संसार में वापस नहीं लौटते, वही मेरा परमधाम (वास्तव स्वरूप) है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मम, एव, अंशः, जीव-लोके, जीव-भूतः, सनातनः।
मनः, षष्ठानि, इन्द्रियाणि, प्रकृति-स्थानि, कर्षति ॥

जीव-लोके	=इस शरीर में	प्रकृति-स्थानि	=त्रिगुणमयी माया में स्थित होकर
जीव-भूतः	=यह जीव	इन्द्रियाणि	=आँख, कान आदि पाँच ज्ञान इन्द्रियों को
मम	=मेरा		+तथा
एव	=ही	मनः, षष्ठानि	=छठे मन को
सनातनः	=अविनाशी	कर्षति	=खींचता है
अंशः	=अंश है		
	+और यह जीवात्मा ही		

अर्थ—हे अर्जुन ! इस संसार में जो सनातन जीव कहलाता है, वह मेरा ही अंश है। वह जीव, प्रकृति में स्थित होकर आँख, कान आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों और छठे मन को, संसार के भोग भोगने के लिए खींचता है।

व्याख्या—इसी अध्याय के श्लोक ६ में कहा गया है कि "जिस विष्णुपद को प्राप्त होकर, फिर ज्ञानवान् पुरुष वापिस नहीं आते, वही मेरा परमधाम है"। यह कथन साधारण बुद्धिवाले लोगों को संशय में डालता है, क्योंकि जो आता है, वह जाता है और जो जाता है, वह आता है ; इसी तरह जो जन्म लेता है, वही मरता है, जो मरता है, वही जन्म लेता है। फिर भगवान् ने यह बात कैसे कही कि उस धाम में पहुँच जाने पर फिर मनुष्य इस लोक में जन्म नहीं लेता ? सुनो:—भगवान् कहते हैं कि इस संसार में जो सनातन जीव कहलाता है, वह मेरा ही अखण्ड अंश है। हरएक प्राणी के शरीर में ऐसा मालूम होता है कि जीव ही सब कुछ करनेवाला और भोगनेवाला है। यह जीव उस सूर्य के समान है, जो जल में दिखाई देता है और वह प्रतिबिम्ब (अक्स) सूर्य का अंश होते हुए सूर्य से अलग मालूम होता है ; किन्तु जल के हटाते ही पानी में दिखाई देनेवाला सूर्य असली सूर्य में जाकर मिल जाता है। अथवा वह घड़े में आकाश के समान है, जो घड़े की उपाधि के कारण अनन्त आकाश का एक अंशमात्र है। उसके तोड़ देने पर वह अंश उसी में जा मिलता है, और फिर नहीं लौटता। इसी प्रकार जब जीव प्रकृति के गुणों से निरासक्त हो जाता है यानी उनसे विरक्त हो जाता है, तब वह अपने वास्तविक स्वरूप में जाकर मिल जाता है और फिर वहाँ से नहीं लौटता। किन्तु जब यह मेरा अंशरूप जीव इस प्रकृति के गुणों और उसके कार्यों में आसक्त होकर पाँच ज्ञान-इन्द्रियों और छठे मन को साथ-साथ लिए फिरता है और उन्हीं के द्वारा संसार के भोगों को भोगता है और उन्हीं में जब तक लिप्त रहता है, तब तक वह इस संसार में बारम्बार जन्म लेता तथा मरता है और इसी कारण अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

शरीरम्, यत्, अवाप्नोति, यत्, च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः।
गृहीत्वा, एतानि, संयाति, वायुः, गन्धान्, इव, आशयात्॥

ईश्वरः	=देह का स्वामी जीव		जीवात्मा
यत्	=जिस	एतानि	=मन सहित इन इन्द्रियों को
शरीरम्	=(पहिले) शरीर को	गृहीत्वा	=पकड़कर +ऐसे
उत्क्रामति	=त्यागता है	संयाति	=ले जाता है
च	=और	इव	=जैसे
अपि	=फिर	वायुः	=वायु
यत्	=जिस	आशयात्	=सुगन्धित स्थानों से
+ शरीरम्	+अन्य शरीर को		
अवाप्नोति	=प्राप्त होता है +तो यह	गन्धान्	=गन्ध को +ले जाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस समय यह ईश्वररूप जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर नवीन देह धारण करता है या जन्म लेने लगता है, उस समय यह जीव मनसहित इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों को अपने साथ ऐसे खींच ले जाता है, जैसे हवा (कस्तूरी, पुष्प आदि) सुगन्धित पदार्थों से सुगन्ध को दूसरी जगह ले जाती है (और अन्य स्थानों को सुगन्धित कर देती है।)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रम्, चक्षुः, स्पर्शनम्, च, रसनम्, घ्राणम्, एव, च ।
अधिष्ठाय, मनः, च, अयम, विषयान्, उपसेवते ॥

अयम्	=(ईश्वररूप) यह जीवात्मा	घ्राणम्	=नाक
श्रोत्रम्	=कान	च, एव	=और ऐसे ही
चक्षुः	=आँख	मनः	=मन को
स्पर्शनम्	=त्वचा	अधिष्ठाय	=आश्रय करके +इनके द्वारा
च	=और	विषयान्	=शब्द आदि विषयों को
रसनम्	=जीभ	उपसेवते	=भोगता है
च	=तथा		

अर्थ—हे अर्जुन ! कान, नेत्र, चमड़ा, जीभ, नाक और ऐसे ही मन को अपने आश्रय करके या इनमें स्थित होकर यह (ईश्वररूप) जीवात्मा (इन इन्द्रियों के शब्द आदि) विषयों को भोगता है (इसीलिए शरीर छोड़ते समय या जन्म लेते समय इन इन्द्रियों को अपने साथ ही ले जाता है।)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

उत्क्रामन्तम्, स्थितम्, वा, अपि, भुञ्जानम्, वा, गुण-अन्वितम् ।
विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति, पश्यन्ति, ज्ञान-चक्षुषः ॥

	+इस प्रकार		+(जीवात्मा को)
उत्क्रामन्तम्	=शरीर से निकलते हुए	अपि	=भी
स्थितम्	=शरीर में रहते हुए	विमूढाः	=अज्ञानी जन या मूढ़ लोग
वा	=अथवा	न	=नहीं
भुञ्जानम्	=शब्दादि विषयों को भोगते हुए	अनुपश्यन्ति	=देखते हैं
			+(केवल)
वा	=या	ज्ञान-चक्षुषः	=ज्ञान-चक्षुवाले पुरुष ही
गुण-अन्वितम्	=सतोगुण आदि गुणों से युक्त हुए	पश्यन्ति	=देखते हैं

अर्थ—हे अर्जुन! जीव को एक शरीर से निकलकर दूसरे में जाते हुए, शरीर में ठहरे हुए, विषय-भोगों को भोगते हुए और सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त हुए जीव को मूढ़ लोग नहीं देखते। देखते हैं केवल वे लोग, जिनके ज्ञान की आँखें हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

यतन्तः, योगिनः, च, एनम्, पश्यन्ति, आत्मनि, अवस्थितम्।
यतन्तः, अपि, अकृत-आत्मानः, न, एनम्, पश्यन्ति, अचेतसः॥

यतन्तः	=(ज्ञानयोग में) यत्न करनेवाले (लगे हुए)	योगिनः	=योगी लोग
		एनम्	=इस (आत्मा अथवा परमात्मा को)

आत्मनि	=अपने आपमें (यानी अपने हृदय में)	अचेतसः	=अज्ञानी पुरुष
अवस्थितम्	=स्थित	यतन्तः	=प्रयत्न करते हुए
पश्यन्ति	=देखते हैं	अपि	=भी
च	=और	एनम्	=इस जीवात्मा को (अपने भीतर)
अकृत-आत्मानः	=मलिन अन्तः-करणवाले	न	=नहीं
		पश्यन्ति	=देखते हैं

अर्थ—योगी लोग ही ध्यान आदि उपायों से चेष्टा करने पर, इस जीवात्मा को अपने हृदय में देखते हैं, किन्तु जो ज्ञान-रहित हैं, जिनका चित्त या अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वे चेष्टा करने पर भी उस शुद्ध स्वरूप को अपने भीतर नहीं देख सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

यत्, आदित्य-गतम्, तेजः, जगत्, भासयते, अखिलम्।
यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ, तत्, तेजः, विद्धि, मामकम्॥

यत्	=जो	जगत्	=जगत् (विश्व) को
आदित्य-गतम्	=सूर्य में रहने-वाला	भासयते	=प्रकाशित करता है
तेजः	=तेज		
अखिलम्	=सारे	यत्	=जो (तेज)

चन्द्रमसि	=चन्द्रमा में है	तत्	=वह
च	=और	तेजः	=तेज
यत्	=जो (तेज)	मामकम्	=मेरा ही
अग्नौ	=अग्नि में है	विद्धि	=(तू) समझ

अर्थ—जो तेज सूर्य में रहकर सारे विश्व (जगत्) में प्रकाश फैलाता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में है, उसको वास्तव में तू मेरा ही जान (अर्थात् इनमें जो तेज है वह इनका अपना नहीं, बल्कि मेरा ही समझ ।)

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीःसर्वाःसोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

गाम्, आविश्य, च, भूतानि, धारयामि, अहम्, ओजसा ।
पुष्णामि, च, ओषधीः, सर्वाः, सोमः, भूत्वा, रस-आत्मकः ॥

च	=और		+ मैं ही
गाम्	=पृथिवी में	रस-आत्मकः	=रसवाला या रसरूप
आविश्य	=व्याप्त होकर या प्रवेश करके	सोमः	=चन्द्रमा
भूतानि	=सब प्राणियों को	भूत्वा	=होकर
अहम्	=मैं (ही)	सर्वाः	=सब
ओजसा	=अपनी शक्ति या तेज से	ओषधीः	=ओषधियों यानी वनस्पतियों को
धारयामि	=धारण करता हूँ		
च	=और	पुष्णामि	=पुष्ट करता हूँ

अर्थ—और हे अर्जुन ! मैं ही पृथिवीरूप होकर अपने तेज से सारे प्राणियों को धारण करता हूँ, अर्थात् यह मेरी ही शक्ति है जो इस पृथिवी को इस प्रकार थामे हुए है। मैं ही रसात्मक सोम यानी अमृतमय चन्द्रमा होकर पृथिवी पर पैदा होनेवाली समस्त ओषधियों या वनस्पतियों (यानी चावल, गेहूँ आदि) का पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहम्, वैश्वानरः, भूत्वा, प्राणिनाम्, देहम्, आश्रितः।
प्राण-अपान-समायुक्तः, पचामि, अन्नम्, चतुर्-विधम् ॥

प्राणिनाम्	=प्राणियों के		+ और
देहम्	=शरीर में	प्राण-अपान-समायुक्तः	=प्राण-अपान वायु के साथ मिलकर
आश्रितः	=स्थित हुआ	चतुर्-विधम्	=चार प्रकार के
अहम्	=मैं (ही)	अन्नम्	=अन्न (भोजनों) को
वैश्वानरः	=वैश्वानर अथवा जठराग्नि रूप	पचामि	=पचाता हूँ
भूत्वा	=होकर		

अर्थ—मैं वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि-रूप होकर प्राणियों

की देह में रहता हुआ, प्राण-अपान वायु के साथ मिलकर चारों प्रकार के भोजनों * को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सर्वस्य, च, अहम्, हृदि, संनिविष्टः, मत्तः, स्मृतिः, ज्ञानम्, अपोहनम्, च, वेदैः, च, सर्वैः, अहम्, एव, वेद्यः, वेदान्त-कृत्, वेद-वित्, एव, च, अहम् ॥

च	=और	स्मृतिः	=स्मृति
अहम्	=मैं (ही)	च	=और
सर्वस्य	=सम्पूर्ण प्राणियों के	ज्ञानम्	=ज्ञान +उत्पन्न होता है +तथा इन दोनों का
हृदि	=हृदय में		
संनिविष्टः	=बैठा हुआ हूँ		
मत्तः	=मुझसे ही	अपोहनम्	=नाश (अभाव)

* चार प्रकार के भोजन (१) भक्ष्य—जो चीज़ दाँत से तोड़कर और चबाकर खाई जाती है, जैसे रोटी, पूरी, इत्यादि। (२) भोज्य—जो बिना चबाए गले के भीतर चली जाय, जैसे दूध, खीर इत्यादि। (३) लेह्य—जो चीज़ चाटी जाती है, जैसे शहद, चटनी इत्यादि और (४) चोष्य—जो चीज़ चूसी जाती है, जैसे गन्ना आदि।

	+भी मुझसे ही होता है
च	=और
सर्वैः	=सब
वेदैः	=वेदों द्वारा
अहम्	=मैं
एव	=ही
वेद्यः	=जानने योग्य हूँ
च	=तथा
अहम्	=मैं (ही)
वेदान्त-कृत्	=वेदान्तशास्त्र का कर्ता
च	=और
वेद-वित्,एव	=वेदों का जाननेवाला भी हूँ

अर्थ—मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से बैठा हुआ हूँ, मैं ही पहली बातों की याद दिलानेवाला हूँ, मैं ही ज्ञान पैदा करनेवाला हूँ, मुझसे ही स्मृति और ज्ञान का अभाव होता है, यानी इन दोनों का नाश करनेवाला भी मैं ही हूँ। जिस परमात्मा के जानने के लिए चारों वेद रचे गए हैं, उनमें जानने योग्य परम तत्त्व मैं ही हूँ। वेदान्त-शास्त्र का कर्ता और वेदों के अर्थ को यथार्थरूप से जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके, क्षरः, च, अक्षरः, एव, च।
क्षरः, सर्वाणि, भूतानि, कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते ॥

क्षरः	=क्षर अर्थात् निरन्तर बदलनेवाला यानी नाशवान्
च, एव	=और ऐसे ही
अक्षरः	=अक्षर अर्थात् सदा एकसा रहनेवाला यानी अविनाशी
इमौ	=यह
द्वौ	=दो
पुरुषौ	=पुरुष (शक्तियाँ)
लोके	=इस जगत् में हैं
	+इन दोनों में से
सर्वाणि	=सम्पूर्ण
भूतानि	=प्राणी-समुदाय
क्षरः	=क्षर यानी नाशवान्
च	=और
कूटस्थः	=इन सब प्राणियों का आधार यानी जीवात्मा
अक्षरः	=अक्षर अर्थात् अविनाशी
उच्यते	=कहा जाता है

अर्थ—इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं—(१) क्षर (नाशवान्) और (२) अक्षर (नाशरहित)। जितने भी उत्पन्न और नाश होनेवाले प्राणी हैं, वे क्षर हैं और जो विकाररहित हैं अथवा जो सबका कारण चेतन है, वह अक्षर कूटस्थ * कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः, परमात्मा, इति, उदाहृतः।
यः, लोक-त्रयम्, आविश्य, बिभर्ति, अव्ययः, ईश्वरः ॥

* कूटस्थ आत्मा।

यः	=जो	उत्तमः	=उत्तम
अव्ययः	=अविनाशी	पुरुषः	=पुरुष
ईश्वरः	=ईश्वर	तु	=तो
लोक-त्रयम्	=तीनों लोकों में		+क्षर और अक्षर इन दोनों से
आविश्य	=प्रवेश करके	अन्यः	=भिन्न ही है
बिभर्ति	=उनको धारण करता और पालन-पोषण करता है		+और वही
		परमात्मा	=परमात्मा है
		इति	=ऐसा
	+वह	उदाहृतः	=कहा गया है

अर्थ—किन्तु हे अर्जुन ! क्षर और अक्षर—इन दोनों से अलग उत्तम पुरुष दूसरा ही है, जिसे परमात्मा कहते हैं, वही (जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित होने के कारण) अविनाशी ईश्वर कहलाता है। वही तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता तथा उनका पालन-पोषण करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यस्मात्, क्षरम्, अतीतः, अहम्, अक्षरात्, अपि, च, उत्तमः। अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च, प्रथितः, पुरुषोत्तमः ॥

यस्मात्	=क्योंकि	
अहम्	=मैं	
क्षरम्	=निरन्तर बदलने-वाली अपरा प्रकृतिरूप जड़-भाव से	

अतीतः	=परे हूँ	अतः	=इसलिए
च	=और	लोके	=संसार में
अक्षरात्	=सदा एक समान रहनेवाली परा प्रकृतिरूप चेतन पुरुष से	च	=और
		वेदे	=वेद में
		पुरुषोत्तमः	='मैं' पुरुषोत्तम नाम से
अपि	=भी	प्रथितः	प्रसिद्ध
उत्तमः	=उत्तम हूँ	अस्मि	=हूँ

अर्थ—चूँकि मैं क्षर (निरन्तर बदलनेवाली अपरा प्रकृति रूप जड़भाव से) और अक्षर (सदा एक समान रहनेवाली परा प्रकृतिरूप चेतन पुरुष) दोनों से परे और उत्तम हूँ, इसी-लिए संसार में और वेदों में 'मैं' पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या—ऊपर के तीनों श्लोकों का खुलासा मतलब यह है कि इस जगत् में तीन चीज़ें हैं (१) क्षर, (२) अक्षर, (३) पुरुषोत्तम। छोटी-बड़ी जितनी भी चर-अचर वस्तुएँ हैं, जो अग्नि, जल आदि पंच तत्त्वों से पैदा होती हैं, जो प्रतिक्षण पैदा होती और नाश होती हैं अथवा जिसे प्रकृति या माया कहते हैं, उसी का नाम 'क्षर' है। जो नाशरहित है, जिसमें किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता अथवा सबका कारण चेतन जो जीव है, वही 'अक्षर' है। तीसरा पुरुषोत्तम है, जो क्षर-अक्षर दोनों से अलग और उनसे उत्तम है। इसी को परमात्मा कहते हैं। यही सबका पालन और नाश करनेवाला है। यही मूल कारण है। इसके ऊपर और कोई नहीं है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

यः, माम्, एवम्, असम्मूढः, जानाति, पुरुषोत्तमम् ।
सः, सर्व-वित्, भजति, माम्, सर्व-भावेन, भारत ॥

भारत	=हे अर्जुन !	सर्व-वित्	=सर्वज्ञ (सब कुछ जाननेवाला) विद्वान्
यः	=जो	सर्व-भावेन	=सम्पूर्ण भाव से
असम्मूढः	=ज्ञानी पुरुष	माम्	=मुझ वासुदेव को ही
एवम्	=इस प्रकार	भजति	=भजता है
माम्	=मुझको		
पुरुषोत्तमम्	=पुरुषोत्तम		
जानाति	=जानता है		
सः	=वह		

अर्थ—हे अर्जुन ! जो विचारवान् पुरुष इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सब कुछ जाननेवाला सम्पूर्ण भाव से मुझे ही भजता है, यानी वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति, गुह्यतमम्, शास्त्रम्, इदम्, उक्तम्, मया, अनघ ।
एतत्, बुद्ध्वा, बुद्धिमान्, स्यात्, कृतकृत्यः, च, भारत ॥

अनघ	=हे पापरहित (अर्जुन)!	उक्तम्	=कहा गया है
इति	=इस प्रकार	भारत	=हे भरतकुल में उत्पन्न अर्जुन!
इदम्	=यह	एतत्	=इसे
गुह्यतमम्	=अत्यन्त रहस्य-मय (गोपनीय)	बुद्ध्वा	=जानकर
शास्त्रम्	=शास्त्र (गीता-शास्त्र)	बुद्धिमान्	=बुद्धिमान् पुरुष
मया	=मेरे द्वारा	च	=निःसन्देह
		कृतकृत्यः	=कृतकृत्य
		स्यात्	=हो जाता है

अर्थ—हे पापरहित अर्जुन ! मैंने तुझसे सम्पूर्ण गीता-शास्त्र (तथा सब वेदों का सार) संक्षेप में कह दिया है। इसके जान लेने पर बुद्धिमान् मनुष्य निस्सन्देह कृतार्थ हो जाता है।

ऊपर दिए हुए दोनों श्लोकों का सार यह है कि जिसे आत्मज्ञान हो जाता है अथवा जिसे उस सच्चिदानन्द परमात्मा के रूप का सच्चा ज्ञान हो जाता है, वही सदा ईश्वर-भक्ति में लगा रहता है और अन्त में उस मोक्षपद को प्राप्त होता है, जहाँ से फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। भगवान् ने इस अध्याय में समस्त गीता का सार अपने श्रीमुख से कह दिया है, जिसे जान लेने पर मनुष्य ज्ञानवान् होकर इस संसाररूपी सागर से अवश्य पार हो जाता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त

गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी ने कहा—"हे पार्वती, गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। गौड़ देश में नरसिंह नाम का एक राजा था। उसके दुरात्मा मन्त्री ने राजा को राजकुमारों समेत मारकर स्वयं राज्य-शासन करने का इरादा किया, किन्तु दैव-योग से वह बीमार पड़ा और मर गया। उसमें राजा को मार डालने की जो पापबुद्धि उत्पन्न हो गयी थी, उसी कारण मरने पर उसे सिन्ध देश में घोड़े का जन्म मिला। उस घोड़े के अच्छे लक्षण देखकर, एक बनिये ने उसे ख़रीद लिया और राजा नरसिंह के पास जाकर बोला—'महाराज, मैंने सिन्ध देश में एक ऐसा घोड़ा देखा कि शास्त्र में बताए हुए सब लक्षण उस घोड़े में मौजूद हैं। मैंने बहुत मूल्य देकर उसे आपके लिए ख़रीद लिया है। आज्ञा हो तो आपके सामने लाऊँ।' राजा की आज्ञा से वह घोड़ा लाया गया और घोड़ों के गुण-दोष जाननेवाले विद्वान् मन्त्रियों की सलाह से राजा ने बहुत-सा सोना देकर घोड़ा ले लिया। एक दिन राजा उसी घोड़े पर सवार होकर शिकार को गया। एक हिरन के पीछे दौड़ते-दौड़ते जब वह घने वन में पहुँचा और हिरन भी आँखों से ओझल हो गया, तब घोड़े से उतरकर पीने के लिए पानी ढूँढने लगा। उसी समय राजा को पहाड़ की एक शिला पर गीता के पन्द्रहवें अध्याय का आधा श्लोक लिखा हुआ देख पड़ा। वह उस श्लोक को पढ़ने लगा। उसका पाठ सुनते

ही घोड़ा गिर पड़ा और उसी दम मर गया। राजा को घोड़े की मौत देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसी वन में एक तपस्वी के स्थान पर जाकर यह सब हाल कहा और घोड़े के मरने का कारण पूछा। तपस्वी ने बताया कि 'यह घोड़ा पूर्वजन्म में आपका मन्त्री था, इसने आपको मारकर राज्य करने का विचार किया था। उसी पाप से यह घोड़ा हुआ। आज आपके मुँह से गीता के पन्द्रहवें अध्याय का आधा श्लोक सुनकर, सब पापों से छूटकर यह स्वर्गलोक चला गया है।' गीता का यह प्रभाव सुनकर राजा अपने घर आया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपकर प्रतिदिन गीता के पन्द्रहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्त में वह भी शरीर त्यागकर वैकुण्ठ लोक को गया।"

सोलहवाँ अध्याय

दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति

नवें अध्याय में भगवान् ने दैवी प्रकृति, राक्षसी और आसुरी प्रकृतियों का वर्णन संक्षेप में किया था। अब वे इस अध्याय में उपर्युक्त तीनों प्रकृतियों का वर्णन विस्तारपूर्वक करते हैं। दैवी प्रकृतिवाले (सम्पत्तिवाले) संसारबन्धन से छूटकर उस परमपद को प्राप्त करते हैं, जहाँ से फिर लौटकर नहीं आना पड़ता ; किन्तु राक्षसी या आसुरी प्रकृतिवाले बार-बार जन्म लेते और मरते रहते हैं तथा अनेक योनियों में भ्रमते फिरते हैं ; अतएव बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि वे दैवी प्रकृति को ग्रहण करें और आसुरी प्रकृति को त्याग दें। पहले तीन श्लोकों में भगवान् दैवी सम्पदा का वर्णन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाचः—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अभयम्, सत्त्व-संशुद्धिः, ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः।
दानम्, दमः, च, यज्ञः, च, स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम्॥

श्रीभगवान् ने कहाः—

अभयम्	=भययुक्त न होना (निडर होना)	यज्ञः	=यज्ञ करना
सत्त्व-संशुद्धिः	=अन्तःकरण में राग-द्वेष आदि का न होना	स्वाध्यायः	=विद्या-अध्ययन करना यानी वेद और शास्त्रों का पढ़ना
ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः	=ज्ञानयोग में दृढ़ता	तपः	=तप करना यानी अपना धर्म पालन करने के लिए कष्ट सहना
दानम्	=दान करना	च	=तथा
दमः	=इन्द्रियों को अपने वश में रखना	आर्जवम्	=सीधापन या सरलता
च	=और		

अर्थ—भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! (१) निर्भयता (यानी स्वभाव से ही किसी से न डरना), (२) अन्तःकरण की शुद्धि (अर्थात् संसार के सब व्यवहारों में छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष और झूठ आदि को छोड़कर अपने मन को शुद्ध

रखना), (३) ज्ञान-योग में दृढ़ता (शास्त्र या गुरु द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और चित्त को सब ओर से हटाकर आत्मध्यान में लीन रहना), (४) दान (देने-योग्य ग़रीब मनुष्यों को धन, अन्न आदि देना), (५) दम यानी इन्द्रिय-निग्रह (कान, आँख इत्यादि इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अपने वश में रखना), (६) यज्ञ (अग्नि-होत्र तथा देवयज्ञ आदि करना), (७) स्वाध्याय यानी वेद पढ़ना (वेदान्तशास्त्र या धर्म-पुस्तकों का पढ़ना या पढ़ाना), (८) तप (शारीरिक, वाचिक या मानसिक तप अथवा ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से शरीर को वश में रखना), (९) सरलता यानी सीधापन या कोमल स्वभाव होना।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनम्।
दया, भूतेषु; अलोलुप्त्वम्, मार्दवम्, ह्रीः, अचापलम् ॥

अहिंसा	=हिंसा न करना (मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना)	त्यागः	=त्याग (समस्त विषय-वासनाओं को छोड़ना)
सत्यम्	=सच बोलना	शान्तिः	=शीतलता या सहनशीलता
अक्रोधः	=क्रोध न करना	अपैशुनम्	=किसी की निन्दा

	या चुग़ली न खाना		लगाना)
भूतेषु	=प्राणियों पर	मार्दवम्	=कोमलता (सब पर दया करना)
दया	=दया करना	ह्रीः	=लज्जा (बुरे कर्मों के करने में शर्माना)
अलोलुप्त्वम्	=लोभ या लालच न करना (अथवा विषय-भोगों की ओर मन न	अचापलम्	=चंचलता का त्याग (व्यर्थ चेष्टाएँ न करना)

अर्थ—(१०) अहिंसा (हिंसा न करना यानी किसी को शरीर, मन या वाणी से दुःख न पहुँचाना), (११) सच बोलना, (१२) क्रोध न करना (किसी के गाली देने पर भी गुस्सा न करना), (१३) त्याग (यानी संन्यास अथवा कर्मों का या समस्त विषय-वासनाओं का छोड़ना), (१४) शान्ति (अपने अन्तःकरण को अपने वश में रखना यानी चित्त में उद्विग्नता न होने देना), (१५) किसी की निन्दा या चुग़ली न खाना, (१६) प्राणियों पर दया करना (सब जीवों को अपने समान जानकर उन पर दया करना और उन्हें कष्ट या दुःख से छुड़ाने के लिए भरसक यत्न करना), (१७) अलोलुपता (लालच का न करना या विषयभोगों के मौजूद रहने पर भी उनमें मन न लगाना), (१८) मृदुता (कोमल स्वभाव रखना, किसी से भी कड़वी बात न कहना, बल्कि सबसे मीठा बोलना), (१९) लज्जा (खोटे कर्मों के करने में शर्माना), (२०) चंचलता का त्याग (बिना मतलब न बोलना या बिना काम हाथ-पैर आदि का न चलाना)।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेजः, क्षमाः, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः, न, अतिमानिता ।
भवन्ति, सम्पदम्, दैवीम्, अभिजातस्य, भारत ।

तेजः	=तेज (तेजस्वी या प्रभावशाली होना)	न, अति-मानिता	=अपने को बड़ा समझकर घमंड न करना
क्षमा	=क्षमा यानी सहनशीलता रखना		+ ये सब
धृतिः	=धैर्य रखना	भारत	=हे अर्जुन !
शौचम्	=पवित्र रहना या शुद्ध रहना	दैवीम्	=दैवी
अद्रोहः	=किसी से वैर या द्वेष न करना	सम्पदम्	=सम्पदा में
		अभिजातस्य	=जन्मे हुए लोगों के
			+लक्षण
		भवन्ति	=होते हैं

अर्थ—(२१) तेज (तेजस्वी या प्रभावशाली होना जिससे लोग देखते ही दब जावें), (२२) क्षमा (किसी के सताने या अनादर करने पर सामर्थ्य रखते हुए भी बदला लेने की इच्छा न करना या उस पर क्रुद्ध न होना), (२३) धृति (धैर्य रखना अथवा मुसीबत आने पर भी न घबराना) (२४) पवित्रता (बाहर-भीतर से पवित्र रहना यानी मिट्टी पानी आदि से शरीर की बाहरी शुद्धि रखना और छल, कपट

आदि से अन्तःकरण को शुद्ध रखना), (२५) किसी से द्वेष या वैर न करना, (२६) अपने को बड़ा समझकर घमंड न करना यानी अपने से जो बड़े हैं, उनके सामने नम्र रहना, हे भरतपुत्र अर्जुन ! ये २६ गुण, दैवी सम्पदा में जन्मे हुए लोगों में होते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भः, दर्पः, अभिमानः, च, क्रोधः, पारुष्यम्, एव, च।
अज्ञानम्, च, अभिजातस्य, पार्थ, सम्पदम्, आसुरीम् ॥

च	=और	पारुष्यम्	=मुँह से रूखे और कठिन वचन बोलना
दम्भः	=पाखण्ड करना	च	=एवं
दर्पः	=(धन, विद्या आदि का मन में) घमंड करना	अज्ञानम्	=अज्ञान (ठीक ज्ञान का न होना) +ये सब
अभिमानः	=(अपने बड़प्पन या श्रेष्ठता आदि का) अहंकार करना	पार्थ	=हे अर्जुन !
क्रोधः	=क्रोध यानी गुस्सा करना	आसुरीम्	=आसुरी
च, एव	=और ऐसे ही	सम्पदम्	=सम्पदा में
		अभिजातस्य	=उत्पन्न हुए पुरुषों के (लक्षण) हैं

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! (१) दम्भ यानी पाखण्ड (अपने ऐबों को छिपाकर लोगों के सामने अपने को धर्मात्मा ज़ाहिर करना और इस प्रकार अपने को बड़ा साबित करना), (२) दर्प यानी घमंड (विद्या वा धन आदि का गर्व करना), (३) अभिमान (दूसरों के आगे अपने को पूज्य या बड़ा मानना), (४) क्रोध यानी ग़ुस्सा करना, (५) किसी का जी दुखाने के लिए मुँह से रूखे और कड़वे वचन कहना, (६) अज्ञान (ठीक ज्ञान का न होना), ये छः लक्षण आसुरी सम्पदावालों के होते हैं।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी, सम्पद्, विमोक्षाय, निबन्धाय, आसुरी, मता।
मा, शुचः, सम्पदम्, दैवीम्, अभिजातः, असि, पाण्डव ॥

	+इन दोनों सम्पदाओं में
दैवी	=दैवी
सम्पद्	=सम्पत्ति
विमोक्षाय	=मोक्ष के लिए
	+और
आसुरी	=आसुरी सम्पत्ति
निबन्धाय	=बंधन के लिए
मता	=मानी गई है
पाण्डव	=हे अर्जुन !
मा, शुचः	=तू सोच मत कर
	+क्योंकि तू
दैवीम्	=दैवी
सम्पदम्	=सम्पदा को लेकर
अभिजातः	=पैदा हुआ
असि	=है

अर्थ—इन दोनों सम्पदाओं में दैवी सम्पदा से मोक्ष होती है। आसुरी प्रकृति संसार में फँसानेवाली या संसार-बंधन में डालनेवाली होती है। हे अर्जुन ! तू अपने बारे में सोच मत कर; क्योंकि तू दैवी प्रकृति के गुण लेकर जन्मा है (यानी तेरी प्रकृति दैवी है, इसलिए तेरा कल्याण अवश्य ही होगा)।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ, भूत-सर्गौ, लोके, अस्मिन्, दैवः, आसुरः, एव, च।
दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः, आसुरम्, पार्थ, मे, शृणु ॥

अस्मिन्	=इस
लोके	=संसार में
भूत-सर्गौ	=प्राणियों की प्रकृतियाँ (स्वभाव)
द्वौ	=दो प्रकार की
दैवः	=(एक) दैवी यानी सतोगुणी स्वभाववाली
च	=और
आसुरः	=(दूसरी) आसुरी यानी राजसी व तामसी स्वभाव-वाली
	+(उनमें से)
पार्थ	=हे अर्जुन !
दैवः	=दैवी प्रकृतिवालों के लक्षण
विस्तरशः	=विस्तारपूर्वक
प्रोक्तः	=कहे गए
	+(अब)
आसुरम्	=आसुरी प्रकृति-वालों का वर्णन
एव	=भी
मे	=मुझसे
शृणु	=सुन

अर्थ--हे अर्जुन ! इस संसार में दो प्रकार के स्वभाववाले मनुष्य होते हैं:—एक दैवी अर्थात् सतोगुणी प्रकृति के, दूसरे आसुरी यानी राक्षसी वा तामसी प्रकृति के। दैवी प्रकृतिवालों का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया गया है, अब आसुरी प्रकृति-वालों का वर्णन (ध्यान देकर) सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, जनाः, न, विदुः, आसुराः।
न, शौचम्, न, अपि, च, आचारः, न, सत्यम्, तेषु, विद्यते ॥

आसुराः	=आसुरी प्रकृति-वाले	**न**	=न
जनाः	=मनुष्य	**शौचम्**	=पवित्रता (होती है)
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति	**न**	=न
च	=और	**आचारः**	=सदाचार
निवृत्तिम्	=निवृत्ति-मार्ग को	**च**	=और
च	=भी	**न**	=न
न	=नहीं	**सत्यम्**	=सत्य
विदुः	=जानते हैं +अतएव	**अपि**	=ही
तेषु	=उनमें	**विद्यते**	=होता है

अर्थ—आसुरी प्रकृतिवाले, प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्ग को

भी नहीं जानते, अर्थात् असुर लोग यह नहीं समझते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इसलिए न उनमें बाहर-भीतर की पवित्रता ही होती है, न सदाचार और सत्य ही, अर्थात् वे अपवित्र, दुराचारी और झूठे होते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

असत्यम्, अप्रतिष्ठम्, ते, जगत्, आहुः, अनीश्वरम्।
अपरस्पर-सम्भूतम्, किम्, अन्यत्, काम-हैतुकम्॥

ते	=वे लोग (यानी आसुरी स्वभाव-वाले मनुष्य)
जगत्	=जगत् को
असत्यम्	=असत्य यानी झूठा
अप्रतिष्ठम्	=आधाररहित यानी निराश्रय +और
अनीश्वरम्	=बिना ईश्वर के यानी ईश्वर-रहित
आहुः	=कहते हैं +वे यह मानते हैं कि यह जगत्
अपरस्पर-सम्भूतम्	=स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है
काम-हैतुकम्	=कामदेव ही इसका कारण है
अन्यत्	=इसके सिवा और
किम्	=हो ही क्या सकता है?

अर्थ—आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् झूठा है (अर्थात् जैसे हम झूठे हैं वैसे ही यह जगत् भी), आधार-

हीन है, (यानी धर्म और अधर्म इसके आधार नहीं हैं, अथवा यह बिना किसी आधार के ही स्थित है) इसीलिए यह बिना ईश्वर के है (अर्थात् कर्मों के फल का देनेवाला या रचनेवाला कोई भी नहीं है)। सारा जगत् स्त्री-पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है। कामदेव इसका कारण है। इसके अलावा दूसरा कारण हो ही नहीं सकता।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ६ ॥

एताम्, दृष्टिम्, अवष्टभ्य, नष्ट-आत्मानः, अल्प-बुद्धयः ।
प्रभवन्ति, उग्र-कर्माणः, क्षयाय, जगतः, अहिताः ॥

एताम् =इस (ऊपर कहे हुए)
दृष्टिम् =दृष्टि का या मिथ्या विचार का
अवष्टभ्य =सहारा लेकर
+ ये
नष्ट-आत्मानः=मलिन चित्त-वाले
अल्प-बुद्धयः =मंदमति
+ और
अहिताः =(सबका) अहित यानी बुरा करनेवाले (अथवा धर्म-शत्रु)
+ तथा
उग्र-कर्माणः =भयंकर (हिंसा-त्मक) कर्म करनेवाले पुरुष
जगतः =जगत् का
क्षयाय =नाश करने के लिए ही
प्रभवन्ति =(इस संसार में) उत्पन्न होते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! उक्त दृष्टि यानी इस ऊपर कहे हुए मिथ्या विचार का सहारा लेकर ये मलिनचित्त, तुच्छबुद्धि, चोरी आदि भयंकर कर्म करनेवाले, जगत् के शत्रु (यानी सबका अहित करनेवाले) केवल संसार का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। मतलब यह कि ऐसे पुरुष सिवा दुःख देने के किसी प्रकार की भलाई नहीं करते; ऐसा तू समझ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामम्, आश्रित्य, दुष्पूरम्, दम्भ-मान-मद-अन्विताः।
मोहात्, गृहीत्वा, असत्-ग्राहान्, प्रवर्तन्ते, अशुचि-व्रताः ॥

	+ और
दम्भ-मान-मद-अन्विताः	दम्भ (पाखण्ड) =मान (घमंड) और मद (अहङ्कार) से युक्त हुए
दुष्पूरम्	=बड़ी कठिनता से पूर्ण होनेवाली
कामम्	=कामना (इच्छा) के
आश्रित्य	=अधीन होकर
मोहात्	=अज्ञान से
असत्-ग्राहान्	=झूठी भावनाओं को
गृहीत्वा	=ग्रहण कर
अशुचि-व्रताः	=अपवित्र आचरणों से युक्त हुए (आसुरी प्रकृति के लोग) +निन्दित मार्गों में अन्धविश्वास से
प्रवर्तन्ते	=प्रवृत्त होते हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! असुर प्रकृतिवाले दुष्टात्मा ऐसी-ऐसी इच्छाएँ किया करते हैं, जो बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाने पर भी पूरी न हों। उनमें पाखण्ड, घमंड और अहङ्कार भरा रहता है। इसीलिए अज्ञान से झूठे निश्चयों को ग्रहण करके वे भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए (निन्दित मार्गों में अन्धविश्वास से) प्रवृत्त होते हैं।

व्याख्या—मतलब यह कि आसुरी स्वभाववाले मनुष्य सांसारिक सुखों यानी धन,कुटुम्ब आदि की अनन्त कामनाओं में दिन-रात उलझे रहते हैं, जिनसे मरणपर्यन्त वे कभी छुटकारा पा ही नहीं सकते। उन मिथ्या कामनाओं को पूर्ण करने के लिए वे मारण, मोहन तथा उच्चाटन आदि के मन्त्र साधने, देवी-देवताओं के नाम पर पशु-बलि देने और रात के समय श्मशान-भूमि में जाकर भूत-प्रेतादि को जगाने का ढोंग करने में लगे रहते हैं। वे ऐसे तामस तप करते हैं, जिनसे उनका शरीर दुबला और कमज़ोर हो जाता है। अपने नख और केश बढ़ाकर तथा नहाना-धोना बन्द करके मैले-कुचैले बने रहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के पाप-कर्म करते हुए वे धर्मात्मा होने का ढोंग रचते हैं। वे अपने को सबसे अधिक धर्मात्मा और कुलीन समझते हैं। ऐसे ही वे अपने रूप, गुण, ऐश्वर्य और धन आदि के नशे में चूर रहते हुए दूसरों का निरादर करते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

चिन्ताम्, अपरिमेयाम्, च, प्रलय-अन्ताम्, उपाश्रिताः ।
काम-उपभोग-परमाः, एतावत्, इति, निश्चिताः ॥
आशा-पाश-शतैः, बद्धाः, काम-क्रोध-परायणाः ।
ईहन्ते, काम-भोग-अर्थम्, अन्यायेन, अर्थ-सञ्चयान् ॥

प्रलय-अन्ताम् =मरण पर्यन्त बनी रहनेवाली
अपरिमेयाम् =अनन्त या असंख्य
चिन्ताम् =चिन्ताओं का
उपाश्रिताः =आश्रय किये हुए
च =और
काम-उपभोग-परमाः =विषय-भोग ही सर्व-श्रेष्ठ हैं (अन्य कुछ नहीं)
इति =केवल
एतावत् =इतना ही
+वे
निश्चिताः =निश्चय किए हुए हैं
+इसीलिए
आशा-पाश-शतैः =आशाओं के सैकड़ों बन्धनों से
बद्धाः =जकड़े हुए
+और
काम-क्रोध परायणाः =काम तथा क्रोध में तत्पर हुए
काम-भोग-अर्थम् =विषय-भोगों की पूर्ति के लिए
अन्यायेन =(छल-कपट आदि) अन्याय-पूर्ण उपायों से
+वे असुर लोग
अर्थ-सञ्चयान् =धन-संग्रह करने की
ईहन्ते =इच्छा करते हैं

अर्थ—वे ऐसी (नाना प्रकार की) अनन्त चिन्ताओं में लगे रहते हैं, जो मृत्यु-समय ही उनका पीछा छोड़ती हैं

(अर्थात् वे कमाने, खाने और धन जमा करने की फ़िक्र में ही तमाम उम्र बिता देते हैं), उन लोगों का निश्चय है कि विषय-भोगों के भोगने में ही परम सुख है । इससे बढ़कर कुछ भी नहीं । इस प्रकार आशारूपी सैकड़ों फाँसों से जकड़े हुए, काम और क्रोध के अधीन हुए, नाना प्रकार के विषय-भोगों की पूर्ति के लिए (छल, कपट, झूठ और चोरी आदि) अन्यायपूर्ण उपायों से वे असुर स्वभाववाले लोग धन बटोरने की इच्छा करते हैं ।

व्याख्या—असुर प्रकृतिवाले धन जमा करने के लिए चोरी करते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, डाका डालते हैं और इन्द्रिय-सुख के सामान इकट्ठा करने में रात-दिन लगे रहते हैं । वे अनेक चिन्ताओं और झूठी आशाओं में रहते हैं । काम और क्रोध में अन्धे रहते हैं और विषय-भोगों को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं । वे परले सिरे के कपटी और अहङ्कारी होते हैं । अपने स्वार्थ के सामने वे दूसरों की तकलीफ़ों की कोई परवा नहीं करते । साधु पुरुषों को ऐसे मनुष्यों से सदैव बचना चाहिए और यदि हो सके, तो ऐसे मनुष्यों को सदुपदेश द्वारा अच्छे मार्ग पर लाने के लिए कोशिश करनी चाहिए ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

इदम्, अद्य, मया, लब्धम्, इमम्, प्राप्स्ये, मनोरथम् ।
इदम्, अस्ति, इदम्, अपि, मे, भविष्यति, पुनः, धनम् ॥

	+ वे इस प्रकार विचार करते हैं कि	प्राप्स्ये	=मैं पा जाऊँगा +तथा
अद्य	=आज	इदम्	=यह (इस क़दर)
इदम्	=यह (तो)	धनम्	=धन (तो)
मया	=मैंने	मे	=मेरे पास (ही)
लब्धम्	=प्राप्त कर लिया है +और	अस्ति	=है +और
इमम्	=इस	इदम्	=यह (धन)
मनोरथम्	=इष्ट पदार्थ को भी	अपि	भी
		पुनः	=फिर +मेरा
		भविष्यति	=हो जायगा

अर्थ—(असुर प्रकृतिवाले मनुष्य ऐसी बातों के फेर में पड़े रहते हैं कि) इतना तो मुझे आज मिल गया है और यह मेरा मनोरथ (जल्दी ही) पूरा होगा । यह धन तो मेरा है ही, और यह दूसरा भी भविष्य में मेरा ही हो जायगा (और इस प्रकार मैं बड़ा धनी हो जाऊँगा) ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

असौ, मया, हतः, शत्रुः, हनिष्ये, च, अपरान्, अपि ।
ईश्वरः, अहम्, अहम्, भोगी, सिद्धः, अहम्, बलवान्, सुखी ॥

	+ और		पालन-पोषण करनेवाला हूँ
असौ	=उस	अहम्	=मैं (ही)
शत्रुः	=शत्रु को (तो)	भोगी	=भोगों का भोगनेवाला हूँ
मया	=मैंने		+तथा
हतः	=मार डाला है	अहम्	=मैं ही
च	=तथा	बलवान्	=बलवान्
अपरान्	=दूसरों को	सुखी	=सुखी
अपि	=भी		+और
हनिष्ये	=(मैं) मारूँगा	सिद्धः	=सिद्ध हूँ
अहम्	=मैं		
ईश्वरः	=स्वामी यानी		

अर्थ—उस शत्रु को तो मैंने मार डाला है और दूसरों को भी (कल) मार डालूँगा; मैं मालिक हूँ यानी पालन-पोषण करनेवाला हूँ, मैं ही भोगों का भोगनेवाला और मैं ही सिद्ध हूँ, यानी मैं अनेक सिद्धियों से युक्त हूँ (अर्थात् मेरे समान संसार में दूसरा कोई नहीं है)।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

आढ्यः, अभिजनवान्, अस्मि, कः, अन्यः, अस्ति, सदृशः, मया।
यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये, इति, अज्ञान-विमोहिताः॥

	+ और मैं		+ एवं
आढ्यः	=बड़ा धनवान्	अभिजनवान्	=कुलीन

अस्मि	=हूँ	मोदिष्ये	=आनन्द भोगूँगा या मौज उड़ाऊँगा
मया	=मेरे		
सदृशः	=समान		
अन्यः	=और	इति	=इस प्रकार +आसुरी प्रकृतिवाले
कः	=कौन		
अस्ति	=है ?		
यक्ष्ये	=(मैं) यज्ञ करूँगा	अज्ञान-विमोहिताः	=अज्ञान से मोहित रहते हैं (विषय-भोगों में फँसे रहते हैं)
दास्यामि	=दान दूँगा +और		

अर्थ—मैं बड़ा धनवान् हूँ, मैं ऊँचे कुल में पैदा हुआ हूँ, मेरे समान इस समय पृथिवी पर कोई नहीं है, (अब) मैं एक यज्ञ करूँगा, (उसमें बहुत कुछ) दान दूँगा और मौज करूँगा। इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवाले अज्ञान से विषय-भोगों में फँसे रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः, मोह-जाल-समावृताः।
प्रसक्ताः, काम-भोगेषु, पतन्ति, नरके, अशुचौ ॥

+ इसीलिए

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः = अनेक प्रकार की कल्पनाओं में चित्त भ्रम रहा है जिनका ऐसे (अज्ञानी पुरुष)

मोह-जाल-समावृताः = मोहजाल में अच्छी तरह से जकड़े हुए

+ और

काम-भोगेषु =विषयभोगों में

प्रसक्ताः =फँसे हुए

अशुचौ =अपवित्र

नरके =नरक में

पतन्ति =गिरते हैं

अर्थ—इस प्रकार अनेक विषयों में चित्त रहने से मोह-जाल में फँसे हुए, विषय-भोगों में आसक्त रहते हुए, आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपवित्र (घोर मलिन) नरक में गिरते हैं, जहाँ उनकी बड़ी दुर्दशा होती है।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्म-सम्भाविताः, स्तब्धाः, धन-मान-मद-अन्विताः ।
यजन्ते, नाम-यज्ञैः, ते, दम्भेन, अविधि-पूर्वकम् ॥

ते =वे

आत्म-सम्भाविताः = अपने आपको बड़ा या प्रतिष्ठित समझनेवाले

स्तब्धाः =घमंडी (अकड़-वाले) पुरुष

धन-मान-मद-अन्विताः = धन और मान के मतवाले (नशे में चूर)

दम्भेन	दम्भ से (यानी लोक-दिखावे के लिए)	नाम-यज्ञैः	=नाममात्र के यज्ञों से
अविधि-पूर्वकम्	=शास्त्र-विधि से रहित	यजन्ते	=यज्ञ करते हैं

अर्थ—ऐसे लोग अपने को बड़ा और प्रतिष्ठित मानते हैं, सबसे अकड़ के साथ बातचीत करते हैं। वे धन के नशे और घमण्ड में चूर रहते हैं। (केवल औरों को दिखलाने के लिए) वे शास्त्र-विरुद्ध छल-कपट से नाममात्र के लिए यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, च, संश्रिताः।
माम्, आत्म-पर-देहेषु, प्रद्विषन्तः, अभ्यसूयकाः॥

अहङ्कारम्	=अहङ्कार	संश्रिताः	=अधीन हुए
बलम्	=बल	अभ्यसूयकाः	=दूसरों में दोष देखनेवाले अथवा दूसरों की निन्दा करने-वाले पुरुष
दर्पम्	=घमण्ड		
कामम्	=काम (इच्छा या विषय-भोग का सुख)		
च	=और	आत्म-पर-देहेषु	=अपने तथा दूसरों के शरीरों
क्रोधम्	=क्रोध के		

	में रहनेवाले	प्रद्विषन्तः	=द्वेष करते रहते हैं
माम्	=मुझ अन्तर्यामी से		

अर्थ—हे अर्जुन ! अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के अधीन हुए, दूसरों की निन्दा करनेवाले पुरुष अपने तथा दूसरों के शरीरों में रहनेवाले मुझ अन्तर्यामी से द्वेष (घृणा) करते रहते हैं (ऐसे पुरुष वास्तव में नरकगामी होते हैं ।)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

तान्, अहम्, द्विषतः, क्रूरान्, संसारेषु, नर-अधमान् ।
क्षिपामि, अजस्रम्, अशुभान्, आसुरीषु, एव, योनिषु ॥

तान्	=उन	संसारेषु	=संसार में
द्विषतः	=द्वेष करनेवाले	अजस्रम्	=सदा (निरन्तर)
क्रूरान्	=दुष्ट (निर्दयी)	आसुरीषु	=आसुरी
अशुभान्	=अशुभ कर्म करनेवाले	योनिषु	=योनियों में
नर-अधमान्	=नीच पुरुषों को	एव	=ही
अहम्	=मैं	क्षिपामि	=पटकता हूँ

अर्थ—मुझसे द्वेष करनेवाले, उन निर्दयी, नीच, बुरे कर्म करनेवाले पुरुषों को, मैं इस संसार में, वारंवार आसुरी योनियों में ही (यानी सिंह, चीता, सर्प आदि नीच योनियों में ही) डालता हूँ ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरीम्, योनिम्, आपन्नाः, मूढाः, जन्मनि, जन्मनि ।
माम्, अप्राप्य, एव, कौन्तेय, ततः, यान्ति, अधमाम्, गतिम् ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !		को
मूढाः	=मूर्ख पुरुष	अप्राप्य	=न पाकर
आसुरीम्	=आसुरी	ततः	=उससे (भी)
योनिम्	=योनि को		(उत्तरोत्तर)
आपन्नाः	=प्राप्त होते हुए	अधमाम्	=नीच
जन्मनि, जन्मनि	=जन्म-जन्मान्तर में	गतिम्	=गति को
		एव	=ही
माम्	=मुझ सच्चिदानंद	यान्ति	=प्राप्त होते हैं

अर्थ—वे मूर्ख लोग, वारंवार आसुरी योनियों में जन्म लेने के कारण, मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त होने नहीं पाते । इसलिए हे अर्जुन ! वे और भी नीची गति को प्राप्त होते जाते हैं (अर्थात् वे बुरे कर्म करने के कारण नीचे ही गिरते जाते हैं और ऊपर उठ नहीं पाते)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

त्रि-विधम्, नरकस्य, इदम्, द्वारम्, नाशनम्, आत्मनः ।
कामः, क्रोधः, तथा, लोभः, तस्मात्, एतत्, त्रयम्, त्यजेत् ॥

कामः =काम
क्रोधः =क्रोध
तथा =और
लोभः =लोभ
इदम् =यह
त्रिविधम् =तीन प्रकार के
नरकस्य =नरक के
द्वारम् =द्वार
आत्मनः =आत्मा का (बुद्धि का)
नाशनम् =नाश करनेवाले हैं (अर्थात् बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाले और मनुष्य को नरक में ले जानेवाले हैं)
तस्मात् =इसलिए
एतत् =इन
त्रयम् =तीनों को
त्यजेत् =त्याग देना चाहिए

अर्थ—हे अर्जुन ! नरक में जाने के तीन दरवाज़े हैं—काम, क्रोध और लोभ । ये तीनों आत्मा का नाश करनेवाले हैं अर्थात् ये तीनों, प्राणी को अपना सच्चा स्वरूप भुला देने-वाले या अन्तःकरण को मलिन करनेवाले हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन तीनों को छोड़ दे ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

एतैः, विमुक्तः, कौन्तेय, तमः, द्वारैः, त्रिभिः, नरः ।
आचरति, आत्मनः, श्रेयः, ततः, याति, पराम्, गतिम् ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !		का
एतैः	=इन	श्रेयः	=कल्याण (भला)
त्रिभिः	=तीनों	आचरति	=करता है
तमः द्वारैः	=अन्धकारमय दरवाज़ों से		+ और
		ततः	=तब
विमुक्तः	=छूटा (निकला) हुआ		+ वह
		पराम्	=परम (श्रेष्ठ)
नरः	=मनुष्य	गतिम्	=गति को
आत्मनः	=(अपने) आत्मा	याति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जो मनुष्य इन तीन नरक के द्वारों यानी काम, क्रोध और लोभ को छोड़ देता है, वही अपनी आत्मा का भला करता है, अर्थात् वही मनुष्य भगवद्भक्ति या आत्मस्वरूप के ध्यान में लीन हो सकता है और इस प्रकार परम गति यानी मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

यः, शास्त्र-विधिम्, उत्सृज्य, वर्तते, कामकारतः ।
न, सः, सिद्धिम्, अवाप्नोति, न, सुखम्, न, पराम्, गतिम् ॥

यः	=जो मनुष्य	उत्सृज्य	=छोड़कर
शास्त्र-विधिम्	=शास्त्र की विधि को	कामकारतः	=अपनी इच्छा से (मनमाना)

वर्तते	=बरतता है (आचरण करता है)	सुखम्	=सुख को + और
सः	=वह पुरुष	न	=न
न	=न तो	पराम्	=परम
सिद्धिम्	=सिद्धि को	गतिम्	=गति को (प्राप्त होता है)
अवाप्नोति	=प्राप्त होता है		
न	=न		

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्र की मर्यादा छोड़कर अथवा शास्त्रों में लिखे हुए उपदेशों की परवा न करके, अपनी इच्छा के अनुसार चलता है, उसे न सिद्धि (तत्त्वज्ञान) मिलती है, न (लोक-परलोक के) सुख मिलते हैं और न वह परमगति (मोक्ष) को ही प्राप्त होता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

तस्मात्, शास्त्रम्, प्रमाणम्, ते, कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा, शास्त्र-विधान-उक्तम्, कर्म, कर्तुम्, इह, अर्हसि ॥

कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ	=यह कर्म करना चाहिए और यह न करना चाहिए इसे व्यवस्था में (इस-		के निर्णय करने के लिए)
		ते	=तेरे लिए
		शास्त्रम्	=शास्त्र (ही)
		प्रमाणम्	=प्रमाण है

तस्मात्	=इसलिए	इह	=इस संसार में
शास्त्र-विधान-उक्तम्	=शास्त्र में कहे हुए विधान को		+ तू
		कर्म	=कर्म
ज्ञात्वा	=जानकर (समझकर)	कर्तुम्	=करने के
		अर्हसि	=योग्य है

अर्थ—कौनसा कर्म तुझे करना चाहिए और कौनसा नहीं, इसका निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्र की आज्ञा ही मानना चाहिए। इसलिए शास्त्र में दी हुई विधि के अनुसार ही तुझे इस संसार में अपना कर्तव्य-कर्म करना उचित है।

सोलहवाँ अध्याय समाप्त।

गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—"हे देवि, अब गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। गुजरात देश में सौराष्ट्रिक नाम का एक नगर है। वहाँ खड्गबाहु नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन रात के समय राजा का एक मतवाला हाथी बन्धन तोड़कर भागा। महावतों ने उसे पकड़ने की बहुत कोशिश की, पर किसी उपाय से उसे अपने वश में न ला सके। नगर के लोग उस भयानक हाथी के डर से राह छोड़कर भागे और अपने बाल-बच्चों की रक्षा करने लगे। उसी समय एक ब्राह्मण तालाब में स्नान करके, गीता के कुछ श्लोकों का पाठ करता हुआ, उसी मार्ग से आ रहा था। लोगों ने उसे बहुत मना किया कि इस मार्ग से न जाओ, किन्तु वह ब्राह्मण हाथी से न डरकर उसी मार्ग से चला गया। हाथी उस ब्राह्मण को आते देखकर मार्ग से हट गया और उसे राह दे दी। यह अद्भुत बात देखकर, सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा खड्गबाहु विस्मित होकर ब्राह्मण से पूछने लगा—'हे ब्राह्मण, आपने इस समय यह बड़ा अद्भुत काम किया। यमराज के समान भयानक इस हाथी से न डरकर इसके आगे से आप कैसे निकल आये ? आप किस देवता की पूजा करते हैं और किस मन्त्र को जपते हैं ? आपमें क्या

सिद्धि है, सो मुझे बतलाइए।' ब्राह्मण बोला––'महाराज, मैं गीता के सोलहवें अध्याय का प्रतिदिन पाठ करता हूँ। उसी से मुझे सब सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं।' ब्राह्मण की यह बात सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बड़े सम्मान से ब्राह्मण को अपने घर ले गया और उसे एक लाख अशर्फ़ियाँ दीं। उसी दिन से राजा खड्गबाहु गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करने लगा। एक दिन राजा अपने मन्त्रियों के साथ शिकार को गया। वहाँ वही मतवाला हाथी, जो पागल होकर राजा के फ़ीलख़ाने से भागा था, सामने देख पड़ा। उसे देखकर मन्त्रियों को बड़ा भय हुआ। वे लोग भागे और राजा से भी भागने को कहने लगे। किन्तु राजा निडर होकर उसी के सामने से चला गया और हाथी कुछ न बोला। उसके बाद राजा नगर में आकर राजकुमार का राज्याभिषेक करके, संसार से विरक्त होकर, बड़ी श्रद्धा से गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करता रहा और अन्त को शरीर त्यागकर अक्षयलोक को गया।"

सत्रहवाँ अध्याय
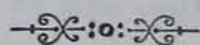
अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

ये, शास्त्र-विधिम्, उत्सृज्य, यजन्ते, श्रद्धया-अन्विताः ।
तेषाम, निष्ठा, तु, का, कृष्ण, सत्त्वम्, आहो, रजः, तमः ॥

भगवान् कृष्ण के वचनों को सुनकर
अर्जुन ने इस प्रकार पूछा—

ये	=जो पुरुष	श्रद्धया-अन्विताः	=श्रद्धा से युक्त हुए
शास्त्र-विधिम्	=शास्त्र-विधि को	यजन्ते	यज्ञ करते हैं
उत्सृज्य	=छोड़कर		

	(यानी देव-पूजन आदि धार्मिक कृत्य करते हैं)		की गति)
		का	=कैसी है ?
		सत्त्वम्	=सत्त्व
		आहो	=अथवा
तेषाम्	=उनकी	रजः	=रज
कृष्ण	=हे कृष्ण !	तु	=या
निष्ठा	=निष्ठा (जीवन	तमः	=तम

अर्थ—अर्जुन ने पूछा:—हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्यागकर, श्रद्धापूर्वक देव-पूजन आदि धार्मिक कृत्य करते हैं, उनकी निष्ठा कौन सी है ? सात्त्विकी है, राजसी है या तामसी ?

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

त्रि-विधा, भवति, श्रद्धा, देहिनाम्, सा, स्वभाव-जा।
सात्त्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति, ताम्, शृणु॥

अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने कहा—

देहिनाम्	=देहधारियों में	त्रि-विधा	=तीन प्रकार की
स्वभाव-जा	=स्वभाव से उत्पन्न हुई (स्वाभाविक)	श्रद्धा	=श्रद्धा
		भवति	=होती है
		सा	=वह (श्रद्धा)

सात्त्विकी	=सात्त्विकी है	इति	=इस प्रकार (तू)
च	=तथा	ताम्	=उसे
राजसी	=राजसी है		+मुझसे
च,एव	=और ऐसे ही		
तामसी	=तामसी है	शृणु	=सुन

अर्थ—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! शरीरधारियों की श्रद्धा स्वभाव से ही तीन तरह की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी । उसी को तू अब (विस्तारपूर्वक) मुझसे सुन—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

सत्त्व-अनुरूपा, सर्वस्य, श्रद्धा, भवति, भारत ।
श्रद्धामयः, अयम्, पुरुषः, यः, यत्-श्रद्धः, सः, एव, सः ॥

भारत	=हे अर्जुन !	श्रद्धामयः	=श्रद्धावाला है
सत्त्व-अनुरूपा	=अन्तःकरण के अनुसार		+अतएव
सर्वस्य	=सबकी	यः	=जो
श्रद्धा	=श्रद्धा या भावना	यत्-श्रद्धः	=जिस श्रद्धा से युक्त है
भवति	=होती है	सः	=वह
अयम्	=यह	सः, एव	=वैसा ही
पुरुषः	=पुरुष(जीव)		+ हो जाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! सबकी श्रद्धा अन्तःकरण के अनुसार ही होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जिस मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।

व्याख्या—पूर्वजन्म के संस्कार के अनुसार मनुष्य किसी न किसी श्रद्धावाला अवश्य होता है। जिसकी श्रद्धा सात्त्विकी है, वह सात्त्विकी प्रकृति का होता है और जिसकी श्रद्धा राजसी या तामसी है, वह उसी प्रकृति का होता है। सबकी श्रद्धा अपने-अपने अन्तःकरण के अनुसार ही होती है और श्रद्धा से ही मनुष्य की पहचान होती है (अन्तःकरण या मन के गुण का नाम ही 'स्वभाव' है)। पुरुष की श्रद्धा किस तरह जानी जाती है, इसे भगवान् आगे कहते हैं :—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

यजन्ते, सात्त्विकाः, देवान्, यक्ष-रक्षांसि, राजसाः।
प्रेतान्, भूत-गणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः, जनाः॥

सात्त्विकाः	=सतोगुणी स्वभाववाले लोग	यक्ष-रक्षांसि	=यक्षों और राक्षसों की +आराधना करते हैं
देवान्	=देवताओं को		
यजन्ते	=पूजते हैं		
राजसाः	=रजोगुणी स्वभाववाले पुरुष	अन्ये	=दूसरे (और)
		तामसाः	=तमोगुणी

जनाः	=मनुष्य	भूत-गणान्	=भूत-गण को
प्रेतान्	=प्रेतों को	यजन्ते	=पूजते हैं
च	=तथा		

अर्थ—सतोगुणी स्वभाववाले लोग देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी स्वभाववाले पुरुष यक्ष और राक्षसों की आराधना करते हैं, तथा तमोगुणी स्वभाववाले मनुष्य भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं।

व्याख्या—जो महादेव और इन्द्र आदि देवताओं को पूजते हैं, वे सतोगुणी हैं। जो कुबेर आदि यक्षों और राक्षसा को पूजते हैं, वे रजोगुणी हैं, जो भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे तमोगुणी हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

अशास्त्र-विहितम्, घोरम्, तप्यन्ते, ये, तपः, जनाः।
दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः, काम-राग-बल-अन्विताः॥
कर्षयन्तः, शरीर-स्थम्, भूत-ग्रामम्, अचेतसः।
माम्, च, एव, अन्तः-शरीर-स्थम्, तान्, विद्धि, आसुर-निश्चयान्॥

अशास्त्र-विहितम्	=शास्त्र-विधि से रहित	घोरम्	=घोर (भयङ्कर या कठिन)

तपः	=तप को
ये	=जो
जनाः	=मनुष्य
तप्यन्ते	=तपते हैं
	+ और
दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः	=पाखण्ड तथा अहङ्कार से भी युक्त हैं
	+ एवं
काम-राग-बल-अन्विताः	=विषय-भोग या विषय-वासना में प्रीति रखते हुए बल के अभिमान से भी जो युक्त हैं
च	=तथा
ये	=जो
अचेतसः	=अज्ञानी
शरीर-स्थम्	=शरीर में स्थित
भूत-ग्रामम्	=पृथ्वी आदि पाँच भूतों के समूह यानी इन्द्रियों को
	+और
अन्तः शरीर-स्थम्	=शरीर के भीतर रहनेवाले
माम्	=मुझ (अन्तर्यामी परमात्मा) को
एव	=भी
कर्षयन्तः	=दुर्बल करनेवाले हैं (अथवा दुःख देते हैं)
तान्	=उनको
आसुर-निश्चयान्	=आसुरी स्वभाव-वाले
विद्धि	=तू जान

अर्थ—हे अर्जुन ! जो लोग पाखण्डी हैं, घमण्डी हैं विषय-भोग या विषय-वासना में प्रीति रखते हैं और हठी हैं तथा शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं (वृक्षों में झूला डाल-कर उल्टा लटकना या चारों तरफ़ आग जलाकर उसके बीच बैठना आदि शास्त्र के विरुद्ध तप हैं) और इस प्रकार वे

मूर्ख शरीर में स्थित पृथ्वी आदि पाँच भूतों को अथवा देह में स्थित इन्द्रियों को कमज़ोर कर डालते हैं और ऐसे ही अन्तर्यामी रूप से शरीर में रहनेवाले मुझ परमात्मा को भी दुर्बल करते हैं या पीड़ा देते हैं, ऐसे मनुष्यों को तू आसुरी श्रद्धावाला समझ।

व्याख्या—काशी, प्रयाग, हरद्वार और वृन्दावन आदि तीर्थस्थानों में ऐसे कितने ही ढोंगी साधु आपको देख पड़ेंगे, जो वृक्षों में झूला डालकर उलटा लटकते हैं, लोहे की पैनी सलाखों पर पीठ के बल चित सोते हैं और चारों तरफ़ आग जलाकर उसके बीच में बैठकर, 'राम-राम' जपते हैं। भगवान् कहते हैं—ऐसे मनुष्य पाखण्डी हैं, वे शास्त्र-विरुद्ध तप करते हैं। मूर्ख पुरुष ऐसे साधुओं को सिद्ध समझकर पूजा करने लगते हैं। स्त्रियाँ तो मानों इनकी अनन्य भक्त ही हो जाती हैं। अतएव ऐसे दुष्ट साधुओं की पूजा हरगिज़ न करनी चाहिए।

आगे भगवान् श्रद्धा की तरह भोजन, यज्ञ, तप और दान इन चारों की भी तीन-तीन क़िस्में बतलाते हैं:—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः, तु, अपि, सर्वस्य, त्रि-विधः, भवति, प्रियः।
यज्ञः, तपः, तथा, दानम्, तेषाम्, भेदम्, इमम्, शृणु॥

तु	=और	**सर्वस्य**	=सबको
आहारः	=आहार (भोजन)		+अपने-अपने
अपि	=भी		स्वभाव के

	अनुसार
त्रि-विधः	=तीन प्रकार का
प्रियः	=प्रिय
भवति	=होता है
तथा	=इसी तरह
यज्ञः	=यज्ञ
तपः	=तप
	+ और
दानम्	=दान भी
	+तीन प्रकार के
	होते हैं
तेषाम्	=उनके
इमम्	=इस
भेदम्	=भेद को
शृणु	=तू (मुझसे) सुन

अर्थ—हे अर्जुन ! सब लोगों को (अपने-अपने स्वभाव के अनुसार) भोजन भी तीन प्रकार का (सात्विक, राजस, तामस) प्रिय होता है। इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उनके इन भेदों को तू मुझसे (विस्तार-पूर्वक) सुन।

भगवान् सबसे पहिले आहार के तीन भेद बतलाते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ८

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः।
रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः, आहाराः, सात्त्विक-प्रियाः॥

आयुः	=आयु
सत्त्व-	=चित्त की स्थि-रता अथवा बुद्धि
बल-	=वीर्य या शारीरिक सामर्थ्य
आरोग्य-	=आरोग्य

सुख	=सुख (मन की प्रसन्नता) + और	स्थिराः	=बहुत समय तक शरीर में बल देनेवाले
प्रीति-	=(प्रभु में) प्रीति के	हृद्याः	=मन को प्रसन्न करनेवाले
विवर्धनाः	=बढ़ानेवाले	आहाराः	=आहार (भोजन)
रस्याः	=रसीले या अत्यन्त स्वादु	सात्त्विक-प्रियाः	=सतोगुणी पुरुष को प्यारे होते हैं
स्निग्धाः	=चिकने		

अर्थ—हे अर्जुन ! आयु, उत्साह, शारीरिक सामर्थ्य यानी बल, आरोग्य, मन की प्रसन्नता और (प्रभु में) प्रीति बढ़ानेवाले, रुचिकर अत्यन्त स्वादिष्ठ या रसीले, चिकने तथा बहुत समय तक शरीर को बल देनेवाले और हृदय को प्रसन्न करनेवाले चार प्रकार के भोजन सतोगुणी पुरुषों को प्यारे लगते हैं। जैसे मोहनभोग और खीर इत्यादि।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ६॥

कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः।
आहाराः, राजसस्य, इष्टाः, दुःख-शोक-आमय-प्रदाः॥

कटु-	=कड़वे (चरपरे)	दुःख- शोक- आमय- प्रदाः	=दुःख, शोक और रोग को पैदा करनेवाले
अम्ल-	=खट्टे	आहाराः	=आहार यानी भोजन के पदार्थ
लवण-	=नमकीन	राजसस्य	=रजोगुणी पुरुष को
अति-उष्ण-	=बहुत गर्म	इष्टाः	=प्रिय लगते हैं
तीक्ष्ण-	=तीक्ष्ण		
रूक्ष-	=रूखे		
विदाहिनः	=जलन पैदा करनेवाले		
	+तथा		

अर्थ—अतिकड़वे यानी चरपरे (जैसे मिरच आदि), अति खट्टे (जैसे आम का अचार आदि), अधिक नमक-वाले, ज्यादा गर्मागर्म, अति तीक्ष्ण (बहुत तेज जैसे राई आदि), रूखे और दाहकारक यानी भोजन करने के बाद जलन पैदा करनेवाले आहार, जो दुःख, रोग और शोक के देनेवाले हैं, रजोगुणी मनुष्यों को अच्छे लगते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

यात-यामम्, गत-रसम्, पूति, पर्युषितम्, च, यत्।
उच्छिष्टम्, अपि, च, अमेध्यम्, भोजनम्, तामस-प्रियम्॥

यात-यामम्	=जिस (भोजन) को बने एक पहर बीत गया हो (या अधपका हो)	गत-रसम्	=जो नीरस हो गया हो

पूति	=जिसमें दुर्गन्ध आती हो	च	=तथा
पर्युषितम्	=जो बासी हो	अमेध्यम् अपि	=जो अशुद्ध या अपवित्र भी हो
च	=और		+ (ऐसा)
यत्	=जो	भोजनम्	=भोजन
उच्छिष्टम्	=जूठा हो गया हो	तामस-प्रियम्	=तमोगुणी पुरुष को प्रिय होता है

अर्थ—जिस भोजन को बने एक पहर बीत गया हो अर्थात् जो ठण्डा हो गया हो, जो रक्खे-रक्खे स्वादहीन हो गया हो, जिसमें बदबू आती हो, जो बासी, जूठा और अशुद्ध हो, इस प्रकार का भोजन तमोगुणी लोगों को अच्छा लगता है।

आहार के तीन भेद दर्शाकर अब भगवान् तीन प्रकार के यज्ञों को बतलाते हैं:—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अफल-आकांक्षिभिः, यज्ञः, विधि-दृष्टः, यः, इज्यते ।
यष्टव्यम्, एव, इति, मनः, समाधाय, सः, सात्त्विकः ॥

यष्टव्यम् एव	=यज्ञ करना ही चाहिए		(एकाग्र करके)
इति	=इस प्रकार	अफल-आकाङ्क्षिभिः	=फल की अभिलाषा न करनेवाले पुरुषों द्वारा
मनः	=मन का		
समाधाय	=समाधान करके	यः	=जो

यज्ञः	=यज्ञ	इज्यते	=किया जाता है
विधि-दृष्टः	=शास्त्र-विधि के अनुसार	सः	=वह (यज्ञ)
		सात्त्विकः	=सात्त्विक है

अर्थ—'यज्ञ करना ही चाहिए' अथवा 'यज्ञ करना हमारा धर्म है', इस प्रकार मन में विचारकर (एकाग्र चित्त से) जो यज्ञ, शास्त्रविधि के अनुसार, किसी प्रकार का फल पाने की इच्छा के बिना किया जाता है, वह 'यज्ञ' सात्त्विक कहलाता है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

अभिसन्धाय, तु, फलम्, दम्भार्थम्, अपि, च, एव, यत्।
इज्यते, भरत-श्रेष्ठ, तम्, यज्ञम्, विद्धि, राजसम्॥

तु	=और	अपि	=भी
भरत-श्रेष्ठ	=हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)!	यत्	=जो (यज्ञ)
फलम्	=फल को	इज्यते	=किया जाता है
अभिसन्धाय	=अन्तःकरण में चाह करके	तम्	=उसको
च	=और	राजसम्	=राजस
दम्भार्थम्	=पाखण्ड के लिए अथवा लोगों को दिखलाने के लिए	यज्ञम्	=यज्ञ
		विद्धि	=(तू) जान

अर्थ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! जो यज्ञ इस मतलब से

किया जाता है कि मुझे लोक-परलोक में फल मिले और लोगों में मैं धर्मात्मा कहलाऊँ, इस प्रकार के यज्ञ को तू 'राजस' यज्ञ समझ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

विधि-हीनम् अ-सृष्ट-अन्नम्, मन्त्र-हीनम्, अ-दक्षिणम्।
श्रद्धा-विरहितम्, यज्ञम्, तामसम्, परिचक्षते॥

विधि-हीनम्=वेद-विधि से रहित
अ-सृष्ट-अन्नम्=अन्न-दान से रहित (भोजन-रहित)
मन्त्र-हीनम् =विना वेद के
अ-दक्षिणम्=विना दक्षिणा दिए हुए
+ और
श्रद्धा-विरहितम्=विना श्रद्धा के किया हुआ
यज्ञम् =यज्ञ
तामसम् =तामस
परिचक्षते =कहलाता है।

अर्थ—जो यज्ञ शास्त्रविधि के विरुद्ध किया जाता है, जिस यज्ञ में (ब्राह्मणों को) भोजन न कराया गया हो, जिसमें शुद्ध वेद-मन्त्र न बोले गए हों, जिसमें विद्वानों को दक्षिणा न दी गई हो, और यज्ञ करानेवाले की, यज्ञ में तथा यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों में ज़रा भी श्रद्धा न हो, ऐसा यज्ञ 'तामस' कहलाता है।

यहाँ तक भगवान् ने तीन प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया।

अब भगवान् तप को कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीन भेदों से वर्णन करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्, शौचम्, आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यम्, अहिंसा, च, शारीरम्, तपः, उच्यते ॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्	=देवता, ब्राह्मण, (अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) गुरु (माता-पिता और आचार्य) और ज्ञानियों (विद्वान्, भक्त और पंडितों) का पूजन या सत्कार करना	आर्जवम्	=कोमलचित्त होना या नम्र रहना
		ब्रह्मचर्यम्	=ब्रह्मचर्य से रहना
		च	=और
		अहिंसा	=हिंसा न करना अथवा किसी को दुःख न देना
		+ इदम्	=यह
		शारीरम्	=शारीरिक
शौचम्	=पवित्र या शुद्ध रहना	तपः	=तप
		उच्यते	=कहलाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं का पूजन; सदाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सत्कार करना; माता-पिता, गुरु और विद्वानों का पूजन ; भीतर-बाहर पवित्र

रहना ; सरल स्वभाव होना ; ब्रह्मचर्य-व्रत का धारण करना और किसी को दुःख न देना ; यह शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अनुद्वेग-करम्, वाक्यम्, सत्यम्, प्रिय-हितम्, च, यत्।
स्वाध्याय-अभ्यसनम्, च, एव, वाङ्मयम्, तपः, उच्यते ॥

यत्	=जो	**च**	=और
वाक्यम्	=वाक्य या वचन	**एव**	=ऐसे ही
अनुद्वेग-करम्	=(किसी को) उद्वेग न करे यानी किसी के मन को दुःख न पहुँचावे	**स्वाध्याय-अभ्यसनम्**	=स्वाध्याय का अभ्यास अर्थात् वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन
च	=और	**वाङ्मयम्**	=वाचिक (वाणी का)
सत्यम्	=सत्य	**तपः**	=तप
प्रिय-हितम्	=प्रिय एवं हित-कर हो	**उच्यते**	=कहलाता है

अर्थ—अपनी बातों से किसी के मन को दुःख न पहुँचाना, सच बोलना, प्यारी और भलाई करनेवाली बातें कहना, वेद-शास्त्र का पढ़ना व पढ़ाना, यह वाचिक तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनः-प्रसादः, सौम्यत्वम्, मौनम्, आत्म-विनिग्रहः ।
भाव-संशुद्धिः, इति, एतत्, तपः, मानसम्, उच्यते ॥

मनःप्रसादः=मन को प्रसन्न रखना
सौम्यत्वम् =सरलता या सीधापन अर्थात् शान्त भाव रखना
मौनम् =मौन रहना या कम बोलना अथवा परमात्मा का चिन्तन करना
आत्म-विनिग्रहः =मन को अपने वश में रखना
+और
भाव-संशुद्धिः =अन्तःकरण की पवित्रता यानी व्यवहार में छल न करना
इति =इस प्रकार
एतत् =यह
तपः =तप
मानसम् =मानस
उच्यते =कहलाता है

अर्थ—मन को प्रसन्न रखना, चित में शान्ति रखना (या दूसरों की भलाई करने में हरसमय लगे रहना), मौन रहना यानी कम बोलना अथवा हर समय मन में परमात्मा का चिन्तन करना, अन्तःकरण की पवित्रता यानी व्यवहार में

छल-कपट न करना और अपनी इन्द्रियों और मन को अपने वश में रखना, यह सब मानसिक तप कहलाता है।

अब भगवान् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के हिसाब से ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के तपों का वर्णन करते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

श्रद्धया, परया, तप्तम्, तपः, तत्, त्रि-विधम्, नरैः।
अ-फल-आकांक्षिभिः, युक्तैः, सात्त्विकम्, परिचक्षते ॥

अ-फल-आकांक्षिभिः	=फल की इच्छा न करनेवाले	तप्तम्	=तपा हुआ (किया हुआ)
	+ और	तत्	=वह
युक्तैः	=एकाग्र चित्तवाले	त्रि-विधम्	=तीन प्रकार का
नरैः	=मनुष्यों द्वारा	तपः	=तप
परया	=परम	सात्त्विकम्	=सात्त्विक या सतोगुणी
श्रद्धया	=श्रद्धा से	परिचक्षते	=कहलाता है

अर्थ—हे अर्जुन! एकाग्र चित्तवाले पुरुष, अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक, तप करने के फल की इच्छा त्यागकर, जो ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) तपों को तपते हैं, उस तप को सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार-मान-पूजा-अर्थम्, तपः, दम्भेन, च, एव, यत् ।
क्रियते, तत्, इह, प्रोक्तम्, राजसम्, चलम्, अध्रुवम् ॥

च	=और	क्रियते	=किया जाता है
सत्कार-मान-पूजा-अर्थम्	=सत्कार (आदर) मान (प्रशंसा) तथा पूजा (प्रतिष्ठा) के लिए	तत्	=वह
यत्	=जो	चलम्	=चञ्चल (थोड़ी देर तक फल देनेवाला) + तथा
तपः	=तप	अध्रुवम्	=अनित्य (नाशवान्)
एव	=केवल	इह	=इस संसार में
दम्भेन	=पाषण्ड से (दिखलावे के लिए)	राजसम्	=राजस
		प्रोक्तम्	=कहा गया है

अर्थ—जो तप अपना सत्कार-आदर-मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और पाषण्ड यानी केवल दिखलावे के भाव से किया जाता है, ऐसा चंचल और अनित्य (नाशवान्) तप इस संसार में 'राजस' कहलाता है ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

मूढ-ग्राहेण, आत्मनः, यत्, पीडया, क्रियते, तपः ।
परस्य, उत्सादन-अर्थम्, वा, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥

यत्	=जो	परस्य	=दूसरे का
तपः	=तप	उत्सादन-अर्थम्	=नाश या अनिष्ट करने के लिए
मूढ-ग्राहेण	=मूर्खतावश (अविवेकपूर्वक)	क्रियते	=किया जाता है
आत्मनः	=शरीर-इन्द्रियादि को	तत्	=वह (तप)
पीड्या	=कष्ट देकर	तामसम्	=तामस
वा	=अथवा	उदाहृतम्	=कहा गया है

अर्थ—जो तप मूर्खतावश (हठ करके) अपने शरीर और इन्द्रियों को कष्ट देकर, दूसरे को दुःख देने या नष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस' तप कहा गया है।

अब भगवान् दान के तीन भेदों का वर्णन करते हैं:—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दातव्यम्, इति, यत्, दानम्, दीयते, अनुपकारिणे ।
देशे, काले, च, पात्रे, च, तत्, दानम्, सात्त्विकम्, स्मृतम् ॥

दातव्यम्	=दान देना हमारा धर्म है (अथवा हमको अवश्य दान देना चाहिए)	यत्	=जो
		दानम्	=दान
		देशे	=शुद्ध भूमि में
		काले	=पुण्यकाल में
इति	=इस प्रकार (मन में विचारकर)	च	=तथा
		पात्रे	=सुपात्र

च	=और	तत्	=वह
अनुप-कारिणे	=उपकार न करनेवाले को	दानम्	=दान
		सात्त्विकम्	=सात्त्विक
दीयते	=दिया जाता है	स्मृतम्	=कहलाता है

अर्थ—हे अर्जुन ! दान देना हमारा कर्त्तव्य धर्म है, इस प्रकार मन में विचार कर जो दान उत्तम देश * और काल † में उस सुपात्र ‡ को दिया जाता है, जिससे हमारा कोई उपकार न हो सकता हो, वह 'सात्त्विक' दान कहलाता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्, तु, प्रत्युपकार-अर्थम्, फलम्, उद्दिश्य, वा, पुनः ।
दीयते, च, परिक्लिष्टम्, तत्, दानम्, राजसम्, स्मृतम् ॥

तु	=और	वा	=अथवा
यत्	=जो (दान)	पुनः	=पुनः (फिर)
प्रत्युपकार-अर्थम्	=प्रत्युपकार के लिए (यानी बदला चाहते हुए)	फलम्	=स्वर्ग आदि फल के
		उद्दिश्य	=उद्देश्य से (इच्छा से)

* उत्तम देश=जैसे काशी, हरद्वार, प्रयाग आदि तीर्थस्थान।
† काल सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण आदि पर्व ।
‡ सुपात्र=सदाचारी ब्राह्मण ।

च	=और	तत्	=वह
परिक्लिष्टम्	=क्लेश या चित्त में दुःखित होकर	दानम्	=दान
		राजसम्	=राजस
दीयते	=दिया जाता है	स्मृतम्	=माना गया है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो दान इस मतलब से दिया जाता है कि इसके बदले में मुझे स्वर्ग आदि फल मिलें या इसके बदले में यह मनुष्य भी मेरे साथ भलाई करे, अथवा जो दान दुःखितचित्त होकर दिया जाता है, वह 'राजस' माना गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अ-देश-काले, यत्, दानम्, अपात्रेभ्यः, च, दीयते।
अ-सत्कृतम्, अव-ज्ञातम्, तत्, तामसम्, उदाहृतम्॥

च	=और	अपात्रेभ्यः	=कुपात्रों को
यत्	=जो	अ-सत्कृतम्	=विना सत्कार +और
दानम्	=दान	अव-ज्ञातम्	=विना आदर के
अ-देश-काले	=निषिद्ध देश-काल में यानी अपवित्र स्थान और सूतक आदि अपवित्र समय में	दीयते	=दिया जाता है
		तत्	=वह (दान)
		तामसम्	=तामस
		उदाहृतम्	=कहा गया है

अर्थ—और जो दान बिना देश-काल के अपात्रों को दिया जाता है (अर्थात् बुरे देश और सूतक आदि अपवित्र समय में, जो दान जुआरियों, दुराचारी पण्डों, मूर्ख ब्राह्मणों या भाँड़ों को दिया जाता है) और देते समय जो दान तिरस्कार या अनादर से दिया जाता है, वह 'तामस' कहलाता है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्, इति, निर्देशः, ब्रह्मणः, त्रिविधः, स्मृतः।
ब्राह्मणाः, तेन, वेदाः, च, यज्ञाः, च, विहिताः, पुरा॥

ॐ तत्,सत्	=ॐतत्-सत्		सत् मंत्र से)
इति	=करके	पुरा	=सृष्टि के आदि-काल में
त्रि-विधः	तीन प्रकार का		
ब्रह्मणः	=ब्रह्म का	ब्राह्मणाः	=ब्राह्मण
निर्देशः	=नाम	वेदाः	=वेद
स्मृतः	=समझा गया है	च	=तथा
च	=और	यज्ञाः	=यज्ञ
तेन	=उसी (ॐतत्-	विहिताः	=रचे गये हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! 'ॐ-तत्-सत्', ये सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के तीन उत्तम नाम हैं। इन नामों से ही पहले यानी सृष्टि के आदि-काल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न किये गये हैं।

जैसे (अ+उ+म्=ॐ) ॐ या प्रणव परब्रह्म का नाम है, इसी प्रकार तत् और सत् भी परब्रह्म के नाम हैं । वेदान्त जाननेवाले पुरुषों ने वेदान्तग्रन्थों में इनका स्मरण किया है । इन नामों के उच्चारणमात्र से अङ्गहीन यज्ञादि कर्म पूर्ण या सफल हो जाते हैं । आगे भगवान् इन तीनों नामों का माहात्म्य अलग-अलग कहते हैं :—

अब आगे भगवान् "ॐतत्सत्" द्वारा अंगहीन क्रियाओं के पूर्ण करने की विधि बतलाते हैं :—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तस्मात्, ॐ, इति, उदाहृत्य, यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते, विधान-उक्ताः, सततम्, ब्रह्म-वादिनाम् ॥

तस्मात्	=इसलिए	यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः	=यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ
ब्रह्म-वादिनाम्	=ब्रह्म-विद्या का वर्णन करनेवाले या वेदों को जाननेवाले पुरुषों की	ॐ	=ओम्
		इति	=ऐसा (यह शब्द)
		उदाहृत्य	=उच्चारण करके
विधान-उक्ताः	=शास्त्र-विधि से कही हुई	सततम्	=सदैव
		प्रवर्तन्ते	=आरम्भ होती हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! इसलिए ब्रह्मविद्या के जाननेवाले शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ, दान और तप आरम्भ करने के पहले सदैव 'ॐ' शब्द का उच्चारण करते हैं ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥ २५॥

तत्, इति, अनभिसन्धाय, फलम्, यज्ञ-तपः-क्रियाः ।
दान-क्रियाः, च, विविधाः, क्रियन्ते, मोक्ष-कांक्षिभिः ॥

तत्, इति	=तत् शब्द का उच्चारण करके	यज्ञ-तपः क्रियाः	=यज्ञ और तप की क्रियाएँ
च	=और	+ च	=तथा
फलम्	=कर्म-फल की	दान-क्रियाः	=दानरूप क्रियाएँ
अनभिसन्धाय	=इच्छा से रहित होकर	मोक्ष-कांक्षिभिः	=मोक्ष चाहने-वाले पुरुषों द्वारा
विविधाः	=नाना प्रकार की	क्रियन्ते	=की जाती हैं

अर्थ—हे अर्जुन ! जो किसी प्रकार के कर्म-फल की इच्छा नहीं रखते, केवल मोक्ष चाहते हैं, ऐसे पुरुष नाना प्रकार के यज्ञ, तप और दान करने के पहले 'तत्' * शब्द का उच्चारण करते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्-भावे, साधु-भावे, च, सत्, इति, एतत्, प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते, कर्मणि, तथा, सत्, शब्दः, पार्थ, युज्यते ॥

* तत्, यह भी ब्रह्म का नाम है ।

पार्थ	=हे अर्जुन !	तथा	वैसे ही
सद्-भावे	=सत्यभाव में	प्रशस्ते	=मंगल
च	=और	कर्मणि	=कर्म में
साधुभावे	=श्रेष्ठभाव में	इति	=भी
एतत्	=यह	सत्, शब्दः	=सत् शब्द का
सत्	=सत्-शब्द	युज्यते	=प्रयोग (यानी उच्चारण) होता है
प्रयुज्यते	=प्रयोग किया जाता है		

अर्थ—हे अर्जुन ! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' शब्द का उच्चारण किया जाता है और ऐसे ही विवाह आदि मङ्गल कर्मों में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञे, तपसि, दाने, च, स्थितिः, सत्, इति, च, उच्यते ।
कर्म, च, एव, तत्-अर्थीयम्, सत्, इति, एवम्, अभिधीयते ॥

यज्ञे	=यज्ञ	एव	=भी
तपसि	=तप	सत्	='सत्'
च	=और	इति	=ही (करके)
दाने	=दान में	उच्यते	=कहते हैं
स्थितिः	=स्थिति अर्थात् प्रवृत्ति (निश्चय या निष्ठा) को	च	=और
		तत्-अर्थीयम्	=उस (ईश्वर) के निमित्त किया

	हुआ
कर्म	=कर्म
एव	=भी
सत्	=सत् है
इति	=ऐसा
अभिधीयते	=कहा जाता है

अर्थ—भगवान् कहते हैं कि जिसका यज्ञ, तप और दान में पूरा-पूरा निश्चय है उसको उचित है कि कर्मों के आरम्भ-काल में 'सत्' शब्द का जरूर उच्चारण करे। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनमें भी 'सत्' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है (कर्म अंगहीन और गुणरहित भी क्यों न हों, किन्तु पहले "ॐतत्सत्" का उच्चारण करने से ही वे पूरे हो जाते हैं)।

व्याख्या—मतलब यह कि कर्म करनेवाले में और कर्म में यह परमात्मा स्थित (क़ायम) है, जो 'सत्' है और जिसके लिए वे कर्म किये जाते हैं, वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार जो उस कर्म से फल होगा वह भी 'सत्' ही होगा, अर्थात् परमगति को देनेवाला होगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अश्रद्धया, हुतम्, दत्तम्, तपः, तप्तम्, कृतम्, च, यत्।
असत्, इति, उच्यते, पार्थ, न, च, तत्, प्रेत्य, नो, इह ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !
अश्रद्धया	=अश्रद्धा से (विना श्रद्धा के)
हुतम्	किया हुआ हवन
दत्तम्	=दिया हुआ दान

तप्तम्	=तपा हुआ	उच्यते	=कहा जाता है
तपः	=तप	तत्	=वह कर्म
च	=और	न	=न (तो)
यत्	=जो कुछ भी	प्रेत्य	=मरने के पीछे
कृतम्	=किया हुआ कर्म है	च	=और
+ तत्	=सो (सब)	नो	=न
असत्	=असत् यानी निष्फल या वृथा है	इह	=इस लोक में (इस जन्म में)
इति	=ऐसा	+ फलदायकः	=फलदायक होता है

अर्थ—हे पार्थ ! जो मनुष्य अश्रद्धा से अग्नि में हवन करता है, श्रद्धाहीन होकर (केवल दिखलावे के लिए) दान देता या तप करता है या जो कुछ भी कर्म करता है, उन कर्मों का फल असत् होता है, यानी कुछ भी नहीं होता। ऐसे कर्मों का फल न तो इस लोक में मिलता है और न परलोक में मरने के पीछे।

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त

गीता के सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी बोले—"हे पार्वती ! गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य हम कह चुके, अब सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। राजा खड्गबाहु का जब शरीरान्त हो गया और उसका पुत्र राज्य कर रहा था, तब दुःशासन नाम के एक नौकर ने उस पागल हाथी को किसी तरह ज़ंजीर से बाँध लिया। उसने एक दिन बड़े अभिमान से उस पर सवार होना चाहा। लोगों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह किसी की बात न मानकर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। हाथी ने क्रोध में आकर उसे अपनी सूँड़ में लपेटकर पैर से कुचल डाला। हाथी से मारे गये दुःशासन को दूसरे जन्म में हाथी का ही जन्म मिला। वह पैदा तो सिंहलद्वीप में हुआ ; पर वहाँ के राजा से खड्गबाहु की मित्रता थी, उसने उस हाथी को खड्गबाहु के पुत्र को दे दिया। हाथी को अपने पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त स्मरण था, इसलिए वह अपने घरवालों को देखकर सदा चिन्तित रहा करता था। कुछ दिनों बाद वह बीमार हो गया और बहुत चिकित्सा करने पर भी अच्छा न हुआ। एक दिन राजा उसे देखने के लिए स्वयं आया और उसकी

दशा देखकर खेद प्रकट करने लगा। हाथी बोला—'महाराज, चिकित्सा से मेरी बीमारी नहीं दूर होगी; आप कृपा करके गीता का पाठ करनेवाले किसी ब्राह्मण को बुलवाकर मुझे गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ सुनवाइए तो मैं इस शरीर से ही नहीं, बल्कि इस संसार से मुक्त होकर वैकुण्ठलोक प्राप्त करूँगा।' राजा ने वैसा ही किया। ब्राह्मण के मुँह से गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ सुनकर हाथी का शरीर छूट गया और वह विमान पर बैठकर दिव्यलोक को गया।"

अठारहवाँ अध्याय
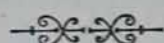
अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

संन्यासस्य, महाबाहो, तत्त्वम्, इच्छामि, वेदितुम् ।
त्यागस्य, च, हृषीक-ईश, पृथक्, केशि-निषूदन ॥

अर्जुन ने कहा—

महाबाहो =हे विशाल भुजा-वाले !
हृषीक-ईश =हे इन्द्रियों के स्वामी !
केशि-निषूदन=(और) हे केशी दैत्य के मारने-वाले भगवान् श्रीकृष्ण !
संन्यासस्य =संन्यास
च =और

त्यागस्य	=त्याग के	पृथक्	=अलग-अलग
तत्त्वम्	=तत्त्व को	वेदितुम्	=जानना
	+ मैं	इच्छामि	=चाहता हूँ

अर्थ—अर्जुन ने कहा:—हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले ! हे इन्द्रियों के स्वामी (हे अन्तर्यामिन् !) और हे केशी दैत्य के मारनेवाले (हे वासुदेव !) मैं अलग-अलग यह जानना चाहता हूँ कि संन्यास और त्याग में क्या भेद है ?

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

काम्यानाम्, कर्मणाम्, न्यासम्, संन्यासम्, कवयः, विदुः ।
सर्व-कर्म-फल-त्यागम्, प्राहुः, त्यागम्, विचक्षणाः ॥

अर्जुन के प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

	+ कितने ही	च	=और (कितने ही)
कवयः	=पण्डित लोग	विचक्षणाः	=विचारकुशल पुरुष
काम्यानाम्	=फल की इच्छा से किये गये	सर्व-कर्म-फल-त्यागम्	=सम्पूर्ण कर्मों के फल छोड़ देने को
कर्मणाम्	=कर्मों के	त्यागम्	=त्याग
न्यासम्	=त्याग को (छोड़ देने को)	प्राहुः	=कहते हैं
संन्यासम्	=संन्यास		
विदुः	=जानते हैं		

अर्थ—अर्जुन के प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले—हे अर्जुन ! कितने ही पण्डित लोग फल की इच्छा से किये गये कर्मों के छोड़ने को 'संन्यास' कहते हैं और कितने ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल छोड़ देने को 'त्याग' कहते हैं।

व्याख्या—मतलब यह कि 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों का एक ही अर्थ है। हाँ, दोनों में ज़रा-सा भेद अवश्य है। 'संन्यास' का अर्थ है स्त्री, पुत्र और धन आदि की प्राप्ति तथा रोग आदि की निवृत्ति के लिए यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का छोड़ना, तथा 'त्याग' का अर्थ है कर्म-फलों को छोड़ना अर्थात् गृहस्थ-आश्रम के सब काम करते हुए जप, तप, यज्ञ, दान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोक की संपूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम ही सब कर्मों के फल का 'त्याग' है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं। मतलब यह कि संन्यास में कर्म नहीं होते, किन्तु त्याग में कर्म तो होते हैं, पर फल की आशा नहीं होती।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यम्, दोषवत्, इति, एके, कर्म, प्राहुः, मनीषिणः।
यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यम्, इति, च, अपरे ॥

एके	=एक	इति	=ऐसा
मनीषिणः	=विचारशील पुरुष	प्राहुः	=कहते हैं (कि)
		कर्म	=कर्म

दोषवत्	=दोषों से भरे हुए (दोषयुक्त) हैं + इसलिए उन्हें	इति	=यह
त्याज्यम्	=त्याग ही देना चाहिए	+ प्राहुः	=कहते हैं (कि)
च	=और	यज्ञ-दान-तपः-कर्म	=यज्ञ, दान, तपसम्बन्धी कर्म
अपरे	=दूसरे पंडित	न, त्याज्यम्	=त्यागने योग्य नहीं हैं

अर्थ—कितने ही बुद्धिमान् ऐसा भी कहते हैं कि सभी कर्म दोषपूर्ण हैं, अतएव जिस तरह मनुष्यों के लिए हिंसा आदि दोषों का छोड़ना ज़रूरी है, उसी तरह कर्मों का त्याग भी उचित है। कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान-सम्बन्धी कर्मों को न छोड़ना चाहिए (क्योंकि वे अन्तः-करण की शुद्धि करनेवाले हैं)।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयम्, शृणु, मे, तत्र, त्यागे, भरत-सत्तम।
त्यागः, हि, पुरुष-व्याघ्र, त्रि-विधः, सम्प्रकीर्तितः ॥

भरत-सत्तम	=हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)	मे	=मेरा
तत्र	=उस	निश्चयम्	=निश्चय
त्यागे	=त्याग के विषय में	शृणु	=(तू) सुन
		पुरुष-व्याघ्र	=हे पुरुषों में सिंह (अर्जुन) !

त्यागः	=त्याग	त्रि-विधः	=तीन प्रकार का
हि	=भी	सम्प्रकीर्तितः	=कहा गया है

अर्थ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस त्याग के विषय में अब मेरा निश्चय (ध्यानपूर्वक) सुन। हे पुरुषों में सिंह ! (यज्ञ, तप और दान आदि की तरह) त्याग भी निश्चय ही तीन तरह का कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यम्, कार्यम्, एव, तत्।
यज्ञः, दानम्, तपः, च, एव, पावनानि, मनीषिणाम् ॥

यज्ञ-दान-तपः-कर्म	=यज्ञ, दान और तप-सम्बन्धी कर्म	यज्ञः	=यज्ञ
		दानम्	=दान
		च	=और
न	=नहीं	तपः	=तप
त्याज्यम्	=त्यागने योग्य हैं		+ ये तीनों
	+ किन्तु	एव	=ही
तत्	=वे	मनीषिणाम्	=विचारशील पुरुषों को
कार्यम् एव	=निश्चय ही करने-योग्य हैं	पावनानि	=पवित्र करने-वाले हैं
	+ क्योंकि		

अर्थ—हे अर्जुन ! यज्ञ, दान और तप इन कर्मों को कदापि न छोड़ना चाहिए, बल्कि इन्हें अवश्य करना चाहिए;

क्योंकि ये यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों (फल की आशा से रहित पुरुषों) को पवित्र करनेवाले हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार सोना वारंवार तपाने से निखरता जाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक दान, तप आदि कर्म करने से मनुष्य के रज और तम ये दो गुण कम होते जाते हैं और सतोगुण बढ़ता जाता है। जिन्हें फलों की इच्छा नहीं है, ऐसे ज्ञानियों को ये कर्म शुद्ध करनेवाले हैं, इसलिए तप आदि कर्मों को श्रद्धापूर्वक अवश्य करना चाहिए।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एतानि, अपि, तु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलानि, च।
कर्तव्यानि, इति, मे, पार्थ, निश्चितम्, मतम्, उत्तमम् ॥

तु	=किन्तु	फलानि	=फलों को
पार्थ	=हे पृथापुत्र अर्जुन !	त्यक्त्वा	=त्यागकर
		कर्तव्यानि	=करने चाहिए
एतानि	=ये (यज्ञ-दान आदि)	इति	=यह
		मे	=मेरा
कर्माणि	=कर्म	निश्चितम्	=निश्चित
अपि	=भी		+ और
सङ्गम्	=आसक्ति	उत्तमम्	=उत्तम
च	=और	मतम्	= मत है

अर्थ—परन्तु हे पृथापुत्र अर्जुन ! ये यज्ञ, दान आदि कर्म

तो फल की आशा छोड़कर और आसक्ति न रखकर अवश्य करने ही चाहिए, ऐसा मेरा श्रेष्ठ मत निश्चित है।

व्याख्या—जिस प्रकार मनुष्य अपना कर्त्तव्य कर्म समझकर, पीपल के वृक्ष की जड़ में विना किसी फल की आशा के जल डालते हैं अथवा जिस प्रकार चरवाहा दूध पाने की आशा न रखते हुए भी, अपना कर्म समझकर तमाम गौओं को चराता है, उसी प्रकार कर्मों के फलों की आशा छोड़कर, तथा "मैं करता हूँ" ऐसा अभिमान त्यागकर, मनुष्य को सदैव कर्म करना चाहिए।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य, तु, संन्यासः, कर्मणः, न, उपपद्यते।
मोहात्, तस्य, परित्यागः, तामसः, परिकीर्तितः ॥

तु	=और	उपपद्यते	=करना चाहिए
नियतस्य	=नित्य (अथवा शास्त्र-अनुसार नियत किये हुए)	मोहात्	=अज्ञान से (मोह या भूल से)
कर्मणः	=संध्या उपासनादि कर्म का	तस्य	=उसका (नियत कर्म का)
संन्यासः	=त्याग	परित्यागः	=त्याग करना
न	=न	तामसः	=तमोगुणी त्याग
		परिकीर्तितः	=कहलाता है

अर्थ—और हे अर्जुन! अग्निहोत्र और सन्ध्या उपासना आदि नित्य कर्मों का त्याग कदापि न करना चाहिए।

अज्ञान से अथवा मूर्खतावश उनको त्याग देना तामसी त्याग कहलाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८ ॥

दुःखम्, इति, एव, यत्, कर्म, काय-क्लेश-भयात्, त्यजेत्।
सः, कृत्वा, राजसम्, त्यागम्, न, एव, त्याग-फलम्, लभेत्॥

दुःखम्, एव	=दुःख ही है (इस कर्म के करने में)	सः	=वह त्यागी पुरुष
इति	=ऐसा	राजसम्	=राजस
+ ज्ञात्वा	=समझकर	त्यागम्	=त्याग को
यत्	=जो	कृत्वा	=करके
कर्म	=कर्म को	एव	=भी
काय-क्लेश-भयात्	=शारीरिक कष्ट के भय से	त्याग-फलम्	=त्याग के फल को
त्यजेत्	=त्याग देता है	न	=नहीं
		लभेत्	=पाता

अर्थ—इस काम के करने में दुःख ही दुःख है; ऐसा समझकर, जो पुरुष शारीरिक कष्ट के डर से, कर्म को छोड़ बैठता है, उसका वह त्याग 'राजस त्याग' कहलाता है। ऐसे त्यागी पुरुष को, रजोगुणी त्याग के कारण, त्याग का फल कुछ नहीं मिलता, अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

कार्यम्, इति, एव, यत्, कर्म, नियतम्, क्रियते, अर्जुन।
सङ्गम्, त्यक्त्वा, फलम्, च, एव, सः, त्यागः, सात्त्विकः, मतः॥

कार्यम्	=(कर्म) करना कर्तव्य है	फलम्	=फल
इति	=यह + समझकर	त्यक्त्वा	=त्यागकर
एव	=ही	क्रियते	=किया जाता है
यत्	=जो	अर्जुन	=हे अर्जुन !
नियतम्	=नियत (शास्त्रोक्त)	सः	=वह
कर्म	=कर्म	एव	=ही
सङ्गम्	=आसक्ति	त्यागः	=त्याग
च	=और	सात्त्विकः	=सात्त्विक
		मतः	=माना गया है

अर्थ—हे अर्जुन ! 'यह कर्म करना जरूरी है' ऐसा समझकर, आसक्ति तथा फल को त्यागकर, जो कर्म शास्त्र में लिखे अनुसार नियमपूर्वक किया जाता है, वह त्याग 'सात्त्विक' कहा जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

न, द्वेष्टि, अकुशलम्, कर्म, कुशले, न, अनुषज्जते ।
त्यागी, सत्त्व-समाविष्टः, मेधावी, छिन्न-संशयः ॥

	+जो मनुष्य
अकुशलम्	=दुःखदायी (अशुभ या निकृष्ट माने जानेवाले)
कर्म	=कर्म से
न	=न (तो)
द्वेष्टि	=द्वेष करता है
	+ और
न	=न
कुशले	=सुखदायी (कल्याणकर, निर्दोष अथवा श्रेष्ठ मानेजाने-वाले) कर्म में
अनुषज्जते	=आसक्ति या प्रीति रखता है
	+वही
सत्त्व-समाविष्टः	=सत्त्वगुणयुक्त पुरुष
छिन्न-संशयः	=संशयरहित
मेधावी	=बुद्धिमान्
	+ और
त्यागी	=त्यागी है

अर्थ—सात्त्विक, त्यागी मनुष्य, सतोगुण से पूर्ण होने पर, तत्त्वज्ञानी हो जाता है, उसके संशय दूर हो जाते हैं। तब वह बुद्धिमान् पुरुष दुःख देनेवाले अथवा अशुभ या निकृष्ट माने जानेवाले कर्मों से न तो द्वेष करता है और न सुख देनेवाले अथवा निर्दोष कर्मों से प्रसन्न होता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

न, हि, देह-भृता, शक्यम्, त्यक्तुम्, कर्माणि, अशेषतः ।
यः, तु, कर्म-फल-त्यागी, सः, त्यागी, इति, अभिधीयते ॥

हि	=क्योंकि	तु	=अतएव
देह-भृता	=(कोई भी) देह-धारी पुरुष	यः	=जो
अशेषतः	=सम्पूर्ण	कर्म-फल-त्यागी	=कर्मफल का त्यागी है
कर्माणि	=कर्मों के	सः	=वही
त्यक्तुम्	=त्यागने को	त्यागी	=त्यागी है
शक्यम्	=समर्थ	इति	=ऐसा
न	=नहीं है	अभिधीयते	=कहा जाता है

अर्थ—क्योंकि (कोई भी) देहधारी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को कदापि नहीं त्याग सकता। जो कर्मफलों को त्याग देता है, वह निश्चय ही त्यागी है, ऐसा कहा गया है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अनिष्टम्, इष्टम्, मिश्रम्, च, त्रि-विधम्, कर्मणः, फलम्।
भवति, अत्यागिनाम्, प्रेत्य, न, तु, संन्यासिनाम्, क्वचित् ॥

इष्टम्	=शुभ (भला)	मिश्रम	=मिश्रित (मिला हुआ)
अनिष्टम्	=अशुभ (बुरा)		+ ऐसा
च	=और		

त्रि-विधम्	=तीन प्रकार का	तु	=किन्तु
कर्मणः	=कर्म का	संन्या-सिनाम्	=(कर्मफल त्यागनेवाले) संन्यासियों को
फलम्	=फल		+ कर्मों का फल
प्रेत्य	=मरने के पश्चात्	क्वचित्	=कभी
अत्यागिनाम्	=सकाम कर्म करनेवालों को	न	=नहीं (मिलता)
भवति	=होता है		

अर्थ---शुभ (भला अर्थात् स्वर्ग आदि की प्राप्ति), अशुभ (बुरा अर्थात् नरक आदि की प्राप्ति) और बुरा-भला मिला हुआ (यानी पुण्य-पाप से मिश्रित मनुष्ययोनि की प्राप्ति)—ये तीन प्रकार के कर्मों के फल होते हैं। मरने के बाद ये फल उन्हें मिलते हैं जो कर्म-फल का त्याग नहीं करते; किन्तु जो सच्चे त्यागी हैं, उन्हें शरीर छोड़ने पर ये फल भोगने नहीं पड़ते।

व्याख्या—हे अर्जुन! इस संसार में, जो अच्छे कर्म करते हैं उन्हें मरने पर स्वर्ग मिलता है तथा वे इन्द्रादि देवताओं के समान सुखभोग करते हैं; किन्तु जो बुरे कर्म करते हैं, वे शरीर छोड़ने पर नरक में जाते हैं और पशु-पत्ती आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं। जो अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करते हैं, वे मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं। इसी का नाम मिश्रित, यानी मिला हुआ, फल है। मतलब यह कि जो सकामी हैं, जिन्होंने कर्म-फलों की चाहना नहीं छोड़ी है, जो अज्ञानी हैं, वे ही इन तीन प्रकार के फलों को भोगते हैं; किन्तु जो सच्चे संन्यासी हैं, जो परब्रह्म तत्त्व को जान गये हैं, जो आत्मज्ञानी हैं, उन्हें शरीर छोड़ने पर वे फल भोगने नहीं पड़ते।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

पञ्च, एतानि, महाबाहो, कारणानि, निबोध, मे।
सांख्ये, कृतान्ते, प्रोक्तानि, सिद्धये, सर्व-कर्मणाम् ॥

महाबाहो	=हे महाबाहु !	† कृतान्ते	=सिद्धान्त में (वेदान्तशास्त्र में)
सर्वकर्मणाम्	=सब कर्मों की	प्रोक्तानि	=कहे गए हैं
सिद्धये	=सिद्धि के लिए		+ उनको
एतानि	=ये	मे	=मुझसे
पञ्च	=पाँच	निबोध	=(तू) जान (सुन)
कारणानि	=कारण		
* सांख्ये	=सांख्य		

अर्थ—हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! वेदान्त शास्त्र में, सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि के लिए जो पाँच कारण कहे गए हैं, उन्हें तू मुझसे सुन—(इन्हीं कारणों से मनुष्य कर्मों में आसक्त रहता है)।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

---

* सांख्य—जिस शास्त्र से परमात्मा का स्वरूप भली प्रकार जाना जाय, उसे 'सांख्य' कहते हैं।

† कृतान्त—किए हुए कर्मों का अन्त जिसमें हो उसे 'कृतान्त' कहते हैं। अतएव 'सांख्य कृतान्त' से मतलब यहाँ 'वेदान्तशास्त्र' से है।

अधिष्ठानम्, तथा, कर्ता, करणम्, च, पृथक्-विधम्।
विविधाः, च, पृथक्, चेष्टाः, दैवम्, च, एव, अत्र, पञ्चमम् ॥

अधिष्ठानम्	=(सुख,दुःख आदि धर्मों का) आश्रयरूप स्थूल-शरीर	**च**	=और
तथा	=और	**विविधाः**	=नाना प्रकार की
कर्ता	=करनेवाला यानी उपाधिसहित जीव अथवा अहंकारी जीवात्मा	**पृथक्**	=अलग-अलग
च	=तथा	**चेष्टाः**	=चेष्टाएँ यानी प्राण अपानादि रूप से प्राणों के व्यापार
पृथक्-विधम्	=भिन्न-भिन्न प्रकार का	**च**	=तथा
करणम्	=करण अर्थात् मन और इन्द्रियाँ	**अत्र**	=इसमें
		पञ्चमम्	=पाँचवाँ
		दैवम्	=दैव (यानी सूर्य आदि देवता)
		एव	=भी (है)

अर्थ—(कर्म करने में ये पाँच हेतु हैं) (१) अधिष्ठान यानी सुख, दुःख आदि धर्मों का आश्रयरूप स्थूल शरीर अथवा वह स्थान जिस आश्रय में रहकर कर्म किया जाता है, (२) कर्ता यानी अहङ्कार उपाधिसहित जीव अथवा 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकार कर्म करने का अहङ्कार करनेवाला जीवात्मा, (३) भिन्न-भिन्न प्रकार का करण अर्थात् मन,

बुद्धि और इन्द्रियाँ यानी काम करने के साधन, (४) नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ अर्थात् प्राण-अपानादि रूप से प्राणों के भिन्न-भिन्न व्यापार, (५) दैव अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि देवगण, जिनकी सहायता से इन्द्रियाँ काम करती हैं; कर्म के यही पाँच कारण हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

शरीर-वाक्-मनोभिः, यत्, कर्म, प्रारभते, नरः।
न्याय्यम्, वा, विपरीतम्, वा, पञ्च, एते, तस्य, हेतवः॥

नरः	=प्राणी		बुरा)
शरीर-वाक्-मनोभिः	=शरीर, वाणी और मन से	यत्	=जिस
		कर्म	=कर्म को
		प्रारभते	=आरम्भ करता है
न्याय्यम्	=धर्मरूप (यानी अच्छा)	तस्य	=उसके
		एते	=ये
वा	=अथवा	पञ्च	=पाँचों (ही)
विपरीतम्	=अधर्मरूप (यानी	हेतवः	=कारण हैं

अर्थ—मनुष्य शरीर, मन और वाणी से जो भी अच्छे-बुरे कर्म करता है उनके यही (ऊपर कहे हुए) पाँच कारण हैं

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तत्र, एवम्, सति, कर्तारम्, आत्मानम्, केवलम्, तु, यः।
पश्यति, अकृत-बुद्धित्वात्, न, सः, पश्यति, दुर्मतिः॥

तु	=किन्तु	आत्मानम्	=आत्मा को ही (यानी अपने को)
एवम्	=ऐसा (निश्चय)	कर्त्तारम्	=कर्त्ता
सति	=होते हुए (भी)	पश्यति	=देखता (समझता) है
यः	=जो पुरुष	सः	=वह
अकृत-बुद्धित्वात्	=अशुद्ध बुद्धि के कारण अथवा ब्रह्मज्ञान न होने से	दुर्मतिः	=मूर्ख +आत्मा को यथार्थ
तत्र	=वहाँ अर्थात् सब कर्मों में	न	=नहीं
केवलम्	=केवल +शुद्ध, स्वरूप	पश्यति	=देखता (समझता)

अर्थ—सब प्रकार के कर्म ऊपर कहे हुए पाँच कारणों से ही होते हैं, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी अशुद्ध बुद्धि के कारण अथवा ब्रह्मज्ञान न हाने से जो मूर्ख अपने शुद्ध आत्मा को सब कामों का कर्ता यानी करनेवाला समझता है वह दुर्बुद्धि पुरुष आत्मा को यथार्थ रूप से नहीं देखता।

व्याख्या—यद्यपि 'आत्मा' का काम से कोई सरोकार नहीं है तथापि मूर्ख मनुष्य इन पाँच कारणों के साथ अपने शुद्ध आत्मा को भी लपेटता है और काम का करनेवाला आत्मा को ही समझता है। असल में आत्मा कुछ भी नहीं करता। काम का आत्मा से

कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा निर्विकार है। जिन्होंने वेदान्त-शास्त्र का मनन नहीं किया, जिन्हें गुरु द्वारा ब्रह्म-विद्या का उपदेश नहीं मिला, ऐसे ही मनुष्य आत्मा को कामों का करनेवाला समझते हैं। ऐसे मनुष्य उस मूर्ख के समान हैं जो चलते हुए बादलों में चन्द्रमा को चलता हुआ देखता है अथवा रेल में बैठा हुआ वृक्षों को चलता हुआ समझता है। ऐसे ही मनुष्यों को आत्मज्ञान न होने के कारण वारंवार जन्म-मरण का दुःख उठाना पड़ता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

यस्य, न, अहंकृतः, भावः, बुद्धिः, यस्य, न, लिप्यते।
हत्वा, अपि, सः, इमान्, लोकान्, न, हन्ति, न, निबध्यते॥

यस्य	=जिस पुरुष के +(मन में)		+(किसी भी कर्म में)
अहंकृतः	=अहंकारी ('मैं कर्म करता हूँ' ऐसा)	न लिप्यते	=लिप्त नहीं होती
भावः	=भाव (विचार)	सः	=वह (विद्वान्)
न	=नहीं है	इमान्	=इन
+च	=और	लोकान्	=लोकों के प्राणियों को
यस्य	=जिसकी	हत्वा	=मारकर
बुद्धिः	=बुद्धि (विवेचना-शक्ति)	अपि	=भी
		न	=न (तो)

	+ वास्तव में किसी को	न	=न
हन्ति	=मारता है	निबध्यते	=(इस पाप के) बंधन में ही बँधता है
	+ और		

अर्थ—'मैं यह कर्म करता हूँ' इस प्रकार का विचार जिस पुरुष के अन्तःकरण में नहीं है (बल्कि जो यह समझता है कि शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय, पाँच वायु और सूर्य आदि देवता, इन पाँच कारणों से ही सब कर्म होते हैं, मेरा इन सबसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अविनाशी और निर्विकार हूँ), जिसकी बुद्धि अथवा विवेचना-शक्ति किसी भी शुभ-अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण लोकों के प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न तो किसी की हिंसा करता है और न इस पाप के बन्धन में ही बँधता है (अर्थात् उसे कर्म के बन्धन में बँधकर पाप का फल नहीं भोगना पड़ता)।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानम्, ज्ञेयम्, परिज्ञाता, त्रि-विधा, कर्म-चोदना ।
करणम्, कर्म, कर्त्ता, इति, त्रि-विधः, कर्म-संग्रहः ॥

ज्ञानम्	=ज्ञान (किसी वस्तु का यथार्थ रूप जानना)		योग्य वस्तु)
			+ और
ज्ञेयम्	=ज्ञेय (जानने-	परिज्ञाता	=ज्ञाता (किसी चीज़ को जानने-

	वाला)	कर्म	=कर्म (जो किया जाय)
त्रि-विधा	=ये तीनों	इति	=ये
कर्म-चोदना	=कर्म के प्रेरक (प्रवर्तक) हैं	त्रि-विधः	=तीन प्रकार के
	+ और	कर्म-संग्रहः	=कर्म-संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है
कर्त्ता	=कर्त्ता (कर्म करनेवाला)		
करणम्	=करण (कर्म का साधन)		
	+ तथा		

अर्थ—ज्ञान (जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप मालूम हो), ज्ञेय (जानने-योग्य वस्तु) और परिज्ञाता (किसी चीज को यथार्थरूप से जाननेवाला अथवा उपाधि-युक्त चेतन आत्मा), ये तीनों कर्म के प्रेरक यानी प्रवर्तक हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से ही काम में लगने की इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्त्ता (कर्म करनेवाला या उपाधियुक्त जीव), करण (क्रिया की सिद्धि जिससे हो, जैसे आँखों से देखना, कानों से सुनना इत्यादि) और कर्म (जो किया जाय), ये तीनों कर्म के आश्रय हैं, यानी इन तीनों के संयोग से ही कर्म का सम्पादन होता है।

व्याख्या—मतलब यह कि जब अन्तःकरण में कर्म करने की प्रेरणा होती है तब जिस कर्म के करने का निश्चय मन में होता है, उस कर्म का सूक्ष्म स्वरूप 'ज्ञेय' है ; जिस विधि से कर्म करने का निश्चय होता है, उस विधि का नाम 'ज्ञान' है और जो

निश्चय करनेवाला है वह 'ज्ञाता' अर्थात् उपाधियुक्त चैतन्य आत्मा है। इन तीनों के संयोग से ही कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है; अतः यह कर्म की प्रेरणा का तीन प्रकार का सूक्ष्म स्वरूप है। जिन साधनों से कर्म किया जाता है उन्हें 'करण' कहते हैं, जो किया जाता है उसे 'कर्म' कहते हैं तथा जो काम करनेवाला है उसे 'कर्त्ता' कहते हैं। इन तीनों के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है। अतः यह कर्म-सम्पादन का तीन तरह का 'स्थूल' स्वरूप है। एक उदाहरण लीजिए—घड़ा बनाने के पहले कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन में निश्चय करता है कि मुझे फ़लाँ काम (ज्ञेय) करना है, और वह फलाँ तरीक़े से (ज्ञात) होगा। इसी को मानसिक या अन्तःकरण की क्रिया का बोध भी कहते हैं। इस प्रकार मन में निश्चय कर लेने पर वह कुम्हार (कर्त्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकट्ठे कर लेने पर घड़ा (कर्म) तैयार करता है। इसी को बाह्य क्रियाओं का बोध अथवा 'कर्म-संग्रह' यानी कर्म का सम्पादन करना कहते हैं। इस प्रकार 'कर्त्ता, कर्म और करण' ये तीनों कर्म के आश्रय हैं। बिना इन तीनों के हुए 'ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय'-रूप प्रवर्तकों के होते हुए भी कर्म की सिद्धि नहीं होती; इसलिए इन तीनों में से हरएक कर्म का आश्रय हुआ। ऊपर लिखे छः हेतुओं में से कर्त्ता और ज्ञाता तो एक ही हैं, शेष चार मिलाकर कर्म के कुल पाँच कारण हुए। उनमें से करण का समावेश ज्ञान में और ज्ञेय का समावेश कर्म में करके भगवान् कृष्ण अब सांख्यशास्त्र के अनुसार उनकी अलग-अलग व्याख्या करते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञानम्, कर्म, च, कर्त्ता, च, त्रिधा, एव, गुण-भेदतः।
प्रोच्यते, गुणसंख्याने, यथावत्, शृणु, तानि, अपि ॥

ज्ञानम्	=ज्ञान		सुनिकृत सांख्य-शास्त्र में
च	=तथा	त्रिधा	=तीन प्रकार के
कर्म	=कर्म	प्रोच्यते	=कहे गए हैं
च	=और	तानि	=उनको
कर्त्ता	=कर्त्ता	अपि	=भी
एव	=भी	यथावत्	=यथार्थ (भली प्रकार)
गुण-भेदतः	=गुणों के भेद से	शृणु	=(मुझसे तू) सुन
गुणसंख्याने	=गुणों की संख्या बतलानेवाले यानी कपिल-		

अर्थ—हे अर्जुन ! सत्त्व, रज आदि गुणों के भेद से कपिलमुनि-कृत सांख्यशास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी तीन प्रकार के कहे गए हैं। उनको भी तू ठीक-ठीक मुझसे सुन।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

सर्व-भूतेषु, येन, एकम्, भावम्, अव्ययम्, ईक्षते।
अविभक्तम्, विभक्तेषु, तत्, ज्ञानम्, विद्धि, सात्त्विकम्॥

विभक्तेषु	=पृथक्-पृथक् (अलग-अलग)		+ पुरुष
सर्व-भूतेषु	=सब प्राणियों में	अविभक्तम्	=विभागरहित (अखण्ड)
येन	=जिस ज्ञान के द्वारा	एकम्	=एक (ही)
		अव्ययम्	=अविनाशी

	(निर्विकार)	तत्	=उस
भावम्	=आत्मा को	ज्ञानम्	=ज्ञान को (तू)
	+(सदा समभाव से स्थित)	सात्त्विकम्	=सात्त्विक
		विद्धि	=समझ
ईक्षते	=देखता है		

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस अभेद ज्ञान के द्वारा पुरुष अलग-अलग सब प्राणियों में अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में एक ही अखण्ड, अविनाशी, निर्विकार आत्मा को (सदा समभाव से स्थित) देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक समझ ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

पृथक्त्वेन, तु, यत्, ज्ञानम्, नाना-भावान्, पृथक्-विधान् ।
वेत्ति, सर्वेषु, भूतेषु, तत्, ज्ञानम्, विद्धि, राजसम् ॥

तु	=पर		(बनावों या रूपों) को
यत्	=जो	सर्वेषु	=सम्पूर्ण
ज्ञानम्	=ज्ञान अर्थात् जिस भेद-ज्ञान से मनुष्य	भूतेषु	=प्राणियों में
		पृथक्त्वेन	=पृथक्-पृथक् रूप से
पृथक्-विधान्	=भिन्न-भिन्न प्रकार के	वेत्ति	=जानता है
नाना-भावान्	=अनेक भावों	तत्	=उस

ज्ञानम्	=ज्ञान को	राजसम्	=राजस
	+ तू	विद्धि	=समझ

अर्थ—जिस ज्ञान से सब प्राणियों के शरीर में रहनेवाला एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के अलग-अलग रूप से दिखाई देता है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्, तु, कृत्स्नवत्, एकस्मिन्, कार्ये, सक्तम्, अहैतुकम्।
अतत्त्व-अर्थ-वत्, अल्पम्, च, तत्, तामसम्, उदाहृतम्॥

तु	=और	अहैतुकम्	=हेतुरहित या युक्ति के बिना है
यत्	=जो (ज्ञान)		+ तथा
एकस्मिन्	=एक	अतत्त्व-अर्थ-वत्	=तात्त्विक विचार से शून्य (अयथार्थ या झूठा)
कार्ये	=कार्य (स्थूल पदार्थ, शरीर या प्रतिमा आदि) में	च	=और
कृत्स्नवत	=सम्पूर्णवत् (सब ओर से)	अल्पम्	=तुच्छ है
सक्तम्	=आसक्त	तत्	=वह (ज्ञान)
	+ और	तामसम्	=तमोगुणी
		उदाहृतम्	=कहा गया है

अर्थ—जिस ज्ञान के कारण यह शरीर आत्मा समझा

जाता है अथवा जो ज्ञान मनुष्य को किसी पदार्थ या मूर्ति में ऐसा आसक्त कर देता है कि वह उस मूर्ति या वस्तु को ही सब कुछ समझता है यानी उसे ही आत्मा अथवा ईश्वर समझता है, वह ज्ञान तात्त्विक विचार से शून्य यानी झूठा (निर्मूल) और तुच्छ है । ऐसे ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं।

अब भगवान् गुण-भेद से तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन करते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

नियतम्, सङ्ग-रहितम्, अ-राग-द्वेषतः, कृतम् ।
अ-फल-प्रेप्सुना, कर्म, यत्, तत्, सात्त्विकम्, उच्यते ॥

यत् =जो
कर्म =कर्म
सङ्ग-रहितम् =अहं-कृत भाव यानी कर्तापन के अहंकार से रहित
+ और
अ-राग-द्वेषतः =विना राग द्वेष (विना प्रीति और अप्रीति) के
अ-फल-प्रेप्सुना =फल न चाहनेवाले निष्काम पुरुष द्वारा
नियतम् =नित्य (अपने धर्मानुसार)
कृतम् =किया गया है
तत् =वह कर्म
सात्त्विकम् =सतोगुणी
उच्यते =कहा जाता है

अर्थ—जो कर्म अपना कर्त्तव्य समझकर, अपने धर्म के अनुसार किया जाता है, जिस कर्म के करने में मनुष्य आसक्त

नहीं होता अथवा जिस कर्म के करने का अभिमान नहीं होता, जो कर्म विना राग-द्वेष (प्रीति और अप्रीति) के किया जाता है और जो कर्मफल न चाहनेवाले पुरुषों से किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

यत्, तु, काम-ईप्सुना, कर्म, स-अहङ्कारेण, वा, पुनः।
क्रियते, बहुल-आयासम्, तत्, राजसम्, उदाहृतम् ॥

तु	=पर	बहुल-आयासम्	=अति अधिक परिश्रम (क्लेश) से
यत्	=जो	क्रियते	=किया जाता है
कर्म	=कर्म	तत्	=वह
काम-ईप्सुना	=फल की इच्छा रखनेवाले मनुष्य द्वारा	राजसम्	=रजोगुणी
स-अहङ्कारेण	=अहङ्कारसहित	उदाहृतम्	=कहा गया है
वा, पुनः	=और फिर		

अर्थ—पर जो कर्म स्वर्ग आदि किसी प्रकार का फल पाने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य द्वारा अहंकृतभाव यानी कर्तापन के अभिमान के साथ बड़े परिश्रम या क्लेश से किया जाता है, वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५ ॥

अनुबन्धम्, क्षयम्, हिंसाम्, अनवेक्ष्य, च, पौरुषम्।
मोहात्, आरभ्यते, कर्म, यत्, तत्, तामसम्, उच्यते ॥

अनुबन्धम्	=परिणाम (आगामी फल)	अनवेक्ष्य	=न देखकर
क्षयम्	=द्रव्य आदि का विनाश (खर्च)	यत्	=जो
हिंसाम्	=हिंसा (पराई पीड़ा)	कर्म	=कर्म
च	=और	मोहात्	=(केवल) मोह या मूर्खता से
पौरुषम्	=पुरुषार्थ (कर सकने की शक्ति) को	आरभ्यते	=आरम्भ किया जाता है
		तत्	=वह
		तामसम्	=तमोगुणी
		उच्यते	=कहलाता है

अर्थ—जिस काम का आरम्भ करने से पहले यह नहीं विचारा जाता कि इसका फल क्या होगा, इस काम के करने में कितने धन का नाश होगा, दूसरे प्राणियों को कितना कष्ट होगा, इस काम के करने की मुझमें सामर्थ्य है या नहीं, इन चारों बातों पर विचार न करके जो काम मूर्खतावश आरम्भ कर दिया जाता है, वह तामस कर्म कहलाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते २६॥

मुक्त-सङ्गः, अनहं-वादी, धृति-उत्साह-समन्वितः ।
सिद्धि-असिद्ध्योः, निर्विकारः, कर्त्ता, सात्त्विकः, उच्यते ॥

मुक्त-सङ्गः =आसक्ति से रहित (जिसका कर्मफल से कोई लगाव न हो)
अनहं-वादी =अहङ्कार की बातें न बोलने-वाला
धृति-उत्साह-समन्वितः =धैर्य और उत्साह से युक्त
+ तथा
सिद्धि-असिद्ध्योः =सफलता और असफलता (जीत-हार) में
निर्विकारः =हर्ष-विषाद आदि विकारों से रहित
कर्त्ता =कर्त्ता
सात्त्विकः =सतोगुणी
उच्यते =कहलाता है

अर्थ—जो कर्म में आसक्त नहीं होता यानी जिसका लगाव कर्म या कर्म-फल से नहीं है ; 'अमुक काम मैंने किया है'—इस प्रकार जो अपने कर्त्तापन के अहङ्कार की डींग नहीं हाँकता अथवा अपने गुणों की आप तारीफ़ नहीं करता, जो धैर्यवान् और उत्साही अर्थात् हिम्मतवाला है, जो सिद्धि-असिद्धि यानी सफलता-असफलता अथवा लाभ हानि में एक समान रहता है अर्थात् जो काम बन जाने पर खुश और काम के बिगड़ जाने पर दुखी नहीं होता—ऐसा कर्त्ता सतोगुणी कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागी, कर्म-फल-प्रेप्सुः, लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः।
हर्ष-शोक-अन्वितः, कर्ता, राजसः, परिकीर्तितः॥

रागी	=कर्म अथवा विषयों में प्रीति रखनेवाला
कर्म-फल-प्रेप्सुः	=कर्मों के फल की चाह रखनेवाला
लुब्धः	=लोभी (पराये धन की इच्छा करनेवाला)
हिंसात्मकः	=दूसरों को दुःख देने के स्वभाववाला
अशुचिः	=अपवित्र
	+और
हर्ष-शोक-अन्वितः	=हर्ष-शोक से युक्त (ऐसा)
कर्ता	=कर्ता
राजसः	=रजोगुणी
परिकीर्तितः	=कहलाता है

अर्थ—हे अर्जुन! जो कर्म अथवा विषयों से प्रेम रखता है, जो कर्मों के करने पर उनके फल पाने की इच्छा रखता है, जो लोभी है, जो स्वभाव से ही दूसरों को दुःख देनेवाला है, जो भीतर-बाहर से अपवित्र है, जो काम हो जाने पर खुश होता है और काम न होने पर दुखी होता है—ऐसा कर्त्ता रजोगुणी कहलाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः, शठः, नैष्कृतिकः, अलसः।
विषादी, दीर्घ-सूत्री, च, कर्ता, तामसः, उच्यते॥

अयुक्तः	=चञ्चल चित्त अर्थात् काम में मन न लगानेवाला	अलसः	=आलसी
		विषादी	=सदा रोती हुई सूरत का, अप्रसन्न रहनेवाला
प्राकृतः	=विवेकरहित या असभ्य	च	=और
स्तब्धः	=अनम्र अर्थात् हठी या घमंडी	दीर्घ-सूत्री	=दीर्घसूत्री (काम में देर लगानेवाला या काम टालनेवाला)
शठः	=धूर्त या कपटी		
नैष्कृतिकः	=द्रोही या दूसरों को हानि पहुँचानेवाला	कर्त्ता	=कर्त्ता
		तामसः	=तमोगुणी
		उच्यते	=कहा जाता है

अर्थ—जो कर्म करनेवाला कर्म करते समय काम में मन न लगाता हो यानी हर वक्त जिसका चित्त चंचल रहता हो, जो असभ्य यानी गँवार हो अर्थात् जो बालक की सी बुद्धि रखता हो, कठोरस्वभाव, ज़िद्दी या घमंडी हो, (जो गुरु देवता के सामने भी अपना सिर न झुकाता हो बल्कि अकड़ा ही रहे), जो धूर्त या कपटी हो, जो द्रोही यानी बिना कारण दूसरों को हानि पहुँचानेवाला हो, जो आलसी हो, जो हर वक्त रंज में डूबा रहता हो, जो ठीक समय पर काम न कर, कामों को टालता रहता हो—ऐसा कर्त्ता तमोगुणी कहलाता है ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धेः, भेदम्, धृतेः, च, एव, गुणतः, त्रि-विधम्, शृणु ।
प्रोच्यमानम्, अशेषेण, पृथक्त्वेन, धनञ्जय ॥

धनञ्जय	=हे अर्जुन !	त्रि-विधम्	=तीन प्रकार के
बुद्धेः	=बुद्धि	पृथक्त्वेन	=अलग-अलग +अगले छः श्लोकों में
च	=और	प्रोच्यमानम्	=कहे जा रहे हैं + उन्हें
धृतेः	=धैर्य (धारणकरने की शक्ति) के	अशेषेण	=सम्पूर्णतया (ध्यान देकर)
भेदम्	=भेद	शृणु	=(तू) सुन
एव	=भी		
गुणतः	=सात्त्विक आदि गुणों के कारण		

अर्थ—हे अर्जुन ! सात्त्विक आदि गुणों के भेद से बुद्धि और धैर्य के भी तीन भेद होते हैं । उन्हें मैं अलग-अलग अच्छी तरह से (अगले छः श्लोकों में) कहता हूँ, तू उनको भी (ध्यान देकर) सुन ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, कार्य-अकार्ये, भय-अभये ।
बन्धम्, मोक्षम्, च, या, वेत्ति, बुद्धिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥

पार्थ	=हे पृथापुत्र अर्जुन !		न करने योग्य
या	=जो	भय-अभये	=भय (किससे डरना चाहिए) और अभय (किससे न डरना चाहिए)
बुद्धिः	=बुद्धि	बन्धम्	=बन्धन
प्रवृत्तिम्	=कर्म-मार्ग (कर्म में लगने)	च	=तथा
च	=और	मोक्षम्	=मोक्ष को
निवृत्तिम्	=संन्यास-मार्ग (कर्म से रहित होने या काम में न लगने)	वेत्ति	=जानती है
		सा	=वह (बुद्धि)
कार्य-अकार्ये	=करने योग्य और	सात्त्विकी	=सतोगुणी है

अर्थ—जो बुद्धि यह जानती है कि कर्म-मार्ग (काम में लगना) और संन्यास-मार्ग (काम में न लगना) वास्तव में क्या है, जो बुद्धि करने योग्य और न करने योग्य कर्मों को जानती है, जो 'यह जानती है कि किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, साथ ही जो बुद्धि बन्धन और मोक्ष के रहस्य को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी होती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

यया, धर्मम्, अधर्मम्, च, कार्यम्, च, अकार्यम्, एव, च।
अयथावत्, प्रजानाति, बुद्धिः, सा, पार्थ, राजसी ॥

पार्थ =हे अर्जुन !
यया =जिस (बुद्धि) से
+ पुरुषः =पुरुष
धर्मम् =धर्म
च =और
अधर्मम् =अधर्म को
एव-च =और ऐसे ही
कार्यम् =कार्य (करने योग्य कर्म)
च तथा
अकार्यम् =अकार्य (न करने योग्य कर्म) को
अयथावत् =यथार्थ-रूप से (जैसे का तैसा) नहीं
प्रजानाति =जानता है
सा =वह
बुद्धिः =बुद्धि
राजसी =रजोगुणी है

अर्थ—जिस बुद्धि से पुरुष को धर्म-अधर्म और उचित-अनुचित (करने योग्य और न करने योग्य) कर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, वह बुद्धि रजोगुणी कहलाती है।

व्याख्या—धर्म अधर्म में जिसको संदेह बना रहता है, उसकी बुद्धि रजोगुणी है। यह जीव सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म है या नहीं, कर्मों के संन्यास से मोक्ष होता है या नहीं, निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है या नहीं, वेद-शास्त्र प्रमाण हैं या नहीं, इस प्रकार के सन्देह रजोगुणी बुद्धि के दोष हैं।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

अधर्मम्, धर्मम्, इति, या, मन्यते, तमसा, आवृता।
सर्व-अर्थान्, विपरीतान्, च, बुद्धिः, सा, पार्थ, तामसी ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !	च	=और
या	=जो	सर्व-अर्थान्	=सब अर्थों (श्रुति-स्मृतियों के अर्थों या उपदेशों) को
बुद्धिः	=बुद्धि		
तमसा	=अज्ञानरूपी अन्धकार से		
आवृता	=ढक जाने के कारण	विपरीतान्	=विपरीत (उलटा)
अधर्मम्	=अधर्म को (ही)	मन्यते	=समझती है
धर्मम्	=धर्म	सा	=वह (बुद्धि)
इति	=करके	तामसी	=तमोगुणी है

अर्थ—जो बुद्धि अज्ञानरूपी अन्धकार से ढक जाने के कारण अधर्म को धर्म मानती है और (श्रुति-स्मृतियों के) सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों या उपदेशों को विपरीत या उलटा समझती है, वह बुद्धि हे अर्जुन ! तामसी है ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३॥

धृत्या, यया, धारयते, मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः ।
योगेन, अव्यभिचारिण्या, धृतिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी ॥

पार्थ	=हे पृथापुत्र अर्जुन !	यया	=जिस
योगेन	=चित्त की एकाग्रता से	अव्यभिचारिण्या	=दृढ़
		धृत्या	=धारणा या

	निश्चय से	धारयते	=धारण करता है
+ पुरुषः	=पुरुष	सा	=वह
मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः	मन, प्राण और =इन्द्रियों की क्रियाओं को	धृतिः	=धृति (धारणा)
		सात्त्विकी	=सतोगुणी है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो धृति (यानी मन का दृढ़ निश्चय) योग से व्याप्त है अर्थात् जो धृति इधर-उधर न डिगनेवाली है, जिस अटल धृति से युक्त होकर मनुष्य अपने मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को (कुमार्ग से) रोकता है अथवा जिस अटल धारणा से मनुष्य के मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएँ आप से आप रुक जाती हैं और फिर समाधि लग जाती है (यानी मन सब ओर से खिंचकर परमेश्वर के ध्यान में लग जाता है), वह धृति सात्त्विकी कही जाती है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३

यया, तु, धर्म-काम-अर्थान्, धृत्या, धारयते, अर्जुन ।
प्रसंगेन, फल-आकांक्षी, धृतिः, सा, पार्थ, राजसी

तु	=और	प्रसङ्गेन	
अर्जुन	=हे अर्जुन !	धर्म-काम-अर्थान्	
यया	=जिस		
धृत्या	=धारणा से	धारयते	
फल-आकाङ्क्षी	=फल का अभिलाषी पुरुष		

	की प्राप्ति में ही लगा रहता है)	धृतिः	=धृति
		पार्थ	=हे पार्थ !
सा	=वह	राजसी	=रजोगुणी है

अर्थ—और हे अर्जुन ! जिस धृति से मनुष्य ध (धार्मिक कर्मकाण्डों), अर्थ (धन पैदा करने के साधनों) और कामों (इन्द्रियों के विषय-भोगों) की प्राप्ति में प्रेमपूर्वक लगा रहता है और हर एक से फल पाने की इच्छा करता है, वह धृति, हे पार्थ ! राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

यया, स्वप्नम्, भयम्, शोकम्, विषादम्, मदम्, एव, च ।
, विमुञ्चति, दुर्मेधाः, धृतिः, सा, पार्थ, तामसी ॥

	=हे अर्जुन !	मदम्	=मद (अहंकार या उन्मत्तता) को
	=नासमझ (मूर्ख)		
	पुरुष		
	धृति से	एव	=भी
		न	=नहीं
	(हर)	विमुञ्चति	=त्याग सकता
	(चिन्ता)	सा	=वह
	दुःख)	धृतिः	=धृति
		तामसा	=तमोगुणी है

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस धृति से दुर्बुद्धि या नासमझ पुरुष नींद, भय, शोक, विषाद (दुःख या इन्द्रियों की व्याकुलता) और मद (अहङ्कार या मतवालेपन) को नहीं त्याग सकता, वह धृति तमोगुणी कहलाती है ।

व्याख्या—मतलब यह कि तमोगुणी स्वभाववाले नासमझ पुरुष बहुत देर तक सोते रहते हैं, कर्म करने के समय भी वे सदा भय और शोक में डूबे रहते हैं । वे घमण्ड में चूर और नशे आदि से मतवाले हुए पड़े रहते हैं और इन दुर्गुणों को वे छोड़ना ही नहीं चाहते । इस प्रकार वे अपने अमूल्य जीवन को वृथा गँवाते हैं । इन्हीं सब अवगुणों के कारण मनुष्य तामसी धृतिवाला कहा जाता है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुखम्, तु, इदानीम्, त्रि-विधम्, शृणु, मे, भरत-ऋषभ ।
अभ्यासात्, रमते, यत्र, दुःख-अन्तम्, च, निगच्छति ॥

भरत-ऋषभ	=हे अर्जुन !	**मे**	=मुझसे
इदानीम्	=अब	**शृणु**	=(तू) सुन
सुखम्	=सुख के	**यत्र**	=जिस (सुख) में
तु	=भी	**अभ्यासात्**	=अभ्यास से
त्रि-विधम्	=तीन प्रकार के (भेद)		(भजन, ध्यान इत्यादि

	के करने से)	च	=और
+योगी	=योगी	दुःख-अन्तम्	=दुःखों के अन्त को
रमते	=रमता है (आनन्द मनाता है)	निगच्छति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तुझसे तीन प्रकार के सुखों का वर्णन करता हूँ, उसे तू सुन। उस सुख का अभ्यास करने से साधक पुरुषों को आनन्द मिलता है और दुःखों का अन्त यानी खातमा हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

यत्, तत्, अग्रे, विषम्, इव, परिणामे, अमृत-उपमम्।
तत्, सुखम्, सात्त्विकम्, प्रोक्तम्, आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जम् ॥

यत्	=जो (सुख)		या अन्त) में
अग्रे	=पहिले (साधन-काल में)	अमृत-उपमम्	=अमृत के समान (लाभदायक) होता है
विषम्	=विष (ज़हर) के		
इव	=सदृश (प्रतीत होता) है +किन्तु	तत्	=वह
तत्	=वही	आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जम्	=आत्मविषयक बुद्धि की शुद्धता से उत्पन्न
परिणामे	=परिणाम (पीछे		

सुखम्	=सुख	सात्त्विकम्	=सतोगुणी
		प्रोक्तम्	=कहा गया है

अर्थ—जो सुख पहले (साधनकाल में) विष—ज़हर के समान मालूम होता है; किन्तु पीछे अमृत के समान लाभदायक होता है, वह आत्मविषयक बुद्धि की शुद्धता से पैदा हुआ सुख सतोगुणी कहलाता है।

व्याख्या—चित्त को बाहरी विषयों से हटाकर ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के प्राप्त करने में मनुष्य को बड़ी-बड़ी तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं; क्योंकि प्रारम्भ में ये सब बड़ी कठिनता से सिद्ध होते हैं, इसीलिए ये सब जीव को विष के समान मालूम होते हैं। किन्तु अन्त में ज्ञान का उदय होने पर ये ही साधन-ध्यान-समाधि के प्रताप से अमृतरूपी फल देने से अमृत के समान जान पड़ते हैं ; इस प्रकार का आध्यात्मिक सुख सात्त्विक सुख कहा जाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय-इन्द्रिय-संयोगात्, यत्, तत्, अग्रे, अमृत-उपमम्।
परिणामे, विषम्, इव, तत्, सुखम्, राजसम्, स्मृतम् ॥

यत्	=जो		सुनने, देखने, बोलने और स्त्री-संग आदि से)
सुखम्	=सुख		+ होता है
विषय-इन्द्रिय-संयोगात्	=इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से (अर्थात्	तत्	=वह

अग्रे	=पहले (भोग के समय)	+ तत्	+वही
अमृत-उपमम्=अमृत के समान (प्रतीत होता) है		विषम्	=विष
	+ किन्तु	इव	=तुल्य होता है
			+ इसलिए
परिणामे	=परिणाम (अन्त) में या भोग के पश्चात्	तत्	=वह (सुख)
		राजसम्	=रजोगुणी
		स्मृतम्	=कहलाता है

अर्थ—जो सुख इन्द्रियों और उनके विषयों के मेल से होता है वह पहले तो अमृत के समान (सुखदायी) मालूम होता है; किन्तु अन्त में (भोग के पश्चात्) वही विष के तुल्य (दुःखदायी) होता है। ऐसे सुख को राजसी सुख कहते हैं।

व्याख्या—विषय-भोगों में पहले तो बड़ा सुख मालूम होता है, लेकिन भोग लेने पर वे विष का काम करते हैं, क्योंकि उनसे बल, वीर्य, धन और उत्साह आदि सबका ह्रास होता है। जैसे मनुष्य विष खाने से मर जाता है, वैसे ही भोगों का सुख भी शरीर का नाश करनेवाला है; अतएव मनुष्यों को विषय 'विष' के तुल्य समझना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

यत्, अग्रे, च, अनुबन्धे, च, सुखम्, मोहनम्, आत्मनः।
निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम्, तत्, तामसम्, उदाहृतम् ॥

च =और
यत् =जो
सुखम् =सुख
अग्रे =आरम्भ (आदि) में
च =तथा
अनुबन्धे =परिणाम (अन्त) में
आत्मनः =आत्मा को
मोहनम् =मोह (धोखे या भुलावे) में फँसानेवाला है
तत् =वह
निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम् =निद्रा, आलस्य और प्रमाद (असावधानता या उन्मत्तता) से पैदा हुआ (सुख)
तामसम् =तमोगुणी
उदाहृतम् =कहा गया है

अर्थ—जो सुख आदि और अन्त में अर्थात् सब अवस्थाओं में आत्मा को मोह यानी धोखे या भुलावे में फँसानेवाला है और नींद, आलस्य तथा प्रमाद (असावधानता या उन्मत्तता) से उत्पन्न होता है, वह सुख तमोगुणी कहलाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

न, तत्, अस्ति, पृथिव्याम्, वा, दिवि, देवेषु, वा, पुनः।
सत्त्वम्, प्रकृति-जैः, मुक्तम्, यत्, एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः ॥

पृथिव्याम् =(इस) पृथ्वी (मनुष्यलोक) में
वा =या
दिवि =आकाश (स्वर्गलोक) में

वा पुनः	=अथवा	प्रकृति-जैः	=प्रकृति (माया) से पैदा हुए
देवेषु	=देवताओं में	एभिः	=इन
तत्	=वह (ऐसा कोई भी)	त्रिभिः	=तीनों
सत्त्वम्	=पदार्थ या प्राणी	गुणैः	=गुणों से
न	=नहीं	मुक्तम्	=मुक्त (छूटा हुआ)
अस्ति	=है	स्यात्	=हो
यत्	=जो		

अर्थ—इस मनुष्यलोक या स्वर्गलोक में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी या पदार्थ नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से बचा हो (अर्थात् यह सारा जगत् त्रिगुणात्मक है)।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्, शूद्राणाम्, च, परन्तप।
कर्माणि, प्रविभक्तानि, स्वभाव-प्रभवैः, गुणैः ॥

परन्तप !	=हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन !	च	=तथा
ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्	=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के	शूद्राणाम्	=शूद्रों के
		कर्माणि	=कर्म
		स्वभाव-प्रभवैः	=स्वभाव (यानी ईश्वर की त्रिगुणात्मिका प्रकृति)

	से उत्पन्न हुए	प्रविभक्तानि	=अलग-अलग बँटे हुए हैं
गुणैः	=गुणों करके		

अर्थ—हे शत्रुओं के तपानेवाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों तथा शूद्रों के कर्म, प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुसार अलग-अलग बँटे हुए हैं। (मतलब यह कि जिस-जिस गुण की जिसमें अधिकता होती है उसी के अनुसार उसके कर्म अलग-अलग विभक्त हैं)

व्याख्या—सत्त्वगुण जिसमें प्रधान हो वह ब्राह्मण; रजोगुण जिसमें प्रधान हो, सत्त्वगुण उससे कम और तम, सत्त्व से भी कम हो वह क्षत्रिय ; रजोगुण जिसमें प्रधान हो, तमोगुण कम हो, सत्त्व उस से भी कम हो, वह वैश्य; तमोगुण जिसमें प्रधान हो वह शूद्र। और भी साफ समझने के लिए नीचे एक नक़शा दिया जाता है।

ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
३ सत्त्व	३ रज	३ रज	३ तम
२ रज	२ सत्त्व	२ तम	२ रज
१ तम	१ तम	१ सत्त्व	१ सत्त्व

जिस गुण के नीचे तीन का अंक है उसको प्रधान गुण जानिए ; जिसके नीचे दो का अंक है उसको उससे कम; जिसके नीचे एक का अंक है, उसको उससे भी कम जानिए। इस प्रकार स्वभाव या प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार मनुष्य-जाति चार वर्णों में विभक्त की गई है ; यद्यपि लौकिक व्यवहार से अनेक जातियाँ हैं ; किन्तु वे सब जातियाँ इन्हीं चार वर्णों के अन्तर्गत हैं

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमः, दमः, तपः, शौचम्, क्षान्तिः, आर्जवम्, एव, च।
ज्ञानम्, विज्ञानम्, आस्तिक्यम्, ब्रह्म-कर्म, स्वभाव-जम् ॥

शमः	=अन्तःकरण का निरोध (मन, बुद्धि, चित्त आदि का रोकना)
दमः	=इन्द्रियों का निग्रह (आँख, कान आदि इन्द्रियों को वश में करना)
तपः	=शारीरिक तपस्या अर्थात् व्रत इत्यादि करना
शौचम्	=शरीर और अन्तःकरण की शुद्धता (भीतरी और बाहरी पवित्रता)
क्षान्तिः	=क्षमा या सहनशीलता
आर्जवम्	=कोमलता (सरलता अर्थात् सादापन या दयाभाव का होना)
च, एव	=और ऐसे ही
ज्ञानम्	=शास्त्र-ज्ञान यानी शास्त्रों में लिखी हुई बातों को अच्छी तरह समझना
विज्ञानम्	=आत्म-अनुभव अथवा सांसारिक पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान
	+ और
आस्तिक्यम्	=परमात्मा में विश्वास

स्वभाव-जम्=(ये सब) स्वभाव ही से		उत्पन्न हुए	
		ब्रह्म-कर्म	=ब्राह्मण के कर्म हैं

अर्थ—अन्तःकरण का निरोध यानी मन, बुद्धि और चित्त आदि का रोकना ; आँख, कान आदि इन्द्रियों को वश में करना ; शारीरिक तपस्या अर्थात् व्रत वगैरह करना ; शरीर और अन्तःकरण की शुद्धता ; क्षमा यानी सहनशीलता; सरलता अर्थात् सादापन या दयाभाव का होना ; शास्त्र-ज्ञान यानी शास्त्रों में लिखी हुई बातों को अच्छी तरह समझना ; विज्ञान अर्थात् अनुभव ज्ञान अथवा सांसारिक पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान और आस्तिकता यानी ईश्वर पर विश्वास, ये सब स्वभाव ही से उत्पन्न हुए ब्राह्मणों के कर्म हैं ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्यम्, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यम्, युद्धे, च, अपि, अपलायनम्।
दानम्, ईश्वर-भावः, च, क्षात्रम्, कर्म, स्वभाव-जम् ॥

शौर्यम्	=शूरता यानी सूरमापन	दाक्ष्यम्	=चतुरता या नीति-निपुणता
तेजः	=तेजस्विता (किसी से न दबना)	च	=और
		युद्धे	=युद्ध में
		अपि	=भी
धृतिः	=धैर्य यानी धीरज	अपलायनम्	=पीठ देकर न

	भागना	ईश्वर-भावः	=(प्रजा पर) शासन यानी हुकूमत करने का भाव
	+ तथा		
दानम्	=दान देने में उदारता (अथवा सोना, गौ, भूमि आदि सुपात्रों को दान देना)	क्षात्रम्	=क्षत्रिय के (ये सब)
		स्वभाव-जम्	=स्वाभाविक
च	=और	कर्म	=कर्म हैं

अर्थ—शूरता यानी सूरमापन, तेज अर्थात् स्वभाव से तेजस्वी, धीरज, चतुरता या नीति-निपुणता, शत्रु को पीठ दिखाकर युद्ध से न भागना, दान देने में उदारता अथवा सुपात्रों को सुवर्ण, गौ, भूमि आदि दान देना और प्रजा पर शासन या हुकूमत करना ये (सात) क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि-गो-रक्ष्य-वाणिज्यम्, वैश्य-कर्म, स्वभाव-जम् ।
परिचर्या-आत्मकम्, कर्म, शूद्रस्य, अपि, स्वभाव-जम् ॥

कृषि-गो-रक्ष्य-वाणिज्यम्	=खेती करना, गो-रक्षा यानी गौओं की रक्षा करना और व्यापार करना (ये तीन)	वैश्य-कर्म स्वभाव-जम्	=वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं

परिचर्या-आत्मकम्	=सेवारूप कर्म यानी तीनों वर्णों की सेवा करना	शूद्रस्य	=शूद्र का
		अपि	=भी
		स्वभाव-जम्	=स्वाभाविक
		कर्म	=कर्म है

अर्थ—हे अर्जुन! खेती करना, गौओं की रक्षा और उनका पालन करना तथा व्यापार करना ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्रों का स्वाभाविक कर्म सेवा करना या ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की टहल करना है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वे, स्वे, कर्मणि, अभिरतः, संसिद्धिम्, लभते, नरः।
स्व-कर्म-निरतः, सिद्धिम्, यथा, विन्दति, तत्, शृणु ॥

स्वे, स्वे	=अपने-अपने	+ पुरुषः	=मनुष्य
कर्मणि	=कर्म में	स्व-कर्म-निरतः	=अपने कर्म में लगे रहने से
अभिरतः	=(अच्छी तरह) लगा हुआ	सिद्धिम्	=सिद्धि यानी मोक्ष को
नरः	=पुरुष		
संसिद्धिम्	=(अन्तःकरण के शुद्ध होने पर) सिद्धि	विन्दति	=प्राप्त होता है
		तत्	=उसको +(तू मुझ से)
लभते	=प्राप्त करता है		
यथा	=जिस प्रकार	शृणु	=सुन

अर्थ—अपने-अपने कर्म में अच्छी तरह लगे रहने से पुरुष (अन्तःकरण के शुद्ध होने पर) परम सिद्धि को प्राप्त होता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगे रहने से मनुष्य कैसे सिद्धि पाता है, उसे तू (ध्यान देकर) मुझसे सुन—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

यतः, प्रवृत्तिः, भूतानाम्, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्।
स्व-कर्मणा, तम्, अभ्यर्च्य, सिद्धिम्, विन्दति, मानवः ॥

यतः	=जिस(परमेश्वर) से		ईश्वर को
भूतानाम्	=सब प्राणियों (या पदार्थों) की	स्व-कर्मणा	=अपने कर्म द्वारा
प्रवृत्तिः	=उत्पत्ति हुई है + और	अभ्यर्च्य	=आराधन (पूजन) करके
येन	=जिस (सर्व-व्यापक पर-मात्मा) से	मानवः	=मनुष्य
इदम्	=यह	सिद्धिम्	परम सिद्धि (यानी उसी अन्तर्यामी पर-मात्मा की कृपा से ज्ञाननिष्ठ होकर परमानन्द-स्वरूप आत्मा) को
सर्वम्	=सब संसार		
ततम्	=व्याप्त है		
तम्	=उस अन्तर्यामी	विन्दति	=प्राप्त करता है

अर्थ—जिस परमात्मा से सब प्राणियों या पदार्थों की उत्पत्ति हुई है या जिसकी सत्ता से सब प्राणी चेष्टा करते रहते हैं, और जिस सर्वव्यापक परमेश्वर से यह सब जगत् व्याप्त है, उस ईश्वर को मनुष्य अपने कर्मों द्वारा पूजकर परम सिद्धि (यानी अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर उसी अन्तर्यामी परमात्मा की कृपा से ज्ञाननिष्ठ होकर परमानन्द-स्वरूप आत्मा) को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जिस ईश्वर से यह संसार पैदा हुआ है और जो सारे संसार में फैला हुआ है, उस परमात्मा को जो मनुष्य अपने जाति-धर्म के अनुसार कर्म करके भजता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर और ज्ञाननिष्ठा के प्राप्त होने पर मनुष्य अपने स्वरूप में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥

श्रेयान्, स्व-धर्मः, विगुणः, पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात्।
स्वभाव-नियतम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्विषम् ॥

सु-अनुष्ठितात्	=भली प्रकार किये हुए (उत्तम)	श्रेयान्	=श्रेष्ठ है + क्योंकि
पर-धर्मात्	=पराये धर्म से	स्वभाव-नियतम्	=स्वभाव के अनुसार नियत किये हुए
विगुणः	=गुणहीन		
स्व-धर्मः	=अपना धर्म	कर्म	=कर्म को

कुर्वन्	=करता हुआ	किल्विषम्	=पाप को
	+ पुरुष	न आप्नोति	=नहीं प्राप्त होताहै

अर्थ—(इसलिए) दूसरों के उत्तम धर्म से अपना गुणहीन धर्म कहीं अच्छा है ; क्योंकि अपने वर्ण के स्वभाव के अनुसार कामों के करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

सहजम्, कर्म, कौन्तेय, स-दोषम्, अपि, न, त्यजेत्।
सर्व-आरम्भाः, हि, दोषेण, धूमेन, अग्निः, इव, आवृताः ॥

कौन्तेय	=हे अर्जुन !	न	=न
सहजम्	=स्वाभाविक (जन्म से ही गुणकर्म-विभाग के अनुसार नियत किये हुए)	त्यजेत्	=छोड़े
		हि	=क्योंकि
		सर्व-आरम्भाः	=सारे कर्म
		धूमेन	=धुएँ से
		अग्निः	=अग्नि के
कर्म	=कर्म	इव	=समान +(किसी न किसी)
स-दोषम्	=दोषयुक्त		
अपि	=भी (हों)	दोषेण	=दोष से
	+(तो भी उन्हें)	आवृताः	=ढके रहते हैं

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र ! अपने स्वाभाविक कर्म में अगर कुछ दोष हो, तो भी उसे न छोड़ना चाहिए। जिस तरह

अग्नि धुएँ से ढकी रहती है, उसी प्रकार (त्रिगुणात्मक होने के कारण) सभी कर्म किसी न किसी दोष से ढके रहते हैं।

व्याख्या—जब अर्जुन को मोह पैदा हुआ और वह अपने क्षत्रियधर्म से डिगकर भीख माँगने के धर्म को श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करने को तैयार हुआ, तब भगवान् ने उसे इस प्रकार उपदेश किया—"हे अर्जुन! पराये उत्तम धर्म से अपना गुणहीन धर्म ही अच्छा है; अतएव तुझे अपना कर्तव्य धर्म न छोड़ना चाहिए। तू क्षत्रिय है, क्षत्रियवंश में पैदा हुआ है, युद्ध करना तेरा कर्तव्य कर्म है; अतएव उठ और युद्ध कर, कायर मत बन; सुख-दुःख, हार-जीत को एक समान समझकर, अपने क्षत्रियधर्म का पालन कर। अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार काम करने से तुझे ज़रा भी पाप न लगेगा; क्योंकि संसार में कोई कर्म या धर्म ऐसा नहीं है, जो दोषरहित हो। जिस तरह आग में धुआँ होता है, उसी तरह सभी कामों में कुछ न कुछ दोष अवश्य ही होता है। इसलिए तू अपने कर्मों के दोष का कुछ भी ख़याल न कर, बल्कि उठ और अपने शत्रुओं को रण में मार और परास्त कर।"

मनुष्य अपने धर्म के अनुसार कर्म करने से उनके दोषों से छुटकारा पाकर किस प्रकार सिद्धि पाता है, इसे भगवान् आगे कहते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

असक्त-बुद्धिः, सर्वत्र, जित-आत्मा, विगत-स्पृहः।
नैष्कर्म्य-सिद्धिम्, परमाम्, संन्यासेन, अधिगच्छति ॥

सर्वत्र =सब जगह (शुभ अशुभ तथा पाप-पुण्यवाले कर्मों में)
असक्त-बुद्धिः=जिसकी बुद्धि आसक्तिरहित है
जित-आत्मा =जिसने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है
+ और
विगत-स्पृहः =जिसकी सब कामनाएँ अर्थात् विषय-वासनाएँ दूर हो गई हैं ऐसा
+ पुरुष
संन्यासेन =संन्यास द्वारा
परमाम् =परम
नैष्कर्म्य-सिद्धिम् =निष्काम सिद्धि को
अधिगच्छति =प्राप्त होता है

अर्थ—जिसकी बुद्धि शुभ-अशुभ तथा पुण्य-पापवाले कर्मों में या किसी चीज़ में फँसी हुई नहीं है, जिसने अपने अन्तः-करण को अपने वश में कर लिया है और जिसकी सब इच्छाएँ अर्थात् विषय-वासनाएँ दूर हो गई हैं, ऐसा पुरुष संन्यास (असाधारण वैराग्य) द्वारा परम निष्काम सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् कर्मों से एकदम छुटकारा पा जाता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

सिद्धिम्, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, मे।
समासेन, एव, कौन्तेय, निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा ॥

सिद्धिम् =निष्कर्म सिद्धि को
प्राप्तः =प्राप्त हुआ (ज्ञानवान्)

यथा	=जैसे	निष्ठा	=निष्ठा (अवस्था) है
ब्रह्म	=सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को		+उसको
आप्नोति	=प्राप्त होता है	एव	=भी
तथा	=तथा	कौन्तेय	=हे अर्जुन ! (तू)
या	=जो	मे	=मुझसे
ज्ञानस्य	=ज्ञान की	समासेन	=संक्षेप से
परा	=परा (सबसे ऊँची)	निबोध	=सुन

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इस सिद्धि को पाकर मनुष्य किस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो कि ज्ञान की परानिष्ठा यानी सबसे ऊँची अवस्था है, सो तू मुझ-से संक्षप में सुन ।

व्याख्या—ब्रह्म-साक्षात्कार करना ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है ; क्योंकि इस ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान और कोई नहीं है । ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान एक ही है । इसी ज्ञान के प्राप्त होने पर मनुष्य को मोक्ष मिलता है ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३॥

बुद्ध्या, विशुद्ध्या, युक्तः, धृत्या, आत्मानम्, नियम्य, च ।
शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा, राग-द्वेषौ, व्युदस्य, च ॥
विविक्त-सेवी, लघु-आशी, यत-वाक्-काय-मानसः ।
ध्यान-योग-परः, नित्यम्, वैराग्यम्, समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, परिग्रहम् ।
विमुच्य, निर्ममः, शान्तः, ब्रह्म-भूयाय, कल्पते ॥

विशुद्ध्या	=विशुद्ध अर्थात् सतोगुणी	च	=तथा
बुद्ध्या	=बुद्धि से	राग-द्वेषौ	=राग और द्वेष को
युक्तः	=युक्त	व्युदस्य	=दूर करके
च	=और	विविक्त-सेवी	=शुद्ध देश और एकान्त में रहनेवाला
धृत्या	=(सतोगुणी) धृति से	लघु-आशी	=हल्का और थोड़ा भोजन करनेवाला
आत्मानम्	=अन्तःकरण (अपने आप) को		
नियम्य	=रोककर	यत-वाक्-काय-मानसः	=वाणी, शरीर और मन को वश में रखनेवाला
शब्दादीन्	=शब्द आदि		
विषयान्	=विषयों को		
त्यक्त्वा	=त्यागकर		

नित्यम् =नित्य (सदा)
ध्यान-योग-परः =ध्यान-योग में लगा रहनेवाला
वैराग्यम् =वैराग्य का
समुपाश्रितः=आश्रय लिये हुए
अहङ्कारम् =अहंकार (अहंकृत बुद्धि)
बलम् =बल
दर्पम् =अभिमान या घमंड
कामम् =इस लोक व परलोक के पदार्थों की इच्छा
क्रोधम् =क्रोध
+और
परिग्रहम् =धन आदि बाहरी विषय-भोगों के सामानों को
विमुच्य =छोड़कर
निर्ममः =ममता से रहित
शान्तः =शान्त पुरुष
ब्रह्म-भूयाय=ब्रह्म-स्वरूप होने के
कल्पते =योग्य होता है

अर्थ—जिसकी बुद्धि निर्मल या शुद्ध है, जिसने धीरज से अपने अन्तःकरण को अपने वश में कर लिया है, शब्द, रस आदि इन्द्रियों के विषयों को छोड़ दिया है, रागद्वेष को त्याग दिया है, अपने मन, शरीर और वाणी को अपने वश में कर लिया है, आत्म-ध्यान का अभ्यास करते रहने से अपने चित्त को एक जगह स्थिर कर लिया है और जिसे वैराग्य हो गया है, जिसने अहङ्कार, बल (योगबल से किसी का भला-बुरा करना अथवा विद्या-बल से दूसरे का मत खण्डन करना), घमण्ड, इच्छा यानी विषय-वासना, क्रोध और धन आदि बाहरी विषय-भोगों के सामानों को छोड़ दिया है, जो ममतारहित और सब प्रकार की चिन्ताओं को त्यागकर

शान्तचित्त हो गया है, ऐसा ज्ञानी ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति के योग्य होता है अथवा ऐसा पुरुष ब्रह्म-साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्म-भूतः, प्रसन्न-आत्मा, न, शोचति, न, कांक्षति।
समः, सर्वेषु, भूतेषु, मद्-भक्तिम्, लभते, पराम् ॥

ब्रह्मभूतः	=ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त हुआ (अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर)	न	=न (आगे को कुछ)
प्रसन्न-आत्मा	=प्रसन्न-चित्तवाला मनुष्य	काङ्क्षति	=चाहता है +वह
न	=न (तो बीती हुई बातों का)	सर्वेषु	=सब
शोचति	=शोक करता है +और	भूतेषु	=प्राणियों में
		समः	=सम भाव (या समदर्शी) होकर
		पराम्, मद्-भक्तिम्	=मेरी परम भक्ति को
		लभते	=प्राप्त होता है

अर्थ—ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जो सदैव प्रसन्नचित्त रहता है, किसी बीती हुई बात के लिए सोच नहीं करता, और न किसी चीज़ की इच्छा करता है, सब प्राणियों को एक समान समझता है, वही मेरी परम भक्ति को पाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्त्या, माम्, अभिजानाति, यावान्, यः, च, अस्मि, तत्त्वतः ।
ततः, माम्, तत्त्वतः, ज्ञात्वा, विशते, तत्-अनन्तरम् ॥

यावान्	=जैसा अर्थात् जिस प्रभाववाला	**ततः**	=इस प्रकार उस भक्ति से
च	=और	**माम्**	=मेरे को
यः	=जो	**तत्त्वतः**	=यथार्थ (वास्तव में)
अस्मि	=(सबका आत्मा) मैं हूँ	**ज्ञात्वा**	=जानकर
भक्त्या	=भक्ति के द्वारा	**तत्-अनन्तरम्**	=फिर (देह त्यागने के बाद तुरन्त)
माम्	=मुझको +वह पुरुष		+ वह
तत्त्वतः	=यथार्थ रूप से	**विशते**	=(मुझमें ही) समा जाता है
अभिजानाति	=भली प्रकार जान लेता है		

अर्थ—वास्तव में 'मैं' कौन हूँ और किस प्रभाववाला हूँ—भक्ति द्वारा वह मेरे यथार्थ स्वरूप को जान जाता है । इस यथार्थ स्वरूप के जान लेने पर, देह त्यागते ही वह मुझमें ही समा जाता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

सर्व-कर्माणि, अपि, सदा, कुर्वाणः, मत्-व्यपाश्रयः ।
मत्-प्रसादात्, अवाप्नोति, शाश्वतम्, पदम्, अव्ययम् ॥

सदा	=नित्य (सदैव)	अपि	=भी
सर्व-कर्माणि	=सब कामों को	मत्-प्रसादात्	=मेरी कृपा से
मत्-व्यपाश्रयः	=मुझ भगवान् का आश्रय लेकर	अव्ययम्	=निर्विकार (अविनाशी)
कुर्वाणः	=करता हुआ +निष्काम कर्म-योगी अथवा मेरा अनन्य भक्त	शाश्वतम्	=नित्य (सनातन)
		पदम्	=परम पद को
		अवाप्नोति	=प्राप्त होता है

अर्थ—हे अर्जुन ! जो निष्काम कर्मयोगी मेरी शरण में आकर (अपने धर्म के अनुसार) सदैव सब कामों को करता रहता है, वह, मेरी कृपा से, नित्य अविनाशी परम पद को पहुँचता है।

व्याख्या—जो मनुष्य मेरा अनन्य भक्त है और अपने तमाम कामों को मेरे अर्पण कर देता है, जो सुख-दुःख को समान समझता है और तमाम प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझता है, वही ज्ञानी मनुष्य, मेरी कृपा से, मरने पर, मेरे ब्रह्मस्वरूप परम पद को पाता है; वहाँ पहुँचकर उसे वारंवार न जन्म लेना पड़ता है और न मरना पड़ता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

चेतसा, सर्व-कर्माणि, मयि, संन्यस्य, मत्-परः ।
बुद्धि-योगम्, उपाश्रित्य, मत्-चित्तः, सततम्, भव ॥

	+ इसलिए हे अर्जुन !		हुआ
चेतसा	=मन से (चित्त से)	बुद्धि-योगम्	=समत्व बुद्धि का
सर्व-कर्माणि	=सारे कर्मों को	उपाश्रित्य	=सहारा लेकर
मयि	=मुझमें	सततम्	=सदा (निरन्तर)
संन्यस्य	=अर्पण करके	मत्-चित्तः	=मुझमें चित्त-वृत्ति रखनेवाला
मत्-परः	=मेरे परायण	भव	=(तू) हो

अर्थ—हे अर्जुन ! इसलिए तू मन से अपने सारे कर्मों को और उनके फलों की आशा को त्यागकर, मुझ परमात्मा के अर्पण कर और समत्व बुद्धि का सहारा लेकर अथवा निश्चल बुद्धि से अपने मन को एक जगह करके तू सदा मुझ-में ही अपना चित्त लगा ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मत्-चित्तः, सर्व-दुर्गाणि, मत्-प्रसादात्, तरिष्यसि ।
अथ, चेत्, त्वम्, अहङ्कारात्, न, श्रोष्यसि, विनङ्क्ष्यसि ॥

	+ हे अर्जुन !		रखने से
मत्-चित्तः	=मुझमें अपना चित्त लगाये	मत्-प्रसादात्	=मेरी कृपा से
		सर्व-दुर्गाणि	=सारी कठिना-

	इयों से (संकटों से)	अहंकारात्	=अहंकार से
			+मेरे उपदेश को
तरिष्यसि	=पार हो जायगा	न	=न
अथ	=और	श्रोष्यसि	=सुनेगा (तो)
चेत्	=अगर	विनङ्क्ष्यसि	=नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा
त्वम्	=तू		

अर्थ—जब तू अपने चित्त को मुझमें लगा देगा, तब मेरी कृपा से सारे दुःखों (सङ्कटों) से पार हो जायगा और अहङ्कारवश जो मेरे प्रेमभरे हितकर वचनों को न सुनेगा, तो शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा अर्थात् तू न इस लोक का रहेगा और न परलोक का।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यत्, अहङ्कारम्, आश्रित्य, न, योत्स्ये, इति, मन्यसे।
मिथ्या, एषः, व्यवसायः, ते, प्रकृतिः, त्वाम्, नियोक्ष्यति ॥

यत्	=जो	न, योत्स्ये	="मैं नहीं लड़ूँगा" (तो)
अहंकारम्	=अहंकार का		
आश्रित्य	=आश्रय करके	एषः	=यह
	+ यदि	ते	=तेरा
इति	=यह	व्यवसायः	=निश्चय
मन्यसे	=तू मानता है (कि)	मिथ्या	=झूठा है

	+ क्योंकि
प्रकृतिः	=प्रकृति (क्षात्र-स्वभाव)
त्वाम्	=तुझे
नियोक्ष्यति	=(अवश्य) युद्ध में लगावेगी

अर्थ—और हे अर्जुन ! अगर तू अहङ्कार में आकर यह समझता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा" तो यह तेरा निश्चय झूठा है ; क्योंकि तेरी प्रकृति या तेरा क्षात्रधर्म तुझको लड़ने के लिए अवश्य विवश करेगा ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

स्वभाव-जेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा ।
कर्तुम्, न, इच्छसि, यत्, मोहात्, करिष्यसि, अवशः, अपि, तत्॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !
स्वेन	=अपने
स्वभाव-जेन	=स्वभाव से उत्पन्न हुए
कर्मणा	=कर्म से
निबद्धः	=बँधे हुए (जकड़े हुए)
यत्	=जिस कर्म को
	(तू)
मोहात्	=अज्ञान से या मूर्खतावश
कर्तुम्	=करना
न	=नहीं
इच्छसि	=चाहता
तत्	=उस कर्म को
अपि	=भी (तू)
अवशः	=विवश होकर
करिष्यसि	=करेगा

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू अपने स्वाभाविक गुणों और कर्मों से जकड़ा हुआ है। ऐसा होते हुए भी अगर तू मूर्खता से या अज्ञानवश अपने स्वाभाविक कर्मों को करना पसंद नहीं करता, तब भी तुझे वे कर्म अवश्य ही करने पड़ेंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

ईश्वरः, सर्वभूतानाम्, हृद्-देशे, अर्जुन, तिष्ठति।
भ्रामयन्, सर्व-भूतानि, यन्त्र-आरूढानि, मायया ॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !		कर्म के अनुसार
यन्त्र-आरूढानि	=शरीररूपी यन्त्र पर चढ़े हुए	भ्रामयन्	=घुमाता या फिराता हुआ
सर्व-भूतानि	=सब प्राणियों को	सर्व-भूतानाम्	=सब प्राणियों के
ईश्वरः	=ईश्वर	हृद्-देशे	=हृदय में
मायया	=अपनी माया से + उनके स्वाभाविक गुण और	तिष्ठति	=निवास करता है

अर्थ—क्योंकि हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वही अन्तर्यामी परमात्मा (शरीररूपी) यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को (उनके स्वाभाविक गुण और कर्म के अनुसार) अपनी माया से घुमाया करता है।

व्याख्या—जिस प्रकार कठपुतलियों का नचानेवाला परदे के पीछे बैठा हुआ पुतलियों को तार से नचाया करता है, वैसे ही सबसे बड़ा पुतलीगर यानी परमात्मा संसाररूपी चक्र पर चढ़े हुए जीवों को अपने मायारूपी तार से घुमाया करता है। मतलब यह कि जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह प्रकृति के अधीन होकर सब काम करता है। जब तक प्राणी परम सिद्धि को प्राप्त कर मेरी भक्ति में लीन नहीं हो जाता, तब तक वह अपनी प्रकृति के अधीन हो, अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता ही रहता है, मानो वह किसी चक्र पर चढ़ा हो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२॥

तम्, एव, शरणम्, गच्छ, सर्व-भावेन, भारत।
तत्, प्रसादात्, पराम्, शान्तिम्, स्थानम्, प्राप्स्यसि, शाश्वतम्॥

भारत =हे अर्जुन!
सर्व-भावेन =सब तरह से (यानी तन, मन, धन से)
तम् =उस एक परमात्मा की
एव =ही
शरणम् =शरण में
गच्छ =जा
तत् =उस अन्तर्यामी भगवान् की ही
प्रसादात् =कृपा से
पराम् =परम (उत्कृष्ट)
शान्तिम् =शान्ति
+ और
शाश्वतम् स्थानम् =नित्य स्थान अर्थात् परम पद को
प्राप्स्यसि =(तू) प्राप्त होगा

अर्थ—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! सब प्रकार से यानी तन, मन, धन से तू उस एक परमात्मा की ही शरण में जा। उस अन्तर्यामी भगवान् की ही कृपा से तुझे उत्कृष्ट शान्ति और परम पद (मोक्ष) मिलेगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ५३॥

इति, ते, ज्ञानम्, आख्यातम्, गुह्यात्, गुह्यतरम्, मया।
विमृश्य, एतत्, अशेषेण, यथा, इच्छसि, तथा, कुरु॥

इति	=इस प्रकार	अशेषेण	=पूर्ण रूप से
मया	=मैंने	विमृश्य	=अच्छी तरह विचार कर (फिर)
ते	=तुझसे	यथा	=जैसा
गुह्यात्	=गुप्त से	इच्छसि	=(तू) चाहता है
गुह्यतरम्	=अत्यन्त गुप्त	तथा	=वैसा (ही)
ज्ञानम्	=ज्ञान	कुरु	=कर
आख्यातम्	=कहा है		
एतत्	=इस (विस्तार-पूर्वक वर्णित) रहस्य को		

अर्थ—इस प्रकार मैंने तुझसे यह गुप्त से भी अत्यन्त गुप्त ज्ञान कहा है; इस पर तू पूर्ण रूप से अच्छी तरह विचार कर ले। विचारने के बाद फिर तेरी जैसी इच्छा हो वैसा कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्व-गुह्यतमम्, भूयः, शृणु, मे, परमम्, वचः ।
इष्टः, असि, मे, दृढम्, इति, ततः, वक्ष्यामि, ते, हितम् ॥

सर्व-गुह्यतमम्	=अत्यन्त गुप्त से भी गुप्त		+क्योंकि तू
मे	=मेरे	मे	=मेरा
परमम्	=परम (रहस्य-मय)	दृढम्	=पक्का (अत्यन्त)
वचः	=वचन को	इष्टः	=मित्र (प्यारा)
	+तू	असि	=है
भूयः	=फिर	ततः	=इसीलिए
शृणु	=(ध्यानपूर्वक) सुन	ते	=तेरी
		हितम्	=भलाई के लिए
		इति	=यह (हितकारक वचन)
		वक्ष्यामि	=मैं कहूँगा

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे परम वचन को, जो अत्यन्त गुप्त से भी गुप्त है, फिर (ध्यानपूर्वक) सुन; तू मेरा पक्का मित्र है यानी तू मुझे अत्यन्त प्यारा है ; इसी कारण तेरी भलाई के लिए मैं यह (हितकारक वचन) कहता हूँ (यानी मेरे इस सारभूत वचन को अच्छी तरह ध्यान देकर सुन) ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मत्-मनाः, भव, मत्-भक्तः, मत्-याजी, माम्, नमस्कुरु ।
माम्, एव, एष्यसि, सत्यम्, ते, प्रतिजाने, प्रियः, असि, मे ॥

मत्-मनाः =मुझमें मन-वाला हो अर्थात् तू अपना चित्त मुझ सच्चिदानन्द-घन वासुदेव परमात्मा में ही लगा

मत्-भक्तः =मेरा भक्त हो (अर्थात् मेरे साथ तेरा इतना प्रेम हो कि मुझ में और तुझमें कोई भेद न रहे) अथवा तू मेरा अनन्य भक्त बन

+और

मत्-याजी भव=(शरीर, मन और वाणी से सब कुछ अर्पण करके सच्चे प्रेम, श्रद्धा और भक्ति से) मेरा पूजन करनेवाला हो

+तथा

माम् =मुझ परमात्मा को ही (सबमें एक समान व्यापक समझकर)

नमस्कुरु =(भक्तिसहित) नमस्कार कर

+ऐसा करने से तू

माम् =मुझ (परमात्मा) को

एव =ही

एष्यसि = प्राप्त होगा

+मैं

ते =तुझसे

सत्यम्	=सच्ची	मे	=मुझे
प्रतिजाने	=प्रतिज्ञा करता हूँ	प्रियः	=प्यारा
	+क्योंकि तू	असि	=है

अर्थ—हे अर्जुन ! तू अपना चित्त मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप के ध्यान में लगा, मेरा अनन्य भक्त हो अर्थात् मेरे साथ तेरा इतना प्रेम हो कि मुझमें और तुझमें कोई अन्तर न रहे; (शरीर, मन और वाणी से सब कुछ अर्पण करके सच्चे प्रेम, श्रद्धा और भक्ति से) मेरी पूजा कर, और मुझ परमात्मा को ही (भक्तिसहित) नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मेरे पास पहुँच जायगा। तू मुझे प्यारा है इसीलिए मैं तुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करके ऐसा कहता हूँ (जिससे तुझे जरा भी सन्देह न रहे)।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

सर्व-धर्मान्, परित्यज्य, माम्, एकम्, शरणम्, व्रज।
अहम्, त्वा, सर्व-पापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि, मा, शुचः॥

सर्व-धर्मान्	=सारे धर्मों को	व्रज	=(तू) प्राप्त हो
परित्यज्य	=(सम्पूर्णतया) त्यागकर	अहम्	=मैं
		त्वा	=तुझे
एकम्	=केवल एक	सर्व-पापेभ्यः	=सब पापों से
माम्	=मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा की ही	मोक्षयिष्यामि	=छुड़ा दूँगा
		मा शुचः	=(तू) शोक मत कर
शरणम्	=शरण को		

अर्थ—श्रुति-स्मृति आदि में जो अनेक प्रकार के धर्म कहे हैं, उन सब धर्मों को पूर्णतया त्यागकर, केवल एक मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा, तू शोक मत कर।

गीता का उपदेश समाप्त हो गया। अब भगवान् इसका माहात्म्य कहते हैं:—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

इदम्, ते, न, अतपस्काय, न, अभक्ताय, कदाचन।
न, च, अशुश्रूषवे, वाच्यम्, न, च, माम्, यः, अभ्यसूयति॥

इदम्	=यह गीता शास्त्र (यह गुप्त ज्ञान)	अशुश्रूषवे	=सुनने की इच्छा न रखनेवाले के लिए
ते	=तेरे (हित के लिए जो कहा गया है उसे)	वाच्यम्	=कहना उचित है
न	=न (तो)	च	=और (उससे भी)
अतपस्काय	=तपहीन के लिए	न कदाचन	=कभी न +कहना चाहिए
न	=न	यः	=जो
अभक्ताय	=भक्तिहीन के लिए	माम्	=मेरी
च	=और	अभ्यसूयति	=निन्दा करता है
न	=न		

अर्थ—यह परम गुप्त गीताशास्त्र का ज्ञान, जो मैंने तुझे सुनाया है, ऐसे पुरुष से कदापि कहने योग्य नहीं है जो न

तपस्या करता हो, न मेरा भक्त हो और जो सुनने की इच्छा न रखता हो एवं जो मेरी निन्दा करता हो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

यः, इमम्, परमम्, गुह्यम्, मत्-भक्तेषु, अभिधास्यति
भक्तिम्, मयि, पराम्, कृत्वा, माम्, एव, एष्यति, असंशयः॥

यः	=जो पुरुष	मयि	=मेरी
इमम्	=इस	पराम्	=परा
परमम्	=परम	भक्तिम्	=भक्ति
गुह्यम्	=गुप्त गीताशास्त्र का	कृत्वा	=करके
मत्-भक्तेषु	=मेरे भक्तों में	असंशयः	=निस्सन्देह
अभिधास्यति	=प्रचार करेगा +वह	माम्	=मुझको
		एव	=ही
		एष्यति	=प्राप्त होगा

अर्थ—जो पुरुष यह परम गुप्त गीताशास्त्र मेरे भक्तों को (निष्काम भाव से प्रेमपूर्वक) समझाकर सुनावेगा, वह पुरुष मेरी भक्ति करता हुआ निस्संदेह मेरे पास पहुँच जायगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

न, च, तस्मात्, मनुष्येषु, कश्चित्, मे, प्रिय-कृत्-तमः ।
भविता, न, च, मे तस्मात्, अन्यः, प्रिय-तरः, भुवि ॥

च	=और	च	=तथा
मनुष्येषु	=मनुष्यों में	भुवि	=पृथ्वी पर
तस्मात्	=उस (गीता का प्रचार करनेवाले) से बढ़कर	तस्मात्	=उस प्रचारक से अधिक
मे	=मेरा	मे	=मेरा
प्रिय-कृत्-तमः	=अधिक प्रिय काम करनेवाला	प्रिय-तरः	=अतिशय प्यारा
कश्चित्	=और कोई	अन्यः	=कोई दूसरा
न	=नहीं (है)	न	=न
		भविता	=होगा

अर्थ—जो मनुष्य मेरे भक्तों में गीता का प्रचार करता है अथवा जो गीता का उपदेशक है, मनुष्यों में उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला और कोई नहीं है । उस प्रचारक से अधिक, इस पृथ्वी पर मेरा प्यारा कोई दूसरा न होगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७० ॥

अध्येष्यते, च, यः, इमम्, धर्म्यम्, संवादम्, आवयोः ।
ज्ञान-यज्ञेन, तेन, अहम्, इष्टः, स्याम्, इति, मे, मतिः ॥

च	=और	तेन	=उससे
यः	=जो (कोई)	अहम्	=मैं
आवयोः	=हम दोनों के (हमारे तुम्हारे)	ज्ञान-यज्ञेन	=ज्ञान-यज्ञ द्वारा
इमम्	=इस	इष्टः	=पूजित
धर्म्यम्	=धर्मसम्बन्धी	स्याम्	=होऊँगा
संवादम्	=संवाद को	इति	=ऐसा
अध्येष्यते	=पढ़ेगा अर्थात् प्रेमपूर्वक नित्य पाठ करेगा	मे	=मेरा (मुझ परमात्मा का)
		मतिः	=मत है

अर्थ—और हे अर्जुन ! जो कोई हमारे तुम्हारे इस धर्ममय संवाद का (प्रेमपूर्वक एकाग्रचित्त से) नित्य पाठ करेगा, वह ज्ञान द्वारा मेरी पूजा करेगा, ऐसा मेरा मत है अर्थात् मैं यह समझूँगा कि उसने ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी पूजा की है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

श्रद्धावान्, अनसूयः, च, शृणुयात्, अपि, यः, नरः।
सः, अपि, मुक्तः, शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात्, पुण्य-कर्मणाम्॥

यः	=जो	श्रद्धावान्	=श्रद्धा से युक्त हो
नरः	=मनुष्य	च	=और

अनसूयः	=चित्त से ईर्ष्या को निकालकर अथवा दोष-दृष्टि से रहित होकर (इसको)
अपि	=केवल
शृणुयात्	=सुनेगा (ही)
सः	=वह
अपि	=भी
मुक्तः	= (सब झगड़ों और पापों से) मुक्त होकर
पुण्य-कर्मणाम्	=धर्मात्माओं के
शुभान्	=शुभ
लोकान्	=लोकों को
प्राप्नुयात्	=प्राप्त होगा

अर्थ—जो मनुष्य द्वेष त्यागकर अथवा भगवत्-उपदेश में दोष-दृष्टि न रखकर, श्रद्धापूर्वक (गीताशास्त्र का) श्रवणमात्र भी करेगा, वह भी सब पापों से छूटकर पुण्य-कर्म करनेवाले धर्मात्माओं के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

इस प्रकार गीता का माहात्म्य सुनाकर भगवान् कृष्ण अर्जुन से पूछते हैं कि—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

कच्चित्, एतत्, श्रुतम्, पार्थ, त्वया, एकाग्रेण, चेतसा ।
कच्चित्, अज्ञान-सम्मोहः, प्रनष्टः, ते, धनंजय ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !
कच्चित्	=क्या
त्वया	=तूने
[illegible]ण	=एकाग्र
चेतसा	=चित्त से
एतत्	=यह (जो मैंने

	उपदेश किया उसको)	कच्चित्	=क्या
		ते	=तेरा
श्रुतम्	=सुना ? +और	अज्ञान-सम्मोहः	=अज्ञान से पैदा हुआ मोह
धनंजय	=हे धनंजय !	प्रनष्टः	=दूर हो गया ?

अर्थ—हे अर्जुन ! मैंने जो तुझे यह गीता-शास्त्र सुनाया है, क्या तूने इसे एकाग्रचित्त होकर सुना ? और क्या तेरा अज्ञान से पैदा हुआ मोह दूर हो गया ?

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

नष्टः, मोहः, स्मृतिः, लब्धा, त्वत्, प्रसादात्, मया, अच्युत ।
स्थितः, अस्मि, गत-सन्देहः, करिष्ये, वचनम्, तव ॥

भगवान् के पूछने पर अर्जुन ने उत्तर दिया—

अच्युत	=हे अविनाशी !		स्वरूप की)
त्वत्-प्रसादात्	=आपकी कृपा से +मेरा	स्मृति	=स्मृति
मोहः	=मोह (अज्ञान)	लब्धा	=प्राप्त हुई +अब मैं
नष्टः	=दूर हो गया है + और	गत-सन्देहः	=सन्देह से रहित होकर
मया	=मुझे (अपने	स्थितः	=स्थित हूँ

	+और अब	वचनम्	=कहना
तव	=आप (ही) का	करिष्ये	=करूँगा

अर्थ—भगवान् कृष्ण के पूछने पर अर्जुन बोला:—हे अच्युत ! (अपनी प्रतिज्ञा से जरा भी इधर-उधर न हटनेवाले भगवान् कृष्ण !) आपकी कृपा से मेरा मोह (अज्ञान) दूर हो गया और मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान भी हो गया। मेरे सारे सन्देह दूर हो गये और अब आप जो मुझे आज्ञा देंगे वही मैं करूँगा।

यहाँ तक श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। आगे संजय धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहते हैं:—

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इति, अहम्, वासुदेवस्य, पार्थस्य, च, महात्मनः।
संवादम्, इमम्, अश्रौषम्, अद्भुतम्, रोम-हर्षणम् ॥

संजय बोला कि:—

	+हे राजन् !	च	=और
इति	=इस प्रकार	महात्मनः	=महात्मा
अहम्	=मैंने	पार्थस्य	=अर्जुन के
वासुदेवस्य	=भगवान् कृष्ण-चन्द्र	इमम्	=इस
		अद्भुतम्	=अलौकिक

	(एवं)	संवादम्	=संवाद को
रोम-हर्षणम्	=रोंगटे खड़े करने-वाले	अश्रौषम्	=सुना

अर्थ—हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन का आश्चर्यजनक और रोंगटे खड़े करनेवाला संवाद मैंने सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यास-प्रसादात्, श्रुतवान्, एतत्, गुह्यम्, अहम्, परम्।
योगम्, योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः, स्वयम्।

व्यास-प्रसादात्	=(दिव्य चक्षु द्वारा) श्री-वेदव्यासजी महाराज की कृपा से	योगम्	=योग
		स्वयम्	=स्वयम्
		योगेश्वरात्	=योगेश्वर
		कृष्णात्	=भगवान् कृष्णचन्द्र के श्रीमुख से
अहम्	=मैंने		
एतत्	=यह	कथयतः	=कहते हुए
परम्	=अत्यंत	साक्षात्	=साक्षात्
गुह्यम्	=गुप्त	श्रुतवान्	=सुना है

अर्थ—श्रीवेदव्यासजी महाराज की कृपा से (दिव्य चक्षु द्वारा) इस अत्यंत गुप्त योग को मैंने साक्षात् स्वयम् योगेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र के श्रीमुख से निकलते हुए सुना है, अर्थात्

जो कुछ मैंने सुनाया है, वह साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से सुना है, मैंने अपनी ओर से कोई बात नहीं कही है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्, संस्मृत्य, संस्मृत्य, संवादम्, इमम्, अद्भुतम्।
केशव-अर्जुनयोः, पुण्यम्, हृष्यामि, च, मुहुः, मुहुः ॥

राजन्	=हे राजा धृतराष्ट्र !	च	=और
केशव-अर्जुनयोः	=भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के	पुण्यम्	=पुण्यदायक
		संवादम्	=संवाद को
		संस्मृत्य-संस्मृत्य	=याद कर-कर
इमम्	=इस	मुहुः-मुहुः	=वारम्बार
अद्भुतम्	=अद्भुत	हृष्यामि	=मैं आनन्दित होता हूँ

अर्थ—हे राजा धृतराष्ट्र ! भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्यदायक संवाद को याद कर-कर मुझे बार-बार परमानन्द प्राप्त होता रहता है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

तत्, च, संस्मृत्य, संस्मृत्य, रूपम्, अति-अद्भुतम्, हरेः।
विस्मयः, मे, महान्, राजन्, हृष्यामि, च, पुनः-पुनः ॥

	+और
राजन्	=हे राजन् !
हरेः	=भगवान् श्रीकृष्ण के
तत्	=उस
अति-अद्भुतम्	=अति अद्भुत
रूपम्	=रूप को अर्थात् विश्व-रूप को
संस्मृत्य च संस्मृत्य	=बार-बार स्मरण करके
मे	=मुझे
महान्	=बड़ा
विस्मयः	=आश्चर्य होता है
च	=और
पुनः-पुनः	=बारम्बार
हृष्यामि	=मैं रोमाञ्चित होता हूँ

अर्थ—और भगवान् श्रीकृष्ण के इस अति अद्भुत विश्वरूप को बार-बार स्मरण करके, हे राजन् ! मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मुझे बार-बार रोमाञ्च होता रहता है ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

यत्र, योग-ईश्वरः, कृष्णः, यत्र, पार्थः, धनुर्धरः ।
तत्र, श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा, नीतिः, मतिः, मम ॥

यत्र	=जहाँ
योग-ईश्वरः	=योगेश्वर
कृष्णः	=कृष्ण हैं
	+और
यत्र	=जहाँ
धनुर्धरः	=धनुषधारी
पार्थः	=अर्जुन हैं
तत्र	=वहीं पर
श्रीः	=लक्ष्मी
विजयः	=विजय

भूतिः	=ऐश्वर्य		+ ऐसा
	+और	मम	=मेरा
ध्रुवा	=स्थिर (अटल)	मतिः	=मत है
नीतिः	=नीति (न्याय)है		

अर्थ—संजय कौरवों के रक्षार्थ कहता है कि हे राजा धृतराष्ट्र! जिस ओर योगेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र और जिधर धनुषधारी अर्जुन हैं, उसी ओर लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और अटल नीति (न्याय) है, ऐसा मेरा पक्का निश्चय है (इस लिए अब भी आप अपने दुर्योधन आदि पुत्रों को समझाकर पाण्डवों से मेल कर लें, वरना आप को पछताना पड़ेगा)

अठारहवाँ अध्याय समाप्त

भगवान् शंकर ने कहा—"हे देवि, गीता के सत्रह अध्यायों का माहात्म्य हम कह चुके, अब अठारहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। मेरु पर्वत के शिखर पर अमरावती नाम की पुरी है। प्राचीन समय में विश्वकर्मा ने हमारे विनोद के लिए उस पुरी का निर्माण किया था। वहाँ करोड़ों देवता निवास करते हैं। पूर्व समय में शतक्रतु (सौ यज्ञ करनेवाले) इन्द्र देवताओं के राजा थे। एक दिन देवराज इन्द्र इन्द्राणीसमेत देव-सभा में बैठे थे, उसी समय विष्णु के दूत हजार नेत्रवाले किसी पुरुष को साथ लेकर देव-सभा में आये। उस पुरुष को देखते ही शतक्रतु इन्द्र उसके तेज से परास्त होकर सिंहासन से गिर पड़े। जब इन्द्र सिंहासन से अलग हो गये, तब विष्णु की आज्ञा से उस सहस्र नेत्रवाले पुरुष का अभिषेक हुआ। उस महेन्द्र के वाम भाग में इन्द्राणी शोभित हुई। देवताओं ने नगाड़े बजाये, ऋषियों ने वेदमन्त्रों का उच्चारण किया, गन्धर्वों ने मंगल गीत गाये और रम्भा आदि अप्सराएँ नाचने लगीं। इस प्रकार नये इन्द्र के राज्याभिषेक का उत्सव देखकर शतक्रतु इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। वे चिन्ता से व्याकुल होकर इसका कारण पूछने के लिए क्षीरसमुद्र में सोते हुए भगवान् विष्णु के पास गये और हाथ जोड़कर स्तुति करके बोले—'हे लक्ष्मी के पति, हमने आपको प्रसन्न करने के लिए पूर्व समय में सौ यज्ञ किये थे और उसी पुण्य से हमको इन्द्र का पद मिला था। हे अच्युत, इस समय एक नया इन्द्र हुआ है, उसने धर्म और यज्ञ कुछ भी नहीं किया। फिर

हमारे दिव्य सिंहासन को उसने कैसे ले लिया है ?' इन्द्र के यह वचन सुनकर भगवान् विष्णु जाग पड़े और मधुर वचन बोले—'हे शतक्रतु, अनित्य फल देनेवाले दान, तप और यज्ञों से कुछ लाभ नहीं है। तुमने सौ यज्ञ करके हमको प्रसन्न किया था, उसका फल तुम भोग चुके। अब तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है, इसी से तुमको सिंहासन से अलग होना पड़ा।' इन्द्र ने पूछा—'भगवन्, इस ब्राह्मण ने कौन कर्म करके आपको प्रसन्न किया है, जिसके प्रभाव से इसको इन्द्र का पद मिला।' विष्णु ने कहा—'यह ब्राह्मण गीता के अठारहवें अध्याय के पाँच श्लोक जपता है। तुम भी सब धर्मों में श्रेष्ठ इसी पवित्र धर्म का पालन करो।' इस प्रकार विष्णु के वचन सुनकर और उत्तम उपाय मालूम करके शत-क्रतु इन्द्र गोदावरी के किनारे गये। वहाँ वेद का पारं-गत एक ब्राह्मण एकाग्रचित्त से गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ करता था। इन्द्र प्रसन्न होकर ब्राह्मण के पैरों पर गिर पड़े और उसी स्थान पर रहकर गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ करने लगे। उसी पुण्य के प्रभाव से इन्द्र आदि देवताओं के पद से भी बढ़कर विष्णु के श्रेष्ठ लोक वैकुण्ठ को गये। महादेव ने पार्वती से कहा—हे देवि ! हमने गीता के अठारहवें अध्याय का माहात्म्य तुम से कहा। यह महात्म्य सब पापों का नाश करनेवाला है। जो श्रद्धावान् मनुष्य इस माहात्म्य को पढ़ता या सुनता है, वह सब यज्ञों का फल पाकर विष्णुलोक को जाता है।"

———

मोह-मुद्गर

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ १ ॥

हे मूढ़ बुद्धिवाले, निरन्तर गोविन्द * का भजन कर; मृत्यु के निकट आने पर 'डुकृञ् करणे' † धातु तेरी रक्षा कदापि नहीं करेगी । हे मूढ़मतिवाले, तू गोविन्द का निरंतर भजन कर ॥ १ ॥

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ २ ॥

जब तक बालपन था तब तक तो खेलकूद में बिताया और युवावस्था युवती के राग-मोह में एवं वृद्धावस्था चिंताओं

---

* गो=इन्द्रिय, विन्द=प्राप्त करनेवाला अर्थात् आत्मा ।

† स्वामी शंकराचार्यजी ने किसी वृद्ध को देखा कि वह व्याकरण का 'डुकृञ् करणे' धातु रट रहा है, जिस पर यह स्तोत्र लिखा, ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है; अथवा 'डुकृञ् करणे' का निर्देश कर्मबन्धन सने से तात्पर्य रखता हो, यह भी हो सकता है ।—संपादक

में व्यतीत की, इस प्रकार परब्रह्म में कभी मन नहीं लगाया, अब तो गोविन्द का भजन कर ॥ २ ॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ३ ॥

सब अङ्ग शिथिल हो गये, सिर के बाल सफ़ेद हो गये और मुख के सब दाँत गिर गये तथा बुढ़ापे में लकड़ी के सहारे चलने की नौबत आ गई तो भी दुराशा पीछा नहीं छोड़ती । हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ ३ ॥

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ४ ॥

दिन, रात, सायंकाल, प्रातःकाल, शिशिर ऋतु, वसन्त ऋतु इत्यादि आते ही जाते रहते हैं; इस प्रकार काल के खिलवाड़ में आयु बीतती चली जाती है तो भी दुराशारूपी वायु (सनक) पीछा नहीं छोड़ती । हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ ४ ॥

नारीस्तनभरजघननिवेशं दृष्ट्वा मायामोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचारय वारंवारम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ५ ॥

माया-मोह में डालनेवाले कामिनी के पुष्ट स्तनों एवं जाँघों के सुडौलपन को देखकर उनमें आसक्त न हो, बल्कि मन में यह बारबार विचार कर कि यह सब मांस और चरबी आदि के विकार हैं (इनसे कोई लाभ नहीं) । अतएव हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ ५ ॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ६ ॥

आगे अग्नि, पीछे सूर्य और रात में घुटने से ठोढ़ी लगाकर सोना तथा हाथ में भिक्षा का पात्र और वृक्ष के नीचे वास है तो भी आशारूपी बन्धन को नहीं छोड़ता । हे मूढ़मते, गोविन्द का भजन कर ॥ ६ ॥

रथ्याकर्पटविरचितकन्थाः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थाः ।
नाहं न त्वं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ७ ॥

इधर-उधर मार्ग में पड़े हुए चीथड़ों से बनाई हुई गुदड़ी ओढ़ता तथा पुण्य और पाप से रहित रास्ते पर चलता एवं ममता, द्वन्द्व और संसार से विरक्त रहता है; तो फिर शोच किस वास्ते करता है ? बस, केवल गोविन्द का भजन कर ॥ ७ ॥

वयसि गते कः कामविकारः शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारस्तत्त्वे ज्ञाते कः संसारः।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ८ ॥

अवस्था बीत जाने पर काम का विकार कैसा ? जल सूख जाने पर तालाब कैसा ? धन के नष्ट हो जाने पर परिवार कैसा ? इसी प्रकार तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर भला संसार कैसा ? हे मूढ़मते, गोविन्द का भजन कर ॥ ८ ॥

यावद्वित्तोपार्जनशक्तस्तावन्निजपरिवारे रक्तः।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे वार्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥ ९ ॥

जब तक तू धन कमाने की शक्ति रखता था तब तक तो अपने परिवार में अनुरक्त रहा और अब जब शरीर पर बुढ़ापा छा गया तो घर में कोई बात भी नहीं पूछता। इसलिए हे मूढ़मते, गोविन्द का भजन कर ॥ ९ ॥

जटिलो मुण्डितलुञ्चितकेशः काषायाम्बरकृतबहुवेशः।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोकः उदरनिमित्तं बहुकृतवेशः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१०॥

कोई जटाधारी है, कोई बाल मुड़ाये हुए, कोई बाल नोचे हुए, कोई गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए है। इस प्रकार भाँति-भाँति के वेष बनाये हुए लोगों को देखकर भी संसार नहीं

समझ पाता कि ये सब केवल पेट पालने के लिए विभिन्न प्रकार के वेष बनाये घूमते हैं। हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १० ॥

गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गतिचित्तं देयं दानजनाय च वित्तम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥११॥

हे मूढ़मते, श्रीमद्भगवद्गीता तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ कर और सर्वदा लक्ष्मीपति भगवान् का ही ध्यान कर। सुजनों की सङ्गति में मन लगा और दीनजनों को धन देकर गोविन्द का भजन कर ॥ ११ ॥

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता ।
येनाकारि मुरारेरर्चा तस्य यमोऽपि न कुरुते चर्चा ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१२॥

जिसने थोड़ा भी श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ किया और गङ्गाजल का एक बूँद भी पान किया, जिसने मुरारि भगवान् की पूजा की, उसकी चर्चा भी यमराज नहीं करता। हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १२ ॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे भवदुस्तारे कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१३॥

हे मुर दैत्य के मारनेवाले भगवन् ! बार-बार जन्म लेना, बार-बार मरना, बार-बार माता के उदर में सोना, इस प्रकार इस अपार और दुस्तर संसार-सागर में पड़े हुए मेरी रक्षा करने की कृपा कीजिए (ऐसी स्तुति करता हुआ), हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १३ ॥

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१४॥

तू कौन है, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, कौन मेरी माता और कौन मेरा पिता है ? इस प्रकार सारे प्रपञ्च को स्वप्नवत्, मिथ्या, साररहित समझ और सबका परित्याग करके हे मूढ़मते, गोविन्द का भजन कर ॥ १४ ॥

सुरतटिनीतरुमूलनिवासः शय्या भूतलमजिनं वासः ।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१५॥

श्रीगङ्गाजी के किनारे लगे हुए वृक्ष की जड़ के पास निवासस्थान, भूमि में शयन, कृष्णसार मृग के चर्म का वस्त्र, सब प्रकार के दान लेने तथा भोग-सामग्री का त्याग करना, इस प्रकार का वैराग्य किसे सुख नहीं देता ? इसलिए (विरक्त होकर) हे मूढ़मते, तु गोविन्द का भजन कर ॥ १५ ॥

यावज्जीवो निवसति देहे तावत्पृच्छति कुशलं गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१६॥

जीवात्मा जब तक इस शरीर में रहता है तब तक घर में लोग उसका कुशल पूछते हैं । ज्यों ही प्राण-वायु इस शरीर को छोड़कर अलग हुआ कि सहधर्मिणी भी इस शरीर से डरने लगती है; इसलिए हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १६ ॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१७॥

रमणी में सुखपूर्वक रमण किया, परंतु खेद है कि उसके पश्चात् शरीर में रोग उत्पन्न हो गया और रोगाक्रान्त हो जाने से यद्यपि अब मरने के सिवा और कोई चारा नहीं तो भी लोग पाप करना नहीं छोड़ते । अतः (मुक्तसंग होकर) हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १७ ॥

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपिमासः ।
पुनरपि अयनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१८॥

(जिस प्रकार) रात, दिन, पक्ष, मास, अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन), वर्ष ये सर्वदा आते जाते रहते हैं (इसी प्रकार कर्मबन्धन में पड़कर जीव को भी इस संसार-चक्र में घूमना पड़ेगा), तो भी आशाजनित असंतोष नहीं छोड़ा जाता । अतः (संसार से निराश होकर उदासीन वृत्ति से) हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १८ ॥

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीनः सर्वमनेन न भवति मुक्तिर्जन्मशतेन ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥१९॥

लोग गङ्गासागर तीर्थ की यात्रा करके, व्रत और दानादि करके मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं ; परंतु ज्ञान के विना इन तीर्थयात्रा आदि कर्मों से सैकड़ों जन्म में भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती । अतः (ज्ञानपूर्वक) हे मूढ़मते, तू गोविन्द का भजन कर ॥ १९ ॥

परिशिष्ट

कौरवदल में राजा युधिष्ठिर

जब गीता-ज्ञान-द्वारा अर्जुन का मोह दूर हो गया तो सबसे पहिले युधिष्ठिर का दृष्टि भीष्मजी पर पड़ी। अपने सम्मुख लड़ने के लिए पितामह का खड़े देखकर राजा युधिष्ठिर रथ से उतर धीरे-धीरे कौरवों की ओर चल पड़े। युधिष्ठिर को इस प्रकार बिना हथियार लिये शत्रु-दल में जाते देखकर, चारों भाई पाण्डव अपने रथा से उतर पड़े और यह कहते हुए उनके पीछे हो लिये कि राजन्, यदि दुष्ट दुर्योधन आपको क़ैद कर लेगा तो फिर हम लोगों के बनाये कुछ न बनेगा। युधिष्ठिर ने कुछ भी उत्तर न दिया। वे चले ही गये। कृष्णजी अर्जुन के साथ थे। वे राजा के हृदय का भाव समझ गये। उन्होंने चारों भाइयों को समझा दिया कि राजा युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा और ज्ञानी हैं। वे बड़े बूढ़ों की आज्ञा लिये बिना युद्ध नहीं करेंगे। इतने में युधिष्ठिर भीष्मजी के पास पहुँच गये और उनके चरणों में गिरकर कहने लगे—पितामह! जब आप ही मेरे विरुद्ध लड़ने के लिए खड़े हैं, तब मेरा युद्ध करना व्यर्थ है; क्योंकि जब परशुराम जैसे वीर भी आपसे युद्ध

में पराजित हो चुके हैं तो भला हम किस गिनती में हैं ? आप मुझे युद्ध करने की आज्ञा देकर आशीर्वाद दीजिए। पितामह ने प्रेम से युधिष्ठिर को गले लगा लिया और कहने लगे—"बेटा, तू बड़ा धर्मात्मा है; अतः जहाँ धर्म्म है वहां कृष्ण हैं, और जहाँ कृष्ण हैं वहीं विजय निश्चित है, यही मेरा आशीर्वाद है।" इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्यजी को भी प्रणाम करके आज्ञा माँगी। उन्होंने भी विजय का आशीर्वाद दे युद्ध की आज्ञा दे दी। सबसे आशीर्वाद पा राजा युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर बड़े ज़ोर से कहा—"अब युद्ध आरम्भ ही हुआ चाहता है; जिन्हें अपने प्राण प्यारे हों, वे भगवान् कृष्णचन्द्र की शरण में आ जायँ।" यह सुन युयुत्सु एक लाख सेना सहित पाण्डवों की ओर चला आया। युधिष्ठिर वहाँ से लौट अपने रथ पर सवार हो गये और युद्ध प्रारम्भ हुआ।

सेनापति भीष्म

दोनों दलों में इतना कोलाहल हुआ कि कुछ सुनाई ही नहीं देता था। कौरवों के प्रधान सेनापति पितामह भीष्म ने दस दिन तक घोर युद्ध किया। भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दस हज़ार महारथियों को रोज़ मारते थे। पहिले दिन अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने बड़ी वीरता दिखलाई कौरव-सेना का कोई भी सेनापति उसके सामने नहीं खड़ा हो सका। इसी दिन राजा शल्य के द्वारा राजा विराट् का पुत्र उत्तरकुमार मारा गया। यह अभिमन्यु का साला था। इसी दिन पाण्डवों को शोक और कौरवों को आनन्द हुआ।

दूसरे दिन पाण्डवों ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया। भीमसेन ने कलिंगराज को मार डाला और अर्जुन तथा सात्यकि ने कौरवों की बहुत सी सेना को काट डाला। इस दिन पाण्डवों को प्रसन्नता हुई और कौरवों में शोक छा गया।

तीसरे दिन फिर भी पाण्डवों ने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया। दुर्योधन ने पितामह भीष्म पर दोषारोपण किया कि आप जान-बूझकर पाण्डवों को जिता रहे हैं। इस पर भीष्मजी ने क्रुद्ध होकर कहा—"मैं जी तोड़कर पाण्डवों से युद्ध कर रहा हूँ। तू ज़रा आँखें खोलकर देख। क्या पाण्डवों को जीत लेना हँसीखेल है ?" फिर पितामह भीष्म ने ऐसी फुर्ती से घोर संग्राम किया कि चारों ओर घूम-घूमकर पाण्डव सेना काटने लगे। तब अर्जुन ने भी इतनी फुर्ती से अपने बाण चलाये कि उनके नाक में दम कर दिया, जिससे भीष्मजी की दाल न गली। इस दिन कौरव-सेना के एक सौ पूर्वी योद्धा, सात सौ हाथी और दश हज़ार रथ चूर्ण हो गये तथा चन्द्रकेश की सारी सेना कट गई। कौरवों के यहाँ हाहाकार मच गया और पाण्डवों के यहाँ खुशी मनाई गई। इसी प्रकार चौथे, पाँचवें और छठे दिन भी पाण्डवों की ही जीत हुई। दुर्योधन ने फिर भी भीष्म पर वही कलंक लगाया कि आप जी लगाकर नहीं लड़ते, इसीलिए हमारी हार हो रही है। सातवें दिन दुर्योधन ने स्वयम् व्यूह की रचना की। फल यह हुआ कि इस दिन भीमसेन ने दुर्योधन के कई भाइयों को मार डाला।

आठवें दिन फिर युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस दिन अर्जुन

के पुत्र इरावान् (जो नागकन्या उलूपी से उत्पन्न हुआ था) ने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया और शकुनि को छोड़ गान्धार देश (पेशावर) की सारी सेना को काट डाला। किन्तु अन्त में, आर्ष्यश्रृंग राक्षस द्वारा मारा गया। इस पर भीमसेन के पुत्र घटोत्कच ने बड़ा क्रोध किया। उसने अपनी राक्षसी सेना ले, बहुत से वीरों को मार दुर्योधन पर धावा बोल दिया। घटोत्कच ने एक ऐसी शक्ति चलाई, जिससे दुर्योधन बच ही नहीं सकता था; परन्तु बंगाल के राजा ने अपने प्राणों की परवा न कर अपना रथ आगे बढ़ा दुर्योधन को पीछे कर लिया। इससे उस प्राणघातक शक्ति द्वारा बंगनरेश ही मारे गये। इस दिन भी भीमसेन ने दुर्योधन के कई भाइयों को मार डाला और अर्जुन ने बहुत सी कौरव सेना का विध्वंस कर डाला। आज भी पाण्डवों की विजय और कौरवों की हार हुई।

दुर्योधन ने कर्ण से कहा कि प्रतिदिन मेरी सेना कटती चली जा रही है और पाण्डवों की ही विजय होती जा रही है। अब क्या करना चाहिए? कर्ण ने भी पितामह भीष्म पर ही दोष लगाया और कहा कि आप भीष्मजी से कह दें, वे प्रधान सेनापति का पद मुझे दे दें; फिर देखिए, मैं कैसा युद्ध करता हूँ। कर्ण की बात सुन उसी रात को दुर्योधन भीष्म पितामह के पास गया। उसने उनसे वही बात ज्यों की त्यों कह दी। यह सुन भीष्मजी ने दुर्योधन को बहुत फटकारा और कहा—"अरे दुष्ट! मैं तो अपने प्राणों की परवा न कर युद्ध करता हूँ, और तू बार-बार मुझे ही दोषी ठहराता है। तुझे पाण्डवों के द्वारा कई बार पराजित होना पड़ा है। जब गन्धर्वों ने तुझे क़ैद कर

लिया था, तव कर्ण आदि कहाँ गये थे? विराट् नगरी में कौरवों की जो दशा हुई थी, उसे क्या तू भूल गया? अव यहाँ से चला जा। मैं अपने कर्तव्य को नहीं भूलूँगा।" यह सुन दुर्योधन चुपचाप लौट आया।

नवें दिन पितामह भीष्म ने अपने जीने की आशा त्यागकर घोर संग्राम किया। पाण्डवों की बहुत सी सेना को काट डाला। उन्होंने अर्जुन और कृष्ण पर इतने वाण बरसाये कि वे खून से लथ-पथ हो गए। भीष्मजी की मंशा था कि आज मैं भगवान् कृष्ण की प्रतिज्ञा को भंग कर दूँगा, क्योंकि यदि भगवान् मेरे ऊपर वार करेंगे तो मैं कृतार्थ होजाऊँगा। अर्जुन अपने बूढ़े पितामह से अधिक प्रेम रखते थे। वह उन पर दयादृष्टि रखने के कारण उनके साथ युद्ध करने में मन नहीं लगाते थे। इससे युधिष्ठिर की सेना प्रति दिन कटती जाती थी। भगवान् ने अर्जुन के हृदय के भाव को जान, भीष्मजी से युद्ध करने के लिए सुदर्शन चक्र उठा लिया और वे रथ से कूद पड़े। उस समय भगवान् ने ऐसा भयंकर रूप धारण किया कि सारी सेना में हाहाकार मच गया। सभी बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगे—'भीष्म अव मरे, भीष्म अव मरे, अब पितामह की कुशल नहीं है।' भीष्मजी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'जनार्दन, आइए, आइए, मुझे मारिये। आपके द्वारा मारे जाने से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।' अर्जुन ने जब देखा कि मेरे लिए भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा की भी कुछ परवा नहीं की, तब वह झट रथ से कूद पड़े और हाथ जोड़कर भगवान् से विनय की कि महाराज! अपनी प्रतिज्ञा को भंग न कीजिए, लौट चलिए। अव मैं

पितामह भीष्म को अवश्य मारूँगा। यह सुन भगवान् लौट आये और रथ पर सवार हो उन्होंने घोड़ों का रास हाथ में ले ली। इ ने में शाम हो गई और युद्ध बन्द हो गया।

भीष्म के पास पाण्डव

युधिष्ठिर को इस बात का शोक हुआ कि पितामह भीष्म तो अपने प्राणों की भी परवा न कर युद्ध करते हैं और अर्जुन उनकी मान-मर्यादा की रक्षा करते हैं; इसी से मेरी सेना कटती चली जा रही है। जब तक भीष्म मारे न जायँगे, तब तक विजय की आशा नहीं की जा सकती। उन्होंने कृष्ण से अपना शोक प्रकट किया। कृष्ण ने कहा—"राजन्! आप दुखी न हों। यदि अर्जुन अपने पितामह से युद्ध नहा करना चाहते, तो मुझे आज्ञा दीजिए, मैं भीष्म को मारूँगा।" युधिष्ठिर ने कहा--भगवन्! जब आप ही मेरी ओर हैं तो मुझे कोई डर नहीं है। मेरी विजय अवश्य होगी। यदि आपकी प्रतिज्ञा टूट जायगी तो मेरे लिए बड़े दुःख की बात होगी। मेरी समझ में आता है कि पितामह भीष्मजी के पास चलें और उन्हीं से उनके विजय करने की सम्मति लें। वे हमें विजयी होने का आशीर्वाद भी दे चुके हैं।' सबोंने राजा युधिष्ठिर की सम्मति मान ला श्रीकृष्णजी को लेकर पाँचों पाण्डव उसी रात को महात्मा भीष्मजी के डेरे पर गये। भीष्मजी ने सबका यथोचित सत्कार किया। युधिष्ठिर ने कहा—"पितामह! आपके साथ युद्ध करने में हम लोगों को संकोच होता है और आप प्रतिदिन मेरी सेना को काटते चले जाते हैं। इसलिए आप ही बतलाइए कि हम लोग आप पर किस उपाय से

विजय प्राप्त करें।" भीष्मजी ने कहा—"युधिष्ठिर! सिवा कृष्ण और अर्जुन के मुझे कोई नहीं मार सकता। जब तक मैं जीवित रहूँगा, तब तक तुम्हें विजय की आशा भी न करनी चाहिए। अब मैं तुमको एक युक्ति बतलाता हूँ। द्रुपद-पुत्र शिखण्डी (जो पहले जन्म की स्त्री है) से मैं युद्ध नहीं करूँगा। आप लोग उसको मेरे सामने करके मुझे मार डालें। मैं तुमको अपने मारने की आज्ञा स्वयम् देता हूँ।" फिर सब लोग लौट आये। अर्जुन ने कहा—"मैं पितामह को नहीं मारूँगा। उन्होंने बचपन में मेरा बहुत लाड़-प्यार किया है। कृष्ण! बतलाओ, जिस महात्मा ने मेरा अब तक लालन-पालन किया है उस पर मेरा हाथ कैसे उठ सकेगा?" यह कह अर्जुन रोने लगे। तब भगवान् ने उनको समझाया कि "मारनेवाले तुम नहीं हो, तुम तो उनके निमित्तमात्र हो। हे अर्जुन! मारने और ज़िन्दा रखनेवाला तो कोई दूसरा ही है। अहंभाव त्यागकर अपने धर्मानुसार युद्ध कर।" अर्जुन ने कहा—"भगवन्! जब पितामह मेरे सामने पड़ेंगे, तब उनपर मेरा हाथ न उठेगा। इसलिए यह सम्भव है कि मैं शिखण्डी को उनके पास पहुँचा दूँ। भीष्म तो शिखण्डी पर वार करेंगे ही नहीं, इससे शिखण्डी ही उन्हें मार डालेगा।" फिर यही निश्चय हुआ।

भीष्म-पतन

दसवें दिन फिर पूर्ववत् संग्राम आरम्भ हुआ। भीष्मजी ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि या तो मैं आज वीरशय्या पर सो जाऊँगा या पाण्डवों की सारी सेना का विध्वंस कर दूँगा। इस प्रतिज्ञा को सुन कौरव सब प्रसन्न हुए और

पाण्डव घबरा गये। भीष्मजी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार घमासान युद्ध करने लगे। वे पके खेत की तरह पाण्डव-सेना को काटने लगे। इधर अर्जुन ने भी सोच लिया कि पितामह ने अपने मारने की आज्ञा तो स्वयं दे दी है, आज अवश्य ही उन्हें मारना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने भी उग्र रूप धारण कर लिया। उन्होंने बड़ी तेजी के साथ शिखण्डी के रथ को पितामह के पास पहुँचा दिया। उसकी ओर से अर्जुन ने भीष्मजी पर बाण छोड़ना आरम्भ किया। शिखण्डी को देखते ही भीष्मजी ने अपना धनुष-बाण रख दिया। जब भीष्मजी को बहुत कष्ट पहुँचा, तब वे रथ से उतर पड़े। अर्जुन ने देखा कि पितमह को मर्म-भेदी बाणों के न लगने से कष्ट हो रहा है, इसलिए उन्होंने झट अपने प्रचण्ड बाण चलाये। अर्जुन के बाणों से व्यथित होकर भीष्मजी पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके शरीर में इतने बाण चुभे हुए थे, जिससे उनका शरीर भूमि न छू सका और वे उसी बाणशय्या पर पड़ रहे। उन्होंने समझ लिया कि ये मर्मघाती बाण अर्जुन के सिवा दूसरे के हो ही नहीं सकते। सिवा गाण्डीव धनुष के छोड़े बाणों के मैं गिर नहीं सकता था। यह देख दोनों सेनाओं के सैनिकों ने युद्ध बन्द कर दिया। वे अपने-अपने हथियार रख भीष्मजी के चारों ओर खड़े हो गये। द्रोणाचार्यजी को जब भीष्म के पतन का समाचार मिला तो वे उनके वीरत्व और गुणों का स्मरण करके अपने रथ पर मूर्च्छित हो गये। फिर वे भी वहाँ आ पहुँचे। भीष्मजी ने दुर्योधन से कहा—"मेरा सिर पृथ्वी पर लटक रहा है, अतः कोई सिरहाना लगा दो।" दुर्योधन ने नर्म तकिये रखवा दिये। इस पर उन्होंने अर्जुन से

कहा—"बेटा ! मुझे दुर्योधन द्वारा दिये गये सिरहाने से सन्तोष नहीं हुआ, अतः तुम रण-स्थल के अनुकूल सिरहाना लगा दो।" अर्जुन ने पितामह के मन का भाव समझकर तीन बाण ऐसे मारे कि वे भीष्म के सिरहाने पृथ्वी में चुभ तकिये का काम देने लगे। फिर भीष्मजी ने जल पीने की इच्छा की ; क्योंकि विषैले बाणों की मार से गर्मी अधिक बढ़ गई थी। तब अर्जुन ने वरुणास्त्र द्वारा पाताल फोड़कर पानी निकाला और इस प्रकार पितामह की प्यास को शान्त किया। भीष्मजी अर्जुन के इन वीरोचित कार्यों पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने फिर भी दुर्योधन को समझाया कि राजन् ! सन्धि कर लो, पाण्डवों को आधा राज्य देकर भाई का सा बर्ताव करो। परन्तु उस दुष्ट ने पितामह की अन्तिम आज्ञा को भी नहीं माना। भीष्मजी ने कहा—"मुझे पिताजी का वरदान है, मृत्यु मेरी इच्छा पर निर्भर है। इस समय सूर्य दक्षिणायन हैं। इस समय की मृत्यु अच्छा नहीं समझी जाती, अतः जब सूर्य उत्तरायण होगा, तब मैं प्राण-त्याग करूँगा। तब तक यहीं पर पड़े-पड़े तुम लोगों के युद्ध-कौशल को देखूँगा। मृत्यु होने पर इसी शरशय्या के साथ मेरा दाह किया जाय।" यह सुन दोनों ओर की सेनाओं के सैनिक भी अपने-अपने डेरों में वापस चले आये। कर्ण ने जब सुना कि आज भीष्मरूपी सूर्य अस्त हो गया, आज धर्म और बहादुरी की पताका गिर गई, तब उनके हृदय को भारी चोट लगी। यद्यपि वे भीष्म से रुष्ट रहते थे, क्योंकि भीष्म ने कभी उनकी इज़्ज़त नहीं की थी, तो भी वह भीष्मजी के पास आये और यह कहकर उनके चरणों में गिर पड़े कि मैं वही सूतपुत्र हूँ, जिसका आप सदैव निरादर

करते थे। भीष्मजी ने उन्हें संतुष्ट किया और कहा—"कर्ण! मैं जानता हूँ कि तुम धर्मात्मा और वीर हो। हे पुत्र! तुम सूतपुत्र नहीं, किन्तु कुन्ती के पुत्र हो। मैंने हृदय से तुम्हारा कभी अनादर नहीं किया। किन्तु जब तुम दुर्योधन की अन्यायपूर्ण हाँ में हाँ मिलाते थे, तब तुमको धर्ममार्ग पर लाने की चेष्टा करने के कारण मैं तुम्हारा निरादर करता था। कर्ण! यदि तुम इस समय मेरे पास न आते तो मुझे दुःख होता। अब भी यदि तुम मेरा कहना मानो तो पाण्डवों से संधि कर लो।" कर्ण ने कहा—"हे पितामह! उत्तम पुरुषों की दो ही गति हैं—या तो योगाभ्यास कर ब्रह्माण्ड द्वारा प्राणों को निकाल दे या मैदान में सम्मुख युद्ध करके शस्त्र-अस्त्र की चोट लगने पर प्राणों को त्याग दे। पितामह! पाण्डव लोग बड़े धर्मात्मा और वीर हैं। मैं केवल अर्जुन के साथ युद्ध करने की अभिलाषा रखता हूँ। दुर्योधन के उपकार भी मेरे ऊपर बहुत हैं और मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि या तो मैं अर्जुन को मारूँगा या अर्जुन मुझे मारेगा। मेरी प्रतिज्ञा भी असत्य न होनी चाहिए। इसलिए मुझे अर्जुन के साथ युद्ध करने की आज्ञा दे दीजिए।" भीष्मजी ने यह सुन कर्ण को युद्ध करने की आज्ञा दे दी। तब कर्ण वहाँ से लौट आया।

जब सूर्य उत्तरायण हुआ तब इनकी मृत्यु हुई। इस प्रकार भारतवर्ष का अखण्ड ब्रह्मचारी और महाभारत का प्रमुख पात्र अपनी अचल कीर्ति छोड़कर स्वर्गगामी हुआ। यद्यपि वह बालब्रह्मचारी आज इस आर्यावर्त्त में नहीं हैं, तथापि उनकी अमरकीर्त्ति ज्यों की त्यों बनी है।

सेनापति द्रोण

भीष्मपितामह के शरशय्या ले लेने पर कौरवों के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि अब किसे सेनापति बनाना चाहिए ? कर्ण ने कहा--"महाराज ! यदि आप मुझे सेनापति बना दें तो मैं ऐसा घोर संग्राम करूँ कि एक भी पाण्डव ज़िन्दा न बचे।" यह सुन अश्वत्थामा ने क्रोधित होकर कहा—"जिसकी जाति का कोई ठिकाना नहीं, उसको सेनापति बनाने से क्षत्रियों का अपमान है। अस्तु, हे राजन् ! आप मुझे सेनापति बनाइए और मेरा पराक्रम देखिए।" भला, कर्ण यह अपमान कब सहनेवाला था। उसने तलवार खींचकर कहा—"मैं तुम जैसों को कुछ नहीं समझता। आओ मेरे साथ लड़कर अपना पुरुषार्थ दिखलाओ।" इस प्रकार रार बढ़ती देखकर दुर्योधन ने सबको शान्त किया और सर्वसम्मति से आचार्य द्रोण प्रधान सेनापति बनाये गये। राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से कहा कि आप राजा युधिष्ठिर के क़ैद कर लेने की कोशिश कीजिए। उन्होंने कहा—"राजन् ! अर्जुन अजेय है ; क्योंकि उसने तपस्या के द्वारा शिवजी से तथा स्वर्गलोक से दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये हैं। यदि आप अर्जुन को सँभाल लें और राजा युधिष्ठिर मेरे सामने से न भागें तो मैं उन्हें क़ैद कर आपके सिपुर्द कर दूँगा।" इधर पाण्डवों को भी यह समाचार मिल गया। दोनों ओर से घोर युद्ध होने लगा। द्रोणाचार्य ने बड़े-बड़े वीरों के छक्के छुड़ा दिये। उन्होंने पाण्डवों की सेना को परास्त कर राजा युधिष्ठिर को क़ैद करना चाहा। अर्जुन चौदह हज़ार महारथियों से अलग लड़ रहे थे। भगवान् कृष्ण चारों ओर

दृष्टि रखते थे। जब उन्होंने देखा कि द्रोण राजा युधिष्ठिर को नागफाँस से बाँधना ही चाहते हैं तो उन्होंने अर्जुन से कहा—"धर्मराज को बचाओ, द्रोण उन्हें क़ैद किया ही चाहते हैं।" यह सुन अर्जुन ने क्रुद्ध होकर एक ऐसा बाण चलाया कि द्रोण के हाथ से नागफाँस गिर पड़ा। अर्जुन ने फिर बहुत सी कौरव-सेना को काट डाला। अर्जुन के इधर आ जाने पर द्रोणाचार्य की दाल गलाये न गली। इतने में शाम हो गई और युद्ध बन्द हो गया।

दूसरे दिन त्रिगर्त्तराज सुशर्मा ने प्रतिज्ञा की कि आज मैं अर्जुन से युद्ध करूँगा और मैं उसे दूर निकाल ले जाऊँगा। अर्जुन ने राजा युधिष्ठिर को समझा दिया कि मैं त्रिगर्त्तदेश के क्षत्रियों से युद्ध करने जाता हूँ। आपकी रक्षा पांचालराज सत्यजित् करेंगे। यदि सत्यजित् पर भी आफ़त आ जाय, तो फिर आप रण-स्थल में न ठहरकर सीधे अपने डेरे पर चले आवें। निदान युद्ध छिड़ा। अर्जुन ने त्रिगर्त्तनरेश का बहुत-सी सेना को काट डाला और राजा सुशर्मा के भाई को भी मार डाला। जब त्रिगर्त्तदेश के क्षत्रिय युद्ध से भाग गये तो राजा भगदत्त ने अर्जुन का सामना किया। ये हाथी पर सवार थे। हाथी जैसा विकराल था, राजा भगदत्त भी वैसे ही वीर थे। घोर युद्ध होने लगा। अन्त में अर्जुन ने उस हाथी को मार राजा भगदत्त को भी मार डाला। इधर द्रोणाचार्य राजा युधिष्ठिर को पकड़ने की फ़िक्र में थे ही। उन्होंने पांचालनरेश सत्यजित् से ख़ूब युद्ध किया। पांचाल-नरेश बहुत देर तक बड़ी वीरता से लड़ते रहे, परन्तु अन्त में गुरु द्रोणाचार्य ने उन्हें मार डाला। यह देख राजा युधिष्ठिर गुरुजी के सामने से भाग आये। इतने में अर्जुन

भी वहाँ आ पहुँचे और सायंकाल होने से युद्ध बन्द हो गया।

अभिमन्यु-वध

तीसरे दिन फिर राजा युधिष्ठिर के पकड़ने की कोशिश की गई। इस दिन द्रोणाचार्यजी ने ऐसा व्यूह बनाया कि उसको तोड़ना अर्जुन के सिवा दूसरा कोई नहीं जानता था। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु उसके भीतर चला जाना तो जानता था, किन्तु लौटना नहीं जानता था। भीमसेन ने साहस दिलाया कि हम लोग साथ चलेंगे और तुम्हारे पीछे-पीछे व्यूह के अन्दर घुस जायँगे। फिर क्या मजाल कि शत्रु लोग कुछ कर सकें। हम सबको मार गिरावेंगे। यह सुन राजा युधिष्ठिर ने भी आज्ञा दे दी। वह सोलह वर्ष का वीर बालक इतना बड़ा काम करने को तैयार हो गया। यद्यपि उसके सारथि ने उसको मना किया, तथापि उसने अपने चचा की आज्ञा को टालना उचित नहीं समझा। उस व्यूह का द्वार, राजा जयद्रथ की रक्षा में था। अभिमन्यु अपने पिता अर्जुन ही के लगभग बहादुर था। वह तो जयद्रथ को जीतकर व्यूह के भीतर धँस गया; परन्तु जयद्रथ ने भीमसेन आदि को ऐसी वीरता से अन्दर जाने से रोका कि कोई भी वीर भीतर न घुस सका। जयद्रथ की गहरी मार ने पाण्डवों को परास्त कर दिया; क्योंकि उसे शिवजी का यह वरदान था कि एक दिन तुम अर्जुन के सिवा चारों पाण्डवों को जीत सकोगे। भीतर प्रवेश कर सुभद्रानन्दन अभिमन्यु ने बड़ी बहादुरी दिखलाई। वह मारते-काटते व्यूह के दूसरे फाटक पर जा पहुँचा। इस

फाटक के रक्षक थे द्रोणाचार्य। इनसे भी अभिमन्यु की बड़ी कड़ी लड़ाई हुई। अन्त में इस वीर बालक ने उनको भी विचलित कर दिया। तीसरे फाटक के रक्षक थे कर्ण। उन्होंने अभिमन्यु को सम्बोधित करके कहा—"अर्जुन बड़ा कायर है, इसी लिए स्वयम् न आकर इस बालक को व्यूह तोड़ने के लिए भेज दिया है।" यह सुन वीर अभिमन्यु को क्रोध आ गया और उसने ललकारकर कहा—"जिसे तुम बालक समझते हो, वह कौरव-सेना का घालक है।" इतना कह वह कर्ण से घोर युद्ध करने लगा। अन्त में अभिमन्यु के बाणों की मार से कर्ण भी मूर्च्छित हो गये। वह वीर बालक मारता-काटता चौथे फाटक पर जा पहुँचा। इस फाटक के रक्षक थे कृपाचार्य। यहाँ भी घमासान युद्ध हुआ। अभिमन्यु ने एक ऐसा बाण चलाया, जिससे कृपाचार्यजी के धनुष की डोर कट गई। वह सिंहशावक सेना को रौंदता हुआ पाँचवें फाटक पर जा पहुँचा। यहाँ इस वीर बालक का अश्वत्थामा से सामना हुआ। उस वीर की यहाँ भी विजय हुई। अब वह छठे फाटक पर जा पहुँचा। यहाँ भूरिश्रवा से लोहा लेना पड़ा। सबकी तरह इन्हें भी परास्त कर वीर अभिमन्यु गर्जता हुआ सातवें फाटक पर जा धमका। यहाँ पर दुर्योधन अनेक महारथियों और सेना के साथ डटा खड़ा था। घमासान युद्ध होने लगा। बड़े-बड़े महारथियों को उसने व्याकुल कर दिया। कौरवों की बहुत बड़ी सेना को काट डाला। अकेले ही चारों ओर घूम-घूमकर मारे बाणों के उसने सबके नाक में दम कर दिया। सब महारथी घबरा गये कि यह अर्जुन का पुत्र यमराज के तुल्य है। आज यह अकेला ही हम सबको मार डालेगा;

क्योंकि इसने बहुत सी सेना को मार खून की नदी बहा दी है। कोई भी वीर घायल हुए बिना नहीं बचा और इस बालक की देह में एक भी बाण नहीं चुभता। द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, दुर्योधन और शल्य आदि सभी वीर घबरा गये। अभिमन्यु की मार से किसी के होश ठिकाने नहीं रहे। अभिमन्यु के बाणों की मार से घबराकर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से पूछा कि हम किस प्रकार विजयी हो सकते हैं ? राजा दुर्योधन को उदास देख और उसके विनता करने पर उन्होंने सबको बतला दिया कि "यह अभेद्य कवच पहने हुए है, शस्त्र-अस्त्रों की चोट इस पर असर नहीं करेगी। साथ ही अभिमन्यु अपने पिता के तुल्य बाण-विद्या में विशारद है, जब तक इसके हाथों में धनुष-बाण रहेगा, तब तक इसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।" यह सुन अनेक महारथी एक साथ अभिमन्यु पर अस्त्र-शस्त्र चलाने लगे। अभिमन्यु भी सबका उत्तर अपने बाणों द्वारा बड़ी बहादुरी से देता जाता था। अन्त में कर्ण के एक तीक्ष्ण बाण से उसके धनष की डोर कट गई। तब अभिमन्यु ने शक्ति द्वारा कितने ही वीरों को मार डाला। अन्त में जब शक्ति भी हाथ से जाती रही तो उसने रथ का खम्भा उखाड़कर हज़ारों वीरों को मौत के घाट उतार दिया। जब अत्याचारी कौरवों ने खम्भे को भी काट दिया तो वह रथ के पहिये से ही मार करने लगा। उस समय वह वीर बालक चारों ओर घूम-घूमकर इस प्रकार कौरव-सेना का संहार कर रहा था, जैसे विष्णु भगवान अपने सुदर्शन चक्र द्वारा राक्षसी सेना का संहार कर रहे हों। अन्त में रथ का पहिया भी टूट गया। अभिमन्यु को निरस्त्र

और असहाय देखकर, दुःशासन के पुत्र ने उसके सिर पर इतने ज़ोर से गदा का प्रहार किया कि वह वीर बालक अक्षय कीर्ति को छोड़ स्वर्गगामी हुआ। धन्य है सुभद्रा और अर्जुन को, जिन्होंने ऐसा वीर पुत्र उत्पन्न किया।

वीर अभिमन्यु के मारे जाने पर पाण्डवों में सन्नाटा छा गया। स्त्रियों का रोना सुनकर पत्थर भी पिघला जाता था। जब त्रिगर्त्तराज को परास्त कर श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन घर लौटे तो उन्होंने देखा कि सब भाई रो रहे हैं, यह देखकर वह घबरा गये और पुत्र के मरने का समाचार सुनते ही मूर्च्छित हो गये। अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा ने पति के साथ सती होना चाहा; किन्तु श्रीकृष्णजी ने उसे यह कहकर रोक दिया कि तेरे गर्भ में पुत्र है जो इस पुण्यभूमि भारत का महापराक्रमी चक्रवर्ती सम्राट् होगा, इसलिए तेरा सती होना उचित नहीं। अर्जुन पुत्रशोक के कारण लड़ना छोड़ वन जाने को तैयार हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि "यह संसार ही असार है। इसमें न कोई किसी का पिता है और न कोई किसी का पुत्र। यह संसार माया का जाल है, इस झूठे संसार में वे ही मनुष्य नहीं फँसते जो ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं।" इस प्रकार ज्ञानोपदेश से अर्जुन को कुछ सन्तोष हुआ और वे फिर युद्ध करने को तैयार हो गये। उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि कल सूर्य के अस्त होने से पहले ही यदि मैं जयद्रथ को न मार डालूँ तो चिता लगाकर भस्म हो जाऊँगा। यह कह अर्जुन ने अपने गाण्डीव धनुष की डोरी को बड़े ज़ोर से बजाया। इस प्रतिज्ञा पर कृष्ण ने अपना शंख बजाया और सभी सिंहनाद करने लगे

तथा मारू बाजा बजने लगा। इस प्रतिज्ञा को सुन कौरव-सेना में सन्नाटा छा गया। राजा जयद्रथ घबरा गया और भागने की तैयारी करने लगा। राजा दुर्योधन और द्रोणाचार्य ने उसे धीरज दिया और कहा कि हम तुम्हारी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर देंगे। यह सुन उसको कुछ सन्तोष हुआ और वह कौरव-सेना में ठहरा रहा।

जयद्रथ-वध

चौथे दिन, बड़े प्रातःकाल से, द्रोणाचार्यजी ने शकट-व्यूह की रचना की और उसके भीतर भी स्थान-स्थान पर कई एक व्यूह बना दिए। राजा जयद्रथ को सबसे पीछे छः कोस की दूरी पर कर दिया और उसकी रक्षा के लिए एक लाख घोड़े, साठ हज़ार रथ, चौदह हज़ार हाथी और इक्कीस हज़ार पैदल सेना के साथ कर्ण आदि बड़े-बड़े छः वीरों को नियुक्त कर दिया। इस दिन अर्जुन ने ऐसा विकराल रूप धारण किया कि कौरवों की बहुत-सा सेना को काट डाला। उन्होंने गुरु द्रोण से व्यूह के अन्दर प्रवेश करने की आज्ञा माँगी; परन्तु जब वे किसी प्रकार राज़ी नहीं हुए तो थोड़ी देर उनसे युद्ध करके, कृष्णजी की बुद्धिमत्ता से, उनकी परिक्रमा कर वह बड़ा फुर्ती से भागकर भीतर चले गये। गुरुजी ने कहा, अर्जुन! पीठ दिखाकर कहाँ भागा जाता है? तेरी तो प्रतिज्ञा थी कि मैं शत्रु को कभी पीठ न दिखाऊँगा। अर्जुन ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, महाराज! आप हमारे गुरु हैं, शत्रु नहीं।

अर्जुन ने अपने अस्त्र-शस्त्रों की मार से सारी कौरव-सेना को तितर-बितर कर दिया। यह देख, राजा दुर्योधन के

होश उड़ गये। उसने आचार्य द्रोण से कहा, महाराज! यदि मैं पहले से जानता कि आप जयद्रथ की रक्षा न कर सकेंगे तो उसे मैं भागने से न रोकता। अब अर्जुन निकट आ गया है; वह उसे अवश्य ही मार डालेगा। तब गुरु द्रोण ने राजा दुर्योधन को, मंत्रों के द्वारा, अभेद्य कवच पहनाकर कहा कि अब तुम स्वयं जाकर उसकी रक्षा करो। वह अकड़ता हुआ जयद्रथ की रक्षा करने के लिए उधर चल पड़ा। इधर अर्जुन को, बड़े-बड़े महारथियों को जीतने में दोपहर हो गई। मारे थकावट और प्यास के उनके घोड़े भी धीरे-धीरे चलने लगे। तब कृष्ण के कहने से उसी रणभूमि के बीच अर्जुन ने बाणों का मन्दिर बना दिया और रथ से उतर पाताल फोड़कर पानी निकाला। कृष्ण ने घोड़े खोल दिए, उन्हें पानी पिलाया, उनकी देह से चुभे हुए बाणों को निकाल ओषधि लगाकर भली भाँति मला। इतना करने पर जब घोड़े फिर ज़ोरदार हो गये तब उन्हें रथ में जोतकर दोनों सवार हुए और जयद्रथ की ओर बढ़े। कृष्णजी शत्रुओं की सेना में घोड़ों को हवा की तरह हाँकते चले जाते थे और अर्जुन दोनों ओर तथा सामने के वीरों को काटते-छाँटते चले जाते थे। जब दुर्योधन से युद्ध होने लगा तो अर्जुन ने उसे युक्ति से परास्त कर दिया। इधर राजा युधिष्ठिर की रक्षा धृष्टद्युम्न, सात्यकि और भीमसेन कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर ने देखा कि अब सूर्यास्त होने में थोड़ी ही देर है तो घबराकर सात्यकि को अर्जुन की सहायता के लिए भेज दिया। अधिक देर होने पर भीम भी उधर ही चल पड़े जिधर अर्जुन आदि गये थे। ये दोनों बड़ी-बड़ी मुसीबतों को

पार करते हुए अर्जुन के निकट जा पहुँचे। यादव वीर सात्यकि का भूरिश्रवा के साथ घोर संग्राम हुआ। भूरिश्रवा ने सात्यकि के सारथि और घोड़ों को मार डाला। फिर चोटी पकड़ ज्यों ही उसने तलवार से सात्यकि का शिर काटना चाहा, त्यों ही कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि सात्यकि को बचाओ। अर्जुन ने तुरन्त भूरिश्रवा के दोनों हाथ काट डाले। फिर सात्यकि ने उसका शिर काट लिया। अर्जुन को यह बात पसन्द नहीं आई; क्योंकि मरे को मारना वीरों का काम नहीं है। इधर भीमसेन का कर्ण से युद्ध छिड़ गया। भीम बल में तो कर्ण से अधिक थे, परन्तु अस्त्र-विद्या में वे कर्ण का सामना नहीं कर सकते थे। घमासान लड़ाई होने लगी। वे दोनों इस प्रकार लड़ रहे थे मानों दो महाभयंकर हाथी लड़ रहे हों। कर्ण के बाणों की मार से भीम मूर्छित होकर गिर पड़े और जब इनके पास रथ, घोड़े, सारथि और हथियार कुछ भी न रह गया तो लाचार हो वे मरे हुए हाथियों की लोथों में जाकर छिप रहे। कर्ण ने इस समय माता कुन्ती के वचन को याद करके भीम को नहीं मारा। परन्तु उन्हें खींचते हुए इस प्रकार बहुत से दुर्वचन कहे—"भीम, तुझे युद्ध का यह मैदान शोभा नहीं देता। अरे बैल, यह रसोई बनाना या बहुत सा भोजन कर लेना नहीं है।" इतने में भीम सचेत हो फिर घमासान युद्ध करने लगे।

इधर अर्जुन का युद्ध उन महारथियों से छिड़ा हुआ था, जिनके पीछे जयद्रथ था। अब दिन बहुत थोड़ा रह गया था। कृष्ण ने सोचा—'अब बिना कोई युक्ति किए जयद्रथ को मारना कठिन है, इसलिए मैं अपने योगबल से सूर्य को छिपाये लेता हूँ।" यह कह उन्होंने अपनी अलौकिक

शक्ति से ऐसा अन्धकार कर दिया मानों सन्ध्या हो गई हो। शत्रुओं ने समझा कि सूर्य अस्त हो गया। अब अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चिता में आप ही जल मरेगा। युद्ध बन्द हो गया। अर्जुन भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चिता पर खड़े हो गये तो कौरवों ने जयद्रथ को उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया और कहा—'शत्रु अपने आपको ही भस्म करे, इससे बढ़कर संसार में और क्या सुख हो सकता है ?' जयद्रथ भी अर्जुन को फटकारने लगा और उनका अपमान करने लगा। इतने में सूर्य निकल आया और वैसा ही दिन हो गया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इशारा किया। अर्जुन ने एक बाण से तो जयद्रथ का शिर काट दिया और दूसरे बाण से उसी शिर को उसके पिता वृद्धसत्र की गोद में गिरा दिया। जयद्रथ के पिता उसी कुरुक्षेत्र में सन्ध्योपासन कर रहे थे। उन्होंने यह वरदान पाया था कि जयद्रथ का शिर जिसके द्वारा गिरेगा, उसके शिर के सौ टुकड़े हो जायँगे। यह बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले ही समझा दी थी। अस्तु, वह जयद्रथ का शिर वृद्धसत्र की गोदी से ही गिरा, इसलिए वृद्धसत्र के शिर के ही सौ टुकड़े हो गये। कौरवों को अब ज्ञात हो गया कि यह सब कृष्ण की ही माया थी। पाण्डवों के यहाँ खुशी के बाजे बजने लगे और कौरवों में कुहराम मच गया। इस प्रकार भक्तों के हितकारी भगवान् कृष्ण ने अपने भक्त और मित्र अर्जुन की प्रतिज्ञा को खुब ही पूरा कराया।

द्रोण को मुक्ति-लाभ

जयद्रथ के मारे जाने पर राजा दुर्योधन घबरा गया।

उसने आचार्य द्रोण से कहा कि आप सदा पाण्डवों का ही पक्षपात करते रहते हैं। यह सुन द्रोणाचार्यजी चिढ़ गये। उन्होंने कहा—"अरे दुष्ट! तेरे ही कारण यह नरहत्या हो रही है। मैं तो अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर युद्ध करता हूँ। फिर भी तू बार-बार मुझी को दोषी ठहराता है। यदि कुछ पौरुष रखता है तो स्वयं युद्ध कर।" यह सुन दुर्योधन ने सेना को दो भागों में बाँट दिया। सेना का एक भाग द्रोणाचार्य की रक्षा में कर दिया और शेष सेना से कर्ण को अपने साथ ले, रात ही में युद्ध करने लगा। इस रात कर्ण ने घोर संग्राम किया। कर्ण ने सोच लिया था कि आज मैं, इन्द्र की दी हुई शक्ति से अर्जुन को अवश्य मार डालूँगा। भगवान् श्रीकृष्ण उसके मन की बात जान गये। उन्होंने अर्जुन को उसके साथ युद्ध करने से मना कर दिया और भीमसेन के पुत्र घटोत्कच राक्षस को उससे युद्ध करने को भेजा। भीमपुत्र भी बड़ा पराक्रमी था। उसने कौरवों के अनेक वीरों को यमधाम पहुँचा दिया। उसके बल और पराक्रम को देख कर्ण भी घबरा गया। अन्त में सबने कर्ण से कहा—"तुम अपनी प्रबल शक्ति द्वारा घटोत्कच को मार डालो।" तब लाचार होकर कर्ण ने वही, इन्द्र की दी हुई, अमोघ शक्ति छोड़ी, जिसके लगने से घटोत्कच मर गया। घटोत्कच के मरने से पाण्डवों को बड़ा दुःख हुआ; किन्तु कृष्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अर्जुन से कहा कि अब हमारा उद्योग सफल हो गया। अर्जुन! अब तुम कर्ण को सहज ही में मार सकोगे।

इसके पीछे, थोड़ी देर के लिए, युद्ध बन्द हो गया। उसी

रणभूमि में दोनों ओर की सेनाएँ आराम करने लगीं। पिछली रात जब चन्द्रोदय हुआ, तब फिर युद्ध आरम्भ हो गया। गुरु द्रोण ने भी इस रात बड़ा विकराल रूप धारण किया। वे अपने प्राणों की परवा न कर बड़ी वीरता से घमासान युद्ध करने लगे। पांचालनरेश की सारी सेना को उन्होंने काट डाला; राजा द्रुपद और राजा विराट् को भी मार डाला। इसी प्रकार उन्होंने बड़े-बड़े महारथियों और शूरवीरों को मृत्यु के मुख में झोंक दिया। द्रोणाचार्यजी भी लड़ते-लड़ते थक गये थे। अस्तु, उन्होंने अब ब्रह्म-अस्त्र आदि दिव्य-अस्त्रों का प्रयोग करना उचित समझा। उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि आज ही मैं ब्रह्मास्त्र से पाण्डवों को मार गिराऊँगा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे अपने अस्त्र-शस्त्रादि से सज्जित होकर मैदान में आ डटे और बड़ी भयंकर लड़ाई लड़ने लगे। उस समय द्रोणाचार्य के तेज से पृथ्वी हिल उठी, आकाश जलने लगा और सब लोक काँप उठे। सभी ने समझा कि आज द्रोणाचार्यजी अपने ब्रह्मबल से प्रलय कर देंगे। इस लड़ाई में अनेक महारथी धड़ाधड़ गिरने लगे। यह देख श्रीकृष्णजी ने कहा—"द्रोण के हाथों में जब तक अस्त्र-शस्त्र रहेंगे, तब तक संसार की कोई शक्ति उन्हें परास्त नहीं कर सकती। बिना युक्ति के आचार्यजी को जीत लेना कठिन ही नहीं, असम्भव मालूम होता है। इसलिए राजनीति के अनुसार सबसे अच्छा उपाय यह है कि कोई जाकर उनसे यह कह दे कि युद्ध में अश्वत्थामा मारा गया। पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर वे विकल हो हथियार डाल देंगे। उसी समय वे मारे जा सकते हैं, अन्यथा

नहीं।" यह सुन भीम दौड़ पड़े और बार-बार चिल्लाकर कहने लगे कि "अश्वत्थामा मारा गया।" भीम की बातों पर गुरुजी को विश्वास नहीं हुआ, अतएव श्रीकृष्णजी ने युधिष्ठिर से कहा—"तुम्हें लोग सत्यवादी और धर्मात्मा समझते हैं, अतएव तुम्हीं कह दो कि अश्वत्थामा मारा गया।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"चाहे संसार भर का धन मुझे कोई क्यों न दे दे, मैं इस तुच्छ जीवन के लिए झूठ कभी न बोलूँगा। कपट से किसी को शस्त्र-रहित करके मारना कहाँ का न्याय है?" श्रीकृष्ण ने कहा—"राजा युधिष्ठिर! जो मैं कहता हूँ, वह तुम्हें करना होगा। बाद में मैं तुम्हारी शंकाओं का समाधान कर दूँगा। असल में अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया है, अतः तुम पहिले तो ज़ोर से कहना—'अश्वत्थामा मारा गया' फिर धीरे से कहना 'नर या कुञ्जर।' युधिष्ठिर श्रीकृष्णजी की बात को न टाल सके। उनके आदेश के अनुसार कहने के लिए तैयार हो गये। गुरुजी के पूछने पर युधिष्ठिर ने उनसे कहा—"अश्वत्थामा मारा गया, नर या कुञ्जर (हाथी)" इन्होंने अन्तिम दो शब्दों को इतने धीरे से कहा कि द्रोणाचार्यजी न सुन पाये; क्योंकि नीतिज्ञ श्रीकृष्ण ने इसी बीच में अपना शंख बजा दिया। आचार्यजी को युधिष्ठिर पर पूरा-पूरा विश्वास था कि ये झूठ न बोलेंगे। इस दोष से धर्मराज युधिष्ठिर का रथ, जो कि पृथ्वी से पाँच अंगुल ऊपर चलता था, अब पृथ्वी ही पर चलने लगा। यह प्रलयकांड देख विश्वामित्र, भरद्वाज, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु आदि अनेक ऋषि और महर्षि वहाँ आये। इन लोगों के आगे-

आगे अग्निदेव भी थे। ये लोग ब्राह्मणश्रेष्ठ द्रोणाचार्य को ब्रह्मलोक ले जाने के लिए कहने लगे कि "द्विजवर्य ! क्रोध को शान्त करिए। आप अपने ब्राह्मणधर्म का स्मरण कीजिए। अब आपका मृत्यु-समय आ गया है।" तब द्रोणाचार्य ने युद्ध छोड़ हथियार रख दिए और उसी रथ पर योगाभ्यास द्वारा अपने प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ा लिया। उन्होंने पुत्र-शोक से व्याकुल होकर तथा ब्रह्मर्षियों के कहने से अपने प्राण योगबल से ब्रह्माण्ड फोड़कर निकाल दिये। आचार्यजी ब्रह्मलोक पहुँच गये। इस समय उनकी अवस्था ८५ वर्ष की थी; परन्तु वे १६ वर्ष के नवयुवा-सरीखे थे। द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न (जिसके हाथ द्रोणाचार्यजी की मृत्यु बदी थी) बड़ी बहादुरी के साथ आचार्यजी से लड़ रहा था। जब आचार्यजी ने लड़ना छोड़ दिया और उनके शरीर से प्राण निकल चुके, तब उसने उनके रथ पर चढ़, चोटी पकड़ उनका शिर काट डाला। अर्जुन ने उसे ऐसा करने से मना किया; किन्तु वह उस निंदित कर्म करने से पीछे न हटा। इस पर अर्जुन ने उसे बहुत सी गालियाँ दीं, और राजा युधिष्ठिर से भी कहा कि आपने गुरुजी से झूठ बोलकर अच्छा काम नहीं किया।

गुरुपुत्र अश्वत्थामा दूसरी ओर युद्ध कर रहे थे। जब उन्हें अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो मारे क्रोध के वह आगबबूला हो गये। धृष्टद्युम्न को मारने की प्रतिज्ञा कर उन्होंने घोर संग्राम किया। उन्होंने दिव्यास्त्रों का प्रयोग करना भी आरम्भ कर दिया और अर्जुन आदि सभी पाण्डवों को भस्म करने के लिए नारायण अस्त्र छोड़ा। उस अस्त्र से आकाश जलने लगा, नाना प्रकार के शस्त्र-अस्त्र

निकलने लगे और पाण्डव-सेना का संहार होने लगा। इससे पाण्डव-सेना में हाहाकार मच गया। तब अर्जुन सहित भगवान् कृष्ण झट रथ से कूद पड़े और उन्होंने सब को आज्ञा दी कि अपनी-अपनी सवारियों से उतर नारायणास्त्र को हाथ जोड़ो। सबों ने यही किया, तब नारायणास्त्र शान्त हो गया। फिर अश्वत्थामा ने और कितने ही दिव्यास्त्र चलाये; परन्तु जब कृष्ण और अर्जुन के सामने उनका एक भी उपाय न चला तो अन्त में युद्ध बन्द कर दिया गया।

सेनापति कर्ण

द्रोणाचार्य के मरने पर वीरवर कर्ण प्रधान सेनापति हुए। इन्हें सेनापति का गौरव केवल दो दिनों के लिए प्राप्त हुआ था, किन्तु इतने ही समय में इन्होंने प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया। पहले दिन कर्ण ने मकरव्यूह बनाया, जिसके मुक़ाबले में अर्जुन ने अर्धचन्द्राकार व्यूह की रचना की। कौरवों और पाण्डवों की सेना के बीच घोर संग्राम हुआ। इस दिन कर्ण ने नकुल को ऐसा परास्त किया कि उनके पास रथ, घोड़े, सारथि और हथियार आदि कुछ भी न रह गये। जब वह भागने लगे तो उनके गले में धनुष डाल उन्हें कर्ण ने खींच लिया। यदि वे चाहते तो नकुल को मार डालते, परन्तु माता कुन्ती के वचन को याद करके उन्हाने उसे छोड़ दिया। इतने में संध्या हो गई और युद्ध बन्द हो गया।

दूसरे दिन कर्ण ने राजा दुर्योधन से कहा कि राजन्! आज मेरा अन्तिम युद्ध होगा। आज या तो मैं ही अर्जुन

को मार डालूँगा या अर्जुन ही मुझे रणशय्या पर सुलादेगा। राजन्! यद्यपि अर्जुन ने दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये हैं, तथापि बुद्धि, साहस और धर्म आदि प्रत्येक बात में मैं उससे अधिक हूँ। उसके पास अग्निदेवता का दिया हुआ उत्तम रथ है, हवा से बात करनेवाले तेज़ घोड़े हैं, दो तरकस ऐसे हैं, जो बाणों से कभी ख़ाली नहीं होते और सबसे अधिक भगवान् कृष्ण उसके सारथि हैं। मेरे पास भी परशुरामजी का दिया हुआ वह धनुष है, जिससे उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया था। यह मेरा धनुष किसी दशा में भी अर्जुन के गाण्डीव धनुष से कम नहीं है। मेरे पास परशुरामजी के दिए हुए अनेक दिव्यास्त्र भी हैं। हाँ, तरकस मेरे पास वैसे नहीं; इसलिए हे राजन्! मेरे रथ के पीछे-पीछे बाणों से भरे हुए कई छकड़े कर दीजिए। मेरे पास सारथि भी उतना अच्छा नहीं है, जो कृष्ण की बराबरी कर सके। इसलिए मद्रनरेश शल्य को मेरा सारथि होने के लिए राज़ी कीजिए। महाराज शल्य सारथि के काम में कृष्ण से कम नहीं हैं। यदि यह प्रबन्ध आप कर दें तो मैं अर्जुन को अवश्य ही मार डालूँगा। राजा दुर्योधन ने कर्ण की बात मान ली और उसने वैसा ही प्रबन्ध कर दिया। पहले तो महाराज शल्य इस बात से चिढ़ गये और अपने घर जाने को तैयार हो गये। किन्तु दुर्योधन के खुशामद करने और समझाने पर वे किसी प्रकार राज़ी हो गये। उन्होंने कहा, चूँकि आप मुझे कृष्ण से अधिक चतुर और गुणवान् समझते हैं, इसलिए मैं कर्ण का सारथि बनने को तैयार हूँ। परन्तु फिर भी मैं एक प्रतिज्ञा आपसे कराये लेता हूँ कि युद्ध के समय में कर्ण को जो कुछ कहूँगा, उसे

वह सब सहना पड़ेगा। दुर्योधन ने जब इसे स्वीकार कर लिया, तब मद्रराज शल्य सारथि हुए। मद्रराज को राजा युधिष्ठिर की बात स्मरण थी कि युद्ध में मुझे कर्ण की तेजोहानि करनी है, इसी से उन्होंने यह प्रतिज्ञा करा ली थी।

अब युद्ध छिड़ गया। भीमसेन का दुःशासन के साथ, अर्जुन का संशप्तक क्षत्रियों से, जिनका रक्षक यादव कृतवर्मा था, धृष्टद्युम्न, सात्यकि और राजा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों का कर्ण के साथ युद्ध होने लगा। कर्ण ने बाणों की मार से राजा युधिष्ठिर को पीड़ित कर दिया, इसलिए वे फिर युद्ध न कर सके और डेरे पर चले आये। जब अर्जुन को मालूम हुआ कि राजा युधिष्ठिर बहुत घायल हो गये हैं तो वह युद्ध न कर, कृष्ण के साथ राजा के कुशल समाचार पूछने के लिए चले आये। राजा युधिष्ठिर ने कहा कि अर्जुन, तुम कर्ण को मार आये हो, इससे अब मेरी सारी पीड़ा दूर हो गई। अर्जुन ने उत्तर दिया कि महाराज! कर्ण तो अभी जीवित है। मैं उससे युद्ध करने जा ही रहा था कि राह में आपकी ख़बर मिली, इसलिए यहाँ चला आया। अब आज्ञा दीजिए, मैं उसे मार आऊँ। 'कर्ण अभी ज़िन्दा है', यह सुन राजा को मार्मिक दुःख हुआ। उन्होंने अधीर और क्रोधित होकर अर्जुन से कहा कि तुम बड़े डरपोक और कायर हो। अगर तुम कर्ण को नहीं मार सकते तो अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे को दे दो।

अर्जुन-युधिष्ठिर-प्रतिवाद

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई मुझे ऐसे कड़वे वच

कहेगा, उसका मैं शिर काट डालूँगा। इससे क्रोधित होकर उन्होंने राजा युधिष्ठिर का शिर काटने के लिए मियान से तलवार खींच ली। यह देख कृष्ण ने अर्जुन को डाँटा। कृष्ण ने कहा, "अरे अर्जुन, तुझे धिक्कार है, जो तूने अपने बड़े भाई को मारने के लिए हाथ उठाया!" अर्जुन ने कहा कि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई मुझसे यह कहेगा कि "अपना गाण्डीव धनुष दूसरे को दे दे, तो उसका शिर काट लूँगा।" भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तू बड़ा नादान है। तुझे देश, काल और पात्र का ज्ञान नहीं। अरे जिसका कभी असत्कार न किया हो, उसका एक बार अपमान करना ही मार डालने के बराबर होता है। तब राजा तो तेरे बड़े भाई हैं।"

कृष्ण का शान्ति-दान

भगवान् के समझाने पर अर्जुन को ज्ञान हुआ। उन्होंने पश्चात्ताप किया। फिर पहले तो उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजा युधिष्ठिर को ऐसे कठोर और अनुचित वचन कहे, जैसे उन्होंने कभी नहीं कहे थे और फिर वे रोते हुए उनके पैरों में गिर पड़े। अर्जुन के कठोर वाक्यों से राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"अर्जुन! आ, तू मेरा सिर काट डाल। मैं जाता हूँ; अन्त तक वन में रहकर तपस्या द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करूँगा। मैं अब तेरी विजय-लक्ष्मी का भोग नहीं करूँगा।" भगवान् ने राजा युधिष्ठिर को समझाया और अर्जुन की प्रतिज्ञा बतलाकर शान्त किया। तब दोनों भाई, रोते हुए, परस्पर बड़े प्रेम से मिले और भगवान् कृष्ण को धन्यवाद देते हुए

कहा कि महाराज ! हम लोगों पर जब-जब आपत्ति आती है, तब-तब आप ही उससे हमको उबारते हैं। इन उपकारों के ऋणी हम लोग सदा ही रहेंगे। अब राजा ने अर्जुन को कर्ण के मारने की आज्ञा दे दी और वे कृष्ण के साथ रण-भूमि में आये।

दुःशासन-वध

यहाँ भीमसेन और दुःशासन में मल्ल-युद्ध हो रहा था। दोनों ही बड़े बलवान् थे। परस्पर दाँव-पेंच से गदा-युद्ध कर रहे थे। भीम को अपनी की गई प्रतिज्ञा याद आ गई। जिस समय दुःशासन द्रौपदी की दुर्दशा कर रहा था, उसी समय भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं दुःशासन को मारकर उसका छाती का रक्तपान करूँगा। भीम के सामने वह चीर-हरण का दृश्य उपस्थित हो गया। भीम की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। दाँतों से होठों को चबाते हुए उछलकर भीम ने उसके सिर पर इतने ज़ोर से गदा मारी कि उसकी चोट से वह बेचारा ज़मीन पर गिर पड़ा और उसी क्षण उसके प्राणपखेरू उड़ गये। अब भीम ने उसकी देह पर चढ़, तलवार की नोक से छाती को चीर डाला। फिर उन्होंने उसका रक्त अञ्जलि में ले, दुर्योधन आदि कौरवों को दिखलाते हुए पी लिया और कहा कि सभा के बीच में द्रौपदी के बाल पकड़नेवाले इस दुष्ट को मार-कर आज मैंने अपनी एक प्रतिज्ञा पूरी की। अब दुर्योधन पशु अभी बाकी है। इसकी भी जाँघ तोड़ दूसरी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा।

कर्ण-वध

एक ओर तो दुःशासन और भीम की लड़ाई छिड़ी थी, दूसरी ओर कर्ण का पुत्र अर्जुन से युद्ध करने लगा। भला, अर्जुन के सामने वह क्या टिक सकता था? कर्ण का पुत्र होने के कारण वह वीर इतना साहसी था कि इच्छा न होते हुए भी अर्जुन को उससे लड़ना ही पड़ा। अन्त में यमराज ने उसे अपने पास बुला ही तो लिया। पुत्र की मृत्यु का समाचार सुन कर्ण बहुत दुखी हुए और पाण्डवों का नाश कर देने के लिए दूने उत्साह से युद्ध करने लगे। कर्ण की कभी हार न होती। पर इनके साथ अनेक युक्तियों और उपायों से काम लिया गया। इनके पास पाँच ऐसे बाण भी थे, जिनको सहना कठिन था। एक दिन कुन्ती ने जाकर वे पाँचों बाण भी उनसे माँग लिये। कर्ण इतने दानी थे कि कभी उनके मुख से 'नहीं' निकलती ही न थी। यही नहीं, कर्ण के मुकुट और कवच-कुण्डलों में भी यही शक्ति थी कि उन्हें किसी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र काट या मार ही नहीं सकते थे। इन वस्तुओं के न होने पर कर्ण की वही दशा हुई, जो बिना पंख के पक्षी की होती है। यद्यपि कर्ण अर्जुन के साथ बड़ी वीरता से युद्ध कर रहे थे, किन्तु मद्रराज शल्य कर्ण की निन्दा करके बराबर उनके तेज की हानि करते जाते थे। कर्ण बड़े वीर थे। उन्होंने बाणों की झड़ी लगा दी। अर्जुन उनसे भी अधिक वीर थे। इन्होंने मारे बाणों के आकाश-पाताल एक कर दिया। भगवान् कृष्ण रथ के हाँकने में चतुर थे। वे कभी तो घोड़ों को ऊपर उछाल-

कर रथ को ऊँचा कर देते, कभी घोड़ों के पैर झुकाकर रथ को नीचा कर देते, कभी बाईं ओर से झट दाहनी ओर हो जाते और कभी दाहनी ओर से बाईं ओर। इस प्रकार वे अपनी रणचातुरी दिखलाते हुए, रथी अर्जुन को बचाते जाते थे। मद्रराज शल्य भी सारथि के काम में बड़े चतुर थे। वे भी अनेक चालों से, रथ को हाँकते हुए कर्ण की रक्षा करते थे। दोनों रथ सोने, चाँदी और रत्नों से जड़े होने के कारण चमचमा रहे थे। अर्जुन के रथ में वानरी ध्वजा और कर्ण के रथ में सिंह की ध्वजा थी। ये ध्वजाएँ भी बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई थीं। कर्ण और अर्जुन का ऐसा अद्भुत और घोर संग्राम हुआ कि देवता और दैत्य अपने-अपने विमानों पर सवार हो देखने के लिए आये। सबों ने यही कहा कि ऐसा तुमुल संग्राम आज तक नहीं हुआ और न भविष्य में होने की आशा है।

कर्ण और अर्जुन दोनों ने बाणों से आकाश को छा दिया। दिव्यास्त्रों की वर्षा होने लगी। कहीं अग्नि जलती हुई नज़र आती थी, तो कहीं बादल उमड़ते हुए दिखलाई देते थे। कभी बिजली तड़पने लगती, तो कभी पानी बरसने लगता। कभी हवा का ऐसा झोंका आता कि आकाश निर्मल हो जाता, कभी मारे बाणों के सूर्य छिप जाता और दिन में इतना अन्धकार हो जाता कि अपना-पराया नहीं सूझता था। ऐसे ही उन दोनों पुरुष-सिंहों ने घोर संग्राम किया। कर्ण ने एक नागास्त्र छोड़ा। इस नागास्त्र में अर्जुन का पूर्व शत्रु अश्वसेन सर्प आकर पैठ गया। यह तक्षक का पुत्र था, जो खाण्डव वन से जलते समय भाग गया था। भगवान् ने देखा कि इस नागास्त्र से अर्जुन नहीं

बचेगा ; इसलिए नागास्त्र गिरने के समय उन्होंने घोड़ों को ऐसा बैठा दिया कि रथ का अगला भाग नीचा हो गया। इससे नागास्त्र अर्जुन के सिर पर नहीं गिरा, किन्तु झुके हुए किरीट पर गिरा। मुकुट चूर-चूर हो गया और अश्वसेन आकाश में हो रहा। कृष्ण के बतलाने पर अर्जुन ने अश्वसेन को मार गिराया। अर्जुन, बिना किरीट नंगे सिर हो गये। अब उन्होंने सफ़ेद पगड़ी बाँध ली। यह किरीट ब्रह्माजी ने इन्द्र का दिया था, और इन्द्र ने प्रसन्न होकर स्वर्ग में अर्जुन को दे दिया था। यह दिव्य किरीट बड़ा सुन्दर था। इसी किरीट के कारण अर्जुन का नाम किरीटी हुआ था।

अब कर्ण का अन्त समय आ गया। उन्हें परशुरामजी का शाप था कि अन्त समय में मेरे दिये हुए दिव्यास्त्र भूल जाओगे। एक और शाप था कि युद्ध के समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस जायगा, जिससे वह शत्रु से युद्ध न कर सकेंगे और मारे जायँगे। यही हुआ भी। रथ के पहिये को पृथ्वी ने पकड़ सा लिया। वह ऐसा कीचड़ में धँस गया कि कर्ण का कोई वश नहीं चला। उन्होंने कहा—"अर्जुन! तुम धर्मात्मा हो, मुझे पहिया निकाल लेने दो।" परन्तु कृष्ण ने उत्तर दिया—"कर्ण! जब तुमने भीमसेन को विष देने की सलाह दी थी, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? जब तुमने लाक्षागृह में पाण्डवों को भस्म करने की सम्मति दी थी, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जब दुःशासन ने भरी सभा में द्रौपदी के बाल पकड़े थे और तुम फूले-फूले फिरते थे, तब क्या धर्म लोप हो गया था? अरे अधर्मी! जिस समय तुम छः महारथियों ने मिलकर

अकेले बालक अभिमन्यु को मारा था, उस समय तुम्हें धर्म की याद न आई! अब तुम वृथा ही धर्म की दुहाई देते हो। जब अपने ऊपर विपत्ति पड़ती है, तभी धर्म सूझ पड़ता है।" कर्ण ने इसका कुछ भी उत्तर न दिया। मारे लज्जा के सिर नीचा कर लिया। परन्तु फिर भी अर्जुन की छाती पर उन्होंने ऐसे बाण मारे कि वह बेहोश हो गये। फिर उन्होंने रथ से उतरकर पहिये को निकालना चाहा। इतने में अर्जुन को होश आ गया, और कृष्ण के कहने से उन्होंने कर्ण का सिर काट डाला। कर्ण ने जिस वीरता से युद्ध किया था, उसे याद करके कौरव रोने-बिलखने लगे। अब कौरवों का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा। कर्ण की मृत्यु का कारण उनकी दानवीरता ही थी। इसी से दानी कर्ण का नाम आज भी समस्त भारतवर्ष में विख्यात है।

सेनापति शल्य

कर्ण के मरने पर दुर्योधन एक प्रकार से हताश-सा हो गया, परन्तु था वह अपने हठ का पक्का। इतना होते हुए भी उसने सुलह न की और अन्त में सर्वस्व खोकर ही मरा। आज युद्ध का अठारहवाँ दिन था। अब कौरवों के प्रधान सेनापति मद्रनरेश शल्य हुए। इन्होंने केवल एक ही दिन युद्ध किया। राजा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों से कहा कि तुम सब लोगों ने बड़ा काम किया है। एक न एक प्रतिज्ञा को सबने पूरा किया है। देखो शिखण्डी ने भीष्म को मारा, धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य को, अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को तथा भीम ने दुःशासन को मारा और दुर्योधन को मारने की उसकी प्रतिज्ञा है ही; तथा सहदेव

शकुनि को मारेगा। परन्तु मैंने कोई काम ऐसा नहीं किया, इसलिए मामा के मारने का काम मैं अपने ऊपर लेता हूँ। अब मामा-भांजे का युद्ध होने लगा। शल्य बड़ी वीरता से लड़े। कौरवों का कोई भी सेनापति ऐसा नहीं हुआ, जिसने पाण्डवों के छक्के न छुड़ा दिये हों। परन्तु जब श्रीकृष्ण-जैसे नीति-धुरन्धर रक्षक हों, तब भला कौन बाल बाँका कर सकता है। कौरवों के बड़े-बड़े योद्धा और वीर शक्तिशाली सभी सेनापति रणभूमि में काम आ चुके थे। इन घटनाओं से दुर्योधन को इतनी चिन्ता हुई कि उसका खाना, पीना, सोना हराम हो गया। रही-सही कौरव-सेना शल्य के सेनापतित्व में बड़ी वीरता से लड़ रही थी; किन्तु इसी बीच में शल्य लड़ते-लड़ते युधिष्ठिर द्वारा मारे गये। इधर सहदेव और शकुनि में लड़ाई हुई। ये भी मामा-भांजे थे। भांजे सहदेव ने मामा शकुनि के दोनों हाथ काटकर उनका गला काट डाला और भीमसेन ने सारा कौरव-सेना को नष्ट कर दिया। दुर्योधन के जितने भाई बाक़ी रह गये थे, उन सबको उन्होंने मार डाला। इन वीरों के मर जाने से दुर्योधन का रहा-सहा साहस भी जाता रहा। युद्धभूमि में अब उसका टिकना कठिन हो गया। अब कौरव-सेना में नाम मात्र के दो-चार वीर बाक़ी रह गये। जब दुर्योधन को यह मालूम हुआ कि कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा को छोड़ सभी वीर युद्धस्थल में काम आ चुके हैं तब उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। अब उसे अपने प्राणों के बचाने की चिन्ता पड़ गई। उसने तुरन्त अपनी गदा उठाई और भागकर एक तालाब के जल-स्तम्भ में जा छिपा।

दुर्योधन-वध

पाण्डवों ने राजा दुर्योधन को सर्वत्र खोज डाला, पर उसका कहीं पता न लगा। अन्त में भीलों से यह समाचार मिला कि वह तालाब में छिपा बैठा है। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे लोग उसी सरोवर के पास आये, जिसमें दुर्योधन छिपा था। पहले तो वह तालाब से निकलता ही नहीं था; किन्तु पाण्डवों की ललकार सुनते ही उत्तेजित होकर बाहर निकल आया। उसने युधिष्ठिर से कहा कि एक तो मैं अकेला हूँ, दूसरे मेरे पास कोई अस्त्र शस्त्र भी नहीं हैं, इसलिए मैं कैसे युद्ध कर सकता हूँ ! युधिष्ठिर ने कहा, दुर्योधन ! जो शस्त्र चाहो ले लो और हम पाँचा भाइयों में से जिस एक के साथ युद्ध करना पसन्द हो, उसके साथ युद्ध करो। केवल उसी के हार जाने से मैं अपनी हार मान लूँगा। यह सुन दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। वह भीमसेन के साथ गदायुद्ध करने को तैयार हो गया।

कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि राजन्! क्या समझकर तुमने ऐसा कह दिया ? दुर्योधन बड़ा वीर और गदा-युद्ध में चतुर है। यदि वह भीमसेन के सिवा, तुममें से और किसी के साथ लड़ने को कहता तो फिर क्या होता ? गदा-युद्ध में आप लोग कोई भी उससे पेश न पाते। अब भीमसेन से उसका गदा-युद्ध होने लगा। यह अन्तिम युद्ध देखने के लिए सब लोग एकत्र हो गये और उत्सुकता से इन दो वीरों का द्वन्द्व युद्ध देखने लगे। इसी समय तीर्थ-यात्रा करते हुए श्रीकृष्णजी के बड़े भाई बलरामजी भी उधर ही आ निकले। बलदेवजी राजा दुर्योधन के गुरु

थे। दुर्योधन ने विशेष करके गदायुद्ध इन्हीं से सीखा था। इस युद्ध के ये ही निरीक्षक हुए। श्रीकृष्ण ने इन्हें निरीक्षक इसलिए बनाया कि एक तो ये इस विद्या के विशेषज्ञ थे, दूसरे इनके निरीक्षक होने के कारण किसी पर पक्षपात का दोष न लगता।

जिस समय द्रौपदी पर अत्याचार किए जा रहे थे, उस समय दुर्योधन ने अपनी बाईं जाँघ दिखलाकर कहा था कि द्रौपदी को मेरी इस जाँघ पर बिठा दो। यह सुन, भीम ने उसी समय प्रतिज्ञा की थी कि समय आने पर मैं तेरी यही जाँघ तोड़ूँगा। पर इस समय भीम अपनी वह प्रतिज्ञा भूल गये। इसलिए उन्हें वह स्मरण कराने की इच्छा से श्रीकृष्णजी ने अपनी बाईं जाँघ हाथ से थपथपाई। भीम को अपनी प्रतिज्ञा याद आई और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुर्योधन की जाँघ गदा से तोड़ दी। दुर्योधन पृथ्वी पर गिरकर बेकाम हो गया। इस पर बलदेवजी भीमसेन पर अप्रसन्न हो गये। उन्होंने अपना हल-मूशल उठा लिया। परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें रोक लिया। बलदेवजी ने कहा कि भीम ने अन्याय किया ; जाँघ में गदा मारने की प्रथा धर्म-संगत नहीं है। तब श्रीकृष्णजी ने समझाया कि भाई, सभा में जब दुर्योधन ने अपनी जाँघ दिखलाकर द्रौपदी से कहा था कि आ, इस पर बैठ, तभी भीमसेन ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तेरी यही जाँघ तोड़ूँगा। इसी से उन्होंने आज अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है, अन्याय नहीं किया है। यह सुन बलदेवजी रथ पर सवार हो द्वारका चले गये और युद्ध समाप्त हो गया। अब कौरवों की ओर कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा, यही तीन वीर रह गये ; ग्यारह

अक्षौहिणी सेना १८ दिन में जूझ गई। धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु (जो कि वेश्या से उत्पन्न हुआ था) भी बच गया।

सेनापति अश्वत्थामा

जहाँ दुर्योधन अधकटे वृक्ष की तरह पड़ा था, वहाँ रात में कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा तीनों आये। अश्वत्थामा ने कहाः—"राजन् ! मैं आज ही रात को पाण्डवों का नाश कर दूँगा।" यह सुन दुर्योधन का कुछ सन्तोष हुआ और उसने इन्हें ही सेनापति बनाया। अश्वत्थामा ने सोचा कि पाण्डवों के पास सेना अब भी थोड़ी नहीं है। धर्मपूर्वक लड़ने से कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए उन्होंने रात ही में उनके शिविर में जाकर पाण्डवों सहित सोती हुई सेना को काट डालना अच्छा समझा। उन्होंने सोचा कि पाण्डवों ने भी तो भीष्म, कर्ण, दुर्योधन और मेरे पिता को अन्याय से ही मारा है। यही विचारकर उन्होंने कृपाचार्य और कृतवर्मा से कहाः—"पाण्डव इस समय थके-माँदे सोते होंगे, हम लोगों को इसी समय चलकर उनका काम तमाम कर देना चाहिए।" ये दोनों इस प्रकार का नीच कर्म करने के लिए तैयार न थे; किन्तु सेनापति की आज्ञा मानने के लिए वे बाध्य थे। अस्तु, कृतवर्मा और कृपाचार्य साथ तो गये; किन्तु वे शिविर के बाहर ही खड़े रहे। पाण्डव लोग उस रात को वहाँ न थे। दुर्योधन से लड़ने में संध्या हो गई थी, इसलिए कृष्ण और सात्यकि के साथ वे हिरण्यवती नदी के तट पर विश्राम कर रहे थे; क्योंकि शिविर वहाँ से दूर था, और किसी से युद्ध होने का भी अब अंदेशा न था। इधर पाण्डवों की सेना भी कई

दिनों की थकी-थकाई अचेत सो रही थी। अश्वत्थामा ने शिविर के भीतर घुसकर सबसे पहले अपने पिता के मारनेवाले धृष्टद्युम्न का, सोते में ही मारे लातों के, दम निकाल दिया। फिर उसके भाई शिखण्डी को मार डाला। इसके पीछे उन्होंने द्रौपदी के पाँचों राजकुमारों के सिर काट लिये। सोती हुई सेना में भगदड़ पड़ गई। अश्वत्थामा ने किसी को जीवित नहीं छोड़ा। उन्होंने सोते, जागते, लड़ते, भागते सभी को मौत के घाट उतार दिया। जो लोग शिविर के बाहर भागने की चेष्टा करते, उन्हें कृतवर्मा और कृपाचार्य मार डालते थे आखिर में पाण्डवों की सेना में भी मर्द का पुतला जीता नहीं रह गया, केवल धृष्टद्युम्न का सारथि भागकर बच गया। यहाँ से जाकर अश्वत्थामा ने अपनी बहादुरी की लम्बी-चौड़ी डींग हाँकते हुए दुर्योधन से कहा:—"मैंने आपके जन्म-शत्रु पाण्डवों को मार डाला।" दुर्योधन अपने किए का फल पा रहा था और मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा था। फिर भी जब उसने अपने अजेय शत्रुओं के मरने का समाचार सुना तो वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। कुछ देर के लिए वह अपने दुःख और पीड़ा को भूल-सा गया।

जब मनुष्य अविवेक से किसी घृणित कार्य को करने जाता है, तब उसकी बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ जाता है। यही हाल अश्वत्थामा का भी हुआ। वे इतने घबराये हुए थे कि उन्हें इस बात को सोचने का समय ही न मिला कि जिन्हें मैं मार रहा हूँ, वे पाण्डव ही हैं या और कोई। इसलिए उन्होंने दुर्योधन से कह दिया कि मैंने आपके शत्रु पाण्डवों को मार डाला। दुर्योधन को किसी का यह

शाप था कि जब उसके लिए दुःख और सुख बराबर होंगे, उसी समय उसके प्राण छूटेंगे। अस्तु, जब अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वध का समाचार सुनाया तो वह बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु जब उसको यह ज्ञात हुआ कि उनके स्थान पर बेचारे निरपराध बालक मार डाले गये हैं, तब उसको बड़ा दुःख हुआ। इसी समय सुख-दुःख की मात्रा बराबर होने के कारण उसका प्राणान्त हो गया। अब पाण्डवों की ओर भी सात अक्षौहिणी सेना में से केवल पाँच पाण्डव, कृष्ण और सात्यकि यही सात रह गये, जैसा कि सबलसिंह-कृत महाभारत में लिखा है—

कृप, कृतवर्मा, अश्वत्थामा। कौरव मध्य बची यह सामा॥
अरु पाण्डव, सात्यकि, जगत्राता। पांडव मध्य बचे ये साता॥

जब सबेरा हुआ तब धृष्टद्युम्न के सारथि से पाण्डवों ने सेना-संहार का समाचार पाया। सब लोग शिविर में आये। राजा युधिष्ठिर ने देखा, पाँचों पुत्र और सभी सम्बन्धी मरे पड़े हैं। यह देख इन्हें मूर्च्छा आ गई। जब उन्हें होश हुआ तो कृष्ण ने समझाकर इन्हें शान्त किया। इतने में द्रौपदी भी वहाँ आ गईं और रोने-पीटने लगीं। उनके विलाप से पाण्डव भी बहुत ही दुःखित और क्रोधित हुए। द्रौपदी ने प्रण किया कि "जब तक अश्वत्थामा के शिर की मणि न पाऊँगी और वह मारा न जायगा, तब तक मैं अन्न-जल न ग्रहण करूँगी।" फिर उन्होंने भीमसेन से कहा कि मैं अपना दुःख दूर होने की आशा आप ही से रखती हूँ। महानीच अश्वत्थामा यदि ब्राह्मण और गुरुपुत्र होने से मारने के योग्य न हो तो उसके मस्तक की मणि को ही निकाल लाइए, इसी से मुझे संतोष होगा।

भीम अश्वत्थामा की मणि लेने और उन्हें गिराने के लिए चल दिये। श्रीकृष्ण जानते थे कि अश्वत्थामा के पास ब्रह्मशिर नामक कराल अस्त्र है; उसके आगे चाहे सैकड़ों भीम आवें, तब भी उससे पेश नहीं पा सकते, किन्तु उलटे अश्वत्थामा ही इन्हें मार डालेंगे। राजा युधिष्ठिर से यह बात कह वे अपने रथ पर सवार हो गये और भीम की सहायता के लिए चल पड़े। राजा युधिष्ठिर और अर्जुन भी उनके साथ हो लिये और ये सब भीमसेन से मार्ग ही में जा मिले। अश्वत्थामा एक वन में व्यासजी के पास बैठे हुए थे। वहीं पर ये लोग भी जा पहुँचे। जब भीमसेन ने अश्वत्थामा को ललकारा तो फिर युद्ध होने लगा। अश्वत्थामा एक ऐसा दिव्य अस्त्र जानते थे, जिससे तीनों लोकों का प्रलय हो सकता था। गुरु द्रोणाचार्य ने उनके चंचलस्वभाव होने के कारण, इस दिव्यास्त्र के चलाने का मंत्र तो इन्हें बतला दिया था, परन्तु लौटा लेने की युक्ति नहीं बतलाई थी। इसी दिव्य अस्त्र का नाम था ब्रह्मशिर। इसका यह प्रभाव था कि चलानेवाला यदि बिना युक्ति के फिर इसे लौटा लेना चाहे तो यह उसी को भस्म कर देता था। द्रोणाचार्यजी अर्जुन से भी बड़े प्रसन्न रहते थे, इस-लिए उन्होंने अर्जुन को इस ब्रह्मशिर का चलाना और लौटा लेना भी बतला दिया था। आखिर जब अर्जुन ने उनसे मणि लेनी चाही, तो सब पाण्डवों को मार डालने के संकल्प से अश्वत्थामा ने इस दिव्य अस्त्र को छोड़ ही तो दिया। कृष्ण ने जब देखा कि इससे सब पाण्डव भस्म हुए जाते हैं तो उन्होंने अर्जुन को भी वही अस्त्र प्रयोग करने की आज्ञा दी। अब दोनों अस्त्र परस्पर भिड़ गये। आकाश

जलने लगा। तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। तब व्यास आदि ऋषियों ने कहा—महाराज! इसे रोकिए, नहीं तो तीनों लोक भस्म हुए जाते हैं। इस पर कृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने तो अपना दिव्य अस्त्र लौटा लिया, परन्तु अश्वत्थामा न लौटा सके। इस समय अर्जुन की पुत्रवधू उत्तरा गर्भवती थी। भगवान् ने अश्वत्थामा से कहा कि इस दिव्य अस्त्र से उत्तरा के गर्भ को इस प्रकार क्षीण करो कि बालक न मरने पावे और दिव्यास्त्र की सत्यता भी बनी रहे। इससे तुम्हारा संकल्प भी पूरा हो जायगा। अश्वत्थामा ने कहा कि कृष्ण, यह बात असम्भव है, बालक तो मरेगा ही। इस पर कृष्ण ने कहा कि अरे अधर्मी! मेरे पराक्रम को देख। तू गर्भ के बालक को भस्म करता है और मैं अपने योगबल से फिर उसे जीवित करता हूँ; परन्तु स्मरण रख कि इस बालहत्या के कारण तू तीन हज़ार वर्ष तक अनेक रोगों से पीड़ित होकर वन-वन में मारा-मारा घूमेगा। अन्त में अश्वत्थामा परास्त हुए और पकड़कर द्रौपदी के सामने लाये गये। द्रौपदी ने करुणाभरे शब्दों में कहा:—"जिस प्रकार मैं अपने प्यारे बच्चों के वियोग से कष्ट पा रही हूँ, उसी प्रकार यह अगर मारे जायँगे, तो मेरी गुरुआनीजी को भी दुःख होगा; अतएव मणि लेकर इन्हें प्राण-दान दे दिया जाय।" हुआ भी ऐसा ही। पाण्डवों ने यह मणि द्रौपदी को दे दी और द्रौपदी ने राजा युधिष्ठिर को। उसके पीछे उत्तरा के मरा हुआ बालक उत्पन्न हुआ; किन्तु योगेश्वर कृष्ण ने उसे फिर अपने सत्य-संकल्प से जीवित कर दिया। कुरुवंश के क्षीण हो जाने पर जन्म लेने के कारण श्रीकृष्णजी ने इस बालक का नाम परीक्षित् रक्खा।

युधिष्ठिर की स्त्रियों को शाप देना

जब राजा युधिष्ठिर सबका अग्निसंस्कार करा चुके, तब कुन्ती ने कहा कि पुत्र ! कर्ण तुम्हारा बड़ा भाई था, इसको यथोचित जलपिण्ड दो। यह सुनते ही युधिष्ठिर मूर्च्छित हो गये । जब होश हुआ तो उन्होंने कहा कि माता ! यदि पहले मुझे मालूम हो जाता, तो इस वंश का नाश होने की कभी नौबत ही न आती। धिक्कार है मुझको, जो मैंने राज्य के लिए अपने बड़े भाई को मरवा डाला। माता ! मैं शाप देता हूँ कि आज से कोई स्त्री अपने पेट की बात नहीं छिपा सकेगी।

कौरव-नारियों का शोक

कौरवों के मारे जाने का समाचार पाकर रनवास में हाहाकार मच गया। यही नहीं, नगर की स्त्रियों में भी कुहराम मचा हुआ था। कोई अपने पुत्र के गुणों का बखान कर छाती पीट-पीटकर रो रही थी, तो कोई अपने प्राण-प्यारे पति के शोक में सिर धुन रही थी । मतलब यह कि सारा नगर शोक-सागर में डूबा हुआ था। धृतराष्ट्र और गान्धारी को अपने पुत्रों के रणस्थल में मारे जाने पर जो शोक हुआ, उसका वर्णन करना इस क़लम की ताक़त से बाहर है। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि उनके अधिकांश पुत्रों को भीम ने ही मारा है, तब राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी भीम पर बहुत क्रोधित हुए। गान्धारी पुत्र-शोक के कारण अपनी पुरानी न्यायबुद्धि खो चुकी थी, इसलिए वे पाण्डवों से मन ही मन जल रही थीं। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि इस कौरवकुल का नाश कराने का

मलकारण कृष्ण ही हैं, तब उन्होंने कृष्ण को शाप दिया कि जिस प्रकार तुमने मेरे कुल का नाश कराया है, उसी प्रकार तुम्हारे वंश का भी शीघ्र ही नाश होगा।

राजा युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

अपने इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियों का शास्त्रोक्त मृतक-संस्कार करने के बाद राजा युधिष्ठिर के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इतनी बड़ी नर-हत्या के पश्चात् अपने सुख के लिए इतना बड़ा राज्य प्राप्त करना व्यर्थ है। इस प्रकार अधर्म से जीते हुए राज्य का उपभोग करने से यह कहीं अच्छा होगा कि निर्जन वन में जाकर घोर तप करूँ। इनके इस विचार को सुन सबको बड़ा दुःख हुआ; क्योंकि युधिष्ठिर के समान धर्मात्मा राजा उस समय कोई न था। सभी न्यायी और धर्मात्मा राजा को चाहते हैं। श्रीकृष्ण और अन्यान्य ऋषियों के समझाने-बुझाने पर उन्होंने राजगद्दी पर बैठना स्वीकार किया। शुभ मुहूर्त में शास्त्रानुसार राज्याभिषेक हुआ। वे राजसिंहासन पर बैठकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था। वह उनके सुख-दुःख का सदा ध्यान रखते थे। इनके न्यायी और धर्मात्मा होने की हर जगह धूम थी। असत्य भाषण करनेवाले कहीं दिखाई नहीं देते थे। इस प्रकार शांतिपूर्वक राज्य करने पर भी युधिष्ठिर को सच्ची शान्ति और सुख नहीं प्राप्त हुआ।

भीष्म पितामह अभी तक जीवित थे, इसलिए कृष्ण और सात्यकि को लेकर पाँचों भाई प्रतिदिन उनके पास जाया करते थे। वे शर-शय्या पर पड़े हुए इनको अनेक

धर्मों की शिक्षा देते थे, और समय-समय पर अनेक राजनीतिक मर्म बतलाया करते थे।

भीष्म की मुक्ति

अब सूर्य के उत्तरायण होने में कुछ ही दिन बाक़ी थे। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर अब चक्रवर्ती सम्राट् थे, सभी प्रकार के उन्हें सुख थे, फिर भी उनके हृदय को शान्ति नहीं मिलती थी श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया, व्यासजी ने भी अनेक उपदेश दिए, किन्तु उन्हें किसी के उपदेश से सन्तोष न हुआ। अन्त में व्यासजी ने कहा कि—"तुम्हें तभी सन्तोष होगा, जब भीष्म पितामह उपदेश देंगे।" राजा युधिष्ठिर ने पितामह से प्रार्थना की और उन्होंने राजधर्म, दानधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म आदि सभी धर्मों का उपदेश किया।

इस प्रकार भीष्म पितामह ने पाण्डवों को उपदेश देकर धृतराष्ट्र को भी समझाया, और उन्हें पाण्डवों को पुत्रवत् मानने का आदेश दिया। अब माघ का शुक्लपक्ष आरम्भ हुआ। आज ही सूर्यनारायण भी उत्तरायण हुए। अनेक ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मजी ने योग-क्रिया से अपने प्राण ब्रह्माण्ड द्वारा निकाल दिए। इस प्रकार भारत का वह अखण्ड ब्रह्मचारी हरिगुण-गान करता हुआ स्वर्ग को प्राप्त हुआ। भीष्मजी को शरशय्या पर ५८ दिन तक रहना पड़ा था। राजा युधिष्ठिर ने पितामह की अन्तिम क्रिया बड़ी उत्तम रीति से की।

राजा युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध-यज्ञ

महाराज युधिष्ठिर यद्यपि इस समय सार्वभौम सम्राट्

होकर निष्कण्टक राज्य कर रहे थे तथापि इतने सम्बंधियों और आत्मीयजनों की मृत्यु के कारण उनके हृदय को शान्ति नहीं प्राप्त होती थी। किसी कार्य में उनका मन लगता ही न था। यह देखकर एक रोज़ व्यासदेव ने समझाया कि:—"युद्ध में मरना-मारना ही क्षत्रियों का धर्म है। जो लोग मर चुके हैं, उन्हें तो एक न एक दिन अवश्य मरना ही था। युद्ध तो एक निमित्तमात्र हुआ है। जो मृत आत्माएँ स्वर्ग को प्राप्त हुई हैं, उनके लिए शोक करना वृथा है।" व्यासजी के समझाने पर युधिष्ठिर को कुछ सन्तोष तो अवश्य हुआ, किन्तु उन्हें पूर्णरूप से शान्ति प्राप्त नहीं हुई। वे चाहते थे कि इस पाप का प्रायश्चित्त अवश्य होना चाहिए। महाराज युधिष्ठिर रात दिन इसी चिन्ता में डूबे रहते थे। एक दिन वे इसी चिन्ता में बैठे हुए कुछ सोच रहे थे कि इतने में श्रीकृष्णजी उनके पास आये। उनकी उदासी का कारण जानकर भगवान् ने कहा कि अगर तुम्हें किसी प्रकार शान्ति नहीं मिलती तो अश्वमेध-यज्ञ करो। इससे प्रायश्चित्त भी होगा और संसार में तुम्हारी कीर्ति भी होगी।

युधिष्ठिर यज्ञ करने के लिए तैयार हो गये; पर युद्ध के कारण ख़ज़ाना ख़ाली हो गया था। अश्वमेधयज्ञ में धन की बड़ी आवश्यकता था। व्यासजी ने उन्हें बतलाया कि सब भाई हिमालय के उत्तर जाकर धन ले आओ। आज्ञानुसार पाण्डव हिमालय की ओर चल पड़े और श्रीकृष्णजी अपनी राजधानी द्वारकापुरी को चले गये।

पाण्डव तो धनसंग्रह करने के लिए हिमालय की ओर चले गये थे, यहाँ उत्तरा के गर्भ से पुत्र उत्पन्न

हुआ; किन्तु यह बच्चा मरा हुआ था। यह देख कुन्ती, सुभद्रा आदि रानियों के शोक की सीमा न रही। नगर भर में शोक छा गया। इतने ही में श्रीकृष्ण भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बालक को देखा और अपनी अलौकिक शक्ति से उसे जीवित कर दिया। बालक थोड़ी देर में रोने लगा। सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। नगर भर में आनन्द की लहरें लहराने लगीं। चारों ओर बाजे बजने लगे। श्रीकृष्ण ने इस बालक का नाम 'परीक्षित्' रक्खा। भविष्य में भारत का वही चक्रवर्ती सम्राट् हुआ।

इसी बीच में पाण्डव भी अतुल धन लेकर लौट आये। उन्हें अपने पौत्र परीक्षित् के जन्म का समाचार सुन बहुत ही प्रसन्नता हुई। अब वे दूने उत्साह से यज्ञ की तैयारी करने लगे। महाराज ने यज्ञ आरम्भ कर दिया। अश्व-रक्षा का भार अर्जुन को सौंपा गया। तदनुसार घोड़ा अर्जुन की अध्यक्षता में सेना के साथ मणिपुर पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही बभ्रुबाहन (अर्जुन का पुत्र और मणिपुर के राजा का नाती) ने घोड़े को पकड़ लिया। बभ्रुबाहन और अर्जुन में घोर संग्राम हुआ। उन्हें इस बात का बड़ा आश्चर्य था कि वह महाधनुर्धर कौन है? युद्ध समाप्त भी न होने पाया था कि बभ्रुवाहन ने घोड़ा छोड़ दिया और अर्जुन के गले आ लगा। थोड़ी देर में सबको मालूम हो गया कि यह अर्जुन का ही पुत्र है। पिता को न पहचान-कर स्वाभाविक वीरता के कारण घोड़ा पकड़ लिया था। यह अर्जुन का वही पुत्र था, जो राजकुमारी चित्राङ्गदा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, अब उस अश्व को पकड़ने का साहस किसी को न हुआ। इस प्रकार सर्वत्र दिग्विजय

प्राप्त कर अर्जुन अश्व को ले लौट आये और बड़ी धूम-धाम से यज्ञ समाप्त हुआ।

धृतराष्ट्र आदि की तपश्चर्या

अश्वमेध-यज्ञ समाप्त होने पर पाण्डव बहुत प्रसन्न हुए। अब राजा युधिष्ठिर अपने चाचा धृतराष्ट्र और चाची गान्धारी की बड़ी सेवा करने लगे। वे भी इन पर इतने प्रसन्न रहते थे कि जितने कभी दुर्योधन से नहीं रहे। हाँ, भीमसेन अवश्य कभी-कभी व्यंग्य वचनों से उनका मन दुखा दिया करते थे, इससे वे भीमसेन पर इतने प्रसन्न नहीं रहते थे। राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी ने अपने पुत्रों और नातेदारों के श्राद्ध में ब्राह्मणों को बहुत-सा धन दिया। भीम को छोड़ चारों भाइयों ने राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी को भरसक प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया; किन्तु वे पुत्र-शोक के कारण सदैव उदास ही रहते थे। पन्द्रह वर्ष हो जाने पर धृतराष्ट्र को वैराग्य उत्पन्न हो आया और उन्होंने वन जाने की इच्छा प्रकट की। यह सुन पाण्डव और नगरनिवासी बहुत दुखी हुए। राजा युधिष्ठिर ने उनको वन जाने से रोकने की चेष्टा की और स्वयम् भी उनके साथ वन जाने को तैयार हो गये; किन्तु धृतराष्ट्र ने उनकी बात नहीं मानी। उनके साथ गान्धारी, कुन्ती और विदुर भी तपस्या के लिए वन को चले गये। वन को जाते समय का दृश्य बड़ा ही करुणा-जनक था। राजकुल के पुरुषों और नगर-निवासियों के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। राजा युधिष्ठिर माता कुन्ती के पैरों पर गिर पड़े। उन्होंने कर्ण की बात का अपना अपराध क्षमा

कराया। उन्होंने बहुत चाहा कि माता लौट चलें; परन्तु कुन्ती ने एक नहीं मानी। युधिष्ठिर आदि पुत्रों को कुन्ती ने इसी में अपनी प्रसन्नता बतलाई। लाचार सब लोग लौट आये।

इन लोगों के चले जाने पर पाण्डव बहुत ही उदास रहा करते थे। राजकाज में भी अब उनका मन नहीं लगता था। उन्हें माता कुन्ती, गान्धारी, धृतराष्ट्र और विदुर का सदैव ध्यान बना रहता था। अन्त में वे इन लोगों के दर्शन करने के लिए वन की ओर चल पड़े। इनके पीछे-पीछे अनेक नगर-निवासी भी हो लिए। अन्तःपुर के सेवकों से रक्षित पालकी में सवार द्रौपदी आदिक स्त्रियाँ भी उनके साथ चलीं। धृतराष्ट्र ने नदी के तट पर कुटी बना ली थी। ये सब वहाँ पहुँचे और धृतराष्ट्र, माता कुन्ती व गान्धारी से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुए। परन्तु उस समय उन्हें विदुर के दर्शन नहीं हुए। वे ब्रह्मज्ञान में मग्न हो निर्जन वन में नंगे घूमा करते थे। वहाँ के रहनेवाले ऋषि-मुनियों ने कहा कि अब किसी को उनके दर्शन नहीं होते। इतने में विदुर दिखलाई पड़े। देखा कि उनकी देह सूखकर जर्जर हो गई है, लम्बी-लम्बी जटाएँ लटक रही हैं, और वे नंगे बदन दौड़े चले आ रहे हैं। अकस्मात् वे एक पेड़ के नीचे ठहर गये और उनकी देह उस वृक्ष के सहारे ही खड़ी रह गई। वे इस लोक से चल बसे। इसी बीच में संयोगवश महर्षि व्यासदेव भी वहाँ आ पहुँचे। प्रसंगवश गान्धारी और धृतराष्ट्र ने अपने मृत सौ पुत्रों एवं अन्यान्य कुटुम्बियों व राजाओं को तथा कुन्ती ने कर्ण को और उत्तरा ने अभिमन्यु को देखने की अभिलाषा प्रकट

की। महर्षि वेदव्यास ने पवित्र गंगाजी में खड़े हो अपनी अलौकिक शक्ति से उन सबके दर्शन करा दिये। माताओं ने पुत्रों के और विधवा स्त्रियों ने अपने मृत पतियों के दर्शन किये। व्यासदेव की आज्ञा के अनुसार अनेक विधवाओं ने नदी में कूद अपने प्राण दे दिये और इस प्रकार अपने पतियों के साथ स्वर्गगामिनी हुईं। फिर सब लोग लौट आये। कुछ दिनों में जब पाण्डवों को नारदजी द्वारा यह समाचार मिला कि वन में आग लग गई और उसी में माता कुन्ती, गान्धारी और धृतराष्ट्र जल मरे तब राजा युधिष्ठिर ने सबकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

विश्वामित्र और नारद आदि का अपमान और यादव-कुल का पतन

महाराज युधिष्ठिर को न्यायपूर्वक व धर्मानुसार राज्य करते हुए छत्तीस वर्ष हो गये। इतने समय तक वे सुख-पूर्वक राज्य करते रहे; किन्तु अब उन्हें विपरीत शकुन दिखलाई देने लगे। परस्पर युद्ध करने और कङ्कड़ बरसाने-वाली वायु चलने लगी. महानदियाँ उल्टी चलने लगीं, आकाश से अंगारों की वर्षा होने लगी, मानों प्रकृति अपना नियम ही बदलती जा रही है। यह देख महाराज युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता हुई। इधर तो महाराज युधिष्ठिर का यह हाल था, उधर द्वारकापुरी में यादवों ने बड़ा उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया वे ऋषि-मुनियों का निरादर करने लगे। संयोगवश एक दिन यादवकुमारों ने द्वारका में विश्वामित्र, नारद आदि मुनियों को देखा। उन कुमारों ने मूर्खतावश साम्ब को स्त्री के समान अलंकृत कर सबके आगे किया

और ऋषियों के पास जाकर कहा—"हे ऋषियो! बड़े तेजस्वी बभ्रु की यह स्त्री सन्तान की इच्छा रखती है। कृपाकर बतलाइए, इसके गर्भ से पुत्र होगा या पुत्री?" छल से निरादर किए हुए उन मुनियों ने क्रोधित होकर उत्तर दिया कि यह वासुदेवजी का पुत्र साम्ब ऐसा भयंकर लोहे का मूसल उत्पन्न करेगा, जिससे तुम्हारे दोनों कुलों—वृष्णियों और अन्धकों का नाश हो जायगा। साथ ही बलदेवजी शरीर त्यागकर समुद्र को जायँगे, और 'जरा' नाम बहेलिया पृथ्वी पर बैठे हुए श्रीकृष्ण को घायल करेगा। फिर प्रातःकाल साम्ब ने उस मूसल को उत्पन्न किया। वह मूसल राजा उग्रसेन के सामने लाया गया। उन्होंने उसके टुकड़े करा समुद्र में फिकवा दिया। भला कहीं ऋषियों का शाप झूठा हो सकता था? यादवों में मदिरापान की प्रथा भी चल पड़ी थी। एक दिन नशे की झोंक में, मृत्यु के वशीभूत हो सात्यकि आदि यादव लोग आपस में लड़ने लगे। यदुनन्दन केशवजी ने सात्यकि समेत अपने पुत्र को मृतक देखकर क्रोध से एक साथ ही पटेलों को हाथ में लिया। उनके एकत्र होते ही, भयानक वज्र के समान, वह लोहे का मूसल बन गया। श्रीकृष्णजी ने उसी से उन सब आगे आनेवालों को मारा। इसके पश्चात् वृष्णिवंशी लोग आपस में मूसलों से लड़ने लगे। वह मूसल वज्ररूप हो गया। पुत्र ने पिता को और पिता ने पुत्र को मारा। आपस में लड़ते-लड़ते वे सबके सब मर मिटे। अपने कुल की यह दुर्दशा देख बलरामजी ने योग द्वारा अपना शरीर त्याग दिया। श्रीकृष्णजी एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए कुछ सोच रहे थे कि इतने में किसी बहेलिये ने

मृग समझकर उन पर तीर चलाया, जो उनके पैर के तलवे में आ लगा। उसकी वेदना से उन्होंने भी अपने प्राण त्याग दिए। जब पाण्डवों को यादव-कुल के पतन का समाचार मिला और साथ ही उन्होंने कृष्ण का परमधामगमन भी सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। भगवान् कृष्ण के स्वर्गारोहण से उनका अब रहा सहा धैर्य भी जाता रहा। महाराज युधिष्ठिर अब अपने पौत्र परीक्षित् का राज्याभिषेक कर हिमालय की ओर प्रस्थान करने की तैयारी करने लगे।

महाप्रस्थान की तैयारी

अब पाण्डव स्वर्ग जाने की तैयारी करने लगे। राजा युधिष्ठिर ने युयुत्सु को बुलाकर सब राज्य उसको सौंप दिया। फिर उन्होंने परीक्षित् का अभिषेक कराके राज-सिंहासन पर उसे बिठाया और इन्द्रप्रस्थ का राज्य यादव-कुल में बचे हुए वज्रनाभ यादव को दिया। जब राजा युधिष्ठिर ने सब राज्य के अधिकारियों, सेवकों और नगर-निवासियों को बुलाकर, स्वर्ग जाने की इच्छा प्रकट की तो सबको दुःख हुआ। सबोंने मिलकर राजा से प्रार्थना की कि आपके लिए ऐसा करना उचित नहीं है। परन्तु उन्होंने किसी का कहना न माना। अब पाण्डवों ने भूषण और पोशाकें उतार वल्कल वस्त्र धारण किये। पाँचों भाई, छठी द्रौपदी और सातवाँ एक कुत्ता—ये सब हस्तिनापुर से बाहर निकल पड़े। सब नगरनिवासी उनके पीछे-पीछे बहुत दूर तक गये। राजा युधिष्ठिर ने उन सबको समझा-बुझाकर वापस कर दिया। सब लोग उदास मन से, शोक-सागर में डूबे हुए, घर लौट आये। चलते-चलते वे समुद्र के तट पर

जा पहुँचे और स्नान कर अर्जुन ने अपने गाण्डीव धनुष और तरकसों को अग्निदेव के कहने से समुद्र में फेंक दिया।

पाण्डवों की अन्तिम यात्रा

योग से संयुक्त पाण्डवों ने चलते-चलते उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत को देखा। उसको उल्लंघन करके उन्होंने बालू के समुद्र को देखा और फिर पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु पर्वत को देखा। पहाड़ पर चढ़ते-चढ़ते शीत की भयंकरता के कारण सबसे पहले द्रौपदी पृथ्वी पर गिर पड़ीं और उनके प्राण निकल गए। यह देख भीम ने युधिष्ठिर से पूछा कि हे परन्तप! इस पत्नी से कभी कोई अधर्म नहीं हुआ, फिर सबसे पहले यह द्रौपदी क्यों पृथ्वी पर गिर पड़ी, सदेह स्वर्ग क्यों न जा सकी? इस पर युधिष्ठिर ने कहा—"हे भीमसेन! यह अर्जुन को ही अधिक चाहती थी, इसी पक्षपात के कारण वह स्वर्ग तक हम लोगों के साथ सदेह न जा सकी।" फिर बुद्धिमान् सहदेव गिर पड़े। भीम ने युधिष्ठिर से फिर प्रश्न किया। युधिष्ठिर ने कहा—"यह अपने को सबसे बुद्धिमान् समझता था। यह राजकुमार उसी अपने दोष से हम लोगों का साथ न दे सका।" थोड़ी देर चलने पर स्वरूपवान् वीर नकुल ने अपने प्राण त्याग दिए। भीम ने युधिष्ठिर से फिर वही प्रश्न किया। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि नकुल अपने को सबसे स्वरूपवान् समझता था, इसी अभिमान के कारण वह भी हम लोगों का साथ न दे सका। युधिष्ठिर ने कहा—"हे भीम, मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना

पड़ता है।" थोड़ी देर बाद वीर अर्जुन भी गिर पड़े और उनके भी प्राण निकल गये। इन्द्र के समान तेजस्वी अजेय अर्जुन के गिर पड़ने पर भीमसेन ने युधिष्ठिर से पूछा कि ये किस कर्म के फल से पृथ्वी पर गिर पड़े? युधिष्ठिर ने कहा—"हे भीम ! अर्जुन को अपनी शक्ति का बड़ा अभिमान था। इसने कहा था कि मैं एक ही दिन में शत्रुओं का नाश करूगा ; पर इसने वैसा किया नहीं। उस गर्व का फल इसे मिला।" राजा यह कह आगे चले तो भीमसेन भी गिर पड़ा। भीमसेन ने कहा कि मेरे गिरने का कारण कहिए। इस पर युधिष्ठिर ने उन्हें बतलाया कि—"तुम दूसरों की परवा न कर आवश्यकता से अधिक भोजन कर लिया करते थे और बल में अपने समान किसी को नहीं समझते थे, उसी का फल तुम्हें मिला और इसी कारण सदेह स्वर्ग को न जा सके।" अब केवल युधिष्ठिर और उनका कुत्ता रह गया।

इतने में इन्द्र अपना रथ लेकर वहाँ आये और रथ में बैठकर युधिष्ठिर से स्वर्ग चलने को कहा। इस पर उन्होंने कहा कि मैं अपने भाइयों के बिना स्वर्ग जाना नहीं चाहता। साथ ही में वह सुकुमारी द्रौपदी भी हमारे साथ जायगी। इन्द्र ने कहा—"तुम्हारी पत्नी और भाइयों की आत्माएँ पहले ही स्वर्ग में पहुँच चुकी हैं और तुम इसी शरीर से सदेह स्वर्ग को जाओगे।" युधिष्ठिर ने कहा—"यह कुत्ता सदा से मेरा भक्त है। यह भी मेरे साथ जायगा।" इन्द्र ने कहा—"इस कुत्ते को यहीं छोड़ दो। यह तुम्हारे साथ नहीं जा सकता।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"हे महेन्द्र ! भक्त को त्यागना बड़ा अधर्म कहा गया है। मैं अपने प्राणों

का नाश हो जाने पर भी भयभीत, भक्त, शरणागत, पीड़ित, घायल और प्राण की रक्षा चाहनेवालों का कभी त्याग नहीं कर सकता।" अन्त में इन्द्र ने इनकी उदारता से प्रसन्न होकर कुत्ते को भी साथ ले लिया। वह कुत्ता साक्षात् धर्मदेव थे। राजा युधिष्ठिर उस रथ में सवार हो अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को पूर्ण करते हुए ऊपर की ओर चले। इन्द्र ने कहा कि तुम रथ से उतर इस स्थान में निवास करो। हे कुरुनन्दन ! तुमने ऐसा परम सिद्धि पाई है, जैसी किसी दूसरे मनुष्य ने नहीं पाई। तुम्हारे भाइयों ने भी वह स्थान नहीं पाया। यह सुन युधिष्ठिर ने कहा कि—"हे देवेश ! मैं अपने भाइयों के बिना यहाँ नहीं रह सकता, जहाँ मेरे भाई और बुद्धिमती, स्त्रियों में श्रेष्ठ द्रौपदी गई है, वहीं मैं भी जाना चाहता हूँ।"

स्वर्ग में महाराज युधिष्ठिर की उनके कुटुम्बियों से भेंट

जब युधिष्ठिर धर्मराज और इन्द्र के साथ स्वर्गलोक पहुँचे तो उन्होंने दुर्योधन और स्वर्गलक्ष्मी को एक ही आसन पर बैठे हुए देखा। यह देख, अशान्तचित्त युधिष्ठिर तुरन्त लौट पड़े और ऊँचे स्वर में कहा कि मैं इस लोभी दुर्योधन के साथ रहना नहीं चाहता। नारदजी ने हँसते हुए युधिष्ठिर से कहा—"हे युधिष्ठिर, ऐसा न कहो, स्वर्ग में देवता और राजर्षि इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि इन्होंने क्षत्रिय धर्म का पालन कर वीरलोक प्राप्त किया है। यह स्वर्ग है, यहाँ शत्रुता का काम नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा कि—"हे नारद मुनि और देवताओ !

मैं अपने चारों भाइयों, द्रौपदी, कर्ण, धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि महारथियों को यहाँ नहीं देखता हूँ। भाइयों से बिछुड़े हुए मुझे स्वर्ग से क्या प्रयोजन है? जहाँ पर वे सब हैं, वही स्थान मेरे लिए स्वर्ग है। मैं इस स्वर्ग को स्वर्ग नहीं मानता।" देवता बोले कि यदि वहीं जाने की इच्छा है तो वहीं चले जाओ। यह कह देवताओं ने देवदूत को आज्ञा दी कि तुम युधिष्ठिर को इनके भाई आदि दिखला लाओ। दूत इनको नरक की ओर ले गया। वहाँ से लौटते समय अनेक दुखियों के दुःखित वचन सुन राजा युधिष्ठिर खड़े हो गये और पूछने लगे कि आप कौन हैं? यह सुन उन सबने उत्तर दिया कि—मैं कर्ण हूँ, मैं भीम हूँ, मैं अर्जुन हूँ, मैं नकुल हूँ, मैं सहदेव हूँ, मैं द्रौपदी हूँ, और हम द्रौपदी के पुत्र हैं।" यह सुन युधिष्ठिर विचार करने लगे कि इन लोगों ने कौन सा पाप किया है, जो इस दुर्गन्धवाले, भयकारी लोक में पड़े हुए हैं। उन्होंने क्रोधित हो देवताओं समेत धर्म की निन्दा की। देवदूत से कहा कि मैं वहाँ न जाऊँगा, यहीं रहूँगा। तुम जाकर कहो कि ये मेरे भाई मेरे समीप रहने ही से सुखी हैं। देवदूत ने देवराज इन्द्र से वैसा ही जाकर कह दिया। यह सुन इन्द्र इत्यादि देवता वहीं आ पहुँचे। उनके आते ही पापियों के दण्ड देने का वह स्थान, वैतरणी नदी और अन्धकार आदि तुरन्त ग़ायब हो गये। पवित्र सुगन्धयुक्त वायु चलने लगी। देवराज इन्द्र ने कहा कि तुमने एक दिन द्रोणाचार्य से झूठ ही कह दिया था कि अश्वत्थामा मारा गया। हे राजन्! तुम्हारे इतने छल करने से ही तुम्हें नरक दिखलाया गया। जैसा तुमने मिथ्या नरक देखा, वैसे ही भीम, अर्जुन आदि भी नरक

में आये। हे नरोत्तम, वे अब सब पापों से छूट गये हैं। हे युधिष्ठिर! तुम इस पवित्र आकाशगंगा में स्नान करो। स्नान करते ही यह मनुष्यत्व दूर हो जायगा। यह सुन युधिष्ठिर ने देवताओं की उस पवित्र नदी गंगाजी में गोता लगाकर मनुष्यशरीर को त्याग दिया और वे शुद्ध हो गये। उन्हें स्वर्ग में बड़ा ही उत्तम स्थान मिला। वहाँ उन्हें चारों भाई द्रौपदी के साथ मिले। अपने परिवार को पा उन्हें बड़ा आनन्द हुआ।

जो मनुष्य इस महाभारत पुराण को सदैव सुनता या सुनाता है, वह सब पापों से छूटकर वैष्णव पद को प्राप्त करता है। उसे अनेक यज्ञों का फल मिलता है और धर्मानुसार कार्य करते रहने से अन्त में वह स्वर्ग को प्राप्त होता है।

हरिःओम् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!